श्रीअरविन्द-साहित्य
खंड 11

वेद-रहस्य

(उत्तरार्द्ध)
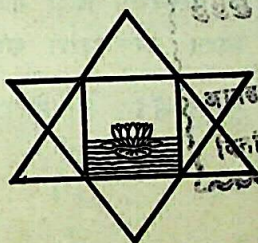
श्रीअरविन्द

भारत सरकार, शिक्षा-मंत्रालयकी मानक-ग्रंथोंकी
प्रकाशन-योजनाके अंतर्गत प्रकाशित

श्रीअरविन्द सोसायटी
पांडिचेरी - 2
1972

अनुवादक :
जगन्नाथ वेदालंकार
धर्मवीर वेदालंकार

प्रथम संस्करण, वर्ष 1972

भारत सरकार, शिक्षा-मंत्रालयकी मानक-ग्रंथोंकी प्रकाशन-योजनाके अंतर्गत इस पुस्तकका अनुवाद और पुनरीक्षण वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगकी देख-रेखमें किया गया है और इस पुस्तककी 1000 प्रतियाँ भारत सरकारद्वारा खरीदी गयी हैं।

मूल्य रु० 19-00

प्रकाशक : श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी–2
मुद्रक : जनवाणी प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स प्रा० लि०
178, अपर चितपुर रोड, कलकत्ता–3
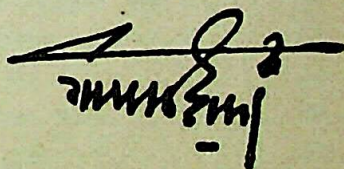
प्रस्तावना

हिंदी और प्रादेशिक भाषाओंको शिक्षाके माध्यमके रूपमें अपनानेके लिये यह आवश्यक है कि इनमें उच्चकोटिके प्रामाणिक ग्रंथ अधिकसे अधिक संख्यामें तैयार किये जायँ। भारत सरकारने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोगके हाथमें सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमानेपर करनेकी योजना बनायी है। इस योजनाके अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओंके प्रामाणिक ग्रंथोंका अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाये जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य-सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकोंकी सहायतासे प्रारंभ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमें इस योजनामें सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नये साहित्यमें भारत सरकारद्वारा स्वीकृत शब्दावलीका ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारतकी सभी शिक्षा-संस्थाओंमें एक ही पारिभाषिक शब्दावलीके आधारपर शिक्षाका आयोजन किया जा सके।

वेदरहस्य (उत्तरार्द्ध) नामक यह पुस्तक श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी-2 के द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। इसके मूल लेखक श्रीअरविंद, अनुवादक पं० जगन्नाथ और पं० धर्मवीर तथा पुनरीक्षक रवीन्द्र हैं। आशा है भारत सरकारद्वारा मानक ग्रंथोंके प्रकाशन-संबंधी इस प्रयासका सभी क्षेत्रोंमें स्वागत किया जायगा।

अध्यक्ष
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
(केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय)

शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार,
नयी दिल्ली।

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

प्रकाशके संरक्षक—

प्रकाशके अधिपति मित्रावरुणके सूक्त—

कुछ अन्य सूक्त

परिशिष्ट

अग्नि-स्तुति

प्राक्कथन

वेदका अनुवाद करना एक असंभव प्रयासके क्षेत्रमें प्रवेश करना है। क्योंकि जहाँ प्राचीन ज्ञानदीप्त ऋषियोंके सूक्तोंका शाब्दिक अंग्रेजी अनुवाद करना उनके अर्थों और अभिप्रायोंको मिथ्यारूप देना होगा, वहाँ एक ऐसा भाषान्तर जिसका लक्ष्य संपूर्ण विचारको ऊपरी तल पर लाना हो, उनके अनुवादके स्थानपर उनकी एक व्याख्या ही हो जायगा। इसलिए मैंने एक प्रकारका मध्यमार्ग अपनानेका यत्न किया है—अर्थात् अनुवादका एक ऐसा मुक्त और नमनीय रूप अपनाया है जो मूलकी कथन-शैलियोंका अनुसरण करे और फिर भी जिसमें व्याख्याके कुछ एक ऐसे साधनोंकी गुंजायश हो जिनसे वैदिक सत्यका प्रकाश प्रतीक और रूपकके पर्देमें से झलक सके।

वेद गूढ़ आंतरिक प्रतीकोंका, लगभग आध्यात्मिक सूत्रोंका ग्रन्थ है जो कर्मकाण्डमय कविताओंके संग्रहका छद्मवेष धारण किए हुए है। वेदका आंतरिक भाव आध्यात्मिक, सार्वभौम एवं निर्वैयक्तिक है, जबकि उसका प्रतीयमान अर्थ और अलंकार,—जो दीक्षितोंके प्रति उस तत्त्वको प्रकट करनेके लिए अभिप्रेत थे जिसे वे अज्ञानियोंसे छिपाए रखते थे,—प्रत्यक्षतः भद्दे रूपमें स्थूल, घनिष्ठतया वैयक्तिक, शिथिल रूपमें नैमित्तिक एवं संकेतात्मक हैं। इस शिथिल वाहरी पहरावेको वैदिक कवि कभी-कभी, सतर्क रहते हुए, एक ऐसा स्पष्ट और संगत आकार दे देते हैं जो उनके अर्थकी श्रमलभ्य आंतरिक आत्मासे बिलकुल भिन्न होता है। तव उनकी भाषा छिपे हुए सत्योंके ऊपर चतुराईसे बुना हुआ पर्दा बन जाती है। अधिकतर तो वे जिस आवरणका प्रयोग करते हैं उसके प्रति असावधान ही रहते हैं। जब वे इस प्रकार अपने कार्यके उपकरणसे ऊपर उठ जाते हैं तव उनका शाब्दिक एवं वाह्य अनुवाद हमारे सामने या तो वाक्योंका एक अंटसंट एवं असंबद्ध क्रम प्रस्तुत करता है या फिर विचार और वाणीका एक ऐसा रूप उपस्थित करता है जो अदीक्षित बुद्धिवालोंके लिए विचित्र होनेके साथ-साथ उनकी पहुँचसे परे भी होता है। किंतु जब अलंकारों और प्रतीकोंको अपने छिपे हुए अर्थोंका सुझाव देनेकी क्षमता दे दी जाती है तभी धुंधलेपनमेंसे आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक एवं धार्मिक विचारोंका एक

घनिष्ठ, सूक्ष्म और फिर भी पारदर्शी व सुसंबद्ध क्रम उभर आता है। मैंने सुझाव देनेकी इस शैलीको ही अपनानेका यत्न किया है।

वेदका शाब्दिक भाषांतर प्रस्तुत करना संभव होता यदि उसके बाद कुछ पृष्ठोंमें एक व्याख्या भी दे दी जाती जिसमें शब्दोंके सही अर्थ और विचारका छिपा हुआ संदेश ओतप्रोत हो। परंतु यह एक बोझिल शैली होगी जो केवल एक विद्वान् और सतर्क अनुशीलकके लिए उपयोगी रहेगी। अर्थके एक ऐसे रूप (विधा) की आवश्यकता थी जिसमें बुद्धिको अपने विषय पर केवल उतना ही रुकनेको बाध्य होना पड़े जितना उसे किसी रहस्यमय तथा आलंकारिक काव्यके लिए रुकना आवश्यक होता है। ऐसे रूपका निर्माण करनेके लिए संस्कृत शब्दका अंग्रेजीमें अनुवाद करना ही पर्याप्त नहीं, अर्थपूर्ण नामका, परंपरागत अलंकारका, प्रतीकात्मक रूपकका भी बार-बार अनुवाद करना होगा।

यदि प्राचीन ऋषियों द्वारा पसन्द किए गए रूपक ऐसे होते जिन्हें आधुनिक मन सरलतासे पकड़ सकता, यदि यज्ञके प्रतीक अब तक भी हमारे परिचित होते और वैदिक देवोंके नाम अब भी अपने मनोवैज्ञानिक अभिप्रायको लिए होते—जैसे कि उच्च श्रेणीके देवताओंके यूनानी व लैटिन नाम अफ्रो-डाइट (Aphrodite) या आरिस (Ares) और वीनस (Venus) या मिनर्वा (Minerva) अब भी एक सुसंस्कृत यूरोपियनके लिए अपना भाव रखते हैं—तो एक व्याख्यात्मक अनुवादकी उपाय-योजनाको टाला जा सकता था। परंतु भारतने साहित्यिक और धार्मिक विकासके एक अन्य ही मोड़का अनुसरण किया है जो पश्चिमकी संस्कृति द्वारा अनुसरण किये गए मोड़से भिन्न है। देवोंके अन्य नामोंने वैदिक नामोंका स्थान ले लिया है या फिर वही नाम बने रहे हैं, परंतु उनका अर्थ केवल बाहरी रह गया एवं क्षीण हो गया है। वैदिक कर्मकाण्ड लगभग लुप्त हो चुका है और अपने गंभीर प्रतीकात्मक अभिप्रायको खो बैठा है; आदिकालीन आर्य कवियोंके पशुपालन-संबंधी, युद्धसंबंधी और ग्राम्य-जीवन-संबंधी रूपक उनके वंशजोंकी कल्पनाशक्तिके लिए अत्यंत दूरवर्ती और अनुपयुक्त लगते हैं अथवा यदि वे स्वाभाविक व सुन्दर लगें भी तो वे प्राचीन गंभीरतर अर्थसे शून्य प्रतीत होते हैं। जब प्राचीन उषाके अतिभव्य सूक्त हमारे सामने आते हैं तो हम अपनी शून्य अबोधस्थितिसे सचेत हो जाते हैं और उन्हें एक ऐसे विद्वान्की चातुरीका शिकार बननेके लिए छोड़ देते हैं जो वहाँ अस्पष्टताओं और असंगतियोंके बीच जबरदस्ती लादे हुए अर्थोंको टटोलता है जहाँ कि प्राचीन कवि अपनी आत्माओंको सामंजस्य और प्रकाशमें स्नान कराते थे।

कुछ एक उदाहरण हमें यह दिखाएँगे कि यह खाई क्या है और इसकी रचना कैसे हुई। जब हम एक माने हुए और रूढ़िगत रूपककी भाषामें लिखते हैं "लक्ष्मी और सरस्वती एक ही घरमें रहनेसे इन्कार करती हैं" तो एक यूरोपियन पाठकको इसे समझ सकनेसे पूर्व इस पदावलीपर टिप्पणीकी या एक सीधे अलंकारहीन विचारके रूपमें इसके किसी ऐसे अनुवादकी अपेक्षा हो सकती है,—"लक्ष्मी और विद्या कदाचित् ही साथ-साथ रहती हैं"। परंतु प्रत्येक भारतीयको इस पदावलीका अभिप्राय पहलेसे ही अधिगत है। हाँ, यदि कोई अन्य संस्कृति और धर्म पुराणों और ब्राह्मणोंकी संस्कृति और धर्मका स्थान ले लेते और प्राचीन पुस्तकों तथा संस्कृत-भाषाका पढ़ना और समझना बंद हो जाता तो यह आजकी परिचित शब्दावलि भारतमें भी वैसी ही अर्थहीन हो जाती जैसी कि यूरोप में। हो सकता है कि कोई निर्भ्रान्त टीकाकार या चतुर अन्वेषक विद्वान् हमारे सामने पूर्णतया संतोषजनक रूपसे यह सिद्ध करता आया हो कि लक्ष्मी तो उषा है और सरस्वती रात्रि है या कि वे दो बेमेल रासायनिक द्रव्य हैं—अथवा न जाने और क्या क्या!—इस प्रकारकी किसी चीजने ही वेदके प्राचीन स्पष्ट वचनोंको आ घेरा है, उसका अभिप्राय नष्ट हो गया है और बच रही है केवल विस्मृत काव्यमय रूपकी धुंध। इसलिए जब हम पढ़ते हैं "सरमा सत्यके मार्गसे गोयूथोंको खोज निकालती है" तो मन एक अपरिचित भाषाके द्वारा कुन्द हो जाता और चकरा जाता है। यूरोपियनके लिए सरस्वतीविषयक शब्दावलिकी तरह हमारे लिए अधिक सीधे और कम आलंकारिक विचारके रूपमें इस वाक्यको यूँ अनूदित करना होगा "अन्तर्ज्ञान सत्यके मार्गके द्वारा गुप्त प्रकाशों तक पहुँच जाता है।" किसी विशेष सूत्रके अभावमें हम उषा और सूर्यके विषयमें की गई चातुर्यपूर्ण व्याख्याओंमें भटकते फिरते हैं अथवा यहाँ तक कि द्युलोककी कुक्कुरी सरमाके विषयमें हम यह कल्पना कर लेते हैं कि वह लूटे गए गोधनकी पुनः प्राप्तिके लिए द्रविड़ राष्ट्रोंके प्रति भेजी हुई किसी प्रागैतिहासिक दूतीका एक व्यक्तित्वमय रूप है!

संपूर्ण वेदकी परिकल्पना ऐसे रूपकोंमें ही की गई है। इसके परिणाम-स्वरूप हमारी बुद्धिमें जो अस्पष्टता एवं अस्तव्यस्तता आ जाती है वह भयावह है और यह तुरंत प्रत्यक्ष हो जायगा कि सूक्तोंका कोई ऐसा अनुवाद जो अनुवादके साथ-साथ व्याख्यारूप होनेका यत्न न करे कितना निरर्थक होगा। एक प्रभावकारी वेद-मंत्र यूँ आरंभ होता है कि "भिन्न रूपोंवाली परंतु एक मनवाली दो बहिनें उषा और निशा एक ही दिव्य शिशुको दूध पिलाती हैं।" इससे हमें कुछ भी समझमें नहीं आता। उषा और

निशा भिन्न रूपोंवाली तो हैं परंतु एक मनवाली क्यों? और शिशु कौन है? यदि वह अग्नि है तो उषा और निशा एक शिशु अग्निको वारी-बारीसे दूध पिलाती हैं—इससे हम क्या समझें? परंतु वैदिक कवि भौतिक रात्रि, भौतिक उषा या भौतिक आगके विषयमें नहीं सोच रहा है। वह अपनी आध्यात्मिक अनुभूतिमें बारी-बारीसे आनेवाले कालोंके विषयमें सोच रहा है, अर्थात् एक तो उदात्त और स्वर्णिम प्रकाशके कालों और दूसरे तमसाच्छन्न हो जाने या सामान्य अप्रकाशित चेतनामें फिरसे जा गिरनेके कालोंके सतत लयतालके विषयमें सोच रहा है और वह स्वीकार करता है कि उसके अंदर इन सब क्रमिक कालों और यहाँ तक कि उनके नियमित उतार-चढ़ावकी शक्तिसे ही दिव्य जीवनका शिशुबल (नवजात बल) बढ़ रहा है। क्योंकि इन दोनों ही अवस्थाओंमें गुप्त व प्रकट रूपमें वह दिव्य प्रयोजन और वही ऊँचाई तक पहुँचनेवाला प्रयास कार्य कर रहा है। इस प्रकार जो रूपक वैदिक मन के लिए स्पष्ट, ज्योतिर्मय, सूक्ष्म, गंभीर और प्रभावोत्पादक था, वह हमारे सामने यहाँ अर्थशून्य होकर या अपने अर्थमें हीनता और असंगतिसे भरा हुआ उपस्थित होता है और इसलिए वह हमें केवल एक भारी-भरकम और दिखावटी चीजके रूपमें और गड़बड़-घोटाला करनेवाले अयोग्य साहित्यिक शिल्पके आभूषणके रूपमें ही प्रभावित करता है।

इसी प्रकार जब अत्रिगोत्रका ऋषि अग्निको उच्च स्वरसे पुकारकर कहता है, "हे अग्नि! हे आहुतिके वाहक पुरोहित! तू हमारे पाशोंको काटकर पृथक् कर दे", तो वह न केवल स्वाभाविक अपितु एक समृद्ध अर्थ से गर्भित रूपकका प्रयोग कर रहा होता है। वह एक महान् विश्व-यज्ञ पुरुषमेधमें मन, प्राण और शरीरके उस त्रिविध पाशके विषयमें सोच रहा है जिसके द्वारा आत्मा एक बलि-पशुकी तरह बंधा हुआ है। वह उस दिव्य संकल्पशक्तिका चिंतन कर रहा है जो उसके भीतर जागृत होकर कार्य कर रही है, एक तेजोमय और अदमनीय देवके विषयमें सोच रहा है जो उसकी दबी पड़ी दिव्यताको ऊपर उठा ले जायगा और उसके बंधन की रज्जुओंको छिन्न-भिन्न कर देगा। वह उस बढ़ती हुई शक्ति और अन्तर्ज्वालाके सामर्थ्यके विषयमें सोच रहा है जो उसके द्वारा अर्पणकी जानेवाली समस्त हविको ग्रहण कर उसे अपने सुदूर और दुर्गम धाम अर्थात् उस ऊर्ध्वस्थित सत्य, उस दूरातिदूरवर्ती सत्ता, उस रहस्यमय, उस परमकी ओर ले जा रही है। इन सब सहचारी भावोंको हम खो चुके हैं, हमारे मन कर्मकाण्डीय यज्ञ और भौतिक पाशके विचारोंसे ही अभिभूत हैं। हम शायद यह कल्पना करते हैं कि अत्रिका पुत्र किसी प्राचीन बर्बर यज्ञमें एक (वध्य पशुकी तरह)

बंधा हुआ अपने भौतिक छुटकारेके लिए अग्निके देवताको ऊँचे स्वरमें पुकार रहा है!

कुछ आगे चलकर ऋषि बढ़ती हुई ज्वालाका स्तुतिगान करता है—"अग्निदेव विशाल प्रकाशके साथ विस्तृत रूपमें देदीप्यमान हो उठता है और अपनी महिमासे सब वस्तुओंको अभिव्यक्त करता है।" इससे हम क्या समझें? क्या इससे हम यह कल्पना कर लें कि अपने बंधनोंसे मुक्त हुआ स्तुतिगायक,—यह तो हम नहीं जानते कि वह कैसे मुक्त हुआ,—यज्ञिय अग्निकी उस महान् ज्वालाकी शान्तिपूर्वक स्तुति कर रहा है जिसे उसको हड़प जाना था और यह कल्पना करके हम आदिम मनके द्रुत संक्रमणोंपर (एक विचारसे सहसा दूसरे विचारपर चले जानेपर) आश्चर्य करें? जब हम यह खोज निकालते हैं कि 'विशाल ज्योति' यह शब्दावलि रहस्यवादियोंकी भाषामें मनसे परेकी विस्तृत, मुक्त और प्रकाशमय चेतनाके लिये एक नियत शब्दावलि थी, केवल तब ही हम इस ऋचाके सच्चे अर्थको पकड़ पाते हैं। ऋषि अपने मन, प्राण और शरीरके त्रिविध बंधनसे अपनी मुक्तिका और अपने अंदर विद्यमान ज्ञान और संकल्पकी चेतनाके उस स्तर तक उठ जानेका स्तुतिगान कर रहा है जहाँ सब वस्तुओंके प्रतीयमान सत्यसे परेका उनका वास्तविक सत्य अन्ततोगत्वा एक विशाल प्रकाशमें अभिव्यक्त हो जाता है।

परंतु इस गंभीर, स्वाभाविक और आंतरिक भावको दूसरोंके मनों तक हम अनुवादके द्वारा कैसे पहुँचाएँ? यह तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि हम व्याख्यात्मक ढंगसे यूँ अनुवाद न करें, "हे संकल्प-शक्ति! हे हमारे यज्ञके पुरोहित! हमारे बंधनकी रज्जुओंको काटकर हमसे अलग कर दे।" "यह ज्वाला सत्यकी विशाल ज्योतिसे चमक उठती है और सब वस्तुओंको अपनी महानतासे प्रकट कर देती है।" तब पाठक कम-से-कम पाशके, ज्योति एवं ज्वालाके आध्यात्मिक स्वरूपको पकड़ सकेगा; वह इस प्राचीन स्तोत्रके अर्थ और भावको कुछ-न-कुछ अनुभव कर सकेगा।

अनुवादकी जिस शैलीका मैंने प्रयोग किया है वह इन उदाहरणोंसे स्पष्ट हो जायगी। मैंने कहीं-कहीं रूपकको एक तरफ फेंक दिया है, परंतु इस प्रकार नहीं कि उससे बाह्य प्रतीकका पूरा ढाँचा ही चकनाचूर हो जाय या टीका ही अनुवादका स्थान ले ले। यह तो अवाञ्छनीय उग्र प्रहार होता कि वैदिक विचारके अत्यधिक रत्न-जटित वेशपरसे उसके शोभायमान आभूषणोंको उतार फेंका जाय या उसके स्थान पर उसे सामान्य भाषाका मोटा पहरावा पहना दिया जाए। परंतु मैंने इसे सभी जगह, जितना संभव था उतना पारदर्शक बनाने का यत्न किया है। मैंने देवों, राजाओं और

ऋषियोंके अर्थगर्भित नामोंको भी, उनके आधे-छिपे अर्थ देते हुए अनूदित किया है,—नहीं तो उनका पर्दा अभेद्य ही रहता। जहाँ रूपक आवश्यक नहीं था वहाँ कभी-कभी मैंने उसके आध्यात्मिक अर्थके लिए उसकी बलि दे दी है। जहाँ वह आस-पासके शब्दोंकी रंगतको प्रभावित करता था वहाँ मैंने ऐसी शब्दावलिको खोजनेका यत्न किया है जो अलंकारको बनाए रखे और फिर भी उसके अर्थ की संपूर्ण जटिलताको प्रकट कर सके। कभी-कभी मैंने दोहरे अनुवादकी रीतिका भी प्रयोग किया है। इस प्रकार उस वैदिक शब्दके लिए, जो एक साथ ही प्रकाश या किरण और गौका अर्थ देता है, मैंने प्रसंगके अनुसार 'ज्योति', 'दीप्तियाँ', 'चमकीले गोयूथ', 'प्रकाशमय गौएँ', 'गोयूथोंकी माता ज्योति' ये अर्थ दिए हैं। वेदकी अमृतमय सुराके वाचक 'सोम' शब्दका मैंने अनुवाद किया है "आनंदकी सुरा" या "अमरताकी सुरा"।

वैदिक भाषा, अपने समूचे रूपमें, एक शक्तिशाली तथा विलक्षण उपकरण है जो संक्षिप्त, जटिल और ओजस्वी है और अर्थ से ठूँस-ठूँसकर भरा हुआ है; यह भाषा अपनी विधाओंमें तर्कसंगत और आलंकारिक वाक्यविन्यास की सीधी-सरल और सतर्क रचनाओं तथा उसके स्पष्ट संक्रमणोंका सफल प्रयोग करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक मनके विचारोंकी स्वाभाविक उड़ानका ही सावधानीसे अनुसरण करती है। परंतु यदि ऐसी भाषाको बिना किंचित् परिवर्तनके अंग्रेजीमें अनूदित किया जाय तो वह कठोर, बेढंगी और अस्पष्ट ही हो जायगी, वह तो एक निर्जीव और बोझिल गति बन जायगी जिसमें मूल भाषाकी प्रातःकालीन स्फूर्ति और बलशाली पदचापकी जरा भी झलक नहीं होगी। इसलिए मैंने यह पसन्द किया है कि इस भाषाका अनुवाद करते हुए इसे ऐसे साँचेमें ढाला जाय जो अधिक नमनीय तथा अंग्रेजी भाषाके लिए अधिक स्वाभाविक हो और साथ ही इस प्रक्रियामें मैंने ऐसी वाक्यरचनाओंका और संक्रमणकी ऐसी विधियोंका प्रयोग किया है जो मूल विचारके तर्कको सुरक्षित रखती हुई भी एक आधुनिक भाषाके लिए अत्यधिक अनुकूल हों। मैंने इसमें भी कभी संकोच नहीं किया कि वैदिक शब्दके कोषगत निःसार पर्यायको त्यागकर उसकी जगह वहाँ अंग्रेजी भाषाकी वृहत्तर शब्दावलिका प्रयोग करूँ जहाँ मूल के पूर्ण अर्थ और सहचारी भावोंको प्रकट करनेके लिए ऐसा करना आवश्यक हो। मैंने अपनी दृष्टि आद्योपांत अपने मुख्य उद्देश्यपर लगाए रखी है—वह उद्देश्य है वेदके आंतरिक अर्थको आजकी सुसंस्कृत बुद्धिकी पकड़में आने योग्य बनाना।

जब यह सब किया जा चुका तो भी कुछ टीका-टिप्पणीकी सहायता अनिवार्य रही। परंतु मैंने यह यत्न किया है कि टिप्पणियोंसे अनुवादको

बोझिल न बनाया जाय और नाहीं लम्बी-लम्बी व्याख्याओंमें पड़ा जाय। मैंने प्रत्येक पांडित्यपूर्ण वस्तुका वर्जन किया है। वेदमें ऐसे बहुतसे शब्द हैं जिनका अर्थ सन्देहास्पद है, अनेकों उक्तियाँ हैं जिनका अर्थ केवल अनुमानसे या सामयिक रूपसे ही स्थिर किया जा सकता है, ऐसे मन्त्र भी कम नहीं हैं जिनकी दो या अधिक भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की जा सकती हैं। परंतु इस प्रकारका अनुवाद-ग्रंथ विद्वान्‌की कठिनाइयों और सन्देह-विकल्पोंका किसी प्रकारका लेखा प्रस्तुत करनेका स्थान नहीं होता। मैंने मुख्य वैदिक विचारकी संक्षिप्त रूप-रेखा भूमिकाके रूपमें जोड़ दी है जो इसे समझनेके अभिलाषी पाठकके लिए अनिवार्य है।

उसे वैदिक सूक्तोंकी सामान्य दिशा और ऊपरी संकेतोंको पकड़ पानेकी ही आशा रखनी होगी। इससे अधिक कदाचित् ही संभव हो। रहस्य-वादी सिद्धांतके असली हृदयमें प्रवेश करनेके लिए यह आवश्यक है कि हम स्वयं प्राचीन मार्गोंपर चल चुके हों एवं लुप्त अनुशासन व विस्मृत अनुभवको ताजा कर चुके हों। और हममेंसे कौन कुछ भी गहराई या सजीव शक्तिके साथ ऐसा करनेकी आशा कर सकता है? कौन है जिसके अंदर इस कलियुगमें पूर्वजोंके प्रकाशको पुनः प्राप्त करनेका या मन और शरीरके दो आवरणकारी आकाशोंके ऊपर उनके द्वारा उपलब्ध अनन्त सत्यके प्रकाशमय स्वर्गतक उड़ान भरनेका सामर्थ्य हो? ऋषियोंने अपने ज्ञानको अपात्रसे गुप्त रखना चाहा, शायद वे यह विश्वास करते थे कि सर्वश्रेष्ठ वस्तुका दूषित हो जाना हमें निकृष्टतम वस्तुकी ओर ले जा सकता है और साथ ही वे सोमकी प्रबल सुराको बच्चे और निर्बलको देनेमें भय भी खाते थे। परंतु क्या उन ऋषियोंकी आत्माएँ अब भी हमारे बीच मर्त्य सत्तामें, जो सूर्यके भास्वर गोयूथोंको इन्द्रिय-जीवनके अधिपतियोंकी अंधकारमय गुफामें सदाके लिये कैद रहने देनेमें संतुष्ट है, किसी विरली आर्य आत्माको खोजती हुई विचर रही हैं अथवा क्या वे (आत्माएँ) ज्योतिर्मय जगत्‌में उस घड़ीकी प्रतीक्षा कर रही हैं जब मरुत् एक बार फिर परेके लोकसे स्वर्गकी नदियोंको सत्तामें सर्वत्र प्रवाहित कर देंगे और द्युलोककी शुनी (कुक्कुरी) उन नदियोंको फिरसे द्रुत वेगसे नीचेकी ओर हमतक ले आयगी और स्वर्गिक नदियोंके बंद द्वार तोड़ दिये जायँगे, गुफाएँ छिन्न-भिन्न कर दी जायँगी और अमर बनानेवाली सोमसुरा मनुष्यके शरीरमें विद्युन्मय वज्रोंके द्वारा निचोड़कर निकाली जायगी—इस विषयमें उनका यह रहस्य उनके पास ही सुरक्षित है। इस बातकी संभावना बहुत ही कम है कि एक ऐसे युगमें जो हमारी आँखोंको बाह्य जीवनके

क्षणभंगुर वैभवोंसे चकाचौंध कर अंधा कर रहा है और जो हमारे कानोंको जड़ प्रकृति व यंत्रविद्याके ज्ञानकी विजय-दुन्दुभियों द्वारा बहरा कर रहा है, लोग बड़ी संख्यामें ऋषियोंकी प्राचीन साधनाके गुह्य वचनोंपर बौद्धिक व कल्पनात्मक कुतूहल-भरी दृष्टि डालनेसे अधिक कुछ करेंगे या उनके जाज्वल्यमान रहस्योंके अन्तस्तलमें पैठनेका यत्न करेंगे। वेदका रहस्य, पर्दा हटा दिये जानेपर भी, रहस्य ही बना हुआ है।

रहस्यवादियोंका सिद्धान्त

वेदमें उपनिषदोंका उच्च आध्यात्मिक सारतत्त्व विद्यमान है, परन्तु उसमें उनकी शब्दावलि नहीं पाई जाती। यह एक अन्तःस्फूर्त ज्ञान है जो अभी बौद्धिक और दार्शनिक परिभाषाओंसे पर्याप्तरूपसे विभूषित नहीं। वेदमें हम उन कवियों और ऋषियोंकी भाषा पाते हैं जिनके लिए समस्त अनुभव वास्तविक, सुस्पष्ट एवं बोधगम्य हैं, यहाँ तक कि मूर्तिमन्त हैं, पर वहाँ हम अभी उन विचारकों और संहिताकारों (व्यवस्थित संकलन करनेवालों) की भाषा नहीं पाते जिनके लिए मन और आत्माको गोचर होनेवाली वास्तविक सत्ताएँ अमूर्त वस्तुएँ बन गई हैं। तो भी उसमें एक पद्धति एवं सिद्धान्त अवश्य है। परन्तु उसकी बनावट लचकीली है, उसकी परिभाषाएँ मूर्त हैं, उसके विचारका ढांचा एक पुरानी सुनिश्चित अनुभूतिके संसिद्ध नमूनेके रूपमें व्यावहारिक और प्रयोगसिद्ध है,—किसी ऐसी अनुभूतिके नमूनेके रूपमें नहीं जो अभी तक बननेकी प्रक्रियामें होनेके कारण अपरिपक्व और अनिश्चयात्मक हो। यहाँ हमें एक ऐसा प्राचीन मनोविज्ञान और आध्यात्मिक जीवनकी ऐसी कला मिलती हैं जिनका दार्शनिक परिणाम एवं दार्शनिक संशोधित रूप हैं उपनिषदें और जिनका अर्वाचीन बौद्धिक परिणाम एवं तार्किक सिद्धान्त ही है वेदान्त, सांख्य और योग। परंतु समस्त जीवन की तरह, ऐसे समस्त विज्ञानकी तरह जो अबतक प्राणवंत है, यह (वेद) तर्कशील बुद्धिकी कवचबद्ध कठोरताओंसे मुक्त है। अपने स्थापित प्रतीकों और पवित्र सूत्रोंके रहते भी यह विशाल, मुक्त, लचकीला, तरल, नमनशील और सूक्ष्म है। यह जीवनकी गति और आत्माके विशाल निःश्वाससे युक्त है। और जब कि परवर्ती दर्शनशास्त्र ज्ञानकी पुस्तकें हैं और मुक्तिको एकमात्र परम निःश्रेयस मानते हैं, वेद कर्मोंकी पुस्तक है और जिस चीजकी आशासे वह हमारे वर्तमान बंधनों और क्षुद्रताको ठुकरा फेंकता है, वह है पूर्णता, आत्म-उपलब्धि और अमरता।

रहस्यवादियोंका सिद्धान्त एक ऐसी अज्ञेय, कालातीत और अनाम सत्ताको स्वीकार करता है जो सब वस्तुओंके पीछे और ऊपर विद्यमान है और मनके अध्यवसायपूर्ण अनुशीलन द्वारा ग्राह्य नहीं। निर्गुण (निर्वैयक्तिक) रूपमें वह तत् है, एकमेव सत्ता (एकं सत्) है। हमारी व्यक्तित्वमय सत्ता द्वारा

की गई खोजके प्रति वह अपने आप को वस्तुओंकी गुहामेंसे भगवान् या देवके रूपमें प्रकट करता है,—वह नामरहित हैं यद्यपि उसके अनेकों नाम हैं, अपरिमेय और अवर्णनीय है यद्यपि वह नाम और ज्ञान-संबंधी सभी वर्णनोंको और आकार एवं उपादान, शक्ति एवं क्रियाके सब प्रकारके परिमाणोंको अपने अंदर धारण किये है।

वेद या देवाधिदेव आदि कारण और अंतिम परिणाम दोनों हैं। वह सत्स्वरूप भगवान् है, लोकोंका निर्माता और सब वस्तुओंका स्वामी और उत्पादक, पुरुष और स्त्री (नृ और ग्ना) है, सत् और चित् है, लोकों और उनके निवासियोंका पिता और माता है तथा उनका और हमारा पुत्र भी : क्योंकि वह लोकोंके अन्दर उत्पन्न हुआ दिव्य शिशु है जो प्राणीके विकासमें अपने-आपको अभिव्यक्त करता है। वह है रुद्र और विष्णु, प्रजापति और हिरण्यगर्भ, सूर्य, अग्नि, इन्द्र, वायु, सोम और बृहस्पति,—वरुण, मित्र, भग व अर्यमा, सभी देवता (विश्वेदेवाः)। वह है ज्ञानमय और शक्तिशाली, मुक्तिदाता पुत्र जो हमारे कार्यकलाप और हमारे यज्ञसे उत्पन्न होता है, वह है हमारे युद्धोंमें वीर, ज्ञानका द्रष्टा, हमारे दिनोंके सम्मुख अवस्थित श्वेत अश्व जो उच्चतर समुद्रकी ओर सरपट दौड़ रहा है।

मनुष्यका आत्मा पक्षी (हंस)के रूपमें भौतिक और मानसिक चेतनाके प्रकाशमान आकाशोंसे गुजरता हुआ उड़ता है और वह एक यात्री और योद्धाके रूपमें सत्यके आरोही पथके द्वारा शरीरके पृथ्वीलोक और मनके द्युलोक से परे चढ़ जाता है। वहाँ वह देखता है कि यह परमेश्वर हमारी प्रतीक्षा कर रहा है और अपनी चरम-परम सत्ताके उस गुह्य धामसे हमारी तरफ़ झुक रहा है जहाँ वह त्रिविध दिव्य तत्त्व (सत्, चित्, आनंद) में और परम आनंदके उद्‌गममें आसीन है। वह देव चाहे वहाँ उच्चासीन होकर हमें आकर्षित कर रहा हो, चाहे बृहत्तर देवोंके आकारमें यहाँ हमारी सहायता कर रहा हो, वह निश्चय ही सदा मनुष्यका सखा और प्रेमी है, गोयूथोंके चरागाहका स्वामी है जो हमें अनंतताकी प्रकाशमय गौके स्तनोंसे मधुर दुग्ध और शोधित नवनीत प्रदान करता है। वह दिव्य आनन्दकी अमृतमय सुराका मूलस्रोत और वर्षक है और हम सत्ताकी सप्तविध धाराओंसे निकाली हुई या सत्ताकी पहाड़ी पर देदीप्यमान पौधेसे निचोड़ी हुई उस सुराका पान करते हैं और उसके हर्षोल्लासोंके द्वारा उन्नीत होकर अमर बन जाते हैं।

इस प्रकारके हैं इस प्राचीन रहस्यवादी पूजाके कुछ एक रूपक।

भगवान्ने इस विश्वको लोकोंकी एक जटिल शृंखलाके रूपमें बनाया है। इन लोकोंको हम अपने अंदर और बाहर दोनों जगह पाते हैं, अंदर

तो विषयिरूपसे संज्ञात और बाहर विषय-रूपसे इंद्रियों द्वारा गृहीत या संवेदित। यह है पृथिवियों और द्युलोकोंकी चढ़ती हुई श्रृंखला। यह नानाविध जलोंकी एक धारा है। यह सात किरणों या फिर आठ, नौ, दस किरणोंवाली ज्योति है। यह है अनेक उच्च धरातलोंवाली एक पहाड़ी। ऋषि प्राय: इसे त्रिकोंकी एक श्रृंखलाके रूपमें चित्रित करते हैं; तीन पृथिवियाँ हैं और तीन द्यौ। और फिर नीचे एक त्रिविध लोक भी है,—द्यौ, पृथिवी और मध्यवर्ती अंतरिक्ष-लोक। बीचमें है त्रिविध जगत्, सूर्यके तीन भास्वर द्युलोक (त्रीणि रोचना); एक त्रिविध लोक ऊपर भी है, ये हैं देवाधिदेवके परमोच्च और आनंदोल्लासमय धाम।

परन्तु अन्य तत्त्व भी बीचमें आते हैं और लोकों के इस क्रमको और भी जटिल बना देते हैं। ये तत्त्व अंतश्चेतनासे संबंध रखते हैं। क्योंकि वास्तवमें सारी सृष्टि परम आत्माकी एक रचना है, अत: जगतोंकी प्रत्येक बाह्य प्रणालीको अपने प्रत्येक स्तरपर भौतिक रूपमें उस चेतनाकी किसी शक्ति या बढ़ती हुई मात्राके अनुरूप बनना होगा जिसका वह बाह्य प्रतीक है और उसे वस्तुओंकी इससे मिलती-जुलती आंतरिक क्रम-व्यवस्थाको भी स्थान देना होगा। वेदको समझनेके लिए हमें इस वेदोक्त समानांतर क्रम-श्रृंखलाको हृदयंगम करना होगा और विश्वके उन क्रमिक स्तरोंको पृथक्-पृथक् जानना होगा जिनकी ओर यह श्रृंखला ले जाती है। परवर्ती पौराणिक प्रतीकोंके पीछे हम इसी प्रणालीको फिरसे पाते हैं और वहीं से हम इसकी सारणीको अत्यन्त सरल और स्पष्ट रूपमें प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि सत्ताके सात तत्त्व हैं और पुराणोंके सात लोक काफ़ी ठीक-ठीक इन्हींके अनुरूप हैं, इस प्रकार:

तत्त्व	लोक
1. शुद्ध सत्ता—सत्	1. सत्ताके सर्वोच्च सत्यका लोक (सत्यलोक)
2. शुद्ध चेतना—चित्	2. अनन्त संकल्पशक्ति (तपस्) या सचेतन शक्तिका लोक (तपोलोक)
3. शुद्ध आनन्द—आनन्द	3. सत्ताके सर्जनकारी आनन्दका लोक (जनलोक)
4. ज्ञान या सत्य-विज्ञान	4. बृहत्ताका लोक (महर्लोक)
5. मन	5. प्रकाशका लोक (स्व:)
6. प्राण (नाड़ीगत सत्ता)	6. नानाविध संभूतिके लोक (भुव:)
7. अन्न (स्थूल सत्ता)	7. अन्नमय लोक (भू:)

अब यह लोक-संस्थान जो पुराणमें पर्याप्त सीधा-सरल है, वेदमें बहुत ही अधिक जटिल है। वहाँ तीन सर्वोच्च लोकोंको त्रिविध दिव्य तत्त्वके रूपमें एक ही वर्गमें एकत्रित कर दिया गया है,—क्योंकि वे त्रैतमें सदा एक साथ रहते हैं; अनन्तता है उनका क्षेत्र, आनन्द है उनका आधार। वे सत्यके उन विशाल क्षेत्रोंके आश्रयपर स्थित हैं जहाँसे एक दिव्य ज्योति स्वर् अर्थात् इन्द्रके प्रदेशके तीन ज्योतिर्मय द्युलोकोंमें हमारी मनोमय सत्ताकी ओर रश्मियोंके रूपमें प्रसारित होती हैं। नीचे वर्गीकृत है त्रिविध संस्थान जिसमें हम निवास करते हैं।

वेदमें हम वैसे ही वैश्व स्तर पाते हैं जैसे पुराणोंमें। परन्तु उनका वर्गीकरण भिन्न प्रकारसे किया गया है,—तत्त्वोंकी दृष्टिसे लोक सात हैं, व्यवहारकी दृष्टिसे पाँच, अपने सामान्य वर्गीकरणोंकी दृष्टिसे तीन :

1. परम सत्-चित्-आनन्द	1. त्रिविध दिव्य लोक
2. संयोजक लोक, विज्ञान (अतिमानस)	2. सत्य, ऋत, बृहत्[1] जो अपने तीन प्रकाशमय द्युलोकों सहित स्वः में अभिव्यक्त है।
3. नीचेका त्रिविध लोक	3. द्युलोक
शुद्ध मन	(द्यौः, तीन द्युलोक)
प्राणशक्ति	मध्यवर्ती क्षेत्र (अन्तरिक्ष)
अन्न	पृथिवी (तीन पृथिवियाँ)

और जैसे प्रत्येक तत्त्व अपने अन्दर स्थित अन्योंकी अवान्तर अभिव्यक्तिके द्वारा परिवर्तित हो सकता है, वैसे ही प्रत्येक लोक अपनी सर्जनकारी चिन्मय ज्योतिके विभिन्न विन्यासों और आत्म-व्यवस्थाओंके अनुसार अनेकविध प्रदेशोंमें विभाजित किया जा सकता है। तो फिर ऋषियोंकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और उर्वर रूपकमालाकी सभी जटिलताओंको इसी ढाँचेमें स्थान देना होगा, यहाँतक कि नीचेके जो सौ नगर आज शत्रुराजाओं अर्थात् द्वैध और बुराईके अधिपतियोंके आधिपत्यमें हैं उनको भी। परन्तु देव उन सब नगरोंके द्वार तोड़कर खोल देंगे और उन्हें आर्य उपासकको उसके निर्बाध आधिपत्यके लिये दे देंगे।

परन्तु ये लोक हैं कहाँ और कहाँसे सृष्ट हुए हैं? यहाँ हम वैदिक ऋषियोंका एक अन्यतम गंभीर विचार पाते हैं। मनुष्य पृथिवी-माताके वक्षःस्थलमें निवास करता है और केवल इस मर्त्यलोकसे ही अभिज्ञ है।

---

1. सत्यं बृहद् ऋतम्। अथर्व. 12. i. 1.

परन्तु इससे बहुत ऊँचाईपर एक अतिचेतन लोक है जहाँ दिव्य लोक प्रकाशमय गुहामें अवस्थित हैं; मनुष्यकी जाग्रत् चेतनाके उपरितलीय संस्कारोंके नीचे एक अवचेतन या निश्चेतन लोक है और सब वस्तुओंको गर्भरूपमें धारण करनेवाली उस रात्रिसे लोक,—जैसा कि वह उन्हें देखता है,—उत्पन्न हुए हैं। किन्तु ऊपरके उस ज्योतिर्मय समुद्र तथा नीचेके इस अंधकारमय समुद्रके बीचमें स्थित इन अन्यलोकोंके विषयमें तथ्य क्या है? ये यहाँ अस्तित्व रखते हैं। मनुष्य प्राण-जगत्से अपनी प्राणमय सत्ताको और मनोमय-जगत्से अपनी मनःसत्ताको ग्रहण करता है। वह सदा ही इनके साथ गुप्त आदान-प्रदान करता रहता है। यदि वह चाहे तो सचेतन रूपसे इनमें प्रवेश कर सकता है, इनके अन्दर उत्पन्न हो सकता है। यहाँतक कि वह सत्यके सौर लोकोंमें भी उठ सकता है, अतिचेतनके मुख्य द्वारोंमें प्रवेश कर सकता है, परमदेवकी देहरीको लाँघ सकता है। उसकी वर्धित होती हुई आत्माके लिए दिव्य द्वारोंके पट खुल जायँगे।

मानवका यह आरोहण संभव है क्योंकि प्रत्येक मानव प्राणी वस्तुतः अपने अन्दर उस सबको धारण किये है जिसे उसकी बहिर्मुखी दृष्टि मानो अपनेसे बाहर स्थित वस्तुके रूपमें देखती है। हमारे अन्दर कुछ आत्मगत शक्तियाँ गुप्त रूपमें विद्यमान हैं जो बहिर्गत विश्व-संस्थानके इन सभी स्तरों व शृंखलाओंके अनुरूप हैं और इन्हींसे हमारे लिये हमारी संभवनीय सत्ताकी इतनी अधिक भूमिकायें बन गई हैं। यह जड़प्राकृतिक जीवन और भौतिक लोककी यह हमारी संकीर्णतया सीमित चेतना ही मनुष्यको प्राप्त हो सकनेवाली एकमात्र अनुभूति नहीं हैं, बल्कि ये ऐसी अनुभूति होनेसे कोसों दूर हैं, चाहे मनुष्य सहस्रों गुणा पृथिवीका पुत्र क्यों न हो। यदि पृथिवी माताने उसे कभी गर्भ-रूपमें धारण किया था और अब उसे अपनी भुजाओंमें थामे है, तो द्युलोक भी उसके जनकोंमेंसे एक है और उसकी सत्तापर उसका भी दावा है। यह मार्ग मनुष्यके सामने खुला है कि वह अपने अन्दर गहनतर गहराइयों और उच्चतर ऊँचाइयोंके प्रति जाग्रत् हो जाय और ऐसा जागरण ही उसकी अभिप्रेत प्रगति है। और जैसे-जैसे वह इस प्रकार अपने सदा ऊँचे-से-ऊँचे स्तरोंपर आरोहण करता है, वैसे-वैसे नये लोक उसके जीवन और उसकी दृष्टिके सामने खुलते चले जाते हैं और उसके अनुभवका क्षेत्र और उसकी आत्माके घर बन जाते हैं। वह उन लोकोंकी शक्तियों और देवताओंके सम्पर्क और सायुज्यमें रहता है तथा अपने आपको फिरसे उनकी प्रतिमूर्त्तिमें ढाल लेता है। इस

प्रकार प्रत्येक आरोहण आत्माका एक नया जन्म है, वेद लोकोंको "जन्म" कहता है और धाम (पद) एवं निवास-स्थान भी।

क्योंकि जैसे देवोंने वैश्व लोकोंकी श्रृंखला बनायी है वैसे ही वे मनुष्यकी चेतनामें मर्त्य अवस्थासे सर्वोच्च अमरताकी अवस्थातक क्रमबद्ध भूमिकाओं और आरोही कोटि-क्रमोंकी वैसी श्रृंखला बनानेका प्रयास भी करते हैं। वे उसे सत्ताकी इस सीमित भौतिक अवस्थासे ऊपर उठाते हैं जिसमें हमारी निम्नतम मानवता सन्तुष्ट होकर और द्वैधके अधिपतियोंके अधीन होकर निवास करती है, वे उसे प्राण और कामनाके उन गतिशक्तिमय लोकोंसे मिलनेवाले अनेक वेगवान् आघातों व प्रेरणाओंसे समृद्ध एवं प्रपूरित जीवन प्रदान करते हैं जहाँ देव असुरोंसे युद्ध करते हैं, और साथ ही वे उसे उन विक्षुब्ध शीघ्रताओं और तीव्रताओंसे और भी ऊँचा उठाकर उच्च मानसिक सत्ताकी सुस्थिर पवित्रता और निर्मलतामें ले जाते हैं। क्योंकि शुद्ध विचार और वेदन हैं मनुष्यके आकाश और उसके द्युलोक। आवेशों, आवेगों और भाव-भावनाओंकी यह सम्पूर्ण प्राणात्मवादी (प्राणप्रधान) सत्ता,—जिसकी धुरी है कामना,—उसके लिये अन्तरिक्षका निर्माण करती हैं। शरीर और भौतिक जीवन उसकी पृथिवी हैं।

परन्तु शुद्ध विचार और शुद्ध चैत्य अवस्था ही मानवीय आरोहणका उच्चतम शिखर नहीं। देवोंका धाम है निरपेक्ष सत्य, जो मनसे परे सौर वैभवोंमें निवास करता है। उस ओर आरोहण करता हुआ मनुष्य तब और एक-विचारकके रूपमें संघर्ष नहीं करता वरन् विजयी द्रष्टा हो जाता है। तब वह आज-जैसा मनोमय प्राणी नहीं रहता, किन्तु एक दिव्य पुरुष बन जाता है। उसका संकल्प, जीवन, विचार, भावावेश, संवेदन, कार्य—सभी सर्व-शक्तिमान् सत्यके मूल्योंमें रूपान्तरित हो जाते हैं और वे अब मिश्रित सत्य और मिथ्याकी उलझी या निरुपाय गाँठ नहीं रहते। वह अब और पंगुवत् हमारी संकीर्ण और द्विविधापूर्ण सीमाओंमें लँगड़ाता हुआ नहीं चलता, परन्तु निर्बाध बृहत्में विचरण करता है, अब इन कुटिलताओंके बीच कशमकश करता हुआ टेढा-मेढ़ा नहीं चलता, बल्कि वेगवान् और विजयशील सीधे मार्गका अनुसरण करता है; वह अब टूटे-फूटे टुकड़ोंपर नहीं पलता, किन्तु अनन्तताके स्तनोंका दुग्धपान करता है। इसलिए उसे पृथिवी और द्यौके इन लोकोंको भेदते हुए इनसे बाहर निकलकर परे जाना होगा। सौर लोकोंकी दृढ़ उपलब्धिको अधिकृत करते हुए तथा अपने उच्चतम शिखरपर प्रवेश करते हुए उसे अमरताके त्रिविध तत्त्वोंमें निवास करना सीखना होगा।

मर्त्यसत्ता जो कि हम हैं और अमरताकी स्थिति जिसकी हम अभीप्सा कर सकते हैं—उनमें यह अन्तर वैदिक विचार और आचारकी कुंजी है। वेद मनुष्यकी अमरताका सबसे प्राचीन धर्मग्रन्थ है जो हमें उपलब्ध है और ये प्राचीन छन्द अपने अन्दर अमरताके अन्तःप्रेरित अन्वेषकोंके आदिकालीन अनुशासनको छिपाये हैं।

सत्ताका सारतत्त्व, चेतनाका प्रकाश, सक्रिय शक्ति तथा प्रभुत्वपूर्ण आनन्द—ये हैं 'सत्'के घटक तत्त्व। परन्तु हमारे अंदर उनका मेल या तो सीमित, विभक्त, आहत, भग्न और अस्पष्ट हो सकता है या अनन्त, आलोकित, विशाल, अखंड और अक्षत। सीमित और विभक्त सत्ता है अज्ञान। वह है अंधकार और दुर्बलता। वह है दुःख और पीड़ा। बृहत्‌में, समग्र और अनन्तमें हमें सत्ताके सारतत्त्व, ज्योति, शक्ति और आनन्दके वरणीय ऐश्वर्यकी खोज करनी होगी। सीमितता है मर्त्यता। अमरता हमें अनन्तमें संसिद्ध आत्म-प्रभुत्वके रूपमें और दृढ़ विशालताओंमें रहने-सहने और चलने-फिरनेकी शक्तिके रूपमें प्राप्त होती है। इसलिए मनुष्य उसी अनुपातमें अमरताके योग्य बनता है जिस अनुपातमें वह विशाल बनता है और साथ ही वह इस शर्तपर इसके योग्य बनता है कि वह अपनी सत्ताके सारतत्त्वमें निरन्तर बढ़ता जाय, संकल्पकी सदा ऊँची-से-ऊँची ज्वालाको और ज्ञानकी विशाल-से-विशाल ज्योतिको प्रदीप्त करे, अपनी चेतनाकी सीमाओंको और आगे बढ़ाये, अपनी शक्ति, सामर्थ्य और बलके स्तरोंको ऊँचा उठाये और उनके विस्तारको और अधिक विशाल बनाये, अधिकाधिक प्रगाढ़ आनन्दको संपुष्ट करे और अपनी आत्माको अपरिमेय शांतिके अंदर मुक्त कर दे।

विशाल होनेका अर्थ है नये जन्म पाना। अभीप्सा करता हुआ देह-प्रधान जीव आयासशील प्राण-प्रधान मनुष्य बन जाता है; और इस क्रमसे वह अपने-आपको सूक्ष्म मनोमय और चैत्य सत्तामें रूपान्तरित कर लेता है; यह सूक्ष्म विचारक विकसित होता हुआ एक विशाल, बहुपक्षीय और वैश्व मानव बन जाता है जो अपने सब पार्श्वोंमें सत्यके सभी अनेकानेक अन्तः-प्रवाहोंकी ओर खुला होता है; वैश्व आत्मा अपनी उपलब्धिमें ऊँचा उठता हुआ एक आध्यात्मिक मनुष्यके रूपमें उच्चतर शांति, आनन्द और सामञ्जस्यके लिए प्रयत्न करता है। ये हैं आर्य (जनों)के पाँच नमूने, इनमेंसे प्रत्येक एक महान् (आर्य) जाति है जो समग्र मानव प्रकृतिके अपने-अपने प्रदेश या उसकी एक अवस्थाको अधिकृत किये है। परन्तु इनके अतिरिक्त एक पूर्ण एवं निरपेक्ष आर्य भी होता है जो इन अवस्थाओंको

जीतना चाहता है और इन्हें लाँघकर इन सबके परात्पर सामञ्जस्य तक पहुँचना चाहता है।

यह अतिमानसिक सत्य ही है इस महान् आंतरिक रूपांतरका करण। यह मनोमय सत्ताके स्थानपर प्रकाशमय अन्तर्दृष्टि और देवोंके चक्षुको ले आता है, मर्त्य जीवनके स्थानपर अनन्त सत्ताके श्वास और शक्तिको, तमसाच्छन्न और मृत्यु-वशीकृत उपादानके स्थानपर मुक्त और अमर चेतन-सत्ताको स्थापित कर देता है। इसलिए मनुष्यकी प्रगतिका अर्थ होना चाहिये, प्रथम तो, उसका आत्म-विस्तार, एक ऐसी शक्तिशाली प्राणमय सत्तामें आत्म-विस्तार जो क्रिया और अनुभूतिके सब स्पन्दनोंको धारण कर सकनेमें समर्थ हो, साथ ही एक स्पष्ट मानसिक और चैत्य पवित्रताकी स्थितिमें आत्म-विस्तार, दूसरे, इस मानव प्रकाश और बलको अतिक्रान्त कर इसे अनन्त सत्य और अमर संकल्पमें रूपान्तरित कर देना।

हमारा साधारण जीवन और चेतना अंधकारमय हैं या अधिक-से-अधिक वे तारोंसे जगमगाती रात्रि हैं। उस उच्चतर सत्यके सूर्यके उदयसे उषा आती है और उषाके साथ आता है फलप्रद यज्ञ। यज्ञ द्वारा स्वयं उषाको और खोये सूर्यको लौट-लौटकर आनेवाली रात्रिमेंसे वारंवार जीता जाता है एवं प्रकाशमय गोयूथोंको पणियोंकी अँधेरी गुफासे छुड़ा लिया जाता है। यज्ञ द्वारा द्युलोकके प्रचुर ऐश्वर्यकी वृष्टि हमारे लिये बरसाई जाती है और उच्चतर सत्ताकी सप्तविध धाराएँ अतिशय वेगसे हमारी पृथिवीपर उतर आती हैं, क्योंकि ईश्वरीय मनकी चमचमाती विद्युतोंके वज्राघातसे अंधकारंजनक अजगर (अहि)की, सर्व-आवेष्टक और सर्व-निरोधक वृत्रकी कुंडलियाँ छिन्न-भिन्न हो चुकती हैं। यज्ञमें सोमसुराका स्रवण किया जाता है और वह 'हमें अपनी अमरताप्रद आनन्दोल्लासकी धारापर सर्वोच्च द्युलोकोंतक उठा ले जाती है।

हमारा यज्ञ है अपनी सब उपलब्धियों और कार्योंको उच्चतर सत्ताकी शक्तियोंके प्रति आहुति-रूपमें अर्पित कर देना। वैसे तो सारा जगत् ही मूक और असहाय यज्ञ है जिसमें आत्मा अदृश्य देवोंके प्रति स्वयं-समर्पित बलिके रूपमें बँधा हुआ है। मनुष्यके हृदय और मनमें मुक्तिदायक शब्दको ढूंढ़ना होगा, प्रकाशप्रद सूक्तको गढ़ना होगा और उसके जीवनको एक ऐसी सचेत और स्वेच्छाकृत आहुतिके रूपमें परिणत करना होगा जिसमें आत्मा यज्ञकी बलि न बना रहकर उसका स्वामी बन जाय। ठीक प्रकारके यज्ञ द्वारा और उस सर्व-सर्जक एवं सर्वाभिव्यंजक शब्द द्वारा जो उसके हृदयकी गहराइयोंसे देवोंके प्रति एक उदात्त सूक्तके रूपमें उठेगा, मनुष्य

सभी वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है। वह अपनी पूर्णताको जीतकर रहेगा। प्रकृति एक इच्छुक और उत्कंठित वधूके रूपमें उसके पास आकर ही रहेगी। वह उसका द्रष्टा बनकर रहेगा और उसके सम्राट्के रूपमें उसपर शासन करेगा।

प्रार्थना और ईश्वर-आकर्षणके सूक्त द्वारा, स्तुति और ईश्वर-सम्पोषणके सूक्त द्वारा, ईश्वर-प्राप्ति और आत्म-अभिव्यक्तिके सूक्त द्वारा मनुष्य अपने भीतर देवोंको बसा सकता है और अपनी सत्ताके इस नवद्वार गृहमें उनके देवत्वकी सजीव प्रतिमाका निर्माण कर सकता है, दिव्य जन्मोंमें विकसित हो सकता है, अपनी आत्माके रहनेके लिये अपने अन्दर विशाल और प्रकाशमय लोकोंकी रचना कर सकता है। सत्यके शब्दके द्वारा सर्वोत्पादक सूर्य सृष्टि करता है, उस लयके द्वारा ब्रह्मणस्पति लोकोंका आह्वान कर उन्हें बाहर निकाल लाता है और त्वष्टा देव उनका आकार घड़ता है। मानव विचारक, मर्त्य प्राणी अपने बोधिमय हृदयमें सर्वशक्तिशाली शब्दको ढूँढ़कर, अपने मनमें उसे आकार देकर, अपने भीतर अपने अभिलषित सभी रूपों और सभी भूमिकाओं और अवस्थाओंको निर्मित कर सकता है तथा उन्हें उपलब्ध कर अपने लिये सत्य, प्रकाश, बल और आनन्दोपभोगकी समस्त सम्पदाको जीत सकता है। वह अपनी समग्र सत्ताका गठन करता है और बुराईकी सेनाओंका विनाश करनेके लिये अपने देवोंकी सहायता करता है, उसके आध्यात्मिक शत्रुओंके उस सैन्यगणका वध कर दिया जाता है जिसने उसकी प्रकृतिको विभक्त, विदारित तथा संतप्त कर रखा है।

वैदिक यज्ञ और देवताओंके रूपक

यज्ञका निरूपण कभी-कभी यात्रा या समुद्रयात्राके रूपक द्वारा किया जाता है; क्योंकि यह (यज्ञ) चलता है, यह आरोहण करता है; इसका लक्ष्य है विशालता, वास्तविक अस्तित्व, प्रकाश, आनंद। इससे चाहा गया है कि यह अपने उस लक्ष्यपर पहुँचनेके लिये एक उत्तम, सीधा और सुखमय मार्ग खोज निकाले और उसीपर चले,—यह है सत्यका कठिन किंतु आनंदपूर्ण पथ। इसे दिव्य संकल्पके जाज्वल्यमान बल द्वारा परिचालित होकर मानो पर्वतकी एक अधित्यकासे दूसरी अधित्यकापर चढ़ना होता है, इसे मानो पोतके द्वारा सत्ताके समुद्रको पार करना होता है, इसकी नदियोंको लांघना, इसके गहरे गड्ढों और वेगवती धाराओंका अतिक्रमण करना होता है; इसका उद्देश्य होता है असीमता और प्रकाशके सुदूरवर्ती समुद्रपर पहुँचना।

यह कोई सरल या निष्कंटक प्रयाण नहीं है। यह लंबे समयोंतक एक भयंकर और क्रूर युद्ध होता है। निरंतर ही आर्यपुरुषको श्रम करना

होता है, लड़ना होता है और विजय प्राप्त करनी होती है; उसे अथक परिश्रमी, अश्रांत पथिक और कठोर योद्धा होना होता है, उसे एकके बाद एक नगरीका भेदन करना, उसे आक्रांत करना और लूटना, एकके बाद एक राज्यको जीतना, एकके बाद एक शत्रुको पछाड़ना और उसे निर्दयतापूर्वक पददलित करना होता है। उसकी समग्र प्रगति होती है एक संग्राम—देवों और दानवोंका, देवों और दैत्योंका, इन्द्र और वृत्रका, आर्य और दस्युका संग्राम। उसे विरोधी आर्योंका भी खुले क्षेत्रमें सामना करना होता है, क्योंकि पहलेके मित्र और सहायक भी शत्रु बन जाते हैं, आर्य राज्योंके राजा जिन्हें उसे जीतना और अतिलंघन करना होता है, दस्युओंसे जा मिलते हैं और उसके मुक्त और पूर्ण अभिगमनको रोकनेके लिये चरम युद्धमें उसके विरोधमें जा खड़े होते हैं।

परंतु दस्यु हैं स्वाभाविक शत्रु। इन विभाजकों, लुटेरों, हानिकारक शक्तियोंको, इन दानवों, विभाजनकी माताके पुत्रोंको ऋषियोंने कई सामान्य संज्ञाओंसे पुकारा है। ये हैं 'राक्षस'; ये हैं खानेवाले और हड़प जानेवाले, भेड़िये (वृक) और चीर डालनेवाले; ये हैं क्षति पहुँचानेवाले, घृणा करनेवाले; ये हैं द्वेष करनेवाले; ये हैं सीमित करनेवाले या निंदा करनेवाले। पर ऋषि हमें कई विशेष नाम भी बताते हैं। उनमें 'वृत्र', वह सर्प, प्रधान शत्रु है; क्योंकि वह अपनी अंधकारकी कुंडलियोंसे दिव्य सत्ता और दिव्य क्रियाकी सब संभावनाको ही रोक देता है। और जब प्रकाश द्वारा वृत्रका वध कर दिया जाता है तो उसमेंसे उससे भी अधिक भयंकर शत्रु उठ खड़े होते हैं। उनमेंसे एक है शुष्ण जो हमें अपने अपवित्र और असिद्धिकर बलसे पीड़ित करता है, दूसरा है नमुचि जो मनुष्यसे उसकी दुर्बलताओं द्वारा लड़ता है, और कुछ अन्य भी हैं जिनमेंसे प्रत्येक निजी विशेष बुराईके साथ आक्रमण करता है। और फिर हैं बल और पणि—इन्द्रिय-जीवनमें लेन-देन करनेवाले लोभी वनिये, उच्चतर प्रकाश और उसकी ज्योतियोंको चुराने और छुपानेवाले। ये प्रकाश और उसकी ज्योतियोंको केवल अन्धकारसे आवृत कर सकते हैं और उनका दुरुपयोग ही कर सकते हैं। ये हैं अशुचिगण जो देवोंकी संपदाके ईर्ष्यालु होते हैं किन्तु यज्ञ करके कभी उन्हें हवि प्रदान नहीं करना चाहते। हमारी अज्ञानता, बुराई, दुर्बलता तथा अनेकानेक सीमाओंका साकार रूप रखनेवाले ये तथा अन्य व्यक्तित्व—जो इन अज्ञानता आदि पर व्यक्तित्वारोप या इनके मानवीकरणसे कहीं अधिक कुछ हैं—मनुष्यके साथ निरन्तर युद्ध करते रहते हैं। ये उसे समीपतासे घेरे रहते हैं या उसपर दूरसे अपने

तीर मारते रहते हैं अथवा यहाँ तक कि उसके द्वारोंवाले घरमें देवोंके स्थानमें रहते हैं और अपने आकाररहित और हकलाते हुए मुखोंद्वारा तथा अपने बलके अपर्याप्त निःश्वास द्वारा उसके आत्म-अभिव्यंजनको दूषित करते हैं। इन्हें निकाल बाहर करना होगा, वशमें कर मार डालना होगा, महान् और साहाय्यकारक देवताओंकी सहायतासे इन्हें इनके ही निम्न अंधकारमें धकेल देना होगा।

वैदिक देवता विश्वव्यापी देवताके नाम, शक्तियाँ और व्यक्तित्व हैं और वे दिव्य सत्ताके किसी विशेष सारभूत बलका प्रतिनिधित्व करते हैं। ये देव विश्वको अभिव्यक्त करते हैं और इसमें अभिव्यक्त हुए हैं। प्रकाशकी संतान और असीमताके पुत्र ये मनुष्यकी आत्माके अंदर अपने बंधुत्व और सख्यको पहचानते हैं और उसे सहायता पहुँचाना और उसके अंदर अपने-आपको बढ़ाकर उसे बढ़ाना चाहते हैं जिससे कि उसके जगत्को वे अपने प्रकाश, बल और सौंदर्य द्वारा अभिव्याप्त कर सकें। देवता मनुष्यको पुकारते हैं एक दिव्य सख्य और साथीपनके लिये, वे उसे अपने प्रकाशमय भ्रातृत्वके लिये आकृष्ट करते और ऊपर उठाते हैं, वे अंधकार और विभाजनके पुत्रोंके विरोधमें उसकी सहायता आमंत्रित करते और अपनी सहायता उसे प्रदान करते हैं। बदलेमें मनुष्य देवताओंको अपने यज्ञमें आहूत करता है, उन्हें अपनी तीव्रताओं और अपने बलोंकी, अपनी निर्मलताओं और अपनी मधुरताओंकी हवि भेंट करता है—प्रकाशमय गौके दूध और घीकी, आनंदके पौधेके निचोड़े हुए रसोंकी, यज्ञके अश्वकी, अपूप और सुराकी, दिव्य-मनके चमकीले हरिओं (घोड़ों) के लिये अन्नकी भेंट चढ़ाता है। वह उन्हें (देवोंको) अपनी सत्तामें ग्रहण करता है और उनकी देनोंको अपने जीवनमें; वह उन्हें मंत्रों और सोमरसोंसे बढ़ाता है और उनके महान् तथा प्रकाशमय देवत्वोंको पूर्णतया रचता है; वेद कहता है कि वह उन्हें ऐसे रचता है 'जैसे लोहार लोहेको घड़ता है।'

इस सब वैदिक रूपकको समझना हमारे लिये सुगम है, यदि एक बार हमें इसकी कुंजी मिल जाय, परंतु इसे केवल रूपकमात्र मान लेना गलती होगी। देवता निर्विशेष भावोंके या प्रकृतिके मनोवैज्ञानिक और भौतिक व्यापारोंके केवल कविकृत मानवीकरण नहीं हैं। वैदिक ऋषियोंके लिये वे सजीव सद्वस्तुएँ हैं। मानव आत्माके उलट-फेर, अवस्थान्तर एक वैश्व संघर्षके निदर्शक होते हैं, न केवल सिद्धान्तों और प्रवृत्तियोंके संघर्षके किंतु उनको आश्रय देनेवाली तथा उन्हें मूर्त्त करनेवाली वैश्व शक्तियोंके संघर्षके भी। वे वैश्व शक्तियाँ ही हैं देव और दैत्य। वैश्व रंगमंचपर और वैयक्तिक

आत्मामें दोनों जगह एक ही वास्तविक नाटक उन्हीं पात्रों द्वारा खेला जा रहा है।

* * * *

वे **देव** कौनसे हैं जिनका यजन करना है? वे कौन हैं जिनका यज्ञमें आवाहन करना है जिससे कि यह वर्धनशील देवत्व मानवसत्ताके अंदर अभिव्यक्त हो सके और रक्षित रह सके?

सबसे पहला है **अग्नि,** क्योंकि उसके बिना यज्ञिय ज्वाला आत्माकी वेदीपर प्रदीप्त ही नहीं हो सकती। **अग्निकी** वह ज्वाला है **संकल्पकी** सप्तजिह्व शक्ति; **परमेश्वरकी** एक ज्ञानप्रेरित शक्ति। यह सचेतन (जागृत) तथा बलशाली संकल्प हमारी मर्त्यसत्ताके अंदर अमर्त्य अतिथि है, एक पवित्र पुरोहित और दिव्य कार्यकर्त्ता है, पृथिवी और द्यौके बीच मध्यस्थता करनेवाला है। जो कुछ हम हवि प्रदान करते हैं उसे यह उच्चतर **शक्तियोंतक** ले जाता है और बदलेमें उनकी शक्ति और प्रकाश और आनंद हमारी मानवताके अंदर ले आता है।

दूसरा देव है शक्तिशाली **इन्द्र**। वह शुद्ध सत्की शक्ति है जो **भागवत मनके** रूपमें स्वतः-अभिव्यक्त है। जैसे अग्नि एक ध्रुव है, ज्ञानसे आविष्ट **शक्तिका** ध्रुव, जो अपनी धाराको ऊपर पृथ्वीसे द्यौकी तरफ भेजता है, वैसे ही **इन्द्र** दूसरा ध्रुव है, शक्तिसे आविष्ट **प्रकाशका** ध्रुव, जो द्यौसे पृथ्वीपर उतरता है। वह हमारे इस जगत्में एक पराक्रमी वीर योद्धाके रूपमें अपने चमकीले घोड़ोंके साथ उतरता है, और अपनी विद्युतों एवं वज्रोंके द्वारा अंधकार तथा विभाजनका विनाश करता है, जीवनदायक दिव्य जलोंकी वर्षा करता है, **शुनी** (अंतर्ज्ञान)की खोजके द्वारा खोयी या छिपी हुई **ज्योतियोंको** ढूंढ़ निकालता है, हमारी मनोमय-सत्ताके द्युलोकमें **सत्यके सूर्यको** ऊँचा चढ़ा देता है।

सूर्य-देवता है उस परम सत्यका स्वामी—सत्ताके सत्य, ज्ञानके सत्य, क्रिया और प्रक्रियाके, गति और व्यापारके सत्यका स्वामी। इसलिये **सूर्य** हैं सब वस्तुओंका स्रष्टा, बल्कि अभिव्यंजक (क्योंकि सर्जनका अर्थ है बाहर ले आना, **सत्य** और **संकल्प** द्वारा प्रकट कर देना), और यह हमारी आत्माओंका पिता, पोषक तथा प्रकाशप्रदाता है। जिन ज्योतियोंको हम चाहते हैं वे इसी **सूर्यके** गोयूथ हैं, गौएँ हैं। यह सूर्य हमारे पास दिव्य उषाओंके पथसे आता है और हमारे अंदर रात्रिमें छिपे पड़े जगतोंको एकके बाद एक खोलता तथा प्रकाशित करता जाता है जबतक कि यह हमारे लिये सर्वोच्च, परम आनंदको नहीं खोल देता।

इस आनंदकी प्रतिनिधिभूत देवता है **सोम**। उसके आनंदका रस (सुरा) छिपा हुआ है पृथिवीके प्ररोहोंमें, पौधोंमें और सत्ताके जलोंमें; यहाँ हमारी भौतिक सत्तातकमें उसके अमरतादायक रस हैं और उन्हें निकालना है, उनका सवन करना है और उन्हें सब देवताओंको हविरूपमें प्रदान करना है, क्योंकि सोमरसके बलसे ही ये देव बढ़ेंगे और विजयशाली होंगे।

इन प्राथमिक देवोंमेंसे प्रत्येकके साथ अन्य देव जुड़े हैं जो उसके अपने व्यापारसे उद्गत व्यापारोंको पूरा करते हैं। क्योंकि यदि सूर्यके सत्यको हमारी मर्त्य प्रकृतिमें दृढ़तया स्थापित होना है तो कुछ पूर्ववर्ती अवस्थाएँ हैं जिनका स्थापित हो जाना अनिवार्य है; एक बृहत् पवित्रता और स्वच्छ विशालता जो समस्त पाप और कुटिल मिथ्यात्वकी विनाशक है—यह है **वरुण** देव; प्रेम और समग्रबोधकी एक प्रकाशमय शक्ति जो हमारे विचारों, कर्मों और आवेगोंको आगे ले जाती और उन्हें सामंजस्ययुक्त कर देती है;—यह है **मित्र** देव; सुस्पष्ट-विवेचनशील अभीप्सा तथा प्रयत्नकी एक अमर शक्ति, पराक्रम—यह है **अर्यमा**; सब वस्तुओंका समुचित उपभोग करनेकी एक सुखमय सहज अवस्था जो पाप, भ्रांति और पीड़ाके दुःस्वप्नका निवारण करती है—यह है **भग**। ये चारों सूर्यके सत्यकी शक्तियाँ हैं।

सोमका समग्र आनंद हमारी प्रकृतिमें पूर्णतया स्थापित हो जाय इसके लिये मन, प्राण और शरीरकी एक सुखमय, प्रकाशमान और अविकलांग अवस्थाका होना आवश्यक है। यह अवस्था हमें प्रदान की जाती है युगल **अश्विनोंके** द्वारा। प्रकाशकी दुहितासे विवाहित, मधुको पीनेवाले, पूर्ण संतुष्टियोंको लानेवाले, व्याधि और अंगभंगके भैषज्यकर्त्ता ये अश्विनौ हमारे ज्ञानके भागों और हमारे कर्मके भागोंको अधिष्ठित करते हैं और हमारी मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक सत्ताको एक सुगम और विजयशाली आरोहणके लिये तैयार कर देते हैं।

मानसिक रूपोंके निर्माताके तौरपर इन्द्रके, दिव्य मनके सहायक होते हैं उसके शिल्पी **ऋभुगण**। ये ऋभु हैं मानवीय शक्तियाँ जिन्होंने यज्ञके संपादनसे और सूर्यके ऊँचे निवासस्थानतक अपने उज्ज्वल आरोहण द्वारा अमरत्व प्राप्त किया है और जो अपनी इस सिद्धिकी पुनरावृत्ति किये जानेमें मनुष्यजातिकी सहायता करते हैं। ये मनके द्वारा इन्द्रके घोड़ोंका निर्माण करते हैं, अश्विनौके रथका, देवताओंके शस्त्रोंका तथा यात्रा एवं युद्धके समस्त साधनोंका निर्माण करते हैं। परंतु सत्यके प्रकाशके प्रदाता तथा वृत्रहंताके रूपमें इन्द्रके सहायक हैं **मरुत्**। ये मरुत् संकल्पकी तथा वातिक

या प्राणिक बलकी शक्तियाँ हैं जिन्होंने विचारके प्रकाश और आत्मप्रकटनकी गिराको प्राप्त किया है। ये समस्त विचार और वाणीके पीछे उसके प्रेरकके रूपमें रहते हैं और परम चेतनाके प्रकाश, सत्य और आनंदको पहुँचनेके लिये युद्ध करते हैं।

और फिर स्त्रीलिंगी शक्तियाँ भी हैं; क्योंकि देव पुरुष और स्त्री दोनों है और देवता भी या तो सक्रिय करनेवाली आत्माएँ हैं या निष्प्रतिरोध रूपसे कार्य संपन्न करनेवाली और यथाक्रम विन्यास करनेवाली शक्तियाँ हैं। उनमें सबसे पहले आती है अदिति, देवोंकी असीम माता, और फिर उसके अतिरिक्त सत्य चेतनाकी पाँच शक्तियाँ भी हैं—मही अथवा भारती है वह विशाल वाणी जो सब वस्तुओंको दिव्य स्रोतसे हमारे लिये ले आती है; इडा है सत्यकी वह दृढ़ आदिम वाणी जो हमें इसका सक्रिय दर्शन प्रदान करती है; सरस्वती है इस (सत्य)की बहती हुई धारा और इसकी अंतःप्रेरणाकी वाणी; सरमा, अंतर्ज्ञानकी देवी है वह द्युलोककी शुनी जो अवचेतनाकी गुफामें उतर आती है और वहाँ छिपी हुई ज्योतियोंको ढूँढ़ लेती है; फिर है दक्षिणा जिसका व्यापार होता है ठीक-ठीक विवेचन करना, क्रिया और हविका विनियोग करना तथा यज्ञमें प्रत्येक देवताको उसका भाग वितीर्ण करना। इसी प्रकार प्रत्येक देवकी भी अपनी-अपनी एक स्त्रीलिंगी शक्ति है।

इस सब क्रिया और संघर्ष और आरोहणके आधार हैं हमारा पिता द्यौ और हमारी माता पृथिवी, देवोंके पितरौ, जो क्रमशः हमारी शुद्ध मानसिक एवं आंतरात्मिक चेतनाको तथा भौतिक चेतनाको धारण करते हैं। इनका विस्तृत और मुक्त अवकाश हमारी सिद्धिके लिये एक आवश्यक अवस्था है। वायु, प्राणका अधिपति, इन दोनोंको अंतरिक्ष, प्राणशक्तिके लोकके द्वारा जोड़ता है। और फिर अन्य देवता भी हैं—पर्जन्य, द्युलोककी वर्षा देनेवाला; दधिक्रावा, दिव्य युद्धाश्व, अग्निकी एक शक्ति; आधारका रहस्यमय सर्प (अहिर्बुध्न्य), त्रित आप्त्य जो भुवनके तीसरे लोकमें हमारी त्रिविध सत्ताको निष्पन्न करता, सिद्ध करता है; इनके अतिरिक्त और भी हैं।

इन सभी देवत्वोंका विकास हमारी पूर्णताके लिये आवश्यक है। और वह पूर्णता हमें प्राप्त करनी चाहिये अपने सभी स्तरोंपर—पृथ्वीकी विस्तीर्णतामें, हमारी भौतिक सत्ता और चेतनामें; प्राणिक वेग और क्रिया और उपभोगके तथा वातिक स्पंदनके पूर्ण बलमें, जो घोड़े (अश्व)के रूपकसे निरूपित किया गया है, जिस घोड़ेको हमें अपने प्रयत्नोंको आश्रय देनेके लिये अवश्य सामने लाना चाहिये; भावमय हृदयके पूर्ण आनंदमें और

मनकी एक चमकीली उष्णता और निर्मलतामें, हमारी समस्त बौद्धिक और अंतर्मानसिक सत्तामें; अतिमानस प्रकाशके आगमनमें, उषा तथा सूर्यके एवं गौओंकी ज्योतिर्मयी माताके आगमनमें, जो हमारी सत्ताका रूपांतर करनेके लिये आते हैं; क्योंकि इसी प्रकार हम सत्यको अधिकृत करते हैं, सत्यके द्वारा आनंदकी अद्भुत महान् लहरको, आनंदमें निरपेक्ष अस्तित्वकी असीम चेतनाको आयत्त करते हैं।

तीन महान् देवता, जो पौराणिक त्रिमूर्त्तिके मूल हैं और परम देवकी तीन वृहत्तम शक्तियाँ हैं, इस क्रमोन्नति और ऊर्ध्वमुख विकासको संभव बनाते हैं; ये ही ब्रह्मांडकी इन सब जटिलताओंको उसकी विशाल रूप-रेखाओंमें और मूलभूत शक्तियोंमें धारण करते हैं। उनमेंसे पहला ब्रह्मणस्पति है स्रष्टा, वह शब्दके द्वारा, अपने रवके द्वारा सर्जन करता है—इसका अभिप्राय हुआ कि वह अभिव्यक्त करता है, समस्त सत्ताको और सब सचेतन ज्ञानको तथा जीवनकी गतिको और अंतिम परिणत रूपोंको निश्चेतनाके अंधकारमेंसे बाहर निकालकर प्रकट कर देता है। फिर है रुद्र, प्रचंड और दयालु, ऊर्जस्वी देव, जो जीवनके अपने-आपको सुस्थित करनेके लिये होनेवाले संघर्षका अधिष्ठाता है; वह है परमेश्वरकी शस्त्रसज्जित, मन्युयुक्त तथा कल्याणकारी शक्ति जो सृष्टिको जबर्दस्ती ऊपरकी ओर उठाती है, जो कोई विरोध करता है उस सबपर प्रहार करती है, जो कोई गलती करता है या प्रतिरोध करता है उस सबको चाबुक लगाती है, जो कोई क्षत हुआ है और दुःखी है और शिकायत करता है तथा शरण आता है उस सबकी मरहमपट्टी करती, उसे चंगा कर देती है। तीसरा है विशाल, व्यापक गतिवाला विष्णु जो अपने तीन पद-क्रमोंमें इन सब लोकोंको धारण करता है। यह विष्णु ही हमारी सीमित मर्त्यसत्ताके अंदर इन्द्रकी क्रिया होनेके लिये विस्तृत स्थान बनाता है; उसके द्वारा और उसके साथ ही हम उसके उच्चतम पदोंतक आरोहण कर पाते हैं जहाँ उस मित्र, प्रिय, परम सुखदाता देवको हम हमारी प्रतीक्षा करते हुए पाते हैं।

हमारी यह पृथ्वी, जो सत्ताके अंधकारमय निश्चेतन समुद्रमेंसे निर्मित हुई है, अपनी उच्च रचनाओंको और अपने चढ़ते हुए शिखरोंको द्युलोककी ओर ऊपर उठाती है। मनके द्युलोककी अपनी ही निजी रचनाएँ हैं, पर्जन्य हैं जो अपने विद्युत्-प्रकाशोंको तथा अपने जीवनजलोंको प्रदान करते हैं; निर्मलताकी तथा मधुकी धाराएँ नीचेके अवचेतन समुद्रमेंसे उठकर ऊपर चढ़ती हैं और ऊपरके अतिचेतन समुद्रको पहुँचना चाहती हैं; और ऊपरसे वह समुद्र अपनी प्रकाशकी और सत्य और आनंदकी नदियोंको नीचेकी ओर,

हमारी भौतिक सत्ताके अंदरतक भी, वहाता है। इस प्रकार भौतिक प्रकृतिके रूपकोंके द्वारा वैदिक कवि हमारे आध्यात्मिक आरोहणका गीत-गान करते हैं।

वह आरोहण प्राचीन पुरुषों, मानव-पूर्वपितरों, द्वारा पहले ही संपन्न किया जा चुका है और उन महान् पूर्वजोंकी आत्मा अब भी अपनी संतानोंकी सहायता करती है; क्योंकि नवीन उषाएँ पुरानियोंकी पुनरावृत्ति करनेवाली होती हैं तथा भविष्यकी उषाओंसे मिलनेके लिये प्रकाशमें आगे झुकती हैं: कण्व, कुत्स, अत्रि, कक्षीवान्, गोतम, शुनःशेप आदि ऋषि विशेष प्रकारकी आध्यात्मिक विजयें प्राप्त करके आदर्श स्थापित कर चुके हैं जिनकी वे विजयें मानवजातिकी अनुभूतिमें सतत पुनरावृत्त होनेकी प्रवृत्ति रखती हैं। सप्त ऋषि, वे अंगिरस्, मंत्रगान करने, गुफाको तोड़ने, खोयी हुई गौओंको खोजने, छिपे हुए सूर्यको पुनः प्राप्त करनेको उद्यत अब भी और सदैव प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस प्रकार आत्मा सहायता करनेवालों और हानि पहुँचानेवालों, मित्रों और शत्रुओंसे भरा हुआ एक युद्धक्षेत्र है। यह सब सजीव है, भरपूर है, वैयक्तिक है, सचेतन है, सक्रिय है। यज्ञ और शब्दके द्वारा हम अपने निजके लिये प्रकाशयुक्त द्रष्टाओंको, हमारे लिये लड़नेवाले वीरोंको, अपने कार्योंकी संतानोंको उत्पन्न करते हैं। ऋषिवृंद और देवता हमारे लिये चमकीली गौएँ खोज लाते हैं; ऋभुगण मनके द्वारा देवोंके रथ और उनके घोड़ों और उनके चमकते हुए शस्त्र निर्मित करते हैं। हमारा जीवन एक घोड़ा है जो हिनहिनाता हुआ और सरपट दौड़ता हुआ आगे-आगे और ऊपर-ऊपर हमें चढ़ाये लिये जा रहा है; इसकी शक्तियाँ द्रुतगामी अश्व हैं, मनकी मुक्त हुई शक्तियाँ विस्तृत पंखोंवाले पक्षी हैं; यह मानसिक सत्ता या यह आत्मा ऊपरकी ओर उड़नेवाला हंस या श्येन है जो सैकड़ों लोह-भित्तियोंको तोड़कर बाहर निकल आता है और आनंद-धामके ईर्ष्यालु संरक्षकोंसे सोमकी सुराको छीन लाता है। प्रत्येक प्रकाशपूर्ण परमेश्वरोन्मुख विचार जो हृदयकी गुप्त अगाध गहराइयोंसे निकलता है एक पुरोहित है और एक स्रष्टा है और वह प्रकाशमय सिद्धि तथा पराक्रमपूर्ण कृतार्थताके दिव्यगीतका गान करता है। हम सत्यके चमकीले सुवर्णको खोजते हैं; हम द्युलोककी निधिकी कामना करते हैं।

मनुष्यका आत्मा सत्ताओंसे भरा एक संसार है, एक राज्य है जिसमें परम विजय पानेके लिये या उसमें बाधाएँ डालनेके लिये सेनाएँ संघर्ष करती हैं, एक घर है जिसमें देवता हमारे अतिथि हैं और जिसे असुर अधिकृत कर लेना चाहते हैं; इसकी शक्तियोंकी पूर्णता और इसकी सत्ताकी विशालता

दिव्यसत्रके लिये (देवताओंके आकर बैठनेके लिये) यज्ञका आसन (बर्हिः) विछाकर उसे व्यवस्थित और पवित्र कर देती हैं।

ये हैं वेदके कुछ एक मुख्य रूपक और हैं उन पूर्व-पुरखोंकी शिक्षाकी वहुत संक्षिप्त और अपर्याप्त रूपरेखाएं। इस प्रकार समझा हुआ ऋग्वेद एक अस्पष्ट, गड़वड़से भरा और जंगली गीतावलि नहीं रहता, यह वन जाता है 'मानवताका एक ऊँची अभीप्सासे युक्त गीतपाठ, इसके सूक्त हैं आत्माकी अपना अमर आरोहण करते हुए गायी जाती वीरगाथाके आख्यान।

कम-से-कम यह है; वेदमें और जो कुछ प्राचीन विज्ञान, लुप्त विद्या, पुरानी मनोभौतिक परंपरा आदि हों उन्हें खोजना अभी शेष है।

अग्नि-देवता के सूक्त

अग्नि—भागवत संकल्पशक्ति

इस जाज्वल्यमान देवताका नाम अग्नि एक ऐसी धातुसे वना है जिसके अर्थका विशेष गुण है प्रमुख शक्ति या तीव्रता, वह चाहे अवस्था, क्रिया एवं संवेदनमें हो या गतिमें। परंतु इस सारभूत अर्थके गुणोंमें तारतम्य होता रहता है। इसका एक अर्थ है ज्वालामें उज्ज्वलता जिसके कारण इसका प्रयोग आगके लिए होता है। इसका अर्थ है गति, विशेषकर, वक्र या सर्पिल गति। इसका अर्थ है वल एवं शक्ति, सौन्दर्य एवं शोभा, नेतृत्व एवं प्रधानत्व। साथ ही इसने कुछ एक भावप्रधान मूल्योंको भी विकसित किया है जो संस्कृतमें लुप्त हो चुके हैं, परंतु ग्रीकमें वचे हुए हैं, जैसे एक ओर तो क्रोधात्मक आवेश और दूसरी ओर आनंद व प्रेम।

वैदिक देव अग्नि उन प्राचीन और प्रधान शक्तियोंमें प्रथम है जो वृहत् और रहस्यमय देवाधिदेवसे उद्भूत हुई हैं। उस देवकी सचेतन शक्तिके द्वारा ही लोक उत्पन्न हुए हैं और वे उस अन्तर्यामीके गुप्त और आन्तरिक नियमनके द्वारा अन्दरसे शासित होते हैं। अग्नि इस देवका एक आकार एवं तेजस्वी रूप है, इसका शक्तिशाली तपस् और ज्वालामय संकल्प है। जगतोंके निर्माणके लिए ज्ञानकी एक प्रज्वलित शक्तिके रूपमें वह अवतरित होता है और उनके अंदर विराजमान वह प्रच्छन्न देव गति और क्रियाका सूत्रपात करता है। वह दिव्य चिन्मय शक्ति अपने अंदर अन्य सब देवोंको इस प्रकार धारण किये है जिस प्रकार चक्रकी नाभि अपने अरोंको धारण किये रहती है। क्रियाकी समस्त शक्ति, सत्ताका वल, रूपका सौन्दर्य, प्रकाश और ज्ञानकी दीप्ति, महिमा एवं महत्ता—ये सब अग्निकी अभिव्यक्ति हैं। और जब ज्वाला और शक्तिके इस देवको संसारकी कुटिलताओंके आवरणमेंसे सर्वथा मुक्त कर पूर्णतया चरितार्थ कर दिया जाता है तव वह प्रेम, सामञ्जस्य और प्रकाशके सौर देवकें रूपमें अर्थात् मित्रके रूपमें प्रकट हो उठता है जो मनुष्योंको सत्यकी ओर ले जाता है।

परंतु वेदवर्णित विश्वमें अग्नि पहले-पहल एक दिव्य शक्तिकी मुखाकृति लिये प्रकट होता है। वह शक्ति जाज्वल्यमान ताप और प्रकाशका घनीभूत

पुंज होती है और जड़प्रकृतिमें सब पदार्थोंको आकार देती है, उन्हें अभिभूत करती, उनके अंदर प्रवेश करती और उन्हें आच्छादित करती है, उन्हें हड़पकर नये सिरेसे बनाती है। वह कोई ऐसी-वैसी आग नहीं, उसकी ज्वाला है शक्तिमय ज्वाला, दिव्य ज्ञानके प्रकाशसे परिपूर्ण। अग्नि है विश्वमें विद्यमान द्रष्टा-संकल्प (कविक्रतुः), अपने सब कार्योंमें भूल-भ्रांतिसे रहित संकल्प। अपने आवेग और बलमें वह जो कुछ भी करता है वह सब उसके अंदरके नीरव सत्यके प्रकाशसे परिचालित होता है। वह है सत्य-सचेतन आत्मा, द्रष्टा, पुरोहित और कर्मी,—मनुष्यके अंदर अमर कार्य-कर्त्ता। उसका ध्येय है—जिस किसी चीजपर वह कार्य करे उसे शुद्ध-पवित्र कर देना और प्रकृतिमें संघर्ष करती आत्माको तमस्से ज्योतिकी ओर उठा ले जाना, संघर्ष एवं संतापसे प्रेम और हर्षकी ओर, शोक-ताप और श्रमसे शांति और आनंदकी ओर ऊपर उठा ले जाना। सो वह देवका संकल्पबल व ज्ञान-बल ही है; जड़प्रकृति और उसके रूपोंका गुप्त निवासी, मानवका प्रत्यक्ष और प्रिय अतिथि अग्नि ही जगत्के प्रतीयमान प्रमादों और संभ्रमोंके बीच वस्तुविषयक सत्यके विधानकी रक्षा करता है। अन्य देव उषाके साथ ही जागते हैं, परंतु अग्नि निशामें भी जागता रहता है। वह अंधकारमें भी, जहाँ न चाँद होता है न तारा, अपनी दिव्य दृष्टिसे युक्त रहता है। दिव्य संकल्प और ज्ञानकी ज्वाला निश्चेतन अथवा अर्धचेतन वस्तुओंके घने-से-घने अंधकारमें भी दिखाई देती है। यह निर्भ्रान्त कर्मी तब भी उपस्थित होता है जब हम कहीं भी पथ-प्रदर्शक मनका सचेतन प्रकाश नहीं देखते।

अग्निके बिना कोई यज्ञ संभव नहीं। वह एक साथ ही यज्ञवेदीकी ज्वाला है और आहुतिका वहन करनेवाला पुरोहित भी। जब मनुष्य अपनी रात्रिसे जागकर अपने अंदर और बाहरकी क्रियाओंको अधिक सच्ची और ऊँची सत्ताके देवताओंके प्रति अर्पित करने और इस प्रकार मर्त्यतासे उस दूरवर्ती अमरतामें उठ जानेका संकल्प करता है जो उसका लक्ष्य और अभीष्ट वस्तु है, तो ऊर्ध्वमुख अभीप्साकारी बल और संकल्पकी इस ज्वालाको ही उसे प्रज्वलित करना होगा। इसी अग्निके अंदर उसे यज्ञकी हवि डालनी होगी। क्योंकि यही देवोंको हविकी भेंट देता है और प्रति-फलके रूपमें समस्त आध्यात्मिक संपदाओं—दिव्य जलधारा, ज्योति, शक्ति और द्युलोककी वृष्टिको नीचे उतार लाता है। यही देवोंका आह्वान करता है और यही उन्हें यज्ञके घर तक ले आता है। अग्नि एक ऐसा ऋत्विक् है जिसे मनुष्य अपने आध्यात्मिक प्रतिनिधिके रूपमें अपने सामने

रखता है (पुरोहितः), वह एक ऐसा संकल्प एवं शक्ति है जो उसके अपने संकल्प एवं शक्तिसे अधिक महान्, उच्च और निर्भ्रान्त है, जो उसके लिए यज्ञके कार्य करती है, हविके द्रव्योंको शुद्ध करती है, उन्हें उन देवोंके प्रति भेंट करती है जिनका उसने यज्ञके दिव्य क्रियाकलापमें आह्वान किया है, अपने कार्योंके यथार्थ क्रम और कालका निर्धारण करती है एवं याज्ञिक विकासकी यात्राका संचालन करती है। प्रतीकात्मक पौरोहित्यके इन और अन्य विविध कार्य-व्यापारोंको जिनका प्रतिनिधित्व बाह्य यज्ञमें भिन्न-भिन्न यज्ञकर्त्ता पुरोहित करते हैं, अकेला अग्नि ही निष्पन्न करता है।

अग्नि यज्ञका नेता है और अंधकारकी शक्तियोंके विरुद्ध महान् यात्राम उसकी रक्षा करता है। इस दिव्य शक्तिके ज्ञान और उद्देश्यपर पूर्णतया विश्वास किया जा सकता है। वह आत्माका मित्र और प्रेमी है और इसलिए उसे धोखेसे निम्न कोटिके अशुभ देवताओंके हाथ नहीं सौंपेगा। यहाँतक कि उस मनुष्यके लिए भी जो रात्रिमें बहुत दूर बैठा है, मानवीय अज्ञानके अंधकारसे घिरा है, यह ज्वाला एक ज्योतिका काम करती है। वह ज्योति जब पूर्णतया प्रज्वलित हो जाती है और जितना-जितना वह अधिकाधिक ऊँची उठती है तब और उतना-उतना वह अपने आपको सत्यके विशाल प्रकाशमें विस्तृत कर लेती है। दिव्य उषासे मिलनेके लिए ऊपर द्युलोककी ओर धधकती हुई वह प्राणिक या वातिक अंतरिक्षलोकमेंसे और हमारे मानसिक आकाशोंमेंसे होती हुई ऊपर उठती है और अंतमें प्रकाशके स्वर्गमें प्रवेश करती है जो ऊर्ध्वमें उसका परम धाम है। वहाँ शाश्वत आनंदके आधाररूप सनातन सत्यमें सदाके लिए आनन्दोल्लसित होकर प्रकाशमान अमर देव अपने दिव्य सवनों (यज्ञके अधिवेशनों)में विराजमान हैं और असीम परम आनन्दकी मदिराका पान करते हैं।

यह सच है कि यहाँ प्रकाश छिपा है। अग्नि यहाँ अन्य देवोंकी तरह विश्वके माता-पिताओं, द्यौ और पृथ्वी, मन और शरीर, आत्मा और जड़-प्रकृतिके शिशुके रूपमें प्रतिमूर्त है। यह पृथ्वी उसे अपनी जड़ सत्तामें गुप्त रूपमें धारण किये है और उसके पिताके सचेतन कार्योंके लिए उसे उन्मुक्त नहीं करती। यह उसे अपने सभी उद्भिदों व पौधोंमें, अपनी वृक्ष-वनस्पतियोंमें छिपाये रखती है जो उसकी ऊष्माओंसे भरे आकार हैं, ऐसे पदार्थ हैं जो आत्माके लिए उसके आनन्दोंको अपने अंदर सुरक्षित रखे हैं। परंतु अंतमें यह उसे उत्पन्न करके रहेगी। यह नीचेकी अरणि है और मनोमय सत्ता ऊपरकी। नीचेकी अरणिपर ऊपरकी अरणिके दबावसे अग्निकी ज्वाला उत्पन्न होगी। परंतु दबावसे ही, एक प्रकारके

मंथनसे ही, वह अग्नि पैदा होता है। इसलिए उसे शक्तिका पुत्र (सहसस्पुत्रः) कहा जाता है।

जब अग्नि बाहर प्रकट होता है तब भी वह अपनी क्रियाओंमें बाह्य रूपसे धूमिल ही रहता है। शुरूमें ही वह शुद्ध संकल्प नहीं बन जाता, चाहे असलमें वह सदा ही शुद्ध है, परंतु पहले वह प्राणिक संकल्प हमारे अंदर स्थित प्राणकी कामना, धूमाच्छन्न ज्वाला, हमारी कुटिलताओंके पुत्र एवं अपनी चरागाहमें घास चरते पशुका तथा हड़प कर जानेवाली कामनाकी एक ऐसी शक्तिका रूप धारण करता है जो पृथ्वीकी वनस्पतियोंपर पलती है और उन सब चीजोंका विदारण और विध्वंस कर देती है जिनपर वह पलती है, और जहाँ पृथ्वीकी वनस्थलियोंका हर्ष और गौरव-गरिमा विद्यमान थी वहाँ वह अपने मार्ग-चिह्नके रूपमें काली एवं झुलसी लीक छोड़ देती है। परंतु इस सबमें शोधनका कार्य चल रहा है जो यज्ञकर्त्ता पुरुषके लिए सचेतन बन जाता है। अग्नि नष्ट करता एवं शुद्ध-पवित्र करता है। यहाँतक कि उसकी क्षुधा और कामना भी, जो अपने क्षेत्रमें अनन्त है, उच्चतर वैश्व व्यवस्थाकी स्थापनाकी तैयारी करती है। उसके आवेशका धुआँ वशमें कर लिया जाता है और यह प्राणिक संकल्प-शक्ति, प्राणमें अवस्थित यह धधकती हुई कामना एक अश्व बन जाती है जो हमें ऊपर सर्वोच्च स्तरोंतक ले जाता है,—ऐसा श्वेत अश्व जो उषाओंके आगे-आगे सरपट दौड़ता है।

अपनी धूम्रावृत चेष्टासे उन्मुक्त होकर वह हमारे आकाशोंमें ऊँचा प्रज्वलित होता है, शुद्ध मनके व्योमको मापता है तथा द्युलोककी पीठपर जा चढ़ता है। वहाँ उस सूक्ष्म-विरल स्तरपर उसका देवता त्रित आप्त्य ऊँची लपटें उठाती इस शक्तिको अपने हाथमें लेता है और इससे एक ऐसा सुतीक्ष्ण शस्त्र गढ़ता है जो समस्त अशुभ और अज्ञानका विनाश कर डालेगा। यह द्रष्टा-संकल्प ज्ञानकी दीप्तियोंका, सूर्यकी उन गौओंका संरक्षक बन जाता है जो द्वैध और अंधकारके पुत्रोंके आक्रमणसे बची रहकर, ज्ञानमय संकल्पकी योद्धृशक्तिसे रक्षित होती हुई जीवनकी चरागाहोंमें चरती हैं। वह अमरता प्राप्त करता है और मानवीय प्राणीमें अपने सत्य और आनन्दके विधानको अक्षुण्ण बनाये रखता है। अंतमें हम असत्य और भूल-भ्रांतिकी समस्त कुटिलताओंको पार कर जाते हैं, नीची, टूटी-फूटी और टेढ़ी-मेढ़ी भूमिसे ऊपर उठकर सीधे-सरल मार्ग और ऊँचे एवं खुले धरातलोंमें पहुँच जाते हैं। वहाँ संकल्प और ज्ञान एक हो जाते हैं। सिद्धि-प्राप्त आत्माकी प्रत्येक अन्तःप्रवृत्ति उसकी अपनी सत्ता (स्व-भाव)के

सारभूत सत्यसे सचेतन हो जाती है, प्रत्येक कार्य सचेतन, हर्षमय और विजयी रूपसे आत्माको परिपूर्ण बनाता है। ऐसा है वह देव जिसतक वैदिक अग्नि यज्ञ करनेवाले आर्यको ऊँचा उठा ले जाता है। अमर-देव मर्त्यमें तथा उसके यज्ञके द्वारा विजयी होता है। विचारक, योद्धा, श्रमशील मानव एक द्रष्टा, आत्म-शासक एवं प्रकृतिका राजा बन जाता है।

वेद इस दिव्य ज्वालाका भव्य और समृद्ध रूपकोंकी शृंखलाके द्वारा वर्णन करता है। वह है यज्ञका हर्षोल्लसित पुरोहित, अपने आनन्दसे मदोन्मत्त भगवत्संकल्प, युवा ऋषि, निद्रारहित दूत, इस घरमें सदा जागरूक ज्वाला, हमारे द्वारयुक्त वास-स्थानका स्वामी, प्रिय अतिथि, प्राणीके अंदर विराजमान प्रभु, ज्वालामय शिखाओंका द्रष्टा, दिव्य शिशु, पवित्र और निष्कलंक देव, अजेय योद्धा, मार्गका ऐसा नेता जो यात्रामें प्रजाओंके आगे-आगे चलता है, मर्त्योंमें अमर, मनुष्यमें देवों द्वारा स्थापित कर्मकर्त्ता, ज्ञानमें अप्रतिहत, सत्तामें अनन्त, सत्यका विशाल और जाज्वल्यमान सूर्य, यज्ञका धारक और उसके सोपानोंका द्रष्टा, दिव्य प्रत्यक्षबोध, प्रकाश, अन्तर्दर्शन और दृढ़ आधार। संपूर्ण वेदमें इस शक्तिशाली और तेजोमय देवताका स्तुति-सत्कार करनेवाले सूक्तोंमें ही हमें ऐसे सूक्त मिलते हैं जो काव्यमय रंगतमें अतीव भव्य हैं, मनोवैज्ञानिक सुझावमें गंभीर हैं एवं अपने रहस्यमय उन्मादमें उदात्त। यह ऐसा है मानो उसकी अपनी ज्वाला, पुकार एवं ज्योतिने उसके कवियोंकी कल्पनाशक्तिको अपने अधिकारमें करके उसमें धधकता हुआ हर्षोन्माद पैदा कर दिया था।

काव्यमय रूपकोंके इस अंबारमेंसे कुछ एकका स्वरूप प्रतीकात्मक है और वे दिव्य ज्वालाके अनेक जन्मोंका वर्णन करते हैं। उनका असाधारण विविधताके साथ विस्तृत वर्णन किया गया है। उनमें कहीं-कहीं वह पिता द्यौका—मन या आत्माका—और माता पृथ्वीका—शरीर या जड़ प्रकृतिका शिशु है। कहीं-कहीं वह इन दोनों अरणियोंसे उत्पन्न ज्वाला है। कहीं-कहीं द्यौ और पृथ्वीको उसकी दो माताएँ कहा गया है, जहाँ कि रूपक अधिक प्रत्यक्ष रूपसे शुद्ध मानसिक, चैत्य तथा भौतिक चेतनाका प्रतीक है। उसकी स्तुति सात माताओंके शिशुके रूपमें भी की गई है—क्योंकि उसका पूर्ण जन्म उन सात तत्त्वोंकी अभिव्यक्तिका परिणाम है जो हमारी चेतन सत्ताका गठन करते हैं और जो क्रमशः सात लोकोंके आधार हैं—उनमेंसे तीन तो हैं अनन्त सत्ताके आध्यात्मिक तत्त्व, तीन सान्त सत्ताके कालगत तत्त्व और एक इन दोनोंके बीचका। अन्य देवोंकी तरह उसे भी सत्यसे उत्पन्न कहा गया है। सत्य एक साथ ही उसका जन्मस्थान और धाम है। कहीं-

कहीं यह कहा गया है कि सात प्रियतम स्वामियोंने उसे परम प्रभुके लिए जन्म दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ प्रतीक उसके उद्‌गमको विशुद्ध आनन्दरूपी उस दूसरे तत्त्वतक पीछे ले जाता है जो सृष्टिका आदि कारण है। उसका एक आकार है सौर ज्योति और ज्वालाका, दूसरा है द्युलोकीय जो मनमें है, तीसरा वह जो नदियोंमें निवास करता है। उषा और निशा उसीसे उन्मुक्त होती हैं, ज्ञान और अज्ञान हमारे द्युलोकोंपर एकके बाद एक अपना अधिकार स्थापित करके दिव्य शिशुको बारी-बारीसे स्तन्यपान कराते हैं और फिर भी प्राणके स्वामी मातरिश्वाने उसे देवोंके लिए इस ढंगसे रोपा है कि वह पृथ्वीके उद्भिदोंमें छिपा है, उसके प्राणियोंमें, मनुष्य, पशु और पौधेमें गुप्त रूपमें स्थित है, शक्तिशाली धाराओंमें प्रच्छन्न रूपसे निहित है। ये धाराएँ ज्योतिर्मय लोककी सात नदियाँ हैं जो द्युलोकसे तब अवतरित होती हैं जब भागवत मन इन्द्र इन्हें घेरे हुए अजगर (अहि)का वध कर चुकता है। वे प्रकाश एवं द्युलोकके प्रचुर वैभवसे परिपूर्ण होकर, निर्मलता और मधुरतासे, मधुर दुग्ध, नवनीत एवं मधुसे भरपूर होकर अवतरित होती हैं। यहाँ इन पोषक गौओंसे, प्राचुर्यकी इन माताओंसे अग्निका जन्म उसके पार्थिव जन्मोंमें सबसे महान् है। प्राणकी वेगवती घोड़ियोंके रूपमें उनके द्वारा पोषित वह एकदम ही अपनी दिव्य महानता तक विकसित हो जाता है, सभी स्तरोंको अपने विशाल एवं प्रकाशमय अंगोंसे भर देता है और मनुष्यकी आत्मामें उनके राज्योंको दिव्य सत्यकी प्रति-मूर्तिके रूपमें गढ़ देता है।

इन रूपकोंका वैविध्य और तरल प्रयोग---कभी-कभी यह एक ही सूक्तमें तीव्र गतिसे एकके बाद एक रूपकके द्वारा किया जाता है---सचेतन प्रतीकवादके कालसे संबंध रखता है। उस कालमें रूपक कठोर होकर गाथाके बँधे-बँधाये रूपमें नहीं बदल गया था, किंतु निरंतर एक ऐसा अलंकार एवं दृष्टांत ही बना रहा जिसका भाव अपनी मूलरूप कल्पनामें अबतक भी जीवित है, अभीतक भी नमनीय है।

अग्निके विषयमें वास्तविक उपाख्यान, एक कम साङ्गोपाङ्ग रूपकसे स्पष्टतया भिन्न दीखनेवाले विकसित कथानक या तो विरले हैं या हैं ही नहीं---यह बात इन्द्र और अश्विदेवोंके नामोंके इर्द-गिर्द गाथाओंके जिस ऐश्वर्यकी भीड़ लग गई है उससे विलक्षण रूपमें विपरीत है। वह इन्द्रके पुराणोक्त कार्योंमें अर्थात् सर्पके वध, गोयूथोंकी पुनः प्राप्ति, दस्युओंके हननमें भाग लेता है। उसकी अपनी क्रिया सार्वभौम है परंतु अपनी परम महानताके होते हुए भी या शायद इसीके कारण वह किसी पृथक् उद्देश्यकी

सिद्धि नहीं चाहता और न अन्य देवोंकी अपेक्षा प्रधानताका दावा करता है। वह मनुष्यके लिए और सहायक देवताओंके लिए एक कार्यकर्ता होनेमें ही संतुष्ट है। वह महान् आर्य कर्मका कर्त्ता है और पृथ्वी और द्यौके बीच शुद्ध व महान् मध्यस्थ है। निष्काम, अनिद्र, अजेय यह दिव्य संकल्प-शक्ति सब भूतोंमें अवस्थित शक्तिमय विश्वात्माके रूपमें अर्थात् उस वैश्वानर अग्निके रूपमें जगत्में कार्य करती है जो समस्त वैश्व देवताओंमें सबसे महान्, सबसे अधिक शक्तिशाली व तेजस्वी और सर्वाधिक निर्वैयक्तिक है।

'अग्नि' इस नामका अनुवाद यहाँ प्रकरणके अनुसार शक्ति, बल, संकल्प, भागवत संकल्प या ज्वाला किया गया है। ऋषियोंके नामोंको भी, जहाँ-कहीं आवश्यक हुआ, मार्मिक अर्थ दिया गया है, जैसे प्रथम सूक्तमें गविष्ठिर शब्दको, जिसका अर्थ है ज्योतिमें सुस्थिर, या सामान्य गोत्रनाम अत्रिको भी। अत्रिका अर्थ है भोक्ता या यात्री। अग्नि स्वयं अत्रि है जैसे कि वह अंगिरस् भी है। जगत्के रूपोंके लिये सर्वग्रासी कामनामेंसे, उनके अनुभव और उपभोगमेंसे होता हुआ वह अपनी अनन्त सत्ताके स्वामित्वमें आत्माके मुक्त सत्य और आनन्दकी ओर अग्रसर होता है।

पहला सूक्त

प्रातःकालीन यज्ञका सूक्त

[ऋषि स्तुतिगान करता है कि उषाके आनेपर भागवत शक्ति-स्वरूप अग्नि एक सचेतन क्रियाके रूपमें जाग्रत् हो गया है। अग्निदेव ज्योतिर्मय स्वर्गलोककी ओर उठता है जो उसका लक्ष्य है, उस विवेक-चेतना[1]के कार्योंसे पुष्ट होता है जो यज्ञकी आहुतियों (भेंटों) और उसके क्रियाकलापोंका देवोंमें सम्यक् विभाग करती है, वह हमारे दिनोंका नेतृत्व करनेवाली एक विशुद्ध जीवनशक्ति बन जाता है, विशालता और सत्यकी ओर आरोहण करता है। सत्यके द्वारा वह हमारी शारीरिक तथा मानसिक चेतनाके दो आकाशोंका नये ढंगसे निर्माण करता है। यही उसका हमारे आकाशोंमें स्वर्णिम स्तुतिगान है।]

1

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।
यह्वाइव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥[2]

---

1. विवेकमयी देवी—दक्षिणा (देखो मन्त्र ३)।—अनुवादक

2. यहाँसे श्रीअरविन्द अत्रि ऋषिके अग्नि देवताके सूक्तोंका धारावाही सुस्पष्ट भावार्थ देना आरंभ करते हैं। हिन्दीमें यह भावार्थ ज्यों-का-त्यों अनूदित करके दिया गया है किन्तु पाठकोंको वेदके मूल मंत्रका—मूल शब्दोंका रस प्राप्त करानेके लिए उसी धारावाही भावार्थमें बीच-बीचमें मंत्रके शब्दोंको यथास्थान कोष्ठमें दिखला दिया गया है। इससे संस्कृतका कुछ ज्ञान रखनेवाले लोग मूल मंत्रका रसास्वादन भी कर सकेंगे, उन्हें मूल वेदके स्वाध्यायका आनन्द भी प्राप्त होगा।

शब्दके आगे लिखा गया अर्थ अनेक स्थानोंपर मूल शब्दकी विभक्ति आदिसे भिन्न प्रतीत होगा। किन्तु श्रीअरविन्दके दिये स्पष्ट, सरल और सरस भावार्थमें किसी प्रकारकी क्षति न हो इसके लिए मूल अंग्रेजीका अविकल अनुवाद उसे संस्कृतकी विभक्तिके अनुसार तोड़े-मरोड़े बिना ही दिया गया है।

पाठक इस बातको दृष्टिमें रखकर स्वाध्याय करेंगे तो मंत्रके रसास्वादनके साथ-साथ वैदिक भाषाका ज्ञान भी प्राप्त कर सकेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

जो हिंदी पाठक संस्कृत न जानते हों उन्हें कोष्ठमें लिखे शब्दोंपर ध्यान न देते हुए धारावाही अर्थ पढ़ना चाहिये और तब वे देखेंगे कि कैसे हृदय-स्पर्शी एवं आत्माको ऊँचा उठानेवाले हैं वेदके मंत्र। —अनुवादक

(जनानां) मनुष्योंके (समिधा) प्रदीप्त करनेसे (अग्निः) शक्तिरूप अग्निदेव (अबोधि) जाग उठा है और वह (उषासं प्रति) उषाके अभिमुख होता है जो (धेनुम् इव आयतीम्) पोषण करनेवाली गायकी तरह उसके पास आती है। (यह्वाःइव) जिस प्रकार शक्तिशाली सत्ताएँ (वयाम्) अपने विस्तारके लिए (प्र उत्-जिहानाः) तेजीके साथ ऊपरकी ओर जाती हैं उसी प्रकार (भानवः) उसकी दीप्तियां बढ़ती हुई (नाकम् अच्छ) द्युलोकके स्तरकी ओर (प्र सिस्रते) आरोहण करती हैं।

2

अबोधि होता यजथाय देवानूर्ध्वो अग्निः सुमनाः प्रातरस्थात्।
समिद्धस्य रुशदर्दशि पाजो महान् देवस्तमसो निरमोचि ॥

(देवान् यजथाय) देवोंके यजनके लिए (होता) हमारी स्तुतिका पुरोहित (अबोधि) जाग गया है। (सुमनाः) अपने अंदर यथार्थ चिन्तनको लिए हुए (अग्निः) शक्तिरूप अग्निदेव (प्रातः ऊर्ध्वः अस्थात्) हमारे प्रभातकालोंमें ऊर्ध्वमें स्थित हो गया है। (समिद्धस्य) वह पूरी तरह प्रदीप्त है; उसका (रुशत् पाजः अर्दशि) लालिमा प्रवाहित करनेवाला पुंज दिखाई दे रहा है और (महान् देवः) महान् देव (तमसः)) अंधकारसे (निः अमोचि) निर्मुक्त हो गया है।

3

यदीं गणस्य रशनामजीगः शुचिरङ्क्ते शुचिभिर्गोभिरग्निः।
आद् दक्षिणा युज्यते वाजयन्त्युत्तानामूर्ध्वो अधयज्जुहूभिः ॥

(यत् ईम् अग्निः) जब वह शक्तिरूप अग्निदेव (गणस्य) अपने सैन्यगणकी (रशनां) लंबी रस्सीको (अजीगः) खोल चुकता है, तब वह (शुचिभिः गोभिः) विशुद्ध दीप्तिओंके[1] पुंजसे (शुचिः अङ्क्ते) शुद्ध रूपमें चमक उठता है। क्योंकि (आत्) तब (दक्षिणा) विवेक करनेवाली देवी (वाजयन्ती) परिपूर्णतामें विकसित होती है, और वह (युज्यते) अपने कार्योंमें जोती जाती है। वह अग्नि (ऊर्ध्वः) उन्नत है, (उत्तानां) वह दक्षिणा देवी ऊर्ध्वमुखी है, उस देवीके आधारपर वह (जुहूभिः) अपनी हविकी ज्वालाओंसे (अधयत्) पुष्ट होता है।

---

1. उषाकी गौओंके। दक्षिणा, दिव्य विवेककी देवी, यहाँ स्वयं उषाका ही एक रूप है।

4

अग्निमच्छा देवयतां मनांसि चक्षूंषीव सूर्ये सं चरन्ति।
यदीं सुवाते उषसा विरूपे श्वेतो वाजी जायते अग्रे अह्लाम् ।।

(देवयतां) देवत्वमें विकास करनेवाले मनुष्योंके (मनांसि) मन (अग्निम् अच्छ) संकल्पशक्तिकी ज्वालाकी ओर पूरी तरह गति करते हैं, (चक्षूंषि-इव सूर्ये सं चरन्ति) जैसे कि उनकी सब दृष्टियां भी उस सूर्यमें केन्द्रित होती हैं जो प्रकाश देता है।[1] (यत्) जब (विरूपे उषसा) विपरीत रूपोंवाली दो उषाएं[2] (ईं सुवाते) उससे उन्मुक्त होती हैं, तब वह (अह्लाम् अग्रे) दिनोंके अग्रभागमें (श्वेतः वाजी जायते) सफेद अश्वके रूपमें उत्पन्न होता है।

5

जनिष्ट हि जेन्यो अग्रे अह्लां हितो हितेष्वरुषो वनेषु।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानोऽग्निर्होता नि षसादा यजीयान् ।।

(हि) निश्चयसे (अह्लाम् अग्रे) दिनोंके पूर्वभागमें, (हितेषु वनेषु) वस्तुओंके प्रतिष्ठित आनन्दोंमें (हितः) स्थित हुआ वह (अरुषः) लाल आभासे संपन्न, तेजोमय कार्यकर्ता (जेन्यः जनिष्ट) विजयी रूपमें उत्पन्न हुआ है। (दमे-दमे) घर-घरमें (सप्त रत्ना) सात परम आनन्दों[3]को (दधानः) धारण करते हुए (अग्निः) शक्तिरूप अग्निने (यजीयान् होता) यज्ञके लिए शक्तिशाली, भेंट देनेवाले पुरोहितके रूपमें (नि ससाद) अपना आसन ग्रहण किया है।

---

1. अर्थात् दूसरे मनुष्योंके अंधकारमें टटोलनेवाले विचारोंके स्थानपर उनकी मानसिक सत्ता अपने आपको संकल्पाग्निकी ज्ञानरूप ज्योतिर्मय ज्वालामें परिणत करती जाती है, और उनके समस्त विचार सीधी अन्तर्दृष्टिकी एक अग्निशिखा, सत्यके सूर्यकी किरणें बन जाते हैं।

2. दिन और रात—इनमेंसे रात है अज्ञानकी अवस्था जिसका सम्बन्ध हमारी भौतिक प्रकृतिके साथ है, दिन है प्रकाशपूर्ण ज्ञानकी अवस्था जिसका संबंध भागवत मनके साथ है; हमारी मानसिक सत्ता उस दिव्य-मनकी फीकी और धुंधली छाया है।

3. हमारी प्रकृतिके प्रत्येक तत्त्वके अनुरूप एक प्रकारका दिव्य आनन्दोल्लास है और प्रत्येक स्तरपर, प्रत्येक शरीर या घरमें, अग्निदेव इन आनन्दोंको स्थापित करता है।

6

अग्निर्होता न्यसीदद् यजीयानुपस्थे मातुः सुरभा उ लोके।
युवा कविः पुरुनिःष्ठ ऋतावा धर्ता कृष्टीनामुत मध्य इद्धः ।।

(यजीयान्) यज्ञके लिए शक्तिशाली, (होता) हविर्दाता पुरोहितके रूपमें (अग्निः) शक्तिस्वरूप अग्निदेवने (मातुः उपस्थे) माताकी गोदमें (न्यसीदत्) अपना आसन ग्रहण कर लिया है। (सुरभौ उ लोके) उस आनन्दोत्पादक अन्य लोक[1]में वह (युवा) युवक, (कविः) द्रष्टा, (पुरुनिःष्ठः) अपने अनेक आकारोंमें प्रकटरूपसे स्थित, (ऋतावा) सत्यसे सम्पन्न, (कृष्टीनां धर्ता) कर्म करनेवालोंका धारक है (उत) और (मध्ये) उन दोनों लोकोंके बीच में भी (इद्धः) प्रदीप्त है।

7

प्र णु त्यं विप्रमध्वरेषु साधुमग्निं होतारमीळते नमोभिः।
आ यस्ततान रोदसी ऋतेन नित्यं मृजन्ति वाजिनं घृतेन ।।

मनुष्य (विप्रं त्यम् अग्निं) ज्ञानसे प्रदीप्त इस अग्निशक्तिकी (नमोभिः प्र ईडते नु) समर्पणरूप प्रणामोंसे अभीप्सा करते हैं, जो अग्नि (अध्वरेषु साधुं) प्रगतिशील यज्ञोंमें हमारी पूर्णता साधित करता है और (होतारं) उनमें हविका दाता पुरोहित है, (यः) [जो वह] क्योंकि वह (ऋतेन) सत्यकी शक्तिसे (रोदसी) हमारी सत्ताके दोनों लोकोंका—द्यावापृथिवीका—(आ ततान) निर्माण करता है। (नित्यं वाजिनं) जीवनकी प्रचुरताके उस शाश्वत अश्व [अमर घोड़े] को वे (घृतेन)[2] निर्मलतासे (मृजन्ति) मांज-मांज कर चमकाते हैं।

8

मार्जाल्यो मृज्यते स्वे दमूनाः कविप्रशस्तो अतिथिः शिवो नः।
सहस्रशृङ्गो वृषभस्तदोजा विश्वाँ अग्ने सहसा प्रास्यन्यान् ।।

(मार्जाल्यः) उज्ज्वल वह अग्नि (मृज्यते) घिस-घिसकर चमकीला बनाया जाता है, (कविप्रशस्तः) द्रष्टाके द्वारा प्रकट किया जाता है, (स्वे

1. माँ है पृथिवी, हमारी भौतिक सत्ता; 'दूसरा लोक' है अतिमानसिक सत्ता; प्राणिक और भावप्रधान सत्ता इन दोनोंके बीचका लोक है। अग्निदेव इन सबमें एकही साथ प्रकट होता है।

2. घृत, शोधित नवनीत प्रकाशकी गौकी उपज है और उस समृद्ध निर्मलताका प्रतीक है जो मनकी प्रकाशसे भेंट होनेपर उसके अन्दर आती है।

दमूनाः) अपने घरमें[1] स्थिर निवास करनेवाला है, (नः) हमारा (शिवः अतिथिः) कल्याणकारी अतिथि है, (सहस्रशृङ्गः वृषभः) हजारों सींगोंवाला वृषभ है। (अग्ने) हे शक्तिरूप अग्निदेव! (तत्-ओजाः) क्योंकि तुझमें यह सामर्थ्य[2] है अतएव तू (सहसा) अपनी शक्तिमें (अन्यान्) अन्य सबसे (प्र असि) आगे बढ़ा हुआ है।

9

प्र सद्यो अग्ने अत्येष्यन्यानाविर्यस्मै चारुतमो बभूथ।
ईळेन्यो वपुष्यो विभावा प्रियो विशामतिथि र्मानुषीणाम्।।

(अग्ने) हे शक्तिरूप अग्निदेव! (यस्मै चारुतमः आविः बभूथ) जिस किसीमें तू अपने सौन्दर्यकी पूरी महिमाके साथ प्रकट होता है, उसमें तू (सद्यः) तत्काल (अन्यान् प्र अत्येषि) अन्य सबको लांघकर आगे बढ़ जाता है। तू (ईळेन्यः) स्पृहणीय है, (वपुष्यः) शारीरिक पूर्णतासे युक्त और (विभावा) प्रकाशमें विस्तृत है, (मानुषीणां विशां) मानव प्राणियोंका (प्रियः अतिथिः) प्रिय अतिथि है।

10

तुभ्यं भरन्ति क्षितयो यविष्ठ बलिमग्ने अन्तित ओत दूरात्।
आ भन्दिष्ठस्य सुमतिं चिकिद्धि बृहत् ते अग्ने महि शर्म भद्रम्।।

(यविष्ठ) हे अत्यन्त तरुणबल-सम्पन्न, (अग्ने) शक्तिस्वरूप अग्ने! (क्षितयः) सब लोक और उन के प्राणी (अन्तितः उत दूरात्) समीप और दूरसे (तुभ्यं) तेरे लिए (बलिं) अपनी भेंट (आ भरन्ति) लाते हैं, (भन्दिष्ठस्य सुमतिम् आ चिकिद्धि) मनुष्यके ज्ञानमें तू उसकी परम आह्लादपूर्ण स्थितिमें होनेवाली उसके मनकी यथार्थ अवस्थाके प्रति सचेतन रूपसे जागृत हो। (अग्ने) हे शक्तिरूप अग्निदेव! (ते) तेरी (बृहत्) विशालता (महि) महान् तथा (भद्रं) आनन्द-पूर्ण (शर्म) शान्ति ही है।

11

आद्य रथं भानुमो भानुमन्तमग्ने तिष्ठ यजतेभिः समन्तम्।
विद्वान् पथीनामुर्वन्तरिक्षमेह देवान् हविरद्याय वक्षि।।

---

1. अर्थात्; सत्यके स्तरपर, जो उसका अपना घर है, अपना स्थान ग्रहण किए हुए।

2. सत्यकी शक्ति, पूर्ण बल जो इस पूर्णज्ञानसे सम्बन्धित है।

(भानुमः अग्ने) हे ज्योतिर्मय संकल्प ! (यजतेभिः) यज्ञके अधिपतियोंके साथ (अद्य) आज ही (समन्तं भानुमन्तं रथं) अपने सर्वाङ्गपूर्ण देदीप्यमान रथपर (आ तिष्ठ) आरोहण कर। तू जो (उरु अन्तरिक्षम्) उस विस्तृत अन्तरिक्ष-लोक[1]को, (पथीनां) उसके समस्त मार्गों सहित (विद्वान्) जानता है, (देवान्) देवोंको (हविः-अद्याय) हमारी हविके आस्वादनके लिए (इह आ वक्षि) यहाँ ले आ।

12

अवोचाम कवये मेध्याय वचो वन्दारु वृषभाय वृष्णे।
गविष्ठिरो नमसा स्तोममग्नौ दिवीव रुक्ममुरुव्यञ्चमश्रेत् ॥

हमने (कवये) द्रष्टा (मेध्याय) मेधावीके प्रति, (वृषभाय वृष्णे) उस वृषभ—बैलके प्रति जो गोयूथोंको शक्तिसे उपजाऊ बनाता है, आज (वन्दारु वचः अवोचाम) अपनी स्तुतिके वचन कहे हैं, (गविष्ठिरः) प्रकाशमें स्थिर यजमान (नमसा) अपने समर्पणके द्वारा (अग्नौ) संकल्पशक्तिकी ज्वालामें (अश्रेत्) उन्नत होता है, (दिवि इव) मानो वह द्युलोकमें (उरुव्यञ्चं) विशालताको प्रकट करनेवाली (रुक्मं स्तोमं) स्वर्णिम स्तुतिकी ओर (अश्रेत्) उन्नत हो रहा हो।

---

1. प्राणिक या स्नायविक स्तर हमारी भौतिक पृथिवीके ठीक ऊपर है ; इसके द्वारा देवगण मनुष्यसे संलाप करने आते हैं, किन्तु यह एक अव्यवस्थित विस्तार है और इसके मार्ग अनेकों हैं पर हैं पेचीदा और उलझे हुए।

दूसरा सूक्त

भागवत शक्तिके उन्मुक्त होनेका सूक्त

[प्रकृति अपने साधारण, सीमित और भौतिक कार्यकलापोंमें भागवत शक्तिको अपनी गुप्त या अवचेतन सत्तामें छिपाए रखती है। जब चेतना अपने आपको 'एक' और असीमके प्रति विस्तृत करती है तभी भागवत शक्ति सचेतन मन के लिए प्रकट और उत्पन्न होती है। उच्चतर प्रकाशकी निर्मलताएँ तब तक धारण नहीं की जा सकतीं जब तक यह शक्तिरूप अग्नि उनकी रक्षा न करे, क्योंकि विरोधी शक्तियाँ उन्हें छीन लेती हैं और फिरसे अपनी गुह्य गुफ़ामें छिपा देती हैं। मनुष्यमें प्रकट हुआ भागवत संकल्प स्वयं उन्मुक्त होकर उसे उन पाशोंसे मुक्त कर देता है जो उसे विश्व-यज्ञमें बलिके रूपमें बांधे हैं। हम इसे इन्द्र—भागवत मन की शिक्षाके द्वारा प्राप्त करते हैं और यह हमारे अंदर प्रकाशकी निर्बाध क्रीड़ाकी रक्षा करता है और असत्यकी शक्तियोंका विनाश करता है जिनकी सीमाएँ इसके विकसित और उज्ज्वलित होनेमें रुकावट नहीं डाल सकतीं। यह ज्योतिर्मय द्युलोकसे दिव्य धाराओंको, शत्रुके आक्रमणोंसे मुक्त दिव्य सम्पदाको लाता है और चरम शक्ति और पूर्णता प्रदान करता है।]

1

कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिर्भात न ददाति पित्रे।
अनीकमस्य न मिनज्जनासः पुरः पश्यन्ति निहितमरतौ ॥

(युवतिः माता[1]) युवती मां (गुहा) अपनी गुह्य सत्तामें (समुब्धं) दबे हुए (कुमारं) बालकको (बिर्भात) वहन करती है और (पित्रे न ददाति) उसे पिताको नहीं देती। (अस्य अनीकं न मिनत्) पर उसकी शक्ति क्षीण नहीं होती। (जनासः) मनुष्य (अरतौ पुरः निहितं पश्यन्ति) पदार्थोंकी ऊर्ध्वमुखी विकास-क्रियामें उसे अपने सामने प्रतिष्ठित[2] देखते हैं।

---

1. माता और पिता सदा प्रकृति और आत्मा हैं अथवा भौतिक सत्ता और विशुद्ध मानसिक सत्ता हैं।
2. ऐसे पुरोहितके रूपमें जो यज्ञके कार्यका मार्गदर्शन और संचालन करता है।

2

कमेतं त्वं युवते कुमारं पेषी बिभर्षि महिषी जजान।
पूर्वीर्हि गर्भः शरदो ववर्धाऽपश्यं जातं यदसूत माता।।

(युवते) हे युवति माँ! (कम् एतं कुमारं) यह बालक कौन है जिसे (त्वं बिभर्षि) तू अपने अन्दर धारण करती है जब तू (पेषी) आकारमें संकुचित होती है, किन्तु जिसे (महिषी) तेरी विशालता (जजान) जन्म देती है। (पूर्वीः हि शरदः) बहुत-सी ऋतुओंतक (गर्भः ववर्ध) शिशु गर्भमें बढ़ता रहा; (जातम् अपश्यं) मैंने उसे उत्पन्न हुए तब देखा (यत्) जब (माता असूत) मां उसे बाहर लाई।

3

हिरण्यदन्तं शुचिवर्णमारात् क्षेत्रादपश्यमायुधा मिमानम्।
ददानो अस्मा अमृतं विपृक्वत् किं मामनिन्द्राः कृणवन्ननुक्थाः।।

(आरात् क्षेत्रात् अपश्यं) मैंने बहुत दूर उसे सत्ताके क्षेत्रमें देखा जो (हिरण्यदन्तं) स्वर्णप्रकाशरूपी दांतोंवाला एवं (शुचिवर्णम्) शुद्ध-उज्ज्वल रंगवाला था और (आयुधा मिमानम्) अपने युद्धके शस्त्रोंका निर्माण कर रहा था। (अस्मै अमृतं ददानः) मैं उसे अमरता देता हूँ जो (विपृक्वत्) मेरे अन्दर सब पृथक्-पृथक् भागों[1]में विद्यमान है, और (मां किं कृणवन्) वे मेरा क्या करेंगे, (अनुक्थाः) जिनके पास न शब्द[2] है और (अनिन्द्राः) न भागवत-मन?

4

क्षेत्रादपश्यं सनुतश्चरन्तं सुमद् यूथं न पुरु शोभमानम्।
न तां अगृभ्रन्नजनिष्ट हि षः पलिक्नीरिद् युवतयो भवन्ति।।

(क्षेत्रात् अपश्यं) मैंने क्षेत्रमें देखा, (सुमत् यूथं न) मानो वह प्रसन्न रश्मि-समूह हो जो (पुरु शोभमानम्) देदीप्यमान सौन्दर्यके अनेक आकारोंमें (सनुतः चरन्तं) लगातार संचरण कर रहा हो, (न ता अगृभ्रन्) उन्हें कोई भी पकड़ नहीं सकता था, (हि) क्योंकि (सः) वह अग्निदेव (अजनिष्ट) उत्पन्न हो चुका था; (पलिक्नीः इत्) उनमें जो बूढ़ी थीं वे भी (युवतयः भवन्ति) एक बार फिर जवान हो गयीं।

---

1. सोम, अमरताकी मदिरा देवोंको तीन भागोंमें दी गई है, हमारी सत्ताके तीन स्तरोंपर, मन, प्राण तथा शरीरमें।
2. प्रकट करनेवाला 'शब्द' जो 'छिपी वस्तु'को प्रकट करता है, उसे अभिव्यक्त करता है जो प्रकट नहीं हुआ है।

5

के मे मर्यकं वि यवन्त गोभिर्न येषां गोपा अरणश्चिदास ।
य ईं जगृभुरव ते सृजन्त्वाजाति पश्व उप नश्चिकित्वान् ।।

(के) वे कौन थे जिन्होंने (मे मर्यकं) मेरी शक्तिका (गोभिः) प्रकाशके समूहसे (वि यवन्त) सम्बन्ध-विच्छेद किया था ?—(येषां न गोपाः आस) वे जिनके सम्मुख इस युद्धमें न कोई रक्षक था और (अरणः चित्) न ही कोई कार्यकर्ता। (ये ईं जगृभुः) जिन्होंने उन्हें मुझसे ले लिया था उन्हें चाहिये कि (ते अव सृजन्तु) वे उन्हें मुक्तकर मुझे वापिस कर दें; क्योंकि वह (चिकित्वान्) ज्ञानयुक्त—सचेतन—अनुभूतियोंसे युक्त होकर (नः पश्वः) हमारे खोए दीप्ति-समूहको (उप आ अजाति) हमारी ओर प्रेरित करता हुआ आता है।

6

वसां राजानं वसतिं जनानामरातयो नि दधुर्मर्त्येषु ।
ब्रह्माण्यत्रेरव तं सृजन्तु निन्दितारो निन्द्यासो भवन्तु ।।

(जनानां वसां राजानं) प्राणियोंमें रहनेवालोंके राजाको, (वसतिं) जिसमें सारे प्राणी निवास करते हैं, (अरातयः) विरोधी शक्तियोंने (मर्त्येषु) मर्त्योंके अन्दर (नि दधुः) छिपा रखा है; (तं) उसे (अत्रेः ब्रह्माणि अव सृजन्तु) पदार्थोंके भक्षकके आत्मिक विचार मुक्त कर दें, (निन्दितारः निन्द्यासः भवन्तु) बाँधनेवाले स्वयं बन्दी हो जाएँ।

7

शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्राद् यूपादमुञ्चो अशमिष्ट हि षः ।
एवास्मदग्ने वि मुमुग्धि पाशान् होतश्चिकित्व इह तू निषद्य ।।

(शुनः-शेपं चित्) आनन्दका प्रमुख नायक शुनःशेप भी (सहस्रात् यूपात्) यज्ञके हजार प्रकारके खम्भोंसे (निदितं) बंधा हुआ था। उसे (अमुञ्चः) तू ने मुक्त कर दिया है। (सः अशमिष्ट) उसने अपने कार्योंसे पूर्णताको सिद्ध किया है। (एव इह तु निषद्य) उसी प्रकार तू यहाँ हमारे अन्दर भी आसन ग्रहण कर। (चिकित्वः अग्ने) हे सचेतन दृष्टिसे युक्त ज्वाला! (होतः) हे यज्ञके पुरोहित! (पाशान्) बन्धनके पाशोंको (अस्मत् वि मुमुग्धि) हमसे काटकर अलग कर दे।

8

*हृणीयमानो अप हि मदैयेः प्र मे देवानां व्रतपा उवाच ।
इन्द्रो विद्वाँ अनु हि त्वा चचक्ष तेनाहमग्ने अनुशिष्ट आगाम् ।।

---

* यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि श्रीअरविन्दने इस मन्त्रमें "हृणीयमानः"

(नः मा हृणीय) तू मुझपर कुपित मत हो और (मत् अप [मा] ऐयेः हि) मुझसे दूर मत हो। (देवानां व्रतपाः) जो देवोंके कार्यके नियमकी रक्षा करनेवाला है उसने (मे प्र उवाच) मुझे तेरे विषयमें बता दिया है। (इन्द्रः) इन्द्र (विद्वान्) जान गया, (त्वा अनु) उसने तेरी खोजकी और (चचक्ष हि) तुझे देख लिया। (अग्ने) हे ज्वाला! (तेन अनुशिष्टः अहम्) उससे मैं उसका ज्ञानोपदेश अधिगत करके (आ अगाम्) तेरे निकट आ गया हूँ।

9

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा।
प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षसे विनिक्षे॥

(अग्निः) संकल्प की यह ज्वाला (बृहता ज्योतिषा वि भाति) सत्यकी विशाल ज्योतिसे चमक रही है और (महित्वा) अपनी महानतासे (विश्वानि आविः कृणुते) सब पदार्थोंको प्रकट कर देती है। वह (मायाः[1]) ज्ञानकी उन रचनाओंको (प्र सहते) अभिभूत करती है जो (अदेवीः) अदिव्य हैं और (दुरेवाः) बुरी चालवाली हैं। वह (रक्षसे विनिक्षे) राक्षसका विनाश करनेके लिए (शृङ्गे शिशीते) अपने सींगोंको तेज करती है।

10

उत स्वानासो दिवि षन्त्वग्नेस्तिग्मायुधा रक्षसे हन्तवा उ।
मदे चिदस्य प्र रुजन्ति भामा न वरन्ते परिबाधो अदेवीः॥

(रक्षसे हन्तवै उ) राक्षसका वध करनेके लिए (दिवि) हमारे द्युलोकमें

इस पदको 'हृणीय', 'मा', 'नः' इन तीन पदोंमें विभक्त कर अर्थ किया है। किन्तु पदपाठमें इसे एक ही पद माना गया है। अतः इसका तीन पदोंमें छेद पदपाठियोंकी परम्परा द्वारा अनुमोदित नहीं।

प्रचलित पदपाठके अनुसार इस मन्त्रका अर्थ यों होगा—

(हृणीयमानः) कुपित हो कर तू (मत् अप ऐयेः हि) मुझसे परे हट गया है। (देवानां व्रतपाः) देवोंके कार्यके नियमकी रक्षा करनेवालेने (मे प्र उवाच) मुझे यह बात बता दी है। (इन्द्रः विद्वान्) इन्द्र [दिव्य मन] यह सब जान गया। (त्वा अनु) उसने तेरी खोजकी और (चचक्ष हि) तुझे देख लिया। (अग्ने) हे अग्निदेव! (तेन अनुशिष्टः अहम्) उससे अनुशासित, प्रबोधित होकर मैं अब (आ अगाम) तेरे निकट आ गया हूँ।—अनुवादक

1. माया—मायाके दो प्रकार हैं, दिव्य और अदिव्य, सत्यकी रचनाएँ और असत्यकी रचनाएँ।

(अग्नेः स्वानासः) ज्वाला-शक्तिकी वाणियाँ (तिग्म-आयुधाः सन्तु) तीक्ष्ण-शस्त्रसे संपन्न हों। (उत) और (मदे चित्) उसके हर्षोल्लासके समय (अस्य भामाः) उसकी क्रोधि-दीप्तियां (प्र रुजन्ति) उस सबको तोड़-फोड़ देती हैं जो उसकी प्रगतिका विरोध करता है। (अदेवीः) अदिव्य शक्तियाँ (परिबाधः) जो हमें सब ओर से बाधा पहुँचाती हैं, (न वरन्ते) उसे रोककर नहीं रख सकतीं।

11

एतं ते स्तोमं तुविजात विप्रो रथं न धीरः स्वपा अतक्षम्।
यदीदग्ने प्रति त्वं देव हर्याः स्वर्वतीरप एना जयेम ।।

(तुविजात) हे अनेक आकारोंमें जन्म लिए हुए अग्निदेव! मैं (विप्रः) मनमें प्रकाशमान, (धीरः) बुद्धिमें सिद्ध और (सु-अपाः) कार्यमें पूर्ण हूँ। मैंने (ते) तेरे लिए (एतं स्तोमम्) तेरे इस स्तुतिगीतको (रथं न) मानो तेरे रथके रूपमें (अतक्षम्) निर्मित किया है। (अग्ने) हे शक्तिरूप अग्ने! (देव) हे देव! (यदि इत् त्वं प्रति हर्याः) यदि तुम इसके प्रत्युत्तरस्वरूप इसमें आनंद लो, तो इसके द्वारा हम (एता अपः जयेम) वे जलधाराएँ प्राप्त कर सकते हैं जो (स्वर्वतीः[1]) ज्योतिर्मय द्युलोकका प्रकाश धारण करती हैं।

12

तुविग्रीवो वृषभो वावृधानोऽशत्र्वर्यः समजाति वेदः।
इतीममग्निममृता अवोचन् बर्हिष्मते मनवे शर्म यंसद्धविष्मते
मनवे शर्म यंसत् ।।

(तुविग्रीवः) शक्तिशाली ग्रीवावाला[2] (वृषभः) वृषभ (वावृधानः) हमारे अन्दर बढ़ता है और हमारे प्रति (वेदः सम् अजाति) ज्ञानके उस खजाने[3]को खींचकर ले आता है जिसे (अर्यः) हमारे शत्रुने रोक रखा था। (अशत्रु) ऐसा कोई शत्रु नहीं है जो इसका विध्वंस कर सके। क्योंकि (इति) इस प्रकार (अमृताः) अमर शक्तियोंने (इमम् अग्निम् अवोचन्) इस शक्तिरूप अग्निदेवसे कहा है कि वह (मनवे शर्म यंसत्) अपनी क्रिया द्वारा उस मनुष्यके लिए शान्ति ला दे, जिसने (बर्हिष्मते) यज्ञका आसन विस्तृत किया है और उस मनुष्यके लिए (शर्म यंसत्) शान्तिको निष्पन्न कर दे जो (हविष्मते) भेंट को अपने हाथमें लिए है।

---

1. स्वर्—प्रकाशपूर्ण सत्यके प्रति खुला हुआ विशुद्ध दिव्य मन।
2. अथवा अनेक ग्रीवाओंवाला।
3. देदीप्यमान रश्मिसमूहों (गोयूथों)की सम्पदा।

तीसरा सूक्त

भागवत शक्ति—परम कल्याणकी विजेत्री

[भागवत संकल्प-शक्ति वह देवता है जिसके रूप ही हैं अन्य सारे देवता। जैसे-जैसे वह देव हमारे अन्दर विकसित होता है वैसे-वैसे परम सत्यकी इन सब शक्तियोंको प्रकट करता चलता है। इस प्रकार हमें सचेतन सत्ताकी सर्वोच्च अवस्था प्राप्त हो जाती है और वह हमारी जटिल और बहुविध सत्ताको प्रकाश और आनन्दमें धारण करती है। ऋषि प्रार्थना करता है कि बुराईको उसमें फिरसे प्रकट न होने दिया जाये, और हमारे अन्दर अवस्थित गुह्य आत्मा जो सब वस्तुओंका पिता होता हुआ भी हमारे अन्दर हमारे कार्यकलाप और हमारे विकासके शिशुके रूपमें प्रकट होता है, अपने-आप विशाल सत्य-चेतनाके प्रति उद्‌घाटित हो जाय। दिव्य-ज्वाला असत्य और अशुभकी उन सब शक्तियोंको नष्ट कर देगी जो हमें गढ़ेमें गिराना चाहती हैं और स्वर्गीय कोषको हमसे लूट लेना चाहती हैं।]

1

त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः।
त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय॥

(अग्ने) हे संकल्प! (यत् जायसे त्वं वरुणः) जब तू जन्म लेता है, तू विशाल वरुण[1] होता है, (यत् समिद्धः, त्वं मित्रः भवसि) जब तू पूरी तरह प्रदीप्त होता है तब प्रेमका अधिपति[2] हो जाता है। (सहसस्पुत्र) हे शक्तिके पुत्र! (त्वे विश्वे देवाः) सारे देव तेरे अन्दर हैं। (दाशुषे मर्त्याय त्वम् इन्द्रः) जो समर्पण करता है उस मर्त्यके लिये तू मनोगत शक्ति[3] है।

---

1. वरुण, जो व्योमसदृश पवित्रता और असीम सत्यकी सागरतुल्य विशालता का प्रतिनिधित्व करता है।
2. मित्र, सत्यकी सबका आलिंगन करनेवाली समस्वरता, और सब सत्ताओं का मित्र, इसलिए प्रेमका अधिपति।
3. इन्द्र, हमारी सत्ताका शासक, भागवत मनके देदीप्यमान लोक स्वर्का स्वामी।

2

त्वमर्यमा भवसि यत् कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि।
अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद् दंपती समनसा कृणोषि ॥

(स्वधावन्) हे तू जो प्रकृतिके आत्मविधानको धारण करता है! (यत् कनीनां[1] गुह्यं नाम बिभर्षि) जब तू कुमारियोंके गुप्त नामको धारण करता है, (त्वम् अर्यमा[2] भवसि) तू अभीप्सा करनेवालेकी शक्ति बन जाता है। वे तुझे (गोभिः) अपनी किरणोंके प्रकाशसे (सुधितं मित्रं न) पूर्णतया प्रतिष्ठित प्रेम[3]के रूपमें (अञ्जन्ति) आलोकित करते हैं, (यत् दंपती समनसा कृणोषि) जब तू प्रभु और उसकी वधू[4]को उनके प्रासादमें एकमनवाला बनाता है।

3

तव श्रिये मरुतो मर्जयन्त रुद्र यत् ते जनिम चारु चित्रम्।
पदं यद् विष्णोरुपमं निधायि तेन पासि गुह्यं नाम गोनाम् ॥

(रुद्र) हे रुद्ररूप! (तव श्रिये) तेरी श्रीशोभाके लिए (मरुतः) विचार-शक्तियाँ अपने दबावसे, (यत् ते चारु चित्रम् जनिम) तेरा जो समृद्ध और सुन्दर जन्म[5] है उसे (मर्जयन्त) भास्वर बनाती हैं। (यद्) जब (विष्णोः उपमं पदं) विष्णुका वह उच्चतम चरण[6] (निधायि) अन्दर प्रतिष्ठित हो जाता है, तब तू (तेन) उसके द्वारा (गोनाम् गुह्यं नाम) ज्योतिर्मय किरणसमूह[7]के गुप्त नामकी (पासि) रक्षा करता है।

---

1. बहुत संभवतः, 'कनी' शब्दका अर्थ है अपरिपक्व दीप्तियाँ। हमारी अभीप्साको इन्हें आत्माकी उच्चशक्तिके साथ इनका मिलाप करानेके लिये तैयार करना है। अर्यमा इनके गुप्त आशयको,—नाम को धारण करता है। वह आशय तब प्रकट होता है जब अभीप्सा ज्ञानके प्रकाश तक पहुँचती है और मित्र आत्मा और प्रकृतिमें सामजंस्य स्थापित करता है।
2. अर्यमन्—सत्यकी अभीप्सा करनेवाली शक्ति और क्रिया।
3. मित्र।
4. आत्मा और प्रकृति। प्रासाद है मानवीय शरीर।
5. प्रकाशका परम लोक। एक और जगह अग्निके विषयमें कहा गया है कि वह अपनी सत्तामें प्रकाशमान लोकोंमें उच्चतम बन जाता है।
6. विष्णुके तीन पग किंवा शक्तियाँ हैं—पृथिवी, आकाश और सर्वोच्च लोक जिनके आधार हैं प्रकाश, सत्य और सूर्य।
7. ज्ञानकी दीप्तियोंका उच्चतम दिव्यभाव सर्वोच्च प्रकाशके अतिचेतन लोकोंमें पाया जाता है।

4

तव श्रिया सुदृशो देव देवाः पुरू दधाना अमृतं सपन्त।
होतारमग्निं मनुषो नि षेदुर्दशस्यन्त उशिजः शंसमायोः।।

(देव) हे देव ! (सुदृशः) क्योंकि तू यथार्थ दृष्टिवाला है अतः (तव श्रिया) तेरी महिमासे (देवाः पुरु दधानाः) देवगण बहुविध सत्ताको धारण करते हुए (अमृतं सपन्त) अमरताका आस्वादन करते हैं। और (मनुषः) मनुष्य (होतारम् अग्निं नि षेदुः) उस शक्तिमें अपना स्थान ग्रहण करते हैं जो हवि प्रदान करती है। (उशिजः) अभीप्सा करते हुए वे (आयोः शंसं दशस्यन्त) सत्ताकी आत्माभिव्यक्तिका देवोंमें सम्यक् विभाग करते हैं।

5

न त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान् न काव्यैः परो अस्ति स्वधावः।
विशश्च यस्या अतिथिर्भवासि स यज्ञेन वनवद् देव मर्तान्।।

(अग्ने!) हे ज्वाला! (न त्वत् पूर्वः होता) हविका ऐसा पुरोहित तुझसे पहले कोई भी नहीं हुआ और (न यजीयान्) नाहीं कोई यज्ञके लिए तुझसे अधिक शक्तिशाली हुआ है। (स्वधावः) हे तू जो प्रकृतिकी आत्म-व्यवस्थाको धारण करता है! (काव्यैः न परः अस्ति) ज्ञानके विषयमें तुझसे उत्कृष्ट कोई नहीं। (यस्याः विशः च अतिथिः भवासि) और तू जिस प्राणीका अतिथि हो जाता है (सः) वह (देव) हे देव! (यज्ञेन) यज्ञके द्वारा (मर्तान् वनवत्) उन सबपर प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है जो मरणशीलताके धर्मसे युक्त हैं।

6

वयमग्ने वनुयाम त्वोता वसूयवो हविषा बुध्यमानाः।
वयं समर्ये विदथेष्वह्नां वयं राया सहसस्पुत्र मर्तान्।।

(अग्ने) हे ज्वाला! (त्वा-ऊताः) तुझसे पोषित और (बुध्यमानाः) जाग्रत् हुए, (वसूयवः वयम्) सारभूत ऐश्वर्यके अभिलाषी हम (हविषा) समर्पणरूप हविके द्वारा (वनुयाम) विजय-लाभ करें। (समर्ये) बड़े संघर्षमें, (अह्नां विदथेषु) हमारे दिनोंमें[1]—हमारे प्रकाशके कालमें होने-वाली ज्ञानकी उपलब्धियोंमें, (सहसः पुत्र) हे शक्तिके पुत्र! (राया) आनन्दैश्वर्यसे (वयं मर्तान् वनुयाम) हम उन सबको पराभूत कर दें जो मरणशील हैं।

---

1. प्रकाशके वे काल जिनका साक्षात्कार आत्माको समय-समयपर होता है।

7

यो न आगो अभ्येनो भरात्यधीदघमघशंसे दधात ।
जही चिकित्वो अभिशस्तिमेतामग्ने यो नो मर्चयति द्वयेन ।।

(यः [अघशंसः]) अशुभ प्रकट करनेवाला जो कोई (नः) हमारे अन्दर (एनः आगः अभि भराति) पाप और पथभ्रष्टता लाना चाहता है, (अघशंसे इत्) अशुभ प्रकट करनेवाले उसीके सिरपर (अघम् अधि दधात) उसकी अपनी बुराई डाल दी जाय। (चिकित्वः अग्ने) हे सचेतन ज्ञाता ! (यः नः द्वयेन मर्चयति) जो हमें द्वैधभावसे उत्पीड़ित कर रहा है उसकी (एताम् अभिशस्ति जहि) इस विरोधी आत्म-अभिव्यक्तिको नष्ट-भ्रष्ट कर दे।

8

त्वामस्या व्युषि देव पूर्वे दूतं कृण्वाना अयजन्त हव्यैः ।
संस्थे यदग्न ईयसे रयीणां देवो मर्तैर्वसुभिरिध्यमानः ।।

(देव) हे देव ! (अस्याः वि उषि) हमारी इस रात्रिके बाद उषा-कालमें (त्वाम्) तुझे (पूर्वे) पूर्वजोंने[1] (दूतं कृण्वानाः) अपना दूत बनाया और (हव्यैः) अपनी आहुतियोंसे (अयजन्त) तुझ द्वारा यज्ञ किया, क्योंकि (देवः यत्) तू वह देव है जो (वसुभिः मर्तैः) इस देहतत्त्वमें रहनेवाले मर्त्योंसे (इध्यमानः) प्रदीप्त किया जाता है और (अग्ने) हे अग्निदेव ! तू (रयीणाम्) समस्त आनन्दोंके (संस्थे) मिलनस्थान[2]की ओर (ईयसे) गति करता है।

9

अव स्पृधि पितरं योधि विद्वान् पुत्रो यस्ते सहसः सून ऊहे ।
कदा चिकित्वो अभि चक्षसे नोऽग्ने कदाँ ऋतचिद्यातयासे ।।

(पितरम् अव स्पृधि) तू पिताका उद्धार कर और (विद्वान्) अपने ज्ञानसे युक्त (सहसः सूनो) हे शक्तिके पुत्र ! तू (योधि) उस मनुष्यसे बुराईको दूर रख (यः ते पुत्रः ऊहे) जो तेरे पुत्रके रूपमें हमारे अन्दर धारण किया गया है। (चिकित्वः) हे सचेतन ज्ञाता ! (नः कदा अभि चक्षसे) कब तुम हमपर वह अन्तर्दृष्टि डालोगे ? (ऋत-चित् अग्ने) हे सत्य-सचेतन संकल्प ! (कदा यातयासे) कब हमें यात्राकी ओर प्रेरित करोगे ?

---

1. प्राचीन द्रष्टाओंने जिन्होंने गुह्य नामको ढूंढ़ लिया था ।
2. सत्य और आनन्दका परमोच्च लोक ।

4

तव श्रिया सुदृशो देव देवाः पुरू दधाना अमृतं सपन्त ।
होतारमग्निं मनुषो नि षेदुर्दशस्यन्त उशिजः शंसमायोः ।।

(देव) हे देव ! (सुदृशः) क्योंकि तू यथार्थ दृष्टिवाला है अतः (तव श्रिया) तेरी महिमासे (देवाः पुरु दधानाः) देवगण बहुविध सत्ताको धारण करते हुए (अमृतं सपन्त) अमरताका आस्वादन करते हैं। और (मनुषः) मनुष्य (होतारम् अग्निं नि षेदुः) उस शक्तिमें अपना स्थान ग्रहण करते हैं जो हवि प्रदान करती है। (उशिजः) अभीप्सा करते हुए वे (आयोः शंसं दशस्यन्त) सत्ताकी आत्माभिव्यक्तिका देवोंमें सम्यक् विभाग करते हैं।

5

न त्वद्धोता पूर्वो अग्ने यजीयान् न काव्यैः परो अस्ति स्वधावः ।
विशश्च यस्या अतिथिर्भवासि स यज्ञेन वनवद् देव मर्तान् ।।

(अग्ने !) हे ज्वाला ! (न त्वत् पूर्वः होता) हविका ऐसा पुरोहित तुझसे पहले कोई भी नहीं हुआ और (न यजीयान्) नाहीं कोई यज्ञके लिए तुझसे अधिक शक्तिशाली हुआ है। (स्वधावः) हे तू जो प्रकृतिकी आत्म-व्यवस्थाको धारण करता है ! (काव्यैः न परः अस्ति) ज्ञानके विषयमें तुझसे उत्कृष्ट कोई नहीं। (यस्याः विशः च अतिथिः भवासि) और तू जिस प्राणीका अतिथि हो जाता है (सः) वह (देव) हे देव ! (यज्ञेन) यज्ञके द्वारा (मर्तान् वनवत्) उन सबपर प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है जो मरणशीलताके धर्मसे युक्त हैं।

6

वयमग्ने वनुयाम त्वोता वसूयवो हविषा बुध्यमानाः ।
वयं समर्ये विदथेष्वह्नां वयं राया सहसस्पुत्र मर्तान् ।।

(अग्ने) हे ज्वाला ! (त्वा-ऊताः) तुझसे पोषित और (बुध्यमानाः) जाग्रत् हुए, (वसूयवः वयम्) सारभूत ऐश्वर्यके अभिलाषी हम (हविषा) समर्पणरूप हविके द्वारा (वनुयाम) विजय-लाभ करें। (समर्ये) बड़े संघर्षमें, (अह्नां विदथेषु) हमारे दिनों[1]में—हमारे प्रकाशके कालमें होने-वाली ज्ञानकी उपलब्धियोंमें, (सहसः पुत्र) हे शक्तिके पुत्र ! (राया) आनन्दैश्वर्यसे (वयं मर्तान् वनुयाम) हम उन सबको पराभूत कर दें जो मरणशील हैं।

---

1. प्रकाशके वे काल जिनका साक्षात्कार आत्माको समय-समयपर होता है।

7

यो न आगो अभ्येनो भरात्यधीदघमघशंसे दधात।
जही चिकित्वो अभिशस्तिमेतामग्ने यो नो मर्चयति द्वयेन ॥

(यः [अघशंसः]) अशुभ प्रकट करनेवाला जो कोई (नः) हमारे अन्दर (एनः आगः अभि भराति) पाप और पथभ्रष्टता लाना चाहता है, (अघशंसे इत्) अशुभ प्रकट करनेवाले उसीके सिरपर (अघम् अधि दधात) उसकी अपनी बुराई डाल दी जाय। (चिकित्वः अग्ने) हे सचेतन ज्ञाता! (यः नः द्वयेन मर्चयति) जो हमें द्वैधभावसे उत्पीड़ित कर रहा है उसकी (एताम् अभिशस्ति जहि) इस विरोधी आत्म-अभिव्यक्तिको नष्ट-भ्रष्ट कर दे।

8

त्वामस्या व्युषि देव पूर्वे दूतं कृण्वाना अयजन्त हव्यैः।
संस्थे यदग्न ईयसे रयीणां देवो मर्तैर्वसुभिरिध्यमानः ॥

(देव) हे देव! (अस्याः वि उषि) हमारी इस रात्रिके वाद उषा-कालमें (त्वाम्) तुझे (पूर्वे) पूर्वजोंने[1] (दूतं कृण्वानाः) अपना दूत बनाया और (हव्यैः) अपनी आहुतियोंसे (अयजन्त) तुझ द्वारा यज्ञ किया, क्योंकि (देवः यत्) तू वह देव है जो (वसुभिः मर्तैः) इस देहतत्त्वमें रहनेवाले मर्त्योंसे (इध्यमानः) प्रदीप्त किया जाता है और (अग्ने) हे अग्निदेव! तू (रयीणाम्) समस्त आनन्दोंके (संस्थे) मिलनस्थान[2]की ओर (ईयसे) गति करता है।

9

अव स्पृधि पितरं योधि विद्वान् पुत्रो यस्ते सहसः सून ऊहे।
कदा चिकित्वो अभि चक्षसे नोऽग्ने कदाँ ऋतचिद्यातयासे ॥

(पितरम् अव स्पृधि) तू पिताका उद्धार कर और (विद्वान्) अपने ज्ञानसे युक्त (सहसः सूनो) हे शक्तिके पुत्र! तू (योधि) उस मनुष्यसे बुराईको दूर रख (यः ते पुत्रः ऊहे) जो तेरे पुत्रके रूपमें हमारे अन्दर धारण किया गया है। (चिकित्वः) हे सचेतन ज्ञाता! (नः कदा अभि चक्षसे) कब तुम हमपर वह अन्तर्दृष्टि डालोगे? (ऋत-चित् अग्ने) हे सत्य-सचेतन संकल्प! (कदा यातयासे) कब हमें यात्राकी ओर प्रेरित करोगे?

---

1. प्राचीन द्रष्टाओंने जिन्होंने गुह्य नामको ढूंढ़ लिया था।
2. सत्य और आनन्दका परमोच्च लोक।

10

भूरि नाम वन्दमानो दधाति पिता वसो यदि तज्जोषयासे ।
कुविद् देवस्य सहसा चकानः सुम्नमग्निर्वनते वावृधानः ।।

(वसो) हे सारतत्त्वमें निवास करनेवाले ! (पिता) पिता (भूरि नाम) उस विशाल[1] नामको तभी (वन्दमानः दधाति) उपासनापूर्वक धारण करता है (यदि) जब तू (तत् जोषयासे) उसे इस नामको स्वीकार करने और दृढ़तासे पकड़े रहनेके लिये प्रेरित करता है (अग्निः) हमारे अन्दर अवस्थित संकल्पशक्ति (कुवित्) बार-बार (सुम्नं चकानः) आनन्दकी कामना करती है और (देवस्य सहसा) देव[2]के सामर्थ्यसे (ववृधानः) बढ़ती हुई (वनते) उसे पूरी तरह जीत लेती है।

11

त्वमङ्ग जरितारं यविष्ठ विश्वान्यग्ने दुरिताति पर्षि ।
स्तेना अदृश्रन् रिपवो जनासोऽज्ञातकेता वृजिना अभूवन् ।।

(अङ्ग अग्ने) हे संकल्पशक्ति ! (यविष्ठ) हे अत्यन्त तरुण तेज ! (त्वम्) तू (जरितारं) अपने स्तोताको (विश्वानि दुरिता) शोकसंताप और अशुभकी सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंसे (अति पर्षि) पार ले जाता है। क्योंकि (जनासः अदृश्रन्) तूने उन प्राणियोंको देख लिया है (रिपवः) जो हमें चोट पहुँचाना चाहते हैं और (स्तेनाः) अपने हृदयमें चोर हैं तथा (अज्ञात-केताः) जिनकी अनुभूतियाँ ज्ञानसे रिक्त हैं, अतएव जो (वृजिनाः अभूवन्) कुटिलतामें गिरे हुए हैं।

12

इमे यामासस्त्वद्रिगभूवन् वसवे वा तदिदागो अवाचि ।
नाहायमग्निरभिशस्तये नो न रीषते वावृधानः परा दात् ।।

(इमे यामासः) हमारी यात्राओंकी इन सब गतियोंने (त्वद्रिक् अभूवन्) अपने मुँह तेरी तरफ मोड़ लिये हैं, (तत् इत् आगः) और जो बुराई हमारे अन्दर है वह (वसवे वा अवाचि) हमारी सत्तामें निवास करनेवालेके प्रति घोषित हो चुकी है। (अयम् अग्निः) यह संकल्पशक्ति (ववृधानः) बढ़ती हुई (नः) हमें (अभिशस्तये रीषते) हमारी आत्माभिव्यक्तिमें बाधा डालनेवालेके प्रति, उसके हाथोंमें (न अह परा दात्) सौंपकर कभी धोखा नहीं दे सकती, (न [परा दात्]) न ही वह हमें हमारे शत्रुओंके हाथोंमें सुपुर्द करेगी।

---

1. सत्यलोकको विशालता या विशाल सत्य भी कहा गया है।
2. देव, परम देवता, जिसके सब देव विभिन्न नाम और शक्तियाँ हैं।

चौथा सूक्त

भागवत संकल्प—पुरोहित, योद्धा और हमारी यात्राका नेता

[ऋषि भागवत शक्तिकी स्तुति करता है कि वह आत्माकी सत्ताके आरोहणशील स्तरोंपर उसके सभी क्रमिक जन्मोंको जानती है और उसकी ऊर्ध्वगामी तथा अग्रगामी यज्ञ-यात्राओंके पुरोहितके रूपमें उसे पवित्रता, शक्ति, ज्ञान, वृद्धिशील ऐश्वर्य, नयी रचनाकी क्षमता और आध्यात्मिक सर्जनशीलता प्रदान करती है जिससे मर्त्य अमरतामें बढ़ता है।

यह शक्ति शत्रुओं, आक्रान्ताओं, बुराईकी शक्तियोंको नष्ट-भ्रष्ट कर देती है और वे जिस ऐश्वर्यको रोके रखनेका प्रयत्न करते हैं उस सबसे आत्माको समृद्ध कर देती है। यह मानसिक, प्राणिक एवं शारीरिक सत्ताकी त्रिविध शान्ति एवं त्रिविध परिपूर्णता प्रदान करती है, अतिमानसिक सत्यके प्रकाशमें प्रयास करती है और हमारे अन्दर शाश्वत आनन्दके लोकका निर्माण करती हुई यह हमें पार ले जाती है।]

1

त्वामग्ने वसुपतिं वसूनामभि प्र मन्दे अध्वरेषु राजन्।
त्वया वाजं वाजयन्तो जयेमाऽभि ष्याम पृत्सुतीर्मर्त्यानाम्॥

(अग्ने) हे अग्निशक्ति! (वसूनाम् वसुपतिम्) वसुओंके स्वामी अर्थात् सारतत्त्वके प्रभुओंके अधिष्ठाता (त्वाम् अभि) तेरे प्रति (अध्वरेषु प्र मन्दे) यज्ञोंकी प्रगतिमें मैं अपने आनन्दको प्रेरित करता हूँ। (राजन्) हे राजन्! (त्वया) तुझसे (वाजयन्तः) तेरी परिपूर्णताको बढ़ाते हुए हम (वाजं जयेम) अपनी प्रचुरता प्राप्त करें। और (मर्त्यानाम् पृत्सुतीः अभि स्याम) मर्त्य शक्तियोंके सशस्त्र आक्रमणोंको परास्त कर दें।

2

हव्यवाळग्निरजरः पिता नो विभुर्विभावा सुदृशीको अस्मे।
सुगार्हपत्याः समिषो दिदीह्यस्मद्र्यक् सं मिमीहि श्रवांसि॥

(अजरः अग्निः) अजर अग्निबल जो (हव्यवाट्) हविको वहन करता है (नः पिता) हमारा पिता है। (अस्मे) हममें (विभुः) वह अपनी सत्तामें व्यापक है, (विभावा) प्रकाशमें विस्तृत और (सुदृशीकः) दृष्टिमें पूर्ण है। (इषः सं दिदीहि) प्रेरणाकी अपनी शक्तियोंको पूरी तरह प्रज्वलित करो जो (सुगार्हपत्याः) हमारे गृहपति[1]से पूर्णतया संवर्धित हैं। (श्रवांसि) अपने ज्ञानकी अंतःप्रेरणाओंको (सं मिमीहि) पूरी तरह निर्मित करो और (अस्मद्रयक्) उन्हें हमारी ओर मोड़ दो।

3

विशां कविं विश्पतिं मानुषीणां शुचिं पावकं घृतपृष्ठमग्निम्।
नि होतारं विश्वविदं दधिध्वे स देवेषु वनते वार्याणि॥

(अग्निम्) संकल्पबलको जो (कविं) द्रष्टा है, (मानुषीणां विशां विश्पतिं) मानव प्रजाओंका पति है, (शुचिम् पावकम्) पवित्र और पवित्र-कर्ता है, (घृतपृष्ठम्) अपने उपरितलपर मनकी निर्मलताओंसे युक्त है, (विश्वविदम्) सर्वज्ञ है,—ऐसे दिव्य संकल्पको (होतारम् नि दधिध्वे) अपनी हवियोंके वाहक पुरोहितके रूपमें अपने अन्दर धारण करो, (स देवेषु वार्याणि वनते) क्योंकि वही देवोंमें तुम्हारे अभीष्ट वरोंको तुम्हारे लिए जीत लेता है।

4

जुषस्वाग्न इळया सजोषाः यतमानो रश्मिभिः सूर्यस्य।
जुषस्व नः समिधं जातवेद आ च देवान् हविरद्याय वक्षि॥

(इळया सजोषाः) सत्य-दर्शनकी देवी[2]के साथ एकहृदयवाला होकर (सूर्यस्य रश्मिभिः यतमानः) प्रकाशस्वरूप सूर्यकी किरणों द्वारा प्रयास करता हुआ तू (अग्ने नः जुषस्व) प्रेमसे हमारा दृढ़संगी बन जा, हे शक्ति-देव! (जातवेदः समिधं जुषस्व) सभी उत्पन्न पदार्थों व जन्मोंके ज्ञाता! हमारे अन्दर जो तेरी समिधा है उसे हृदयसे स्वीकार कर और (देवान् आ वक्षि) देवोंको हमारे पास ले आ ताकि वे (हविः-अद्याय) हमारी भेंटोंका आस्वादन कर सकें।

---

1. अग्नि यहाँ हमारे अन्दर रहनेवाली सर्वोच्च संकल्प-शक्ति है। हमारी सत्ताका पिता और अधिपति है, उसे हमारे अन्दर दिव्य संकल्प और ज्ञानके साथ पूरी तरह कार्य करना होता है।
2. इळा।

5

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान् ।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्या शत्रूयतामा भरा भोजनानि ।।

(अग्ने) हे अग्निदेव ! (जुष्टः अतिथिः) प्रिय व स्वीकृत अतिथि, (नः दुरोणः दमूनः) हमारे नव-द्वारोंवाले घरमें स्थायी निवास करनेवाला तू (विद्वान्) अपने संपूर्ण ज्ञानके साथ (नः इमं यज्ञम् उप याहि) हमारे इस यज्ञमें आ। (विश्वाः अभियुजः विहत्य) उन सब शक्तियोंका वध कर जो हमपर आक्रमण करनेमें प्रवृत्त होती हैं। (शत्रूयतां) जो अपने आपको हमारे शत्रु[1] वनाते हैं उनके (भोजनानि आ भर) भोगोंको हमारे पास ले आ।

6

वधेन दस्युं प्र हि चातयस्व वयः कृण्वानस्तन्वे स्वायै।
पिपर्षि यत् सहसस्पुत्र देवान्त्सो अग्ने पाहि नृतम वाजे अस्मान् ।।

(दस्युं) विभाजकको (वधेन) अपने प्रहारके द्वारा (प्र चातयस्व हि) हमसे दूर खदेड़ दे। (स्वायै तन्वे) अपने शरीरके लिए (वयः कृण्वानः) एक खुला स्थान वना। (यत्) जव तुम (सहसः पुत्र) हे शक्तिके पुत्र ! (देवान् पिपर्षि) देवोंको उनके लक्ष्य[2] तक ले जाते हो, तव (अग्ने) हे शक्ति-रूप अग्ने (सः) ऐसे तुम (अस्मान् वाजे पाहि) हमारे परिपूर्ण ऐश्वर्यमें हमारी रक्षा करो, (नृतम) हे अत्यन्त शक्तिशाली देवता !

7

वयं ते अग्न उक्थैर्विधेम वयं हव्यैः पावक भद्रशोचे।
अस्मे रयिं विश्ववारं समिन्वास्मे विश्वानि द्रविणानि धेहि ।।

(वयम्) हम (उक्थैः) अपनी स्तुतियोंसे और (वयम्) हम (हव्यैः) अपनी भेंटोंसे (ते) तेरे लिये अपने यज्ञको (विधेम) ठीक व्यवस्थित कर सकें, (पावक अग्ने) हे पवित्र करनेवाले संकल्पदेव ! (भद्रशोचे) हे पवित्रताकी आनन्दमयी ज्वाला। (अस्मे) हमारे अंदर (विश्ववारं रयिं समिन्व) समस्त अभीष्ट वरोंका परमानन्द व्याप्त कर दो। (अस्मे) हमारे अंदर

---

1. सभी विरोधी शक्तियां जो मनुष्यकी आत्मापर आक्रमण करती हैं कुछ ऐसा ऐश्वर्य रखती हैं जिसे वह चाहता है और अपने पूर्ण वैभव तक पहुँचनेके लिए उसे वह ऐश्वर्य उनसे छीनना होता है।

2. मनुष्यमें कार्य कर रहे दिव्य संकल्प-बलसे हमारे अन्दरकी दिव्य शक्तियाँ सत्य और आनन्दमें अपने लक्ष्य तक ले जाई जाती हैं।

(विश्वानि द्रविणानि धेहि) हमारी समृद्धियोंका संपूर्ण सारतत्त्व स्थिर कर दो।

8

अस्माकमग्ने अध्वरं जुषस्व सहसः सूनो त्रिषधस्थ हव्यम्।
वयं देवेषु सुकृतः स्याम शर्मणा नस्त्रिवरूथेन पाहि ॥

(त्रिषधस्थ अग्ने) हमारे वासके तीन लोकोंमें[1] निवास करनेवाले भगवत्संकल्प! (सहसः सूनो) हे शक्तिके पुत्र! (अस्माकम् अध्वरं हव्यं) हमारे यज्ञ और हमारी हविका (जुषस्व) हृदयसे और दृढ़तापूर्वक सेवन कर। (वयं देवेषु सुकृतः स्याम) हम देवोंके निकट अपने कार्योंमें पूर्ण हो जायँ और तू (त्रिवरूथेन शर्मणा) तीन कवचोंसे वेष्टित अपनी शान्तिसे (नः पाहि) हमारी रक्षा कर।

9

विश्वानि नो दुर्गहा जातवेदः सिन्धुं न नावा दुरितानि पर्षि।
अग्ने अत्रिवन्नमसा गृणानोऽस्माकं बोध्यविता तनूनाम् ॥

(जातवेदः) हे सब उत्पन्न पदार्थों व जन्मोंके ज्ञाता! (दुर्गहा) प्रत्येक कठिन चौराहे परसे और (विश्वानि दुरितानि) अशुभमें होनेवाले सब प्रकारके पतनसे (नः) हमें (सिंधुं नावा न) समुद्रके पार पहुँचानेवाले जहाजकी तरह (पर्षि) पार लगा। (अग्ने) हे संकल्पदेव! (अत्रिवत् अस्माकं नमसा गृणानः) अत्रिकी तरह हमारे प्रणामोंसे प्रकट किया हुआ तू (बोधि) हमारे अंदर जागृत हो और (तनूनाम् अविता) हमारी शरीर[3]-रचनाओंका पोषक बन।

10

यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानोऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि।
जातवेदो यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम् ॥

---

1. मानसिक, प्राणिक, शारीरिक इन निम्नतर "जन्मों"में। हमारे जन्मोंके ज्ञाता दिव्य संकल्पको इनका संपूर्ण ज्ञान है और इनके द्वारा उसे (संकल्पशक्तिको) हमारे आरोहण करनेवाले यज्ञको अतिमानस तक ले जाना होता है।
2. मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्तामें शान्ति, आनन्द और पूर्ण तृप्ति।
3. न केवल भौतिक शरीर, अपितु प्राणमय, मनोमय कोष, आत्माकी सभी देहवद्ध अवस्थाएँ या रूप।

(यः) जो मैं (कीरिणा हृदा) दिव्यकर्मको संपन्न करनेवाले हृदयसे (त्वा मन्यमानः) तेरा ध्यान करता हूँ और (मर्त्यः) मरणधर्मा मैं (अमर्त्यं) तुझ अमरको (जोहवीमि) पुकारता हूँ, (अस्मासु) उस मुझमें, हम सभीमें (अग्ने) हे संकल्प देव! (जातवेदः) सब उत्पन्न पदार्थों व जन्मोंके ज्ञाता! (यशः धेहि) विजयश्री प्रतिष्ठित कर ताकि हम (प्रजाभिः) अपने कार्योंकी सन्ततिसे, उनके फलसे (अमृतत्वम् अश्याम्) अमरता प्राप्त कर सकें।

11

यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उ लोकमग्ने कृणवः स्योनम्।
अश्विनं स पुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिं नशते स्वस्ति॥

(जातवेदः अग्ने) हे सब उत्पन्न पदार्थों व जन्मोंके ज्ञाता अग्निदेव! (यस्मै सुकृते) अपने कार्योंमें पूर्णतासे युक्त जिस मनुष्यके लिये (त्वम्) तू (स्योनं लोकं कृणवः) एक दूसरे ही आनन्दपूर्ण लोक[1] का निर्माण करता है (सः) वह (रयिं नशते) ऐसे परम आनन्द को पहुँच जाता है जिसमें (अश्विनं) उसके जीवनरूपी अश्वकी तीव्र गतियाँ, (गोमन्तं) उसके प्रकाश-यूथ, (पुत्रिणं) उसके आत्माकी सन्ततियां और (वीरवन्तं) उसकी शक्ति[2] की सेनाएँ (स्वस्ति) सानन्द विद्यमान होती हैं।

---

1. दिव्य सङ्कल्पशक्तिको हमारे निरन्तर विस्तार और आत्मपरिपूर्णताके परिणामस्वरूप हमारे अंदर अतिमानसिक लोकका निर्माण या सर्जन करना होता है।
2. अश्व, गौ, पुत्र और वीरके सतत वैदिक प्रतीक। पुत्र और संतानें नये आत्मिक रूप हैं जो हमारे अन्दर दिव्य व्यक्तित्व, नये जन्मको बनाते हैं। वीर हैं मानसिक और नैतिक शक्तियाँ जो अज्ञान, द्वेष, बुराई और असत्यके प्रहारोंका प्रतिरोध करती हैं। प्राणिक शक्तियाँ प्रेरक शक्तियाँ हैं जो हमारी यात्रापर हमें वहन किये चलती हैं और इसी लिए अश्व उनका प्रतीक है। किरणोंके यूथ वे दीप्तियाँ हैं जो अतिमानसके सत्यसे हमारे पास आती हैं। वे ज्योतिर्मय सूर्यके किरणयूथ हैं।

पाँचवाँ सूक्त

देवोंके आह्वानका सूक्त

[यह सूक्त दिव्य ज्वालाके आह्वानों द्वारा प्रमुख देवोंको यज्ञमें आमन्त्रण देता है। प्रत्येकका वर्णन या आह्वान उसकी अपनी उस स्थितिमें एवं उस कार्य-व्यापारके लिए किया जाता है जिसमें उसकी आवश्यकता होती है और जिसके द्वारा वह आत्माकी पूर्णता एवं उसके दिव्य विकास और प्राप्तिमें सहायक होता है।]

1

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे ।।

(जातवेदसे अग्नये) समस्त उत्पन्न पदार्थोंके ज्ञाता संकल्पबलके प्रति, (सुसमिद्धाय शोचिषे) सुप्रदीप्त और शुद्ध एवं प्रकाशमान दिव्य ज्वालाके प्रति (तीव्रं घृतं) मनकी तीव्र निर्मलताकी (जुहोतन) आहुति दो।

2

नराशंसः सुषूदतीमं यज्ञमदाभ्यः।
कविर्हि मधुहस्त्यः ।।

(नराशंसः) यह वही है जो देवताओंकी शक्तियोंको प्रकट करता है, (अदाभ्यः) वही अदमनीय शक्ति है जो (इमम् यज्ञम्) हमारे इस यज्ञको उसके मार्गपर (सुसूदति) वेग प्रदान करती है। (हि) निश्चय ही (कविः) यह एक द्रष्टा हैं जो (मधुहस्त्यः) मधु-रसको अपने हाथोंमें लेकर आता है।

3

ईळितो अग्न आ वहेन्द्रं चित्रमिह प्रियम्।
सुखै रथेभिरूतये ।।

(अग्ने) हे शक्तिस्वरूप देव ! (ईळितः) हमने अपनी स्तुतिसे तुझे खोज लिया है। (इन्द्रम् इह आ वह) तू भागवत मन[1]को यहाँ ला जो

1. इन्द्र।

(चित्रं) भास्वर और (प्रियं) प्रिय है। उसे (ऊतये) हमारी वृद्धिके लिए (सुखैः रथेभिः) सुखपूर्ण रथोंके द्वारा (इह आ वह) यहाँ ला।

4

ऊर्णम्रदा वि प्रथस्वाऽभ्यर्का अनूषत।
भवा नः शुभ्र सातये ।।

(ऊर्णम्रदा) अपने-आपको कोमल पर घने रूपमें आच्छादित करते हुए (वि प्रथस्व) तू अपनेको व्यापक रूपसे विस्तृत कर। (अर्काः) प्रकाशकी हमारी वाणियाँ (अभि अनूषत) तेरे प्रति उच्चरित होकर हमारे अंतःकरणको हल्का कर देती हैं। (नः) हममें (शुभ्र) धवल और उज्ज्वल (भव) वन, जिससे (सातये) हम विजय प्राप्त कर सकें[2]।

5

देवीर्द्वारो वि श्रयध्वं सुप्रायणा न ऊतये।
प्रप्र यज्ञं पृणीतन ।।

(देवीः द्वारः) हे दिव्य द्वारो[3]! (वि श्रयध्वं) झूलते हुए खुल जाओ। (नः ऊतये) हमारे विस्तारके लिए (नः सुप्रायणाः) हमें सरल रास्ता दे दो, (प्र-प्र) आगे ही आगे हमें ले चलो और (यज्ञं पृणीतन) हमारे यज्ञको परिपूरित कर दो।

6

सुप्रतीके वयोवृधा यह्वी ऋतस्य मातरा।
दोषामुषासमीमहे ।।

---

1. भागवत मनकी बहुविध गतिका उसकी परिपूर्ण अवस्थामें संकेत करनेके लिए बहुवचनका प्रयोग किया गया है।

2. यह मन्त्र इन्द्रको सम्बोधित किया गया है जो दिव्य मनकी शक्ति है और जिसके द्वारा अतिमानसिक सत्यका प्रकाश आता है। इस प्रकाश-दाताके आगे बढ़ते हुए रथोंके द्वारा हम अपने दिव्य ऐश्वर्यको विजित करते हैं।

3. मनुष्यका यज्ञ है भगवानकी प्राप्तिके लिए उसका प्रयास और अभीप्सा। और इसका निरूपण यूं किया गया है कि यह उन बंद पड़े स्वर्गीय प्रदेशोंके खुलते हुए द्वारोंमेंसे यात्रा करता है जो विस्तारशील आत्मा द्वारा एक के बाद एक जीते जाते हैं।

(दोषाम् उषासम्) अन्धकार और उषा[1]की (ईमहे) हम अभीप्सा करते हैं, जो (ऋतस्य यह्वी मातरौ) सत्यकी दो शक्तिशाली माताएँ हैं, जो (सुप्रतीके) स्पष्ट रूपसे हमारे अभिमुख हैं और (वयोवृधा) हमारी विशाल सत्ताको बढ़ानेवाली हैं।

7

वातस्य पत्मन्नीळिता दैव्या होतारा मनुषः।
इमं नो यज्ञमा गतम् ॥

और (मनुषः दैव्या होतारा) हे हमारी मानवसत्ताके पुरोहितो! (ईळिता) हे पूजितयुगल! (वातस्य पत्मन्) जीवन-श्वासके मार्गसे (नः इमं यज्ञम् आ गतम्) हमारे इस यज्ञमें पधारो।

8

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वस्रिधः ॥

(इळा) ज्ञानके साक्षात् दर्शनकी देवी, (सरस्वती) प्रवाहशील अन्तःप्रेरणाकी देवी, (मही) विशालताकी देवी, (तिस्रः देवीः) ये तीनों देवियाँ,[2] (मयोभुवः) जो आनन्दको जन्म देती हैं और (अस्रिधः) किसी प्रकारकी भूल-भ्रान्ति[3] नहीं करतीं, (बर्हिः सीदन्तु) यज्ञकी वेदीपर बिछे हुए अपने आसनोंको ग्रहण करें।

9

शिवस्त्वष्टरिहा गहि विभुः पोष उत त्मना।
यज्ञेयज्ञे न उदव ॥

(त्वष्टः) हे पदार्थोंके निर्माता[4]! (शिवः) कल्याणकारी और (विभुः) अपनी सत्तासे सबमें व्याप्त तू (पोषः) हम सबका पोषण करता हुआ

---

1. रात और दिन। ये हमारे अंदर दिव्य और मानवीय चेतनाके बारी-बारीसे आनेके प्रतीक हैं। हमारी साधारण चेतनाकी रात्रि उस सबको धारण करती और तैयार करती है जिसे उषा हमारी सचेतन सत्ताके अंदर लाती है।
2. इळा, सरस्वती, मही। इनके नामोंका अनुवाद इनके कार्योंका स्पष्ट विचार देनेके लिए किया गया है।
3. या, जो अनाधृष्य हैं, अर्थात् हमारे दुख-दर्दके मूल कारण अज्ञान और अंधकारके द्वारा उनपर आक्रमण नहीं किया जा सकता।
4. त्वष्टा।

(त्मना) अपनी सत्ता[1]के द्वारा (यज्ञे-यज्ञे) यज्ञके बाद यज्ञमें (नः उत् अव) हमारे आरोहणको पुष्ट कर (उत) और (इह आ गहि) यहाँ हमारे पास आ।

10

यत्र वेत्थ वनस्पते देवानां गुह्या नामानि।
तत्र हव्यानि गामय॥

(वनस्पते) हे वनस्पते! हे आनन्द[2]के स्वामी! (यत्र) जहाँ तुम (देवानां गुह्या नामानि) देवोंके गुह्य नामोंको (वेत्थ) जानते हो, (तत्र) वहाँ, उस लक्ष्य[3]तक (हव्यानि गामय) हमारी भेंटोंको ले जाओ।

11

स्वाहाग्नये वरुणाय स्वाहेन्द्राय मरुद्भ्यः।
स्वाहा देवेभ्यो हविः॥

(अग्नये स्वाहा) संकल्प-शक्तिके प्रति समर्पण हो, (वरुणाय [स्वाहा]) विशालताके अधिपति[4]के लिए स्वाहा, (इन्द्राय स्वाहा) भागवत-मनके लिए स्वाहा, (मरुद्भ्यः) विचार-शक्ति[5]के लिए स्वाहा, (देवेभ्यः हविः स्वाहा) देवोंके प्रति हमारी आहुति[6]का अन्न स्वाहा [समर्पित] हो।

---

1. वस्तुओंके निर्माताके रूपमें भगवान् उन सबमें व्याप्त है जिन्हें वह बनाता है, व्याप्त है अपनी अक्षर स्वयंभू सत्ताके द्वारा और साथ ही वस्तुओंमें विद्यमान अपने उस क्षर भूतभावके द्वारा जिसकी सहायतासे आत्मा विकसित व संवर्धित होता तथा नये आकारोंको धारण करता प्रतीत होता है। इनमेंसे पहले रूपके द्वारा वह अंतर्वासी प्रभु और निर्माता है। अपने पिछले रूपसे वह प्रभु अपने ही कार्योंका उपादान है।
2. सोम।
3. आनन्द, दिव्य परमानन्दकी अवस्था जिसमें हमारी सत्ताकी संपूर्ण शक्तियाँ अपने पूर्ण देवत्वमें प्रकट होती हैं, वह आनन्द यहाँ गुह्य है और हमसे छिपा हुआ है।
4. वरुण।
5. मरुत्, अर्थात् हमारी सत्ताकी नाड़ीगत या प्राणिक शक्तियाँ जो विचारमें सचेतन अभिव्यक्तिको प्राप्त करती हैं। वे देव-मन इन्द्रके प्रति स्तुतियोंके गायक हैं।
6. अर्थात् हमारे अन्दरका वह सब कुछ जिसे हम दिव्य जीवनके प्रति समर्पित करते हैं, दिव्य प्रकृतिके आत्मप्रकाश तथा आत्मबलमें परिणत हो जाय।

छठा सूक्त

यात्राकी द्रुतगामी ज्वाला-शक्तियाँ

[दिव्यसंकल्परूप अग्निकी ज्वालाएँ, जो हमारी सभी संवर्धनशील और प्रगतिशील जीवनशक्तियोंका अपना घर तथा मिलनस्थान हैं, ऐसे चित्रितकी गई हैं कि वे परम कल्याणकी तरफ हमारी मानवीय यात्राके मार्गपर द्रुतगति से बढ़ रही हैं। भागवत संकल्प हमारे अन्दर अन्तःप्रेरणाकी दिव्यशक्ति, प्रदीप्त और अक्षय सामर्थ्य एवं अग्निज्वालाका निर्माण करता है। उस ज्वालाको प्रचुरताके एक ऐसे अश्वके रूपमें वर्णित किया गया है जो हमारे पास उस कल्याणको लाता है और हमें उस लक्ष्य तक ले जाता है। उस अग्निकी शिखाएँ मार्गपर सरपट दौड़नेवाले घोड़े हैं जो यज्ञके द्वारा संवर्धित होते हैं, निर्बाध वेगसे आगे बढ़ते हैं और हमेशा अधिकाधिक वेग से दौड़ते हैं, वे गुप्त ज्ञानके बाड़ेमें बन्द दीप्तियोंको लाते हैं। जब दिव्य अग्निशक्ति यज्ञकी भेंटोंसे भर जाती और तृप्त हो जाती है तब उन अश्वोंका संपूर्ण बल और वेग एकरस हो जाते हैं।]

1

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥

(तम् अग्निं मन्ये) मैं उस अग्नि-शक्तिका ध्यान करता हूँ (यः) जो (वसुः) सारतत्त्वमें निवास करता है, (यं धेनवः अस्तं यन्ति) जिसकी तरफ हमारा पोषण करनेवाले गोसमूह ऐसे जाते हैं जैसे अपने घरकी तरफ। (आशवः नित्यासः अर्वन्तः) हमारे युद्धके द्रुतगामी सनातन अश्व[1] भी (अस्तं [यन्ति]) उसे अपना घर समझकर उसकी तरफ जाते हैं, (वाजिनः अस्तं) हमारी शाश्वत प्रचुरताकी शक्तियाँ उसे घर समझती हुई उधर जाती हैं।

---

1. वेदमें अश्व शक्तिका प्रतीक है, विशेषतया प्राणशक्तिका। यह नाना प्रकारका है, 'अर्वत्' या युद्धमें युद्धकारी अश्व और 'वाजिन्' अर्थात् यात्राका अश्व जो हमें आध्यात्मिक ऐश्वर्यकी प्रचुरतामें पहुँचा देता है।

(स्तोतृभ्यः इषम् आभर) जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिये तू अन्तःप्रेरणा की अपनी शक्ति[1] ले आ।

2

सो अग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः।
समर्वन्तो रघुद्रुवः सं सुजातासः सूरय इषं स्तोतृभ्य आ भर॥

(सः अग्निः यः वसुः) अग्नि वह शक्ति है जो वस्तुओंके सारतत्त्वमें निवास करती है। (गृणे) मैं उसका वर्णन करता हूँ (यं) जिसमें (धेनवः सम् आयन्ति) हमारा पालन करनेवाले हमारे गोयूथ एक साथ आकर एकत्र होते हैं[2], (रघुद्रुवः अर्वन्तः सम् आयन्ति) जिसमें हमारे द्रुतगामी युद्ध-अश्व एक साथ आ मिलते हैं, (यं) जिसमें (सुजातासः) हमारे अन्दर अपने पूर्ण जन्मको प्राप्त किये हुए (सूरयः) ज्ञानप्रदीप्त द्रष्टा (सम् आयन्ति) एकत्र होते हैं।

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिये अन्तःप्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।

3

अग्निर्हि वाजिनं विशे ददाति विश्वचर्षणिः।
अग्नी राये स्वाभुवं स प्रीतो याति वार्यमिषं स्तोतृभ्य आ भर॥

(विश्वचर्षणिः) विराट् श्रमकर्ता (अग्निः) संकल्पाग्नि (हि) निश्चयसे (विशे वाजिनं ददाति) मानव प्राणीको परिपूर्णताका अश्व प्रदान करता है। (अग्निः) संकल्पाग्नि [वाजिनं ददाति] उस अश्वको देता है जो (राये) परम आनन्दके लिए (स्वाभुवं) हमारे अन्दर पूर्ण अस्तित्वमें आता है, अर्थात् हमारे अन्दर अपना पूर्ण अस्तित्व प्राप्त कर लेता है। (सः प्रीतः) वह तृप्त होकर (वार्यं याति) मनोवांछित कल्याणकी ओर यात्रा करता है।

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिये अन्तःप्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।

---

1. वह शक्ति जो हमें हमारी सत्ताकी रात्रिमेंसे दिव्य प्रकाश तक यात्रा करनेके योग्य बनाती है।
2. बल और ज्ञानकी हमारी सब उन्नतिशील शक्तियाँ दिव्य ज्ञान-शक्तिके आविर्भावकी ओर गति करती हैं और उसमें जाकर मिल जाती और समस्वर हो जाती हैं।

4

आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्।
यद्ध स्या ते पनीयसी समिद् दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर ।।

(अग्ने) हे ज्वाला! (देव) हे देव! हम (ते द्युमन्तम् अजरं) तेरी उस प्रकाशपूर्ण, जीर्ण न होनेवाली अग्निको (आ इधीमहि) सब ओरसे प्रदीप्त करते हैं, (यत्) जब (ते स्या पनीयसी समित्) तेरे श्रमकी वह अधिक प्रभावकारी शक्ति (द्यवि दीदयति) हमारे द्युलोकमें देदीप्यमान होती है।

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिये अन्तःप्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।

5

आ ते अग्न ऋचा हविः शुक्रस्य शोचिषस्पते।
सुश्चन्द्र दस्म विश्पते हव्यवाट् तुभ्यं हूयत इषं स्तोतृभ्य आ भर ।।

(अग्ने) हे संकल्पशक्ति! (शुक्रस्य शोचिषः पते) शुद्ध भास्वर ज्वालाके अधिपति! (ते हविः) तेरी ही है वह भेंट जो (ऋचा) प्रकाशप्रद मंत्रसे (तुभ्यम् आहूयते) तेरे लिए डाली गई है। (हव्यवाट्) हे हविके वाहक! (तुभ्यम् आहूयते) वह तेरे लिए ही डाली गई है, (विश्पते) हे प्रजाके स्वामी! (दस्म) कार्योंको सम्पन्न करनेवाले! (सुश्चन्द्र) आनन्दमें पूर्ण!

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिए अन्तःप्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।

6

प्रो त्ये अग्नयोऽग्निषु विश्वं पुष्यन्ति वार्यम्।
ते हिन्विरे त इन्विरे त इषण्यन्त्यानुषगिषं स्तोतृभ्य आ भर ।।

(त्ये अग्नयः) वे हैं तेरी ज्वालाएँ जो (अग्निषु) तेरी अन्य ज्वालाओंके बीच (विश्वं वार्यं) प्रत्येक वांछनीय भलाईका (प्रो पुष्यन्ति) पोषण करती हैं और उसे आगे बढ़ाती हैं। (ते हिन्विरे) वे दौड़ती हैं, (ते इन्विरे) वे सरपट आगे बढ़ती हैं, (ते आनुषक् इषण्यन्ति) वे लगातार अपनी प्रेरणाओंमें अग्रसर होती हैं।

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिए अन्तःप्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।

7

तव त्ये अग्ने अर्चयो महि व्राधन्त वाजिनः।
ये पत्वभिः शफानां व्रजा भुरन्त गोनामिषं स्तोतृभ्य आ भर ॥

(अग्ने) हे अग्ने! हे संकल्पशक्ते! (तव ते अर्चयः) वे हैं तेरी आग्नेय किरणें और (वाजिनः) प्रचुरताके अश्व, (महि व्राधन्तः) वे विशालता में संवर्धन पाते हैं, (ये) वे ऐसे हैं जो (शफानां पत्वभिः) अपने खुरोंसे पददलन करते हुए (गोनां व्रजा भुरन्त) उन्हें देदीप्यमान गौओं[1]के बाड़ोंमें लाते हैं।

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिए अन्तःप्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।

8

नवा नो अग्न आ भर स्तोतृभ्यः सुक्षितीरिषः।
ते स्याम य आनृचुस्त्वादूतासो दमेदम इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥

(अग्ने) हे संकल्पशक्ति! (स्तोतृभ्यः) जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिए तू (नवा इषः आ भर) अन्तःप्रेरणाकी नई शक्तियाँ ले आ ताकि वे (सुक्षितीः) अपना निवास-स्थान[2] ठीक-ठीक पा लें। (नः ते स्याम) हम वे हो जायें (ये) जो (त्वादूतासः) तुझे अपना दूत बनानेके कारण (दमे-दमे) घर-घरमें (आनृचुः) प्रकाशका स्तवन करते हैं।

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिए अन्तःप्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।

9

उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीष आसनि।
उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥

---

1. गौएं—दिव्य सत्यकी दीप्तियाँ जिन्हें इन्द्रिय-क्रियाके अधिपतियोंने अवचेतनकी गुफाओंमें बाड़ेकी न्याईं बंदकर रखा है।

2. अर्थात् वे हमें सत्यके लोकमें हमारे घरकी ओर, अतिचेतनके स्तर अथवा अग्निदेवके अपने घरकी ओर ले जाती हैं। उधर अग्रसर होती हुई ये सब प्रेरणाएँ अपना विश्राम और निवास-स्थान पा लेती हैं। एक स्तरसे दूसरे स्तर तक आरोहणके द्वारा ही वहाँ पहुँचा जाता है। वे स्तर दिव्य प्रकाशप्रद शब्दकी शक्तिके द्वारा एकके बाद एक खुलते जाते हैं।

(सुश्चन्द्र) हे आनन्दसे परिपूर्ण ! (सर्पिषः उभे दर्वी) तीव्र गतिशील समृद्धिके दोनों[1] कड़छोंको तू (आसनि) अपने मुँह तक (श्रीणीषे) पहुँचाता है। (उत उ नः उक्थेषु उत् पुपूर्याः) हमारे वचनोंमें तू अपने आपको पूरी तरह भर दे, (शवसस्पते) हे देदीप्यमान शक्तिके अधिपति !

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिए अन्तः-प्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।

10

एवाँ अग्निमजुर्यमु र्गीर्भिर्यज्ञेभिरानुषक् ।
दधदस्मे सुवीर्यमुत त्यदाश्वश्व्यमिषं स्तोतृभ्य आ भर ।।

(एव) इस प्रकार (गीर्भिः) हमारे स्तुतिवचनों और (यज्ञेभिः) यज्ञोंसे वे (अग्नि) शक्तिरूप अग्निको (आनुषक्) निरन्तर (अजुर्यमुः) अग्रसर करते हैं और वशमें लाते हैं। वह (अस्मे) हमारे अन्दर (सुवीर्यं दधत्) पूर्णवीर्य[2] स्थापित करे और (त्यत् आशु अश्व्यं) उस अश्वके द्रुतगमनकी शक्ति[3] (अस्मे दधत्) हमारे अन्दर प्रतिष्ठित करे।

(स्तोतृभ्यः इषम् आ भर) जो तेरा स्तुतिगान करते हैं उनके लिए तू अन्तःप्रेरणाकी अपनी शक्ति ले आ।

---

1. संभवतः, दिव्य और मानवीय आनंद।
2. युद्धशील आत्माकी वीरता-युक्त शक्ति।
3. आशु अश्व्यम्—वेगयुक्त अश्वशक्ति। यहाँ इन दो शब्दोंपर श्लेष है जो इन्हें "वेगशील अश्वसम शीघ्रगामिता" का अर्थ देता है।

सातवाँ सूक्त

भागवत संकल्प—अभिकांक्षी, आनन्दोपभोक्ता, पशुसत्तासे आनन्द और ज्ञानकी ओर प्रगतिशील

[इस सूक्तमें अग्निदेवकी स्तुति ऐसी दिव्यशक्तिके रूपमें की गई है जो मानव सत्तामें आनन्द और सत्यकी रश्मि लानेके साथ-साथ हमारे अन्धकारकी रात्रिमें प्रकाश लाती है। वह अग्निदेव मनुष्योंको उनके प्रयासमें अपने स्तरोंतक ले जाता है। वह पार्थिव उपभोगके विषयोंका आस्वादन करता है और फिर उन्हें विदारित कर डालता है, किन्तु उसकी सब अनेकानेक कामनाएँ मानवकी विश्वमयताका निर्माण करनेके लिये हैं, मानव सत्ताके दिव्यधाममें सर्वालिंगी उपभोगके लिये हैं। वह एक ऐसी पशुसत्ता है जो प्रकृतिकी विकासशील प्रगतिके द्वारा आनन्दोपभोक्ताके रूपमें उपलब्धि और आनन्दकी ओर गति कर रही है, जैसे कोई कुल्हाड़ा लिये वनमेंसे गुजर रहा हो। मनुष्यको उसकी यह प्रचण्ड, भावुकतापूर्ण पशुसत्ता अग्निके द्वारा प्रदान की गई है जिसे पवित्र करके शान्ति और आनन्दमें परिणत करना है। इसमें यह दिव्य प्रकाश और दिव्य ज्ञान व आत्माकी जाग्रत् अवस्थाको स्थापित करता है।]

1

सखायः सं वः सम्यञ्चमिषं स्तोमं चाग्नये।
वर्षिष्ठाय क्षितीनामूर्जो नप्त्रे सहस्वते॥

(सखायः) हे मित्रो! (वः) तुम्हारे अन्दर (क्षितीनां वर्षिष्ठाय) हमारे निवास-धामोंपर[1] अपने समस्त प्रचुर ऐश्वर्यको बरसानेवाले, (ऊर्जः नप्त्रे) ओजके पुत्र और (सहस्वते) शक्तिके स्वामी (अग्नये) शक्तिस्वरूप अग्निदेवके लिये (सम्यञ्चम् इषम्) अन्तर्वेगका पूरा बल एवं (सं स्तोमं) पूर्ण स्तुतिगान हो।

2

कुत्रा चिद् यस्य समृतौ रण्वा नरो नृषदने।
अर्हन्तश्चिद् यमिन्धते संजनयन्ति जन्तवः॥

---

1. या "लोकमें निवास करनेवालों पर"।

(यस्य) जिस अग्निदेवके साथ (नरः) मनुष्यकी आत्मा (कुत्रचित्) जहाँ कहीं भी (समृतौ) पूर्ण मिलाप कर लेती है वहाँ वह (नृषदने रण्वः) अपने निवास-स्थानमें आनन्दोल्लाससे भरपूर हो जाती है, (अर्हन्तः चित्) यहाँ तक कि जो अग्निशक्तिके विषयमें विशेषज्ञ हैं वे भी (यम् इन्धते) उसकी ज्वालाको प्रदीप्त करना जारी रखते हैं और (जन्तवः) सब उत्पन्न प्राणी (संजनयन्ति) उसे पूर्ण जन्म देनेके लिये कार्य करते हैं।

3

सं यदिषो वनामहे सं हव्या मानुषाणाम्।
उत द्युम्नस्य शवस ऋतस्य रश्मिमा ददे।।

(यत्) जब हम (इषः) प्रेरणाकी शक्तियोंको और (मानुषाणाम् हव्या) उन सब चीजोंको जिन्हें मनुष्य यज्ञके रूपमें भेंट करते हैं (संवनामहे) पूर्णतया धारण करते हैं और उपभोग करते हैं (उत) तब मैं (ऋतस्य द्युम्नस्य शवसः रश्मिम्) सत्यकी किरणको उसके प्रकाश और देदीप्यमान ओजके साथ[1] (आ ददे) ग्रहण करता हूँ।

4

स स्मा कृणोति केतुमा नक्तं चिद् दूर आ सते।
पावको यद् वनस्पतीन् प्र स्मा मिनात्यजरः।।

(सः) वह अग्निदेव (नक्तं दूरे आ सते चित्) रात्रिमें बहुत दूर बैठे हुएके लिए भी (केतुम् आ कृणोति स्म) निश्चय ही अनुभूतिके प्रकाशका निर्माण करता है, (यद्) जब (अजरः पावकः) अपने-आप जीर्ण न होनेवाला, पवित्र करनेवाला वह देव (वनस्पतीन्[2] प्र मिनाति स्म) आनन्दकी वनस्थलीके अधिपतियोंसे पूरी तरह इसका निष्पीड़न करता है।

5

अव स्म यस्य वेषणे स्वेदं पथिषु जुह्वति।
अभीमह स्वजेन्यं भूमा पृष्ठेव रुरुहुः।।

[यत्] जब (यस्य वेषणे) उस अग्निके घेरेमें मनुष्य (पथिषु स्वेदम्

1. या "प्रकाशकी, ज्योतिर्मय शक्ति और सत्यकी रश्मिको"।

2. वनस्पतीन्—'वनस्पति' शब्दके यहाँ दो अर्थ हैं, 1. वृक्ष, वनके स्वामी, पृथिवीकी उपज, हमारी भौतिक सत्ता, 2. आनन्दके स्वामी। अमरत्व प्रदान करनेवाली मदिराका उत्पादक सोम एक विशेष प्रकारका वनस्पति है।

अव जुह्वति) अपने श्रमका पसीना[1] बहाते हैं मानो वे मार्गोंपर अपनी भेंट दे रहे हों, तब वे (भूम पृष्ठा-इव) उन आरोहियोंकी तरह जो विशाल स्तरोंपर पहुँचते हैं, (ईम् अभि अह रुरुहुः) उस स्तरकी ओर आरोहण करते हैं जहाँ वह (स्वजेन्यम्) अपने आत्मानन्दमें निमग्न[3] बैठा है।

6

यं मर्त्यः पुरुस्पृहं विदद् विश्वस्य धायसे।
प्र स्वादनं पितूनामस्ततातिं चिदायवे॥

(यं मर्त्यः विदद्) उसे मरणधर्मा मनुष्य ऐसा देव जाने कि वह (पुरुस्पृहं) मनुष्यकी कामनाओंके इस पुंजको अपने हाथमें लिए है ताकि वह (विश्वस्य धायसे) हमारे अन्दर इस सबको प्रतिष्ठित कर सके, क्योंकि (पितूनां स्वादनं प्र) वह समस्त भोजनोंके मधुर आस्वादनकी ओर आगे बढ़ता है और (आयवे) इस मानव प्राणीके लिए (अस्ततातिं चित्) घर[4] भी बनाता है।

7

स हि ष्मा धन्वाक्षितं दाता न दात्या पशुः।
हिरिश्मश्रुः शुचिदन्नृभुरनिभृष्टतविषिः॥

(सः) अग्निदेव (धन्वा अक्षितम्) इस मरुस्थली[5]को जिसमें हम निवास

---

1. यहाँ 'स्वेद' शब्दके दोहरे भावपर श्लेष है। वह भाव है (i) पसीना तथा (ii) अन्नरूपी भेंटका प्रचुरतासे टपकाना।
2. ये हैं सत्ताके विस्तृत, निर्बाध, असीम स्तर जो सत्यपर आधारित हैं, ये हैं खुले स्तर जो एक जगह विषम कुटिलताके स्तरोंके विरोधी रूपमें वर्णित किए गये हैं। ये कुटिल स्तर मनुष्योंकी अंतर्दृष्टिको सीमित करके तथा उनकी यात्रामें रोड़े अटकाकर उन्हें अपने अंदर बंद किए रखते हैं।
3. अथवा "आत्म-विजयी"।
4. मनुष्यका घर, उसके अस्तित्वका उच्चतर दिव्य लोक, जिसे देव उसकी सत्तामें यज्ञके द्वारा बना रहे हैं। यह घर है पूर्ण परमानन्द जिसमें सम्पूर्ण मानवीय कामनाओं तथा आनन्दोपभोगोंका रूपान्तर होता है और जिसमें वे सब अपने आपको खो देते हैं। इसी लिए अग्निशक्ति, जो पवित्र करनेवाली है, भौतिक सत्ता और उपभोगके सब रूपोंको निगल जाती है, ताकि उन्हें उनके दिव्य प्रतिरूपमें परिणत कर सके।
5. भौतिक सत्ता जिसे उन धाराओं या नदियोंसे सींचा नहीं जाता जो अतिचेतनाके आनन्द और सत्यसे अवतरित होती हैं।

करते हैं (दाता स्म हि) निश्चय ही टुकड़े-टुकड़े कर देता है, (पशुः न आ दाति) जैसे कि पशु अपने भोजनको काटकर टुकड़े-टुकड़े करता है। (हिरिश्मश्रुः) उस पशुकी दाढ़ी स्वर्णिम प्रकाशसे युक्त है। (ऋभुः) वह शिल्पी है, (शुचिदन्) पवित्रता ही उसका दाँत है। (अनिभृष्ट-तविषिः) उसके अन्दर विद्यमान शक्ति उसके तापसे कभी संतप्त नहीं होती।

8

शुचिः ष्म यस्मा अत्रिवत् प्र स्वधितीव रीयते।
सुषूरसूत माता क्राणा यदानशे भगम्॥

(शुचिः स्म) निश्चय ही वह पवित्र है, (यस्मै) जिसके लिये (अत्रिवत्) वस्तुओंके भोक्ताके रूपमें (स्वधितिः-इव) प्रकृति[1]के द्वारा, मानो एक कुठारके द्वारा (प्र रीयते) प्रवाहशील विकास साधित किया जाता है। (माता सुषूः असूत) उसकी माता सुखपूर्ण प्रसूतिके साथ उसे बाहर लाती है, (यत्) जिससे कि वह (क्राणा) माताके कार्योंको सिद्ध कर सके और (भगम् आनशे) आनन्दोपभोग[2]का रस ले सके।

9

आ यस्ते सर्पिरासुतेऽग्ने शमस्ति धायसे।
ऐषु द्युम्नमुत श्रव आ चित्तं मर्त्येषु धाः॥

(अग्ने) हे अग्निशक्ति! (सर्पिः-आसुते) प्रवाहशील ऐश्वर्यको हमपर पूरी तरह चुआनेवाली! जब तू (आ [भवसि]) ऐसे व्यक्तिको प्राप्त करती है (यः) जो (ते धायसे) तेरे कार्योंको स्थापित करनेके लिये (शम्

---

1. यहाँ पुनः 'स्वधिति'के दोहरे अर्थपर श्लेष है। एक अर्थ है कुल्हाड़ा अथवा कोई और चीरनेवाला उपकरण, दूसरा प्रकृतिकी स्वयं व्यवस्था करनेवाली शक्ति—"स्वधा"। यह एक रूपक है कि दिव्य शक्ति मानवीय कुल्हाड़ेके साथ भौतिक सत्ताके जंगलोंमेंसे आगे बढ़ रही है, किन्तु कुल्हाड़ा है प्रकृतिका नैसर्गिक आत्मव्यवस्था करनेवाला विकास। प्रकृतिका अर्थ है वैश्व शक्ति, वह माता जिससे यह दिव्य शक्ति, बलका पुत्र उत्पन्न हुआ है।
2. दिव्य भोग (भग) जो भग देवताके द्वारा अर्थात् सत्यकी शक्तिसे उपभोग करनेवाले देवताके द्वारा विशेष रूपसे निरूपित होता है।

अस्ति) आनन्दपूर्ण शान्ति[1]से संपन्न है, तव तू (एषु मर्त्येषु) ऐसे मर्त्योंमें (द्युम्नं) प्रकाश और (श्रवः) अन्तःस्फूर्त ज्ञान (आ धाः) प्रतिष्ठित कर (उत) और (चित्तम्) सचेतन आत्माको भी (आ [धाः]) प्रतिष्ठित कर।

10

इति चिन्मन्युमध्रिजस्त्वादातमा पशुं ददे।
आदग्ने अपृणतोऽत्रिः सासह्याद् दस्यूनिषः सासह्यान्नॄन् ॥

क्योंकि (इति चित्) इस लक्ष्यके लिए (अध्रिजः) भौतिक सत्तामें उत्पन्न हुआ मैं (मन्युं) भावुकतापूर्ण मनको और (पशुं) पशु[2]सत्ताको (त्वा-दातम् आ ददे) तेरे उपहारके रूपमें ग्रहण करता हूँ। (आत्) और फिर (अग्ने) हे संकल्पाग्नि! (अत्रिः) वस्तुओंका भक्षक (अपृणतः दस्यून्) उन विभाजकोंको[3] जो उसकी पूर्णताको पोषित नहीं करते (ससह्यात्) पराजित करे और वह (नॄन्) उन आत्माओंको भी (ससह्यात्) वशीभूत करे जो (इषः) उसपर अपनी प्रेरणाओंके साथ धावा करती हैं।

---

1. वेदमें 'शम्' तथा 'शर्म' शान्ति और आनन्दका अर्थ प्रकट करते हैं। यह आनन्द सुसाधित श्रम, शमी, से या यज्ञके कार्य से मिलता है: वहाँ जाकर संग्रामका श्रम और यात्राका श्रम अपना विश्राम पाते हैं, वहाँ ऐसे परमानन्दका आधार प्राप्त हो जाता है जो संघर्ष और परिश्रमकी पीड़ासे मुक्त हो चुका होता है।
2. इसका शब्दार्थ है वासनायुक्त मन और पशु। परन्तु पशु शब्दका अर्थ 'प्रकाशकी प्रतीकात्मक गाय' भी हो सकता है, जैसा कि वेदमें प्रायः ही होता हैं। उस दशामें इसका अभिप्राय होगा भावुकतापूर्ण मन और प्रकाशित मन। परन्तु पहला अनुवाद सूक्तके सामान्य आशयसे और शब्दके अपने पूर्व प्रयोगसे अपेक्षाकृत अच्छा मेल खाता है।
3. दस्युओंको जो आत्माके विकास और एकत्वको खण्ड-खण्ड करते और काटते हैं और उसकी दिव्यशक्ति, आनन्द और ज्ञानपर आक्रमण करना और उसका विनाश करना चाहते हैं। वे अन्धकारकी शक्तियाँ हैं, दनु या दिति अर्थात् विभक्त सत्ताके पुत्र हैं।

आठवाँ सूक्त

भागवत संकल्प—वैश्व सिद्धिका अधिष्ठाता

[(अग्निको प्रदीप्त करनेके लिए) प्राचीनतम युगसे किये जा रहे महान् प्रयास और अभीप्साकी निरंतरताको घोषित करता हुआ ऋषि हमारे अन्दर अवस्थित दिव्य संकल्पकी स्तुति करता है कि वह हमारा संगी-साथी है, यज्ञका पुरोहित और इस गृहका स्वामी है, वह वैश्व अन्तर्वेगको उसकी संपूर्ण नानाविधताके साथ चरितार्थ करता है और उसे ज्ञान और कर्ममें स्फूर्ति देता है एवं उसका नेतृत्व भी करता है।]

1

त्वामग्न ऋतायवः समीधिरे प्रत्नं प्रत्नास ऊतये सहस्कृत।
पुरुश्चन्द्रं यजतं विश्वधायसं दमूनसं गृहपतिं वरेण्यम् ।।

(अग्ने) हे संकल्परूप अग्नि! (सहस्कृत) तू जो हमारे अन्दर शक्तिसे निर्मित हुआ है! (त्वां प्रत्नम्) तुझ पुरातन शक्तिको (प्रत्नासः ऋतायवः) सत्यके पुरातन अन्वेषकोंने (सम् ईधिरे) पूरी तरह प्रदीप्त किया ताकि वे (ऊतये) अपनी सत्तामें संवर्धित हो सकें। तू (यजतम्) यज्ञका देव है, (पुरु-चन्द्रं) अपने आनन्दोंके समूहसे संपन्न है और इसीलिए (विश्वधायसं) सबको धारण करता है[1]। वह तू (दमूनसं) हमारे अन्दर स्थिर वास करता है, (गृहपतिं) हमारे गृहका स्वामी है, (वरेण्यं) हमारा परम वरणीय संगी है।

2

त्वामग्ने अतिथिं पूर्व्यं विशः शोचिष्केशं गृहपतिं नि षेदिरे।
बृहत्केतुं पुरुरूपं धनस्पृतं सुशर्माणं स्ववसं जरद्विषम् ।।

(अग्ने) हे संकल्पशक्ति! तू (पूर्व्यम् अतिथिम्) सर्वोच्च[2] अतिथि है, (शोचिष्केशम्) प्रकाशकी जटासे युक्त है और (गृहपतिम्) घरका स्वामी है। (त्वाम्) तुझमें (विशः) प्रजाएँ (नि षेदिरे) अपना आधार पाती हैं,

---

1. अथवा सबको पोषित करता है।
2. पूर्व्यम्—'प्रथम' अर्थात् आदि और सर्वोच्च दोनों।

क्योंकि तू (बृहत्केतुम्) विशाल अंतर्दर्शनसे संपन्न है और (पुरुरूपम्) नानाविध रूपोंसे युक्त है, (धनस्पृतम्) हमारे ऐश्वर्योंका सार है, (सुशर्माणम्) पूर्ण शान्ति और (स्ववसम्) पूर्ण सत्ता है तथा (जरद्विषम्) हमारे शत्रुओं[1]का विनाशरूप है।

3

त्वामग्ने मानुषीरीळते विशो होत्राविदं विविचिं रत्नधातमम्।
गुहा सन्तं सुभग विश्वदर्शतं तुविष्वणसं सुयजं घृतश्रियम् ॥

(अग्ने) हे संकल्पशक्ति! (मानुषीः विशः) मानव प्राणी (त्वाम् ईळते) तेरी वन्दना करते हैं—अपनी स्तुतिसे तुझे खोजते हैं, जो तू (होत्राविदम्) यज्ञकी शक्तियों[2]के ज्ञानसे संपन्न है, (विविचिम्) सम्यक्तया विवेक करता हुआ (रत्नधातमम्) हमारे लिए आनंदको पूर्णतया धारण करता है और (गुहा सन्तम्) हमारी सत्ताकी गुहामें विराजमान है। (सुभग) हे पूर्ण आनन्दोपभोक्ता! तू (विश्वदर्शतम्) विराट् अन्तर्दर्शनसे देखता, (तुवि-स्वनसम्) अपनी अनेकानेक वाणियोंकी वर्षा करता, (सुयजम्) यज्ञको ठीक प्रकारसे करता और (घृतश्रियम्) निर्मलताकी श्रीशोभासे भासित होता हुआ विराजमान है।

4

त्वामग्ने धर्णसिं विश्वधा वयं गीर्भिर्गृणन्तो नमसोप सेदिम।
स नो जुषस्व समिधानो अङ्गिरो देवो मर्तस्य यशसा सुदीतिभिः ॥

(अग्ने) हे संकल्पशक्तिरूप देव (त्वां विश्वधा धर्णसिम्) तू वस्तुओंकी सार्वभौमिकताके विधानको धारण करता है। (वयम्) हम (त्वाम्) तेरे पास (नमसा उप सेदिम) समर्पणरूप नमस्कारके साथ पहुँचते हैं और तुझे (गीर्भिः गृणन्तः) स्तुतियोंसे प्रकट करते हैं। (अङ्गिरः) हे शक्तिशाली द्रष्टा! (मर्तस्य यशसा) मर्त्यकी विजय[3]से और (सुदीतिभिः) उसकी यथार्थ दीप्तियोंसे (समिधानः) सुप्रदीप्त हुआ (सः देवः) वह उक्त गुणोंवाला देव तू (नः जुषस्व) हमें स्वीकार कर और हमारा दृढ़ संगी बन।

---

1. मानवीय शत्रु नहीं अपितु विरोधी शक्तियाँ जो हमारी सत्ताकी एकता और पूर्णताको भंग करनेका यत्न करती हैं और जिनसे उन ऐश्वर्योंको बचाना है जो वस्तुतः हमारे ही हैं।
2. अथवा हवि देनेकी प्रक्रिया।
3. उपलब्धि या गौरव-गरिमा।

5

त्वमग्ने पुरुरूपो विशेविशे वयो दधासि प्रत्नथा पुरुष्टुत।
पुरूण्यन्ना सहसा वि राजसि त्विषिः सा ते तित्विषाणस्य नाधृषे ।।

(अग्ने) हे संकल्पशक्तिरूप अग्ने (पुरुस्तुतः) अनेक प्रकारसे स्तुति किया हुआ तू (विशे-विशे पुरुरूपः) मनुष्य-मनुष्यके अनुसार अनेक रूप ग्रहण करता है और (प्रत्नथा) पुरा कालकी भांति ही प्रत्येकके लिए (वयः दधासि) उसकी विशाल अभिव्यक्तिको स्थापित करता है। तू (सहसा) अपनी शक्तिसे (पुरूणि अन्ना) अनेक पदार्थोंको जो तेरे अन्न हैं (वि राजसि) प्रकाशित करता है। (तित्विषाणस्य) जब तू इस प्रकार प्रदीप्त होता है तब (ते त्विषिः) तेरे प्रकाशकी उस आभाको (न आधृषे) कोई भी दबा नहीं सकता।

6

त्वामग्ने समिधानं यविष्ठ्य देवा दूतं चक्रिरे हव्यवाहनम्।
उरुज्रयसं घृतयोनिमाहुतं त्वेषं चक्षुर्दधिरे चोदयन्मति ।।

(यविष्ठ्य अग्ने) हे पूर्णयौवन-संपन्न संकल्पाग्ने! (त्वां) तुझे (देवाः) देवोंने (समिधानं) सुप्रदीप्त किया है और (दूतं चक्रिरे) मनुष्यके लिए अपना दूत बनाया है। (हव्यवाहनं) मनुष्यकी भेंटोंके वाहक, (उरुज्रयसं) अपनी द्रुतगतियोंमें विशाल, (घृतयोनिं) निर्मलतासे उत्पन्न, (आहुतं त्वाम्) हविको प्राप्त करनेवाले तुझ देवको उन्होंने उसके अंदर (त्वेषं चक्षुः दधिरे) एक प्रखर-दीप्त आंखके रूपमें स्थापित किया है जो (चोदयत्-मति) उसकी मनःसत्ताको प्रेरित करती है।

7

त्वामग्ने प्रदिव आहुतं घृतैः सुम्नायवः सुषमिधा समीधिरे।
स वावृधान ओषधीभिरुक्षितोऽभि ज्रयांसि पार्थिवा वि तिष्ठसे ।।

(अग्ने) हे संकल्पाग्ने! (त्वां) तुझे (सुम्नायवः) परम आनन्दके अभिलाषी मनुष्योंने (सु-समिधा समीधिरे) पूरी समिधासे सुप्रदीप्त किया है। (घृतैः प्रदिवः आहुतं) द्युलोक[1]के अग्रभागमें उनकी निर्मलताओंसे पुष्ट हुआ तू (वावृधानः) इस प्रकार बढ़ता हुआ (पार्थिवा ज्रयांसि अभि) पार्थिव जीवनकी समस्त द्रुतगतिशील प्रगतियोंके अन्दर (वि तिष्ठसे) विशालतासे प्रवेश करता है।

---

1. द्युलोक और पृथिवी अर्थात् विशुद्ध मानसिक सत्ता और अन्नमय चेतना।

नौवाँ सूक्त

पशुसत्तासे मनोमय सत्ताकी ओर आरोहणशील भगवत्संकल्प

[इस सूक्तमें ऋषि भौतिक चेतनापर शुद्ध मानसिक चेतनाकी क्रियाके द्वारा भागवत संकल्पशक्तिके जन्मका वर्णन करता है। वह कहता है कि मनुष्यकी मर्त्य मनवाली साधारण अवस्थाका—भावनाप्रधान, स्नायविक और आवेगात्मक मनवाली अवस्थाका—लक्षण होता है कुटिल क्रियाएँ और नश्वर भोग। उस अवस्थामें भागवत संकल्पशक्तिकी क्रिया प्रच्छन्न रूपमें होती है। पीछे, हमारी सत्ताके तीसरे स्तरपर यह उभरकर प्रकट हो जाती है जहाँ इसे तपाकर मुक्ति और आध्यात्मिक विजयके लिए स्पष्ट और प्रभावशाली रूपमें गढ़ा जाता और तीक्ष्ण किया जाता है। यह हमारी सत्ताके सब जन्मों व स्तरोंको जानती है और यज्ञ तथा उसकी हवियोंको क्रमिक और संतत प्रगति द्वारा दिव्य लक्ष्य एवं धामकी ओर ले जाती है।]

1

त्वामग्ने हविष्मन्तो देवं मर्तास ईळते।
मन्ये त्वा जातवेदसं स हव्या वक्ष्यानुषक्॥

(अग्ने) हे भागवत संकल्पशक्ति! (हविष्मन्तः मर्तासः) हविको लिये हुए मर्त्य मनुष्य (त्वां देवम् ईळते) तुझ देवकी खोज करते हैं। (त्वा जातवेदसं मन्ये) मैं तेरा ध्यान करता हूँ, जो तू समस्त उत्पन्न पदार्थों व जन्मोंका ज्ञाता है। (सः) वह तू (हव्या आनुषक् वक्षि) हमारी हवियोंको निरन्तर लक्ष्य तक ले जाता है।

2

अग्निर्होता दास्वतः क्षयस्य वृक्तबर्हिषः।
सं यज्ञासश्चरन्ति यं सं वाजासः श्रवस्यवः॥

(अग्निः) संकल्परूप अग्नि (होता) उस मनुष्यके लिये हविका पुरोहित है जो (दास्वतः) समर्पण करता है, (वृक्तबर्हिषः) यज्ञका आसन तैयार करता है और उसके (क्षयस्य) घरको प्राप्त करता है। क्योंकि (यं

यज्ञासः सं चरन्ति) उसीमें यज्ञके हमारे कार्य एकत्र होते हैं और उसीमें (श्रवस्यवः वाजासः) हमारी सत्यश्रुतियोंकी समृद्धियां (सं चरन्ति) एकत्र होती हैं।

3

उत स्म यं शिशुं यथा नवं जनिष्टारणी ।
धर्तारं मानुषीणां विशामग्निं स्वध्वरम् ।।

(उत स्म) और यह भी सत्य है कि (अरणी)[1] दो अरणियोंने, दो क्रियाओंने (यम्) जिस तुझको (यथा नवं शिशुं) नवजात शिशुकी तरह उत्पन्न किया है, वह तू (मानुषीणां विशाम् धर्तारम्) मानव प्राणियोंको धारण करनेवाला और (सु-अध्वरम् अग्निम्) एक ऐसा संकल्पबल है जो यज्ञका ठीक-ठीक नेतृत्व करता है।

4

उत स्म दुर्गृभीयसे पुत्रो न ह्वार्याणाम् ।
पुरू यो दग्धासि वनाऽग्ने पशुर्न यवसे ।।

(अग्ने) हे अग्निदेव ! (उत स्म) यह भी सत्य है कि तू (ह्वार्याणाम् पुत्रः न) कुटिलताओं[2]के पुत्रकी तरह (दुर्गृभीयसे) कठिनाईसे पकड़में आता है, (यः) जब तू (यवसे पशुः न) अपनी चरागाहमें अन्न खानेवाले पशुकी तरह (पुरु वना दग्धा असि) आनन्दरूपी अनेक वनस्पतियोंको निगल जाता है।

5

अध स्म यस्यार्चयः सम्यक् संयन्ति धूमिनः ।
यदीमह त्रितो दिव्युप ध्मातेव धमति शिशीते ध्मातरी यथा ।।

(अध स्म) परंतु पीछे (यत्) जब (यस्य अर्चयः) उस अग्निकी किरणें (धूमिनः) अपने धूम्रयुक्त आवेगके साथ (सम्यक् संयन्ति) पूरी तरह आपसमें

---

1. दो अरणियां जिनसे आग रगड़कर निकाली जाती है। 'अरणी' शब्द का अर्थ क्रियाएँ भी हो सकता है और यह 'अर्य' शब्दसे सम्बन्धित है। द्युलोक व पृथिवी दो अरणियाँ हैं जो अग्नि उत्पन्न करती हैं, द्युलोक है उसका पिता और पृथिवी उसकी माता।
2. 'ह्वार्याणाम्'का शाब्दिक अर्थ है—कुटिल वस्तुओंके। वे कुटिल वस्तुएँ संभवतः हमारी सत्ताकी वे सात नदियाँ या गतिधाराएँ हैं जो हमारे मर्त्य जीवनकी बाधाओंमेंसे चक्कर काटती हुई गुजरती हैं।

मिलती हैं, (अह ईम्) अहो, तब उसे (त्रितः) वह तीसरा आत्मा[1] (दिवि) हमारे द्युलोकमें (उप धमति) ऐसे घड़ता है (ध्माता-इव) जैसे लोहार अपने लोहारखानेमें वस्तुओंको घड़ता है; (यथा ध्मातरि शिशीते) मानों वह आत्मारूपी लोहार अपने ही अन्दर उसे तेज करके एक तीक्ष्ण अस्त्र बना डालता है।[2]

6

तवाहमग्न ऊतिभिर्मित्रस्य च प्रशस्तिभिः।
द्वेषोयुतो न दुरिता तुर्याम मर्त्यानाम्॥

(अग्ने) हे संकल्पशक्ति! (तव ऊतिभिः) तेरे विस्तारोंसे (मित्रस्य प्रशस्तिभिः च) और प्रेमके अधिपति मित्रकी तेरे द्वारा की हुई अभिव्यक्तियोंसे मैं ही नहीं, (नः) हम सब, (द्वेषोयुतः) उन मनुष्योंकी तरह जो शत्रुओंसे आक्रान्त और विरोधोंसे घिरे हुए हैं, (मर्त्यानां दुरिता) मर्त्योंकी विघ्नबाधाओं एवं अवरोधोंमेंसे (तुर्याम) पार हो जाएँ।

7

तं नो अग्ने अभी नरो रयिं सहस्व आ भर।
स क्षेपयत् स पोषयद् भुवद् वाजस्य सातय उतैधि पृत्सु नो वृधे॥

(अग्ने सहस्व) हे संकल्पशक्ति! हे बलशाली देव! (नः नरः अभि) हम मानवी आत्माओंके लिये (तं रयिम् आ भर) उस परम आनन्दको ले आओ। (स क्षेपयत्) वह हमें हमारे मार्गमें तीव्र वेगसे आगे बढ़ाये। (स पोषयत्) वह हमारा पोषण और संवर्धन करे, (वाजस्य सातये भुवत्) ऐश्वर्यकी विजयके लिये हमारे अन्दर रहे। (उत नः पृत्सु एधि) और हमारे संग्रामोंमें तुम हमारे साथ अग्रसर हो, (नः वृधे) ताकि हमारी वृद्धि हो।

---

1. त्रित आप्त्य, तीसरा या त्रिविध, स्पष्टतः ही, मानसिक स्तरका पुरुष। परम्पराके अनुसार वह एक ऋषि है और उसके दो साथी हैं जिनके अर्थगर्भित नाम हैं—एक, अर्थात् एक या अकेला, द्वित अर्थात् दूसरा या दोहरा। वे हैं भौतिक और प्राणिक या क्रियाशील चेतनाके पुरुष। वेदमें वह (त्रित) वस्तुतः एक देव प्रतीत होता है।
2. मूल मन्त्र अपनी शैली और अभिप्रायमें बहुत संक्षिप्त और संहत है। वेदकी वाक्यरचना और पदावलिमें सामान्यतः जो अर्थगौरव पाया जाता है, उससे भी परेका अर्थगौरव इस मंत्रमें निहित है। "ओह! जब त्रित उसे द्युलोकमें लोहारकी तरह धौंकनीमें तपाकर तैयार करता है, मानो धौंकनीके द्वारा तेज करता है।" इंगलिशमें हमें इस अर्थको स्पष्ट करनेके लिये विस्तार करना पड़ता है।

दसवाँ सूक्त

उपलब्धि प्राप्त करनेवाली तेजस्वी आत्माओंका सूक्त

[ऋषि दिव्य ज्वालारूप अग्निदेवसे प्रार्थना करता है कि वह शक्ति, ज्ञान तथा आनन्दकी त्रिविध सामर्थ्यके द्वारा उसके अन्दर कार्य करे। वह हमारी मानवजातिमें उन ज्ञानसंपन्न तेजस्वी आत्माओंका वर्णन करता है जो सत्य और विशालताकी उपलब्धि करती हैं। वे दिव्य प्रभुत्वकी ओर आरोहण करनेके लिए हमारे अन्दर कार्यरत इस परात्पर भागवत चित्-शक्तिकी ज्वलन्त और अत्यधिक शक्तिसंपन्न ज्वाला-रश्मियाँ हैं। कई आत्माएँ ऐसी बन चुकी हैं, अन्य अभीतक अवरुद्ध हैं, परन्तु विकसित हो रही हैं। ऋषि चाहता है कि अग्नि स्तुति द्वारा अधिकाधिक सम्पुष्ट होता जाय ताकि समृद्ध एवं समग्र-बोधात्मक सार्वभौमिकताकी ओर सभी प्रगति कर सकें।]

1

अग्न ओजिष्ठमा भर द्युम्नमस्मभ्यमध्रिगो।
प्र नो राया परीणसा रत्सि वाजाय पन्थाम्॥

(अग्ने) हे ज्वाला! (अध्रिगो) हमारी सीमित सत्तामें रहनेवाली रश्मि! (ओजिष्ठं द्युम्नं) समग्र शक्तिसे परिपूर्ण प्रकाशको (अस्मभ्यम् आ भर) हमारे लिए ले आ। (परीणसा राया) सब ओरसे व्यापनेवाले परम आनन्दके द्वारा (नः वाजाय पन्थाम्) हमारे ऐश्वर्यकी परिपूर्णताके मार्गको (प्र रत्सि) आगे-आगे चीरकर बना।

2

त्वं नो अग्ने अद्भुत क्रत्वा दक्षस्य मंहना।
त्वे असुर्यमारुहत् क्राणा मित्रो न यज्ञियः॥

(अग्ने) हे ज्वाला! (त्वम् अद्भुतः) तू सर्वोच्च और अद्भुत है। तू ही (क्रत्वा) संकल्पकी शक्तिसे (नः) हमारे अन्दर (दक्षस्य मंहना) विवेकबलकी महानता बन गया है। (त्वे) तुझमें ही (यज्ञियः मित्रः)

सबको समस्वर करनेवाला यज्ञ-साधक मित्र[1] (क्राणा) कार्यको सम्पन्न करता है और (असुर्यम्[2] आरुहत्) दिव्य आधिपत्यकी ओर आरोहण करता है।

3

त्वं नो अग्न एषां गयं पुष्टिं च वर्धय।
ये स्तोमेभिः प्र सूरयो नरो मघान्यानशुः ॥

(अग्ने) हे शक्तिस्वरूप देव! (त्वम्) तू (एषां गयं पुष्टिं च) इनकी प्रगति[3] और विकासकी (वर्धय) वृद्धि कर (ये) जो (सूरयः नरः) ज्ञानसम्पन्न भव्य आत्माएँ हैं और (स्तोमेभिः) तेरे लिये अपने स्तोत्रोंके द्वारा (नः मघानि प्र आनशुः) हमारी पूर्णताओंको हमारे लिए प्राप्त करते हैं।

4

ये अग्ने चन्द्र ते गिरः शुम्भन्त्यश्वराधसः।
शुष्मेभिः शुष्मिणो नरो दिवश्चिद् येषां बृहत् सुकीर्तिर्बोधति त्मना ॥

(अग्ने) हे शक्तिमय देव! (चन्द्र) हे आनन्दस्वरूप! (ते) ये हैं वे (ये अश्वराधसः) जो जीवनकी वेगशील शक्तियोंकी सुखपूर्ण समृद्धिसे युक्त हैं, (गिरः शुम्भन्ति) जो चिन्तनके शब्दोंको सुखपूर्ण प्रकाशकी ओर मोड़ते हैं, (शुष्मेभिः शुष्मिणः नरः) जिनकी आत्माएँ वीरोचित शक्तिसे शक्तिशाली हैं, (येषां) जिनके लिये (दिवः) द्युलोकमें[4] भी (बृहत्) विशालता है। (सुकीर्तिः त्मना बोधति) इनके लिए इस अग्निकी पूर्ण क्रिया अपने-आप ही ज्ञानके प्रति जागृत हो जाती है।

5

तव त्ये अग्ने अर्चयो भ्राजन्तो यन्ति धृष्णुया।
परिज्मानो न विद्युतः स्वानो रथो न वाजयुः ॥

---

1. मित्र—प्रेमका अधिपति जो हमारे अन्दर दिव्य प्रयासकी क्रियाओंमें समस्वरताके तत्त्वका सूत्रपात करता है और इस प्रकार हमारी प्रगतिकी सब दिशाओं, हमारे यज्ञके सभी तंतुओंको संयुक्त करता चलता है जबतक कि ज्ञान, शक्ति और आनन्दकी सर्वोत्कृष्ट एकतामें कार्य सिद्ध नहीं हो जाता।
2. असुर्यम्—देव-शक्ति, भगवान्‌की प्रभुत्वकारी कार्यशक्ति, हमारे अन्दर स्थित दिव्य "असुर"।
3. या "उपलब्धि"।
4. अर्थात् विशुद्ध मानसिक सत्ताके शिखरोंपर जहाँ मनःसत्ता अतिचेतनकी विशालताके साथ भेंट करती है तथा उसमें प्रवेश कर जाती है।

(अग्ने) हे शक्तिमय देव! (तव त्ये अर्चयः) ये हैं तेरी ज्वालामयी किरणें जो (धृष्णुया भ्राजन्तः यन्ति) प्रचंड रूपसे जाज्वल्यमान होती हुई गति कर रही हैं। ये (परिज्मानः विद्युतः न) उन बिजलियोंकी तरह हैं जो सब दिशाओंमें दौड़ती हैं, (स्वानः रथः न) ध्वनि करते हुए उस रथकी तरह हैं जो (वाजयुः) ऐश्वर्य-परिपूर्णताकी ओर द्रुत वेगसे जाता है।

6

नू नो अग्न ऊतये सबाधसश्च रातये।
अस्माकासश्च सूरयो विश्वा आशास्तरीषणि।।

(अग्ने) हे शक्तिस्वरूप देव! (नु) अव (नः सबाधसः) हममेंसे जो आक्रान्त और अवरुद्ध हैं वे सभी (ऊतये रातये च) विस्तार और आत्माकी समृद्धिको समान रूपसे प्राप्त करें। (च) और (अस्माकासः सूरयः) हमारी ये ज्ञानसंपन्न तेजोमय आत्माएँ (विश्वाः आशाः तरीषणि) सब क्षेत्रों[1]को लाँघकर पार कर जाएँ।

7

त्वं नो अग्ने अङ्गिरः स्तुतः स्तवान आ भर।
होतर्विभ्वासहं रयिं स्तोतृभ्यः स्तवसे च न उतैधि पृत्सु नो वृधे।।

(अग्ने अङ्गिरः) हे अग्निशक्ति! हे अमोघ-शक्तिमयी आत्मा! जब (त्वं स्तवानः) तेरी स्तुति हो रही हो और जब (स्तुतः) तेरी स्तुति हो चुके तब (होतः) हे समर्पणके वाहक पुरोहित! (नः) हमारे लिए (स्तोतृभ्यः स्तवसे च) एवं उन सबके लिए जो तेरी स्तुति करते हैं तथा तेरे पुनः-स्तवनके लिए भी (विभ्व-सहं रयिम् आ भर) सर्वव्यापक शक्तिशालिताका परम आनन्द[2] ले आ। (उत) और (नः पृत्सु एधि) हमारे संग्रामोंमें हमारे साथ अग्रसर हो, (नः वृधे) ताकि हम अभिवृद्धिको प्राप्त हों।

---

1. क्षेत्र हैं मानसिक सत्ताके द्युलोकोंके प्रदेश जिन सबको हमें पहले अंपनी चेतनामें आलिंगित करना और फिर पार कर जाना होता है।
2. दिव्य उपलब्धियोंसे भरपूर आत्मामें वह ऐश्वर्य एवं प्राचुर्य जो उसका आध्यात्मिक वैभव या आनन्द है, दिव्य आनन्दके अनन्त भंडारकी एक प्रतिमूर्ति है और जिसके द्वारा वह अपनी सत्ताकी सदा महत्तर और अधिक सुसंपन्न विशालताकी ओर प्रगति करता है।

ग्यारहवाँ सूक्त

दिव्य पुरोहित और यज्ञिय ज्वालाका सूक्त

[ऋषि उस जागरूक और विवेकशील यज्ञिय ज्वालाके जन्मकी स्तुति करता है जो अन्तर्दृष्टि एवं संकल्प-शक्ति है, एक ऐसा क्रान्तद्रष्टा है जिसके प्रयासका आवेग मनके द्युलोकोंमें दिव्य ज्ञानमें परिणत हो जाता है। दिव्य विचारके अन्तःस्फुरित शब्दोंसे हमें इस क्रान्तदर्शी संकल्पको बढ़ाना होगा। यह संकल्प एक अमोघ-शक्तिमय तत्त्व है, शक्तिका पुत्र है और प्रकाशपूर्ण प्रबल शक्तिसे युक्त प्राचीन आत्माओंने इसे पृथ्वीकी उपजोंमें तथा उन सब अनुभूतियोंमें छिपा हुआ पाया है जिनका रसास्वादन मानव आत्मा यहाँ करना चाहता है।]

1

जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्वि भाति भरतेभ्यः शुचिः॥

(जनस्य गोपाः) प्रजाकी रक्षक, (जागृविः) जागरूक तथा (सुदक्षः) पूर्ण-विवेकसंपन्न (अग्निः अजनिष्ट) ज्वालाका जन्म हुआ है जिससे कि (नव्यसे सुविताय) आनन्दकी ओर नया प्रयाण किया जाए। (घृत-प्रतीकः) उसका अग्रभाग निर्मलताओंसे युक्त है। (द्युमत् वि भाति) उज्ज्वल प्रकाशसे वह दूर-दूरतक इस प्रकार चमक रही है कि उसकी (बृहता दिविस्पृशा) विशालता द्युलोकको स्पर्श करती है। (भरतेभ्यः शुचिः) ऐश्वर्यको लानेवालोंके लिए वह पवित्र है।

2

यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निं नरस्त्रिषधस्थे समीधिरे।
इन्द्रेण देवैः सरथं स बर्हिषि सीदन्नि होता यजथाय सुक्रतुः॥

(नरः) मनुष्योंने (अग्निं) परम ज्वालाको (त्रिषधस्थे) यज्ञसत्रके त्रिविध लोक[1]में (समीधिरे) सुप्रदीप्त किया है ताकि वह (यज्ञस्य केतुं)

---

1. मन, प्राण और शरीरका त्रिविध लोक जिसमें हमारे यज्ञकी बैठक (सवन) होती है या जिसमें आत्मपरिपूर्णताका कार्य आगे बढ़ता है।

यज्ञमें अन्तर्दृष्टि तथा (प्रथमं पुरोहितं) अग्रभागमें स्थापित पुरोहित बन जाए। (सः) वह अग्निदेव (इन्द्रेण देवैः) भागवत-मन और दिव्य-शक्तियोंके साथ (सरथं) एक ही रथमें आता है और (बर्हिषि सीदत्) यज्ञके आसनपर बैठता है। (होता) वह हविका वहन करनेवाला पुरोहित है, जो (यजथाय सुक्रतुः) यज्ञ-क्रियाके लिए इच्छाशक्तिमें पूर्ण है।

3

असंमृष्टो जायसे मात्रोः शुचिर्मन्द्रः कविरुदतिष्ठो विवस्वतः।
घृतेन त्वावर्धयन्नग्न आहुत धूमस्ते केतुरभवद् दिवि श्रितः॥

हे अग्निदेव! तू (मात्रोः) मातृयुगलसे (असंमृष्टः शुचिः जायसे) अपराजित एवं पवित्र[1] रूपमें उत्पन्न हुआ है; तू (विवस्वतः) प्रकाश-स्वरूप सूर्यसे (मन्द्रः कविः) आनन्दोल्लासमय द्रष्टाके रूपमें (उदतिष्ठः) उदित हुआ है। (घृतेन त्वा अवर्धयन्) उन्होंने तुझे निर्मलताकी आहुतिसें बढ़ाया है, और (आहुत अग्ने) आहुतियोंसे वर्धित हे ज्वालारूप देव! (ते धूमः) तेरा आवेगपूर्ण धुआँ (केतुः अभवत्) अन्तर्दृष्टि बन जाता है जब (दिवि श्रितः) वह द्युलोकमें पहुँचता है और वहाँ निवास करता है।

4

अग्निर्नो यज्ञमुप वेतु साधुयाऽग्निं नरो वि भरन्ते गृहेगृहे।
अग्निर्दूतो अभवद्धव्यवाहनोऽग्निं वृणाना वृणते कविक्रतुम्॥

(अग्निः) ज्वालारूप अग्निदेव (नः यज्ञं साधुया उप वेतु) हमारे यज्ञमें कार्यसाधक शक्तिके साथ आवे। (नरः अग्निं गृहे-गृहे वि भरन्ते) मनुष्य उस ज्वालारूप अग्निदेवको अपने निवासस्थानके प्रत्येक कमरेमें ले जाते हैं। (अग्निः दूतः हव्यवाहनः अभवत्) वह अग्निदेव हमारा दूत तथा हमारी भेंटका वहन करनेवाला बन गया है। (अग्निं वृणानाः कविक्रतुम् वृणते) जब मनुष्य उस ज्वालारूप अग्निको अपने अन्दर स्वीकार करते हैं तब वे इस 'द्रष्टा संकल्प'को ही स्वीकार करते हैं।

5

तुभ्येदमग्ने मधुमत्तमं वचस्तुभ्यं मनीषा इयमस्तु शं हृदे।
त्वां गिरः सिन्धुमिवावनीर्महीरा पृणन्ति शवसा वर्धयन्ति च॥

(तुभ्य अग्ने) तेरे लिए है हे ज्वाला! (इदं मधुमत्तमं वचः) मधु[2]से

---

1. या "बिना साफ किये हुए शुद्ध-पवित्र।"
2. मधुमय सोमरस, वस्तुओंमें विद्यमान आनन्द-तत्त्वका बहिः-प्रवाह।

लवालव भरी यह दिव्यवाणी। (तुभ्यम् इयं मनीषा) तेरे लिए ही है यह दिव्यविचार और (हृदे शम् अस्तु) यह तेरे हृदयमें शान्ति एवं दिव्य आनन्द बन जाय। (गिरः) दिव्यविचारकी ये वाणियाँ (त्वां) तुझे (शवसा) अपने बलसे (आ पृणन्ति वर्धयन्ति च) तुष्ट करती और बढ़ाती हैं, (इव) जैसे (महीः अवनीः सिन्धुम्) वे महान् पोषण करनेवाली धाराएँ[1] उस समुद्रको भरती और बढ़ाती हैं।

6

त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने।
स जायसे मथ्यमानः सहो महत् त्वामाहुः सहसस्पुत्रमङ्गिरः॥

(अग्ने) हे ज्वाला! (अङ्गिरसः[2]) शक्तिसम्पन्न आत्माओंने (त्वा) तुझे (गुहा हितं) गुप्त स्थान[3]में छिपे हुए, (वने-वने शिश्रियाणं) आनन्दके प्रत्येक विषयमें निवास करते हुए (अन्वविन्दन्) ढूंढ़ लिया। (सः मथ्यमानः) हमारे द्वारा दबाव डाला जाता हुआ वह तू (महत् सहः) एक प्रबल शक्तिके रूपमें (जायसे) उत्पन्न हुआ है। इसलिये (अङ्गिरः) हे सामर्थ्यशाली देव! (त्वां सहसः पुत्रम् आहुः) उन्होंने तुझे शक्ति-पुत्र कहा है।

1. सात नदियाँ या गतिधाराएँ जो अतिचेतन सत्तासे अवतरित होती हैं और हमारी सत्ताके सचेतन समुद्रको भरती हैं। इन्हें माताएँ, पोषण करनेवाली गौएँ, द्युलोककी शक्तिशाली सत्ताएँ, ज्ञानकी जलधाराएँ, सत्यकी सरिताएँ इत्यादि कहा जाता है।
2. सात प्राचीन ऋषि या पितर, अङ्गिरस् ऋषि, अग्निके पुत्र, और द्रष्टा संकल्पके दैवी या मानवीय प्रतिरूप।
3. वस्तुओंमें स्थित अवचेतन हृदय।

बारहवाँ सूक्त

सत्यके प्रति मनुष्यकी अभीप्साका सूक्त

[ऋषि भागवत शक्तिकी इस ज्वालाका, अतिचेतन सत्यके इस विराट् अधीश्वरका, इस सत्य-चेतनामय एकमेवका आह्वान करता है ताकि यह उसके विचार और शब्दको अपने अन्दर ग्रहण करे, मनुष्यमें सत्यके प्रति सचेतन हो जाय और सत्यकी अनेकों धारायें काटकर प्रवाहित कर दे। सत्यको केवल प्रयत्नके बलपर एवं द्वैधके विधानसे प्राप्त नहीं किया जा सकता अपितु स्वयं सत्यसे ही सत्यको प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु यह नहीं कि केवल इस संकल्पाग्निकी शक्तियाँ ही अस्तित्व रखती हैं जो असत्यसे युद्ध करती हैं और रक्षा तथा विजयलाभ करती हैं, अपितु अन्य शक्तियाँ भी हैं जिन्होंने प्रयाणमें अब तक सहायता की है, परन्तु जो असत्यके आधारसे चिपटे रहना चाहेंगी क्योंकि वे मनुष्यकी वर्तमान आत्म-अभिव्यक्तिको कसकर पकड़े हुई हैं और उसके आगे बढ़नेसे इन्कार करती हैं। यही शक्तियाँ अपनी अहंपूर्ण स्वेच्छाके वश सत्यके अन्वेषकके प्रति कुटिलता-पूर्ण वाणीका उपदेश करती हैं। यज्ञ द्वारा और यज्ञमें नमनके द्वारा मनुष्य, जो सदा प्रगति करनेवाला तीर्थ-यात्री है, अपने से परेके विशाल निवास-स्थान को, सत्यके पद और धामको अपने निकट ले आता है।]

1

प्राग्नये बृहते यज्ञियाय ऋतस्य वृष्णे असुराय मन्म।
घृतं न यज्ञ आस्ये सुपूतं गिरं भरे वृषभाय प्रतीचीम्॥

(यज्ञियाय) यज्ञके अधिपति, (असुराय) शक्तिशाली (ऋतस्य बृहते वृष्णे) सत्यके विशाल अधीश्वर और सत्यके प्रसारक (अग्नये) संकल्परूप अग्निदेवके प्रति मैं (मन्म) अपने विचारको भेंटके रूपमें (प्र भरे) आगे लाता हूँ। (आस्ये सुपूतं घृतं न) यह विचार यज्ञके निर्मल घृतके समान है जो ज्वालाके मुखमें पवित्र किया हुआ है। (गिरं भरे) मैं अपनी वाणी[1]को

---

1. विचार और शब्दको उस अतिचेतन सत्यके आकार और अभिव्यक्तिमें परिणत करना जो मानसिक तथा शारीरिक सत्ता के विभाजन व द्वैधभाव

आगे लाता हूँ (वृषभाय प्रतीचीम्) जो अपने प्रभु[1]से मिलनेके लिये उसकी ओर जाती है।

2

ऋतं चिकित्व ऋतमिच्चिकिद्धचृतस्य धारा अनु तृन्धि पूर्वीः।
नाहं यातुम् सहसा न द्वयेन ऋतं सपाम्यरुषस्य वृष्णः।।

(ऋतं चिकित्वः) हे सत्यके सचेतन द्रष्टा! (ऋतम् इत् चिकिद्धि) मेरी चेतनामें केवल सत्यको ही अनुभव कर। (ऋतस्य पूर्वीः धाराः) सत्यकी बहती हुई अनेक धाराओंको (अनु तृन्धि) काटकर प्रवाहित कर दे।[3] (अहं) मैं (यातुं) यात्राको (न सहसा) न बलसे (न द्वयेन) और न द्वैध-भावसे (सपामि) सफल कर सकता हूँ और नाहीं इस प्रकार (अरुषस्य वृष्णः) दीप्तिमान् दिव्य कर्ता और वर्षक प्रभुके सत्यको प्राप्त कर सकता हूँ।

3

कया नो अग्न ऋतयन्नृतेन भुवो नवेदा उचथस्य नव्यः।
वेदा मे देव ऋतुपा ऋतूनां नाहं पतिं सनितुरस्य रायः।।

(अग्ने) हे संकल्पस्वरूप अग्निदेव! (नः कया) मेरे अन्दर स्थित किस विचारसे (ऋतेन ऋतयत्) सत्यसे सत्यकी खोज करता हुआ तू (नव्यः उचथस्य नवेदाः भुवः) एक नये शब्दके ज्ञानका प्रेरक बनेगा? (देवः) वह देव जो (ऋतूनाम् ऋतुपाः) सत्यके कालों और ऋतुओंकी रक्षा करता है, (मे वेदाः) मेरे अन्दर की सब बातोंको जानता है, परन्तु (अहम् न वेद) मैं उसे नहीं जानता। (अस्य सनितुः रायः पतिं) वह सब वस्तुओंको अधिकृत करनेवाले उस आनन्दका स्वामी है।

के परे छिपा हुआ है—यह था वैदिक साधनाका केन्द्रीय विचार और उसके रहस्योंका आधार।

1. वृषभ; विचारको चमकती हुई गायके प्रतीकात्मक रूपमें निरूपित किया गया है जो अपने आपको भगवान्‌के प्रति अभिमुख करके समर्पण कर रही है।
2. हमारे जीवनके अन्दर अतिचेतनका अवतरण द्युलोककी वर्षाके रूपमें चित्रित किया जाता था, यह उन सात दिव्य नदियोंका रूप लिये था जो पृथिवी-चेतनापर बहती हैं।
3. पहाड़ीकी चट्टानसे जहाँ विरोधी शक्तियाँ उनकी रक्षा कर रही हैं।
4. ऋतु—काल-विभाग जिनका कभी-कभी यज्ञकी प्रगतिके वर्षोंके रूपमें वर्णन किया गया है और कभी उसके प्रतीकभूत 12 महीनोंके रूपमें।

4

के ते अग्ने रिपवे बन्धनासः के पायवः सनिषन्त द्युमन्तः ।
के धासिमग्ने अनृतस्य पान्ति क आसतो वचसः सन्ति गोपाः ।।

(अग्ने) हे संकल्पस्वरूप अग्निदेव ! (के) वे कौन हैं जो (ते) तेरे लिये (रिपवे बन्धनासः) शत्रुको बन्धनमें डालनेवाले हैं ? (के द्युमन्तः, पायवः, सनिषन्तः) कौनसी हैं वे देदीप्यमान सत्तायें,—रक्षक, उपलब्धि और विजयकी अभिलाषी ? (के अनृतस्य धासिं पान्ति) वे कौन हैं जो असत्यके आधारोंकी रक्षा करते हैं ? (के आसतः वचसः गोपाः सन्ति) वे कौन हैं जो वर्तमान शब्द[1]के रक्षक हैं ?

5

सखायस्ते विषुणा अग्न एते शिवासः सन्तो अशिवा अभूवन् ।
अधूर्षत स्वयमेते वचोभिर्ऋजूयते वृजिनानि ब्रुवन्तः ।।

(अग्ने) हे संकल्पाग्ने ! ये हैं वे (ते सखायः) तेरे साथी जो (विषुणाः) तुझसे भटककर विमुख हो गये हैं। (एते शिवासः) ये शुभ करनेवाले थे, पर (अशिवाः अभूवन्) अशुभ करनेवाले बन गये हैं। ये (ऋजूयते) सरलता चाहनेवालेके प्रति (वृजिनानि ब्रुवन्तः) कुटिल बातें कह-कहकर (वचोभिः स्वयम् अधूर्षत) अपने वचनोंसे अपना नाश कर लेते हैं।

6

यस्ते अग्ने नमसा यज्ञमीट्ट ऋतं स पात्यरुषस्य वृष्णः ।
तस्य क्षयः पृथुरा साधुरेतु प्रसर्स्राणस्य नहुषस्य शेषः ।।

(अग्ने) हे संकल्पशक्ते ! (यः) जो (ते यज्ञं) तेरे यज्ञको (नमसा ईट्टे) नमनके साथ, समर्पण-भावके साथ चाहता है (सः) वह (अरुषस्य वृष्णः) देदीप्यमान दिव्यकर्ता और वर्षक[2] देवके (ऋतं पाति) सत्यकी रक्षा करता है। (तस्य) उसे (पृथुः क्षयः) वह विशाल गृह[3] (आ एतु) प्राप्त

---

1. या, "असत्य शब्द" । दोनों पक्षोंमें इसका अभिप्राय है पुराना असत्य जो सत्यकी उस नई शक्तिके विपरीत है जिसका ज्ञान अग्निको हमारे लिये उत्पन्न करना है ।
2. 'चमकनेवाला पुरुष या वृषभ' (अरुषस्य वृष्णः), परन्तु इनमेंसे पिछले शब्द 'वृषन्'का अर्थ प्रचुर वैभवका वर्षक, उत्पादक या प्रसारक भी है और कभी-कभी इसका अर्थ प्रबल और प्रचुर भी होता है । पहला शब्द 'अरुष' क्रियाशील या गतिशीलका अर्थ भी रखता प्रतीत होता है ।
3. मानसिक द्युलोक और भौतिक पृथिवीके परे अतिचेतन सत्यका स्तर

हो जाय जिसमें (साधुः) सब कुछ सिद्ध किया जा सकता है। (प्रसर्स्राणस्य नहुषस्य) तीर्थयात्री मानवको (शेषः) अपने आगेकी यात्राको पूरा करनेके लिये जो कुछ भी सिद्ध करना शेष[1] है, वह सब भी (आ एतु) उसे प्राप्त हो जाए।

या 'स्वर्' का लोक जिसमें वह सब सिद्ध किया जाता है जिसके लिये हम यहाँ प्रयास करते हैं। इसे विशाल निवासस्थानके रूपमें और चमकती हुई गायोंकी विस्तृत एवं भयमुक्त चरागाहके रूपमें वर्णित किया गया है।

1. कभी-कभी इस लोकको अवशेष या अतिरेकके रूपमें वर्णित किया गया है। यह सत्ताका अतिरिक्त क्षेत्र है, यह मन, प्राण और शरीरकी इस त्रिविध सत्तासे जो हमारी सामान्य अवस्था है, परे स्थित है।

तेरहवाँ सूक्त

भागवत संकल्पकी स्तुतिका गीत

[ऋषि भागवत संकल्पकी स्तुति करनेवाले शब्दकी शक्तिकी घोषणा करता है,—स्तुति किया गया यह संकल्पाग्नि मानवको द्युलोकका स्पर्श उपलब्ध करा देता है। शब्दके द्वारा हमारे अन्दर सम्पुष्ट यह अग्निदेव हमारे यज्ञ का पुरोहित बन जाता है और हममें दिव्य ऐश्वर्य और जयशील बलका विजेता बन जाता है। यह देवता अपनी सत्तामें अन्य सबको ऐसे धारण किये है जैसे पहियेकी नाभि अरोंको धारण करती है, इसलिये यह आध्यात्मिक आनन्दकी सारीकी सारी विविध ऐश्वर्य-सम्पदा हमारे पास ले आता है।]

1

अर्चन्तस्त्वा हवामहेऽर्चन्तः समिधीमहि। अग्ने अर्चन्त ऊतये॥

(अर्चन्तः त्वा हवामहे) प्रकाश देनेवाले शब्दको गाते हुए हम तुझे पुकारते हैं। (अर्चन्तः समिधीमहि) ज्ञानसे आलोकित करनेवाले शब्दको गाते हुए हम तुझे प्रदीप्त करते हैं। (हे अग्ने) हे संकल्पाग्निदेव, हम (ऊतये) अपनी वृद्धिके लिये (अर्चन्तः) प्रकाशप्रद शब्दको गाते हैं।

2

अग्नेः स्तोमं मनामहे सिध्रमद्य दिविस्पृशः। देवस्य द्रविणस्यवः॥

(अद्य) आज हम (अग्नेः देवस्य) संकल्परूप अग्निदेवकी (सिध्रं स्तोमं) सर्वसाधक स्तुतिको (मनामहे) मनके द्वारा दृढ़तासे धारण कर लेते हैं, उस अग्निकी स्तुतिको जो (द्रविणस्यवः) हमारे लिये दिव्य सारभूत ऐश्वर्य[1] चाहता है और (दिविस्पृशः) द्युलोकको स्पर्श करता है।

3

अग्निर्जुषत नो गिरो होता यो मानुषेष्वा। स यक्षद् दैव्यं जनम्॥

(अग्निः) वह संकल्परूप अग्नि (नः गिरः आ जुषत) हमारे स्तुतिशब्दोंको प्रेमसे स्वीकार करे, (यः मानुषेषु होता) जो यहाँ मानवोंमें पुरोहितके रूपमें स्थित है, (सः दैव्यं जनं यक्षत्) वह दिव्य जातिके प्रति यज्ञकी भेंट दे।

1. दिव्य सम्पदाएं जो यज्ञका लक्ष्य हैं।

4

त्वमग्ने सप्रथा असि जुष्टो होता वरेण्यः। त्वया यज्ञं वि तन्वते ।।

(अग्ने) हे संकल्परूप अग्नि! (त्वं सप्रथाः असि) तू बहुत विस्तृत और विशाल है, (होता) हमारी भेंटका पुरोहित है, (वरेण्यः) वरणीय तथा (जुष्टः) प्रिय है। (त्वया यज्ञं वितन्वते) तेरे द्वारा मनुष्य अपने यज्ञके स्वरूपको अत्यन्त विस्तृत करते हैं।

5

त्वामग्ने वाजसातमं विप्रा वर्धन्ति सुष्टुतम्। स नो रास्व सुवीर्यम् ।।

(अग्ने) हे संकल्पाग्ने! (सुष्टुतं त्वा) एक बार अच्छी तरह स्तुति किये गये तुझ देवको (विप्राः) ज्ञान-प्रदीप्त जन (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं जिससे कि तू (वाजसातमं) प्रचुर ऐश्वर्यको पूरी तरह जीत लेता है। इसलिए (सः) वह तू (सुवीर्यम् रास्व) हमें वीरोंका-सा पूर्ण बल प्रचुरतासे प्रदान कर।

6

अग्ने नेमिरराँ इव देवाँस्त्वं परिभूरसि। आ राधश्चित्रमृञ्जसे ।।

(अग्ने) हे संकल्पशक्ति! (नेमिः अरान् इव) जैसे रथमें पहियेका नाभिकेन्द्र अपनेमें अरोंको रखता है उसी प्रकार (त्वं देवान् परिभूः असि) तू अपनी सत्ताके अन्दर सब देवोंको धारण किये हुए है। (राधः चित्रम् आ ऋञ्जसे) तू उन ऐश्वर्योंका विविध आनन्द हमारे लिये ला।

चौदहवाँ सूक्त

प्रकाश और सत्यके अन्वेषकका सूक्त

[ऋषि घोषित करता है कि अग्नि यज्ञका पुरोहित, अंधकारकी शक्तियोंका विनाशक, सत्य-सूर्यके लोकका—उसके भास्वर रश्मियूथों व ज्योतिर्मय जलधाराओंका अन्वेषक है, वह हमारे अन्दर स्थित द्रष्टा है जो यथार्थ चिन्तन और वाणीकी निर्मलताओंसे संवर्धित होता है।]

1

अग्निं स्तोमेन बोधय समिधानो अमर्त्यम्।
हव्या देवेषु नो दधत्।।

(अग्निं स्तोमेन बोधय) दिव्य ज्वालाको उसके संपोषक स्तुतिवचनसे जगाओ। (अमर्त्यं समिधानः) अमरको सुप्रदीप्त करो। (नः हव्या) हमारी समर्पण-रूप भेंटोंको वह (देवेषु दधत्) देवोंमें स्थापित करे।

2

तमध्वरेष्वीळते देवं मर्ता अमर्त्यम्।
यजिष्ठं मानुषे जने।।

(मर्ताः) मरणधर्मा मनुष्य (तम् अमर्त्यं देवं) उस अमर्त्य देवकी (अध्वरेषु) अपने यात्रा-यज्ञोंमें (ईळते) कामना व पूजा करते हैं, जो (मानुषे जने) मानव प्राणीमें (यजिष्ठं) यज्ञके लिए अत्यन्त समर्थ है।

3

तं हि शश्वन्त ईळते स्रुचा देवं घृतश्चुता।
अग्निं हव्याय वोळ्हवे।।

(शश्वन्तः) मनुष्यकी शाश्वत संततियाँ (घृतश्चुता स्रुचा) निर्मलताओंके चुआनेवाले चमचे[1]के साथ (तं देवम् ईळते) इस देवकी स्तुति करती हैं। (अग्निम् ईळते) वे दिव्य संकल्पकी उपासना करती हैं (हव्याय वोळ्हवे) ताकि वह उनकी भेंटोंका वहन करे।

---

[1] यह चमचा है सत्य और देवत्वके प्रति मनुष्यकी अभीप्साकी निरन्तर उन्नीत गति।

4

अग्निर्जातो अरोचत घ्नन् दस्यूञ्ज्योतिषा तमः।
अविन्दद् गा अपः स्वः ॥

(जातः अग्निः) उत्पन्न हुआ वह ज्वालामय देव (दस्यून्[1] घ्नन्) घातकोंका नाश करता हुआ (अरोचत) पूरी तरह चमक उठता है। वह (ज्योतिषा तमः [घ्नन्]) ज्योतिसे अन्धकार पर प्रहार करता है और (गाः अपः स्वः) चमकते हुए गो-यूथों[2], जलधाराओं और ज्योतिर्मय लोक[3]को (अविन्दत्) प्राप्त कर लेता है।

5

अग्निमीळेन्यं कविं घृतपृष्ठं सपर्यत।
वेतु मे शृणवद्धवम् ॥

(अग्निं सपर्यत) संकल्पशक्तिकी खोज और सेवा करो, (ईळेन्यं) जो हमारी पूजाका पात्र है, (घृत-पृष्ठं कविं) वह द्रष्टा है जो अपने उपरि-भागपर निर्मलताओंसे सम्पन्न है। (वेतु) वह आये और (हवं शृणवत्) मेरी पुकार सुने।

6

अग्निं घृतेन वावृधुः स्तोमेभिर्विश्वचर्षणिम्।
स्वाधीभिर्वचस्युभिः ॥

(अग्निं घृतेन वावृधुः) मनुष्य दिव्य संकल्पको अपनी निर्मलताओंकी भेंटसे बढ़ाते हैं। (सु-आधीभिः) विचारको ठीक स्थान पर विन्यस्त करनेवाले और (वचस्युभिः) सत्यप्रकाशक शब्दको पा लेनेवाले (स्तोमेभिः) स्तोत्रोंसे वे (विश्वचर्षणिं वावृधुः) अपने कार्योंके वैश्व कर्ताको संवर्धित करते हैं।

---

1. दस्यु, हमारी सत्ताकी एकता और समग्रताके विभाजक और विभाजन करनेवाली दिति-माताके पुत्र, जो निम्नस्थ गुफा और अन्धकारकी शक्तियाँ हैं।
2. यूथ और जलधाराएं वेदके दो मुख्य रूपक हैं। पहलेसे अभिप्रेत है दिव्य सूर्यकी एकत्र हुई रश्मियाँ, प्रकाशपूर्ण चेतनाके यूथ; जलोंसे अभिप्रेत है दिव्य या अतिमानसिक सत्ताकी प्रकाशपूर्ण गति और प्रेरणाका प्रवाह।
3. स्वः, दिव्य सौर प्रकाशका लोक जिसकी ओर हमें आरोहण करना है और जो निम्नस्थ गुफासे ज्योतिर्मय यूथोंकी मुक्ति और उसके परिणाम-स्वरूप दिव्य सूर्यके उदय के द्वारा अभिव्यक्त होता है।

पन्द्रहवाँ सूक्त

दिव्य धर्ता और विजेताका सूक्त

[ऋषि भागवत संकल्पकी द्रष्टा और शक्तिशाली एकमेव एवं दिव्य आनन्द व सत्यके धर्ताके रूपमें स्तुति करता है जिसके द्वारा मनुष्य परम व्योममें स्थित देवोंको प्राप्त करते हैं। सिंहकी भाँति वह विरोधियोंकी सेनाको छिन्न-भिन्न करता हुआ आगे निकल जाता है, आत्माके सब संभव जन्मों और आविर्भावोंको देखता है और उन्हें मनुष्यके लिए दृढ़ करता है, उसके गुप्त अतिचेतन स्तरका निर्माण करता है और ज्ञानके द्वारा उसे उस विशाल परम आनन्दमें उन्मुक्त कर देता है।]

1

प्र वेधसे कवये वेद्याय गिरं भरे यशसे पूर्व्याय।
घृतप्रसत्तो असुरः सुशेवो रायो धर्ता धरुणो वस्वो अग्निः॥

(कवये वेधसे) द्रष्टा और नियन्ताके प्रति (गिरा प्र भरे) मैं दिव्य शब्दकी भेंट लाता हूँ जो द्रष्टा एवं नियन्ता (वेद्याय) ज्ञानका लक्ष्य है, (यशसे) यशस्वी और विजेता है तथा (पूर्व्याय) पुरातन एवं परम पुरुष है। वह (असुरः) एकमेव शक्तिशाली प्रभु है जो (सुशेवः) आनन्दसे परिपूर्ण है और (घृतप्रसत्तः) निर्मलताओंकी ओर अग्रसर होता है। वह (अग्निः) एक बल है जो (रायः धर्ता) आनन्दका धर्ता और (वस्वः धरुणः) सारभूत ऐश्वर्यका धारक है।

2

ऋतेन ऋतं धरुणं धारयन्त यज्ञस्य शाके परमे व्योमन्।
दिवो धर्मन् धरुणे सेदुषो नॄञ्जातैरजाताँ अभि ये ननक्षुः॥

(ये) जो लोग (जातैः [नृभिः]) अपने अन्दर उत्पन्न देवोंके द्वारा (अजातान् नॄन् अभि ननक्षुः) अप्रकट देवोंकी ओर यात्रा करते हैं और (दिवः धरुणे धर्मन् सेदुषः) द्युलोकको धारण करनेवाले विधानमें सदाके लिए आसीन [नॄन् अभिननक्षुः] शक्तियोंकी ओर यात्रा करते हैं वे (यज्ञस्य शाके) यज्ञकी शक्तिमें, (परमे व्योमन्) परम आकाशमें (ऋतेन) भागवत सत्यके द्वारा (ऋतं धारयन्त) उस सत्यको धारण करते हैं जो (धरुणम्) सबको धारण करता है।

3

अंहोयुवस्तन्वस्तन्वते वि वयो महद् दुष्टरं पूर्व्याय ।
स संवतो नवजातस्तुतुर्यात् सिंहं न क्रुद्धमभितः परि ष्ठुः ।।

(अंहोयुवः) अपनेसे बुराईको दूर रखते हुए वे (तन्वः वि तन्वते) आत्माके उन अत्यन्त विस्तृत आकारों और देहोंका निर्माण करते हैं जो (पूर्व्याय) इस प्रथम और परम देवके लिए (महत् वयः) विशाल जन्म और (दुस्तरम् [वयः]) अविनश्वर आविर्भाव है। (सः नवजातः) वह नया जन्म लेकर (तुतुर्यात्) उन सेनाओंको छिन्न-भिन्न करता हुआ आगे निकल जाएगा जो (संवतः) एक जगह मिलनेवाली वाढ़ोंकी तरह एकत्रित होती हैं। (अभितः परि स्थुः) वे सेनाएँ उसे चारों ओर से इस प्रकार घेरे रहती हैं (क्रुद्धं सिंहं न) जैसे शिकारी क्रुद्ध शेर को।

4

मातेव यद् भरसे पप्रथानो जनंजनं धायसे चक्षसे च ।
वयोवयो जरसे यद् दधानः परि त्मना विषुरूपो जिगासि ।।

(माता इव) तू एक माताकी तरह भी है (यत्) क्योंकि तू (पप्रथानः) अपने विस्तारमें (धायसे चक्षसे च) स्थिर आधार और अन्तर्दर्शनके लिए (जनं-जनं भरसे) जन्मके वाद जन्मको अपनी भुजाओंमें वहन करता है और (यत्) जव तू (वयः-वयः दधानः) अभिव्यक्तिके बाद अभिव्यक्तिको अपनेमें धारण करता हुआ (जरसे) उसका उपभोग करता है तव तू (त्मना) अपनी सत्ताके द्वारा (विषु-रूपः) अनेक भिन्न-भिन्न रूपोंमें (परि जिगासि) सर्वत्र विचरता है।

5

वाजो नु ते शवसस्पात्वन्तमुरुं दोघं धरुणं देव रायः ।
पदं न तायुर्गुहा दधानो महो राये चितयन्नत्रिमस्पः ।।

(देव) हे देव ! (वाजः) हमारी ऐश्वर्य-प्रचुरता (ते शवसः अन्तम्) तेरी शक्तिकी उस चरम सीमाको (पातु नु) उपलब्ध करे, जहाँ यह (उरुम्) अपनी विशालतामें और (दोघम्) सब कामनाओंको पूरा करनेवाले प्रचुर वैभवमें (रायः धरुणम्) आनन्दको धारण करती है। तू ही है वह जो अपने अन्दर ही (तायुः न) चोरकी भाँति (गुहा पदं दधानः) उस गुप्त धामको वनाता और धारण करता है जिसकी ओर हम गति करते हैं। तू ने (अत्रिं चितयन्) वस्तुओंके भोक्ताको जाग्रत् करके (महः राये) विशाल परमानन्दके लिए (अस्पः) मुक्त कर दिया है।

सोलहवाँ सूक्त

समस्त स्पृहणीय कल्याणके लानेवालेके प्रति

[ऋषि मानवमें स्थित भागवत संकल्पकी इस रूपमें स्तुति करता है कि वह एक होता [हविर्दाता] और पुरोहित (प्रतिनिधि) है जो प्रकाश, शक्ति, अन्तःस्फूर्त ज्ञान एवं प्रत्येक वरणीय कल्याण लाता है; क्योंकि वह एक अभीप्सु है जो कार्योंके द्वारा अभीप्सा करता है और जिसमें सब देवोंकी शक्ति और उनके बलका परिपूर्ण वैभव विद्यमान है।]

1

बृहद् वयो हि भानवेऽर्चा देवायाग्नये ।
यं मित्रं न प्रशस्तिभिर्मर्तासो दधिरे पुरः ।।

(भानवे) उस भास्वर ज्योतिके प्रति, (देवाय) उस देवके प्रति (अग्नये) संकल्पाग्निके प्रति तू (बृहत् वयः) विशाल आविर्भाव का (अर्च) शब्द द्वारा स्तुतिगान कर, (यं) जिसको (मर्तासः) मर्त्य (प्रशस्तिभिः) उसके देवत्वके अनेकों वर्णन करनेवाली वाणियोंसे (मित्रं न) मित्र[1] के रूपमें (पुरः दधिरे) अपने सामने रखते हैं।

2

स हि द्युभिर्जनानां होता दक्षस्य बाह्वोः ।
वि हव्यमग्निरानुषग्भगो न वारमृण्वति ।।

(सः हि जनानां होता) वही संकल्परूप अग्निदेव मनुष्योंकी भेंटको वहन करनेवाला पुरोहित है। (बाह्वोः) अपनी दोनों भुजाओंमें (दक्षस्य द्युभिः) विवेकशील मनकी दीप्तियोंसे वह (हव्यम् आनुषक् ऋण्वति) उनकी

---

1. मित्र। अग्नि सब देवोंको धारण किये है और स्वयं सब देव है। मर्त्योंको दिव्य संकल्पकी क्रियामें प्रकाश और प्रेमको, सच्चे ज्ञान एवं सच्चे अस्तित्वके सामंजस्यको अर्थात् मित्र-शक्तिको खोजना है, इसी रूपमें दिव्य संकल्पाग्निको यज्ञके पुरोहितके तौरपर मानव चेतनाके अग्रभागमें स्थापित करना है।

हवियोंकी अविच्छिन्न परम्पराको उस पार ले जाता है[1] और (भगः न) दिव्य भोक्ता[2]के रूपमें (वारम् ऋण्वति) मनुष्यके कल्याणकी ओर गति करता है।

3

अस्य स्तोमे मघोनः सख्ये वृद्धशोचिषः।
विश्वा यस्मिन् तुविष्वणि समर्ये शुष्ममादधुः ।।

(वृद्धशोचिषः अस्य) जब वह अग्निदेव पवित्रताकी अपनी ज्वालाको बढ़ा लेता है तब उसके (स्तोमे) स्तुतिगीतमें और (सख्ये) उसकी मित्रतामें ही (मघोनः) प्रचुर ऐश्वर्यके सब प्रभु[3], सब देव अवस्थित होते हैं, क्योंकि (यस्मिन् तुवि-स्वनि विश्वा) उसकी अनेकों वाणियोंकी ध्वनिमें सभी पदार्थ विद्यमान हैं। (अर्ये) मानवके कार्योंमें अभीप्सा करनेवाले उस देवपर (शुष्मं सम् आदधुः) उन्होंने अपनी शक्तिका सब भार डाल दिया है।

4

अधा ह्यग्न एषां सुवीर्यस्य मंहना।
तमिद् यह्वं न रोदसी परि श्रवो बभूवतुः ।।

(अध हि) अब भी (अग्ने) हे संकल्पशक्ते! (एषां सुवीर्यस्य मंहना) उनकी समग्र शक्तिका पूरा प्राचुर्य हो। (तं यह्वं परि) इस शक्तिशाली

---

1. पुरोहितके रूपमें, यज्ञ में प्रतिनिधिरूप पुरोहित, यज्ञकी यात्राके रथके नेताके रूपमें। भगवन्मुखी कार्यके पथ-प्रदर्शन और सतत संचालनके लिए वह हमारी सब शक्तियोंका नेता बनकर हमारी चेतनाके अग्रभागमें स्थित रहता है ताकि इसमें कोई बाधा न हो और यज्ञकी व्यवस्थामें, देवोंकी ओर उसकी प्रगतिकी समुचित क्रमिक अवस्थाओंमें एवं सत्यके कालों और ऋतुओंके अनुसार इसकी क्रियाओंको यथावत् स्थान देनेमें कोई अन्तराल न रहे।
2. भागवत संकल्प भोक्ता भग, मित्रकी भ्रातृशक्ति, बन जाता है जो सत्ताके समस्त आनन्दका आस्वादन करती है, किन्तु ऐसा वह मित्रकी विशुद्ध विवेक-शक्तिके द्वारा तथा दिव्य जीवनके प्रकाश, सत्य व सामंजस्यके अनुसार ही करती है।
3. देव; भगवती शक्ति अन्य सभी दिव्य शक्तियोंको अपने अन्दर समाए हुए है और उनके कार्य-व्यापारमें उन्हें सहारा देती है; अतः अन्य सब देवोंकी शक्ति उसी में निहित है।

संकल्पबलके चारों ओर (रोदसी) द्युलोक और पृथिवीलोक (श्रवः न) मानों अन्तःस्फुरित ज्ञान[1]की एकात्मक वाणी (वभूवतुः) बन गये हैं।

5

नू न एहि वार्यमग्ने गृणान आ भर।
ये वयं ये च सूरयः स्वस्ति धामहे सचोतैधि पृत्सु नो वृधे ।।

(अग्ने) हे संकल्पशक्तिरूप अग्निदेव! (गृणानः नः आ इहि नु) हमारे वचनोंसे स्तुति किया हुआ तू हमारे पास अभी आ और (नः वार्यम् आ भर) हमारा अभिलषित कल्याण हमारे पास ले आ। (ये वयं ये च सूरयः) हम जो यहाँ हैं और वे जो ज्ञानके प्रकाशमय स्वामी हैं (स्वस्ति धामहे) इकट्ठे मिलकर अपनी सत्ताकी उस आनन्दपूर्ण स्थितिकी नींव डालें। (उत सः) और वह तू (नः पृत्सु) हमारे संग्रामोंमें (एधि) हमारे साथ अभियान कर ताकि (वृधे) हम अभिवृद्धि प्राप्त करें।

1. संपूर्ण भौतिक और संपूर्ण मानसिक चेतना एक ऐसे ज्ञानसे परिपूर्ण हो जाती हैं जो अतिमानसिक स्तरसे उनके अंदर प्रवाहित होता है मानों वे दिव्य-द्रष्टा संकल्पके चारों ओर अतिमानसिक प्रकाश तथा क्रियामें परिणत हो जाती हैं क्योंकि वह अपने रूपान्तरके कार्यके लिए उनके अन्दर सर्वत्र गति करता है।

सत्रहवाँ सूक्त

आत्म-विस्तार और चरम अभीप्साका सूक्त

[एक अवस्था आती है जिसमें मनुष्य बुद्धिकी निरी सूक्ष्मता और कुशाग्रताके परे चले जाता है और आत्माकी समृद्धि तथा बहुविध विशालता तक पहुँच जाता है। यद्यपि तब उसके पास अपनी सत्ताका विशाल विधान होता है जो हमारा समुचित आधार है, तथापि उसे अपने नेतृत्वके लिये एक ऐसी शक्तिकी आवश्यकता होती है जो उसकी शक्तिसे बड़ी है; क्योंकि आत्म-शक्ति और ज्ञानकी विशालता एवं अनेकविधता ही पर्याप्त नहीं, विचार, शब्द और क्रियामें दिव्य सत्यका होना भी नितांत आवश्यक है। वस्तुतः हमें विशालतायुक्त मानसिक सत्तासे परे जाकर मनोतीत अवस्थाका परम आनन्द प्राप्त करना है। अग्नि प्रकाश व बल, शब्द व सत्यप्रेरणा और सर्वग्राही ज्ञान व सर्वसाधक शक्तिसे सम्पन्न है। वह अपने रथमें दिव्य ऐश्वर्य-संपदा लाये और हमें आनन्दपूर्ण स्थिति और परम कल्याणकी ओर ले जाय।]

1

आ यज्ञैर्देव मर्त्य इत्था तव्यांसमूतये।
अग्निं कृते स्वध्वरे पूरुरीळीतावसे॥

(देव) हे देव! (मर्त्य ईळीत) मैं मर्त्य हूँ जो तुझे पुकारता हूँ, क्योंकि (तव्यांसम्) तेरी शक्ति मेरीसे बड़ी है और (यज्ञैः इत्था) अपनी क्रियाओंमें सत्यपूर्ण है। (पूरुः) अनेकविध आत्मशक्तिवाला मनुष्य जब (सु-अध्वरे कृते) अपने यज्ञको पूर्ण बना लेता है तब वह (अवसे) अपनी वृद्धिके लिये (अग्निम् ईळीत) संकल्पाग्निकी स्तुति करे।

2

अस्य हि स्वयशस्तर आसा विधर्मन्मन्यसे।
तं नाकं चित्रशोचिषं मन्द्रं परो मनीषया॥

हे मानव! (विधर्मन्) तू जिसने अपनी सत्ताका विशाल विधान[1]

1. सत्तामें चेतना और शक्तिकी विशालतर क्रिया जिसके द्वारा सामान्य मन, प्राण और शारीरिक सत्ताकी कठोर सीमाएँ टूट जाती हैं और

विजित कर लिया है (अस्य आसा) इस अग्निके मुखके द्वारा (स्वयशस्तरः) उपलब्धिके लिये अधिक आत्मशक्तिशाली हो जायगा, (तं चित्र-शोचिषं मन्द्रं नाकं) तू इसकी अतिसमृद्ध ज्वालाओंवाले उस आनन्दोल्लासपूर्ण स्वर्ग[1]को (मन्यसे) मनोमय रूप दे देगा जो (मनीषया परः) मनके विचारसे परे है।

3

[2]अस्य वासा उ अर्चिषा य आयुक्त तुजा गिरा।
दिवो न यस्य रेतसा बृहच्छोचन्त्यर्चयः॥

(यः) जिस अग्निने (अस्य वै आसा उ अर्चिषा) अपनी ज्वालाके मुख और दीप्तिके द्वारा अपने-आपको (तुजा गिरा) प्रेरणायुक्त शक्ति और शब्दके साथ (आ अयुक्त) दृढ़तासे जोड़ लिया है, (दिवः रेतसा न बृहत्) मानो द्युलोकके वीर्यके कारण विशाल उस अग्निकी (अर्चयः शोचन्ति) किरणें पवित्रताके साथ चमक रही हैं, उसकी किरणोंकी पवित्रता अपनी प्रखर दीप्ति प्रसारित कर रही है।

मनुष्य पूर्ण आंतरिक जीवनको अनुभव करनेके योग्य बन जाता है तथा अपनी सत्ता एवं वैश्व सत्ताके समस्त स्तरोंके साथ संपर्क रखनेके लिए अपनेको खोलनेमें समर्थ हो जाता है।

1. आनंदकी अवस्था जिसका आधार है 'स्वर्', अर्थात् सत्ताका अतिमानसिक स्तर।

2. 'अस्य वासा उ अर्चिषा'—इस चरणका पदपाठ श्रीअरविन्दने 'अस्य। वै। आसा। ऊम् इति। अर्चिषा।' ऐसा स्वीकार किया है। सायणने 'आसा'की जगह 'असौ' पद माना है।

दूसरे मन्त्रमें 'अस्य हि स्वयशस्तर आसा विधर्मन् मन्यसे'में 'आसा' पदके प्रयोगसे तीसरेमें भी उसी पदकी सम्भावना पुष्ट होती है।

इस पदके परिवर्तनसे श्रीअरविन्दकृत मन्त्रार्थमें कितना अर्थगौरव आ गया है यह विज्ञ पाठकगण सायण और श्रीअरविन्द-कृत मन्त्रार्थोंकी तुलनासे स्वयं देख सकते हैं।

"अस्य वै खलु अग्नेः अर्चिषा प्रभया असौ आदित्यः अर्चिष्मान् भवति।" (निश्चय ही, इस अग्निकी प्रभासे वह सूर्य दीप्यमान होता है)—सायणका यह कथन कर्मकाण्डकी अग्निमें कहाँतक संगत है यह पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं। स्थूल भौतिक अग्निके लिए ऐसा कहना असंगत ही होगा। —अनुवादक

4

अस्य क्रत्वा विचेतसो दस्मस्य वसु रथ आ।
अधा विश्वासु हव्योऽग्निर्विक्षु प्र शस्यते॥

(अस्य क्रत्वा) वह अपने क्रिया-कलापकी शक्ति द्वारा (विचेतसः) सबका आलिंगन करनेवाले ज्ञान और (दस्मस्य) सब कुछ सिद्ध करनेवाली शक्तिसे सम्पन्न है। उसका (रथः) रथ (वसु) दिव्य ऐश्वर्य-संपदाको (आ [वहति]) धारण करता है। (अध) इसलिये (विश्वासु विक्षु) सब प्राणियोंमें (अग्निः) वह अग्नि ही एक ऐसा देव है जो (प्र शस्यते) प्रकट करने योग्य है, [वह एक ऐसा सहायक है] (हव्यः) जिसे मनुष्य पुकारते हैं।

5

नू न इद्धि वार्यमासा सचन्त सूरयः।
ऊर्जो नपादभिष्टये पाहि शग्धि स्वस्तय उतैधि पृत्सु नो वृधे॥

(नु) अभी, (नः इत् हि) हमारे लिये भी (सूरयः) ज्ञान-प्रदीप्त स्वामी (आसा) ज्वालाके मुखसे (वार्यम्) हमारे परमकल्याणके लिये (सचन्त) दृढ़तया संलग्न हों।[1] (ऊर्जो नपात्) हे शक्तिके पुत्र! (पाहि) हमारी रक्षा कर (अभिष्टये) ताकि हम अंदर प्रवेश कर सकें,[2] (स्वस्तये शग्धि) अपनी आनन्दमय स्थिति पानेके लिये शक्तिशाली हो सकें। (उत) और (नः पृत्सु) हमारे युद्धोंमें (एधि) तू हमारे साथ अभियान कर ताकि हम (वृधे) विकसित हों।

---

1. हमारे अंदर स्थित ज्योतिर्मय देवोंको चाहिये कि वे हमारी चेतनाको उस प्रकाश एवं सत्यके साथ दृढ़तासे जोड़े रखें जो संकल्पाग्निकी क्रियाओंसे लाया जाता है ताकि हम यथार्थ गति और उसके दिव्य आनंदसे च्युत न हो जायें।

2. अथवा, हम अन्तर्मुख गति कर सकें। अभि+इष् (गतौ दिवा. प.)+क्तिन्+ङे=अभिष्टये, सवर्णदीर्घस्थाने पररूपं छान्दसम्।—अनुवादक

अठारहवाँ सूक्त

पूर्ण ऐश्वर्यके अधिपतियोंका सूक्त

[आत्मा अपनी दूसरी भूमिकामें कोरी शारीरिक सत्ताको पार कर लेती है और प्राणिक सत्ताकी पूर्ण शक्तिसे भर जाती है क्योंकि उसे देवोंने जीवनके पचास-के-पचास वेगशाली अश्व दे दिये होते हैं। इस भूमिकाके वाद दिव्य शक्तियोंके आविर्भावको पूर्ण करनेके लिए भागवत संकल्पका आवाहन किया जाता है। अग्नि वहाँ आत्माकी उस दूर-दूरतक फैली हुई सत्ताकी ज्योति एवं ज्वालाके रूपमें विद्यमान है जिसने भौतिक सत्ताकी सीमाओंको तोड़ दिया होता है। वहाँ वह इस नये और समृद्ध अतिभौतिक जीवनके आनन्दोंसे पूर्ण है। अव इस तीसरी भूमिकाको अर्थात् स्वतन्त्र मनोमयी सत्ताको विचार और वाणीकी समृद्धतया विविध एवं ज्योतिर्मय क्रीड़ाके द्वारा पूर्ण वनाना है। इस क्रीड़ाके अन्तमें मनोमय प्रदेशोंके सर्वोच्च स्तरका अर्थात् मानसिक सत्तामें अतिमानसिक प्रकाशकी शक्तिका आविर्भाव होगा। वहाँ अन्तर्ज्ञानात्मक और अन्तःप्रेरित मनका आविर्भाव आरम्भ होता है। अग्निको सत्यज्ञान (ऋत)की उस विशालता, ज्योति और दिव्यताका सर्जन करना है और इस प्रकार उससे, शक्तिके पहलेसे प्राप्त मुक्तवेगको तथा जीवन और उपभोगके विस्तृत क्षेत्रको, जो पूर्णतायुक्त और प्रभु-पूरित प्राणका अपना विशेष क्षेत्र है, विभूषित करना है।]

1

प्रातरग्निः पुरुप्रियो विशः स्तवेतातिथिः।
विश्वानि यो अमर्त्यो हव्या मर्तेषु रण्यति ॥

(प्रातः) उषःकाल[1]में (पुरुप्रियः) अनेक आनन्दोंसे सम्पन्न, (विशः अतिथिः अग्निः) प्राणियोंके अतिथि उस संकल्पाग्निकी (स्तवेत) स्तुतिकी जाय (यः) जो (मर्तेषु अमर्त्यः) मर्त्योंमें अमर होता हुआ (विश्वानि हव्या) उनकी सब भेंटोंमें (रण्यति) आनन्द लेता है।

1. मनमें उच्चतर ज्ञानकी दिव्य उषाका उदय होना।

2

द्विताय मृक्तवाहसे स्वस्य दक्षस्य मंहना।
इन्दुं स धत्त आनुषक् स्तोता चित् ते अमर्त्य ॥

(मृक्तवाहसे) पवित्र की हुई मेधाको वहन करनेवाली (द्विताय)[1] दूसरी [ऊर्ध्वस्तरकी] आत्माके लिए (सः) वह अग्नि (स्वस्य दक्षस्य मंहना) अपने विवेकशील मनका पूर्ण वैभव है। तब (सः) वह आत्मा (आनुषक् इन्दुम्) आनन्दकी अविच्छिन्न मधु-मदिराको (धत्ते) अपने अन्दर धारण करती है और (ते चित् स्तोता) तेरी ही स्तुति करती है; (अमर्त्य) हे अमर!

3-4

तं वो दीर्घायुशोचिषं गिरा हुवे मघोनाम्।
अरिष्टो येषां रथो व्यश्वदावन्नीयते ॥
चित्रा वा येषु दीधितिरासन्नुक्था पान्ति ये।
स्तीर्णं बर्हिः स्वर्णरे श्रवांसि दधिरे परि ॥

(तं दीर्घायुशोचिषम्) इस दूर-दूरतक विस्तृत सत्ताकी विशुद्ध-ज्वाला-रूप तुझ अग्निदेवको मैं (गिरा हुवे) अपनी वाणीसे पुकारता हूँ, (अश्व-दावन्) हे द्रुतगतिवाले अश्वोंके दाता! (वः मघोनाम्) ऐश्वर्य-प्रचुरताके उन सब अधिपतियोंके लिये (येषां रथः) जिनका रथ (अरिष्टः) अक्षत होते हुए (वि ईयते) व्यापक[2] रूपसे संचरण करता है,—तुझे पुकारता हूँ। पुकारता हूँ प्रचुर वैभवके उन अधिपतियोंके लिये (येषु वा चित्रा दीधितिः) जिनमें विचारका समृद्ध प्रकाश है और (ये) जो (आसन्) अपने

---

1. द्वित—मानवीय आरोहणके दूसरे स्तरका देव या ऋषि। यह स्तर प्राणशक्तिका स्तर है, पूर्णतया चरितार्थ शक्तिका, कामनाका स्तर है, उन प्राणिक शक्तियोंका मुक्त क्षेत्र है जो अब जड़ प्रकृतिके इस साँचेकी कठोर सीमाओंसे सीमित नहीं होतीं। हम नये प्रदेशोंके सम्बन्धमें और उनके भीतर सचेतन हो जाते हैं, वे प्राणके असीम क्षेत्र हैं जिन्हें अगली ऋचामें "दूर-दूरतक विस्तृत सत्ता" कहा गया है तथा जो हमारी सामान्य भौतिक चेतनाकी आड़में छिपे हैं। त्रित तीसरे स्तरका देव या ऋषि है जो भौतिक मनको अज्ञात, ज्योतिर्मय मानसिक राज्योंसे पूर्ण है।
2. प्राणके नये लोकोंमें दिव्य क्रिया अब चरितार्थ हो चुकी है और मृत्यु तथा अन्धकारकी शक्तियोंके "अनिष्टों"से अक्षत विचरती है।

मुँहमें (उक्था पान्ति) हमारे स्तुति-वचनोंकी रक्षा करते हैं। संपूर्ण आत्मा (स्वः-नरे) देदीप्यमान लोककी शक्ति[1]में (बर्हिः स्तीर्णम्) यज्ञके आसनकी तरह बिछी हुई है और (श्रवांसि परि दधिरे) इसकी समस्त अंतःप्रेरणाएँ उसके चारों ओर निहित हैं।[2]

5

ये मे पञ्चाशतं ददुरश्वानां सधस्तुति।
द्युमदग्ने महि श्रवो बृहत् कृधि मघोनां नृवदमृत नृणाम्॥

(ये) जिन्होंने (मे) मुझे (सधस्तुति)पूर्ण स्तुतिसे संपन्न (अश्वानां पञ्चाशतम्) अतिवेगशाली पचास अश्व[3] (ददुः) दिये हैं, उनके लिए, (मघोनां नृणाम्) उन दिव्य आत्माओंके लिए जो प्रचुर वैभवके अधिपति हैं, (अमृत अग्ने) हे अमर ज्वाला! (महि) महान् (बृहत्) विशाल और (नृवत्) दिव्यताओंसे पूर्ण (द्युमत् श्रवः कृधि) ज्योतिर्मय ज्ञानका सर्जन कर।

---

1. 'स्वर्णर'—इसके विषयमें प्रायः ऐसा उल्लेख किया जाता है मानो यह एक देश हो; यह अपने-आप स्वर् अर्थात् चरम अतिचेतन स्तर नहीं है, अपितु उसकी एक शक्ति है जिसे उस लोकका प्रकाश विशुद्ध मनोमय सत्तामें निर्मित करता है। यहाँ इसकी अंतःप्रेरणाएँ और प्रभाएँ अवतरण करती हैं और यज्ञके आसनके चारों ओर अपना स्थान ग्रहण करती हैं। इन्हें दूसरी जगह सौर देवता वरुणके गुप्तचर कहा गया है।
2. यह ऋचा द्वितके प्रदेशोंसे त्रितके प्रदेशोंतक दिव्य गतिके अगले आरोहणका वर्णन करती है।
3. अश्व प्राणशक्तिका प्रतीक है जैसे गौ प्रकाशका। पचास, सौ एवं हजार—ये संख्याएँ पूर्णताकी प्रतीक हैं।

उन्नीसवाँ सूक्त

ज्ञान-प्रकाशक रश्मि और विजयशील संकल्पका सूक्त

[यहाँ आत्माके उस आविर्भावका गान गाया गया है जिसमें उसकी उच्चतर भूमिकाओंके सभी आवरणोंका भेदन किया जा चुका है और वे दिव्य प्रकाशकी ओर उद्घाटित हो गई हैं। यह हमारी सत्ताके सम्पूर्ण तीसरे स्तरका उद्घाटन है जो पहले एक दुर्ग-रक्षित नगर था जिसके द्वार जड़प्रकृतिके अन्दर देहबद्ध आत्माके लिये बन्द थे। भागवत शक्तिकी इस नयी क्रियासे मानसिक और भौतिक चेतना उच्च अतिमानसिक चेतनाके साथ परिणय-सूत्रमें ग्रथित हो गई हैं जो अभीतक उनसे पृथक् थी; जीवन-शक्ति अपने कार्योंमें दिव्य सूर्यके तापसे देदीप्यमान होती हुई दिव्य ज्ञानके सूर्यकी रश्मिकी क्रीड़ाके साथ समस्वर हो गई है।]

1

अभ्यवस्थाः प्र जायन्ते प्र वव्रेर्वव्रिश्चिकेत।
उपस्थे मातुर्वि चष्टे॥

(अवस्थाः अभि प्र जायन्ते) भूमिकापर भूमिकाका जन्म हुआ है, (वव्रेः वव्रिः) आवरण-पर-आवरण (प्र चिकेत) ज्ञानकी चेतनाकी ओर खुल गया है। (मातुः उपस्थे) अपनी माँ[1]की गोदमें (विचष्टे) [आत्मा] देखता है[2]।

2

जुहुरे विचितयन्तोऽनिमिषं नृम्णं पान्ति।
आ दृळ्हां पुरं विविशुः॥

(विचितयन्तः) सबको अपने अन्दर समा लेनेवाले ज्ञानकी ओर जाग्रत् मनुष्य तुझमें (जुहुरे) हवि डालते हैं। (अनिमिषं नृम्णं पान्ति) वे नित्य-जागरूक मानवत्वकी रक्षा करते हैं और (दृळ्हाम् पुरम् आ विविशुः) दुर्गवत् दृढ़ नगरके अन्दर प्रवेश करते हैं।

---

1. अदिति—अनन्त चेतना, सब पदार्थोंकी माता।
2. अनन्त अतिमानसिक चेतनाके सर्वालिङ्गी अंतर्दर्शनके साथ।

3

आ श्वैत्रेयस्य जन्तवो द्युमद् वर्धन्त कृष्टयः।
निष्कग्रीवो बृहदुक्थ एना मध्वा न वाजयुः॥

(जन्तवः) जो मनुष्य संसारमें पैदा हुए हैं और (कृष्टयः) कर्ममें यत्नशील हैं वे (श्वैत्रेयस्य) श्वेत ज्योतिवाली माँ[1]के पुत्रकी (द्युमत्) तेजोमय अवस्थाका (आ वर्धन्त) संवर्धन करते हैं। (निष्क-ग्रीवः) वह सोनेका हार[2] पहनता है, (बृहत्-उक्थः) वह विशाल शब्दका उच्चारण करता है, (एना) उसके द्वारा और (मध्वा न) मानो आनन्दकी मधुमयी मदिराके द्वारा वह (वाजयुः) ऐश्वर्य-परिपूर्णताका अभिलाषी बन जाता है।

4

प्रियं दुग्धं न काम्यमजामि जाम्योः सचा।
घर्मो न वाजजठरोऽदब्धः शश्वतो दभः॥

वह (प्रियं काम्यं दुग्धं न) माँके प्रिय और कामना करने योग्य दूध[3]की तरह है। वह (अजामि) बिना किसी साथी[4]के है, तो भी वह (जाम्योः सचा) दो साथियोंके साथ रहता है, वह (घर्मः) प्रकाशकी गर्मी है और (वाज-जठरः) ऐश्वर्य-परिपूर्णताका उदर है। वह (अदब्धः शश्वतः) अजेय सनातन सत्ता है जो (दभः) सब वस्तुओंको अपने पैरोंके नीचे कुचल डालती है।

5

क्रीळन् नो रश्म आ भुवः सं भस्मना वायुना वेविदानः।
ता अस्य सन् धृषजो न तिग्माः सुसंशिता वक्ष्यो वक्षणेस्थाः॥

(रश्मे) हे किरण! (नः भुवः) हममें पैदा हो और (क्रीळन्) क्रीड़ा करते हुए निवास कर, (भस्मना वायुना सं वेविदानः) अपने ज्ञानको

---

1. अदिति; उसकी अन्धकार-पूर्ण अवस्था या उसका काला रूप है दिति, अन्धकारकी शक्तियोंकी माता।
2. सत्यके दिव्य सूर्यकी रश्मियोंका हार।
3. अदिति-रूपी गौका दूध।
4. सबका सर्जन करनेवाला और स्वयंपूर्ण अतिमानस जो ऊर्ध्व और दूरस्थ है और है हमारी चेतनामें मानसिक और भौतिक स्तरोंसे पृथक्; तो भी वस्तुतः वह वहाँ उनकी एक दूसरेपर क्रिया-प्रतिक्रियाके पीछे विद्यमान है। मनुष्यकी मुक्त अवस्थामें यह पृथक्ता मिट जाती है।

देदीप्यमान जीवन-देवता वायुके साथ समस्वर करते हुए निवास कर। (अस्य ताः) संकल्पकी ये ज्वालायें जो (वक्ष्यः) हमारे कर्मोंको वहन करती हैं, (धृषजः) प्रचंड, (तिग्माः) तीव्र और (सुसंशिताः सन्) पूर्ण-प्रखर रूपसे तीक्ष्ण हों। वे (वक्षणे-स्थाः) सब वस्तुओंके वाहकमें दृढ़ताके साथ स्थापित हों।

बीसवाँ सूक्त

कर्म और उपलब्धिका सूक्त

[ऋषि आध्यात्मिक ऐश्वर्यकी ऐसी अवस्थाकी कामना करता है जो भागवत क्रियासे भरपूर हो और जिसमें कोई भी चीज विभाजन और कुटिलताके गर्तमें न गिरने पाए। इस प्रकार अपने कार्योंसे भागवत शक्तिको अपने अन्दर प्रतिदिन संवर्धित करते हुए हम परम आनन्द एवं सत्य, प्रकाशका आनन्दोल्लास एवं शक्तिका हर्षोन्माद प्राप्त कर लेंगे।]

1

यमग्ने वाजसातम त्वं चिन्मन्यसे रयिम्।
तं नो गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा पनया युजम्॥

(अग्ने) हे दिव्य संकल्प! (वाजसातम) हे हमारी ऐश्वर्य-प्रचुरताके विजेता! (यं रयिं) जिस परम आनन्दको (त्वं चित् मन्यसे) अकेला तू ही अपने मनके अन्दर विचारमें ला सकता है (तं) उसे (नः) हमारे (गीर्भिः) स्तुति-वचनोंके द्वारा (श्रवाय्यं) अन्तःप्रेरणाओंसे भर दे और (युजम्) हमारा सहायक बनकर उसे (देवत्रा) देवताओंमें (पनय) क्रिया-शील बना दे।

2

ये अग्ने नेरयन्ति ते वृद्धा उग्रस्य शवसः।
अप द्वेषो अप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिरे॥

(अग्ने) हे संकल्पाग्ने! (ये) तेरी जो शक्तियाँ (ते उग्रस्य शवसः वृद्धाः) तेरी ज्वाला और बलकी उग्रतामें तेरे द्वारा संवर्धित होकर भी हमें (न ईरयन्ति) मार्गपर चलनेके लिए प्रेरित नहीं करतीं, वे (द्वेषः अप सश्चिरे) दूर हटकर द्वैधभावमें ग्रस्त हो जाती हैं और (अन्यव्रतस्य ह्वरः) तेरे नियमसे भिन्न किसी नियमकी कुटिलताके साथ (अप [सश्चिरे]) चिपट जाती हैं।

3-4

होतारं त्वा वृणीमहेऽग्ने दक्षस्य साधनम्।
यज्ञेषु पूर्व्यं गिरा प्रयस्वन्तो हवामहे॥

इत्था यथा त ऊतये सहसावन् दिवेदिवे।
राय ऋताय सुक्रतो गोभिः ष्याम सधमादो वीरैः स्याम सधमादः ।।

(अग्ने) हे संकल्पशक्ते! हम (त्वा) तुझे (होतारं) हविरूप भेंटोंके पुरोहित और (दक्षस्य साधनम्) विवेकयुक्त ज्ञानके संसाधकके रूपमें (वृणीमहे) अपने लिए वरण करते हैं। (प्रयस्वन्तः) तेरे लिए अपने सारे आनन्दोंको धारण किये हुए हम (यज्ञेषु) यज्ञोंमें (गिरा) अपने स्तुति-वचनसे तुझ (पूर्व्यं) सनातन और परमका (हवामहे) आह्वान करते हैं।

(यथा इत्था हवामहे) ठीक तरहसे और इस प्रकार आह्वान करते हैं कि (सहसावन्) हे शक्तिशाली देव! (सुक्रतो) हे पूर्ण कार्यसाधक शक्ति! हम (दिवे-दिवे) दिन-प्रतिदिन (ते ऊतये) तुझे बढ़ाएँ, ताकि हम (राये) परम आनन्द प्राप्त कर सकें, (ऋताय) सत्य उपलब्ध कर सकें, (गोभिः) ज्ञानकी रश्मियोंके द्वारा (सधमादः स्याम) पूर्ण आनन्दोल्लास अधिगत कर सकें और (वीरैः सधमादः स्याम) शक्तिरूप वीरोंके द्वारा पूर्ण आनन्दोन्माद प्राप्त कर सकें।

इक्कीसवाँ सूक्त

मानवतामें निहित दिव्य अग्निका सूक्त

[ऋषि दिव्य ज्वालाका आवाहन करता है ताकि वह मानव सत्तामें दिव्य मानवके रूपमें प्रज्वलित हो तथा हमें सत्य और परमानंदके धामोंमें हमारी पूर्णता तक उठा ले जाय।]

1

मनुष्वत्त्वा नि धीमहि मनुष्वत् समिधीमहि।
अग्ने मनुष्वदङ्गिरो देवान् देवयते यज॥

(मनुष्वत्) मानुषी रूप[1]में हम (त्वा) तुझे (नि धीमहि) अपने अंदर प्रतिष्ठित करते हैं, (मनुष्वत्) मानुषी रूपमें (त्वा) तुझे (सम् इधीमहि) प्रज्वलित करते हैं। (अग्ने) हे ज्वाला! (अङ्गिरः) हे द्रष्टृ-रूप शक्ति! (देवयते) देवोंकी कामना करनेवालेके लिए (मनुष्वत्) मानुषी रूपमें (देवान् यज) देवोंके प्रति यज्ञ कर।

2

त्वं हि मानुषे जनेऽग्ने सुप्रीत इध्यसे।
स्रुचस्त्वा यन्त्यानुषक्सुजात सर्पिरासुते॥

(अग्ने) हे ज्वालारूप अग्निदेव! (सुप्रीतः त्वम्) जब तू [मनुष्यकी] भेंटोंसे तृप्त होता है तब तू (मानुषे जने) मानव प्राणीमें (इध्यसे हि) प्रज्वलित होता है। उसके (स्रुचः) कड़छे (आनुषक्) निरंतर (त्वा यन्ति)

---

1. देवत्व मनुष्यके अंदर अवतरित होता हुआ मानवताका आवरण ओढ़ लेता है। भगवान् अनादि कालसे पूर्ण एवं अजन्मा है, और है सत्य एवं आनंदमें प्रतिष्ठित; अवतरित होता हुआ वह मनुष्यमें उत्पन्न होता है, बढ़ता है, शनैः-शनैः अपना पूर्णत्व प्रकट करता है, मानों युद्ध और दुष्कर विकाससे सत्य और आनंदको प्राप्त करता है। मनुष्य है चिन्तक, भगवान् है शाश्वत द्रष्टा; परंतु मर्त्यको अमरतामें विकसित होनेमें सहायता देनेके लिए भगवान् विचार और जीवनके रूपोंके पर्दोंके पीछे अपने 'द्रष्टा'-भावको छिपाए रखता है।

तेरी ओर जाते हैं, (सुजात) हे अपने जन्ममें पूर्ण ! (सर्पिः-आसुते) हे प्रवाहशील-ऐश्वर्य-रूपी रसको निकालनेवाले !

3

त्वां विश्वे सजोषसो देवासो दूतमक्रत ।
सपर्यन्तस्त्वा कवे यज्ञेषु देवमीळते ।।

(सजोषसः) प्रेममय एकहृदयसे युक्त (विश्वे देवासः) सब देवोंने (त्वां) तुझे (दूतम् अक्रत) अपना दूत बनाया। (कवे) हे द्रष्टा ! मनुष्य (यज्ञेषु) अपने यज्ञोंमें (देवम्) देवके रूपमें (सपर्यन्त) तेरी सेवा करते हैं, (ईडते) तेरी उपासना करते हैं।

4

देवं वो देवयज्ययाऽग्निमीळीत मर्त्यः।
समिद्धः शुक्र दीदिह्यृतस्य योनिमासदः ससस्य योनिमासदः ।।

(मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य (देव-यज्यया) दिव्य शक्तियोंके प्रति यज्ञ द्वारा (देवम् अग्निम्) दिव्य संकल्पाग्निकी (ईळीत) आराधना करे। (शुक्र) हे ज्योतिर्मय ! (समिद्धः) प्रज्वलित होकर (दीदिहि) देदीप्यमान हो, (ऋतस्य योनिम्) सत्यके घरमें (आसदः) प्रवेश कर, (ससस्य योनिम्) परम आनंदके घरमें (आसदः) प्रवेश कर।

बाईसवाँ सूक्त

पूर्ण आनन्दकी ओर यात्राका सूक्त

[वस्तुओंका भोक्ता मनुष्य अपनी कामनाओंकी तृप्ति आनन्दकी चरम समतामें प्राप्त करना चाहता है। इस लक्ष्यके लिये उसे उस दिव्य ज्वाला एवं द्रष्ट्री संकल्पशक्तिके द्वारा पवित्र बनना होता है जो अपने अन्दर सचेतन अन्तर्दृष्टि और पूर्ण आनन्दोल्लास धारण किये है। अपने अन्दर उसे बढ़ाते हुए हम अपने प्रगतिशील यज्ञके द्वारा यात्रामें अग्रसर होंगे और देवगण हमारे अन्दर अपने आपको पूर्णतया प्रकट करेंगे। हमें इस दिव्यशक्तिका इस रूपमें स्वागत-सत्कार करना चाहिये कि वह हमारे घरका, हमारे भौतिक और मानसिक शरीरका स्वामी है, और हमें अपने सुखोपभोगके सम्पूर्ण विषय उसे उसके भोजनके रूपमें अर्पित कर देने चाहियें।]

1

प्र विश्वसामन्नत्रिवदर्चा पावकशोचिषे।
यो अध्वरेष्वीड्यो होता मन्द्रतमो विशि॥

(विश्वसामन्) हे सबमें एकसमान आत्मसिद्धि चाहनेवाले मनुष्य, (अत्रिवत्) सब पदार्थोंके भोक्ताके रूपमें तू (पावक-शोचिषे) चमकीली, पवित्र करनेवाली ज्वालाके अधिपतिके प्रति (अर्च) प्रकाशमय स्तुति-वचन गा, (यः) जो (अध्वरेषु) हमारे यज्ञोंकी यात्रामें (ईड्यः) हमारी पूजाका पात्र है, (होता) हविरूप भेंटका वाहक पुरोहित है, (विशि मन्द्रतमः) प्राणिमात्रमें अत्यधिक आनन्दसे भरपूर है।

2

न्यग्निं जातवेदसं दधाता देवमृत्विजम्।
प्र यज्ञ एत्वानुषगद्या देवव्यचस्तमः॥

(अग्नि) उस संकल्पाग्निको (नि दधात) अपने अन्दर स्थापित कर जो (जातवेदसं) सब उत्पन्न पदार्थोंका ज्ञाता है, (देवम् ऋत्विजं) ऋतुओंके अनुसार यज्ञ करनेवाला दिव्य याजक है। (अद्य) आज (यज्ञः) तेरा यज्ञ (आनुषक्) निरन्तर (प्र एतु) प्रगति करे। वह (देवव्यचस्तमः) देवोंके सम्पूर्ण आविर्भावको तेरे प्रति प्रकाशित करे।

3

चिकित्विन्मनसं त्वा देवं मर्तास ऊतये।
वरेण्यस्य तेऽवस इयानासो अमन्महि ।।

(मर्तासः) हम मर्त्योंने (त्वा देवं) तुझ देवमें (अमन्महि) अपने मनको स्थित किया है क्योंकि तू (चिकित्वित्-मनसम्) सचेतन अन्तर्दर्शनसे युक्त मनवाला है। (इयानासः) जैसे हम यात्रा करते हैं वैसे ही (ऊतये अमन्महि) हम तेरा ध्यान करते हैं ताकि हम बढ़ें और (ते वरेण्यस्य अवसे) तुझ अत्यधिक वरणीयको भी बढ़ायें।

4

अग्ने चिकिद्धचस्य न इदं वचः सहस्य।
तं त्वा सुशिप्र दम्पते स्तोमैर्वर्धन्त्यत्रयो गीर्भिः शुम्भन्त्यत्रयः ।।

(अग्ने) हे संकल्पाग्ने! तू हमारे अन्दर (अस्य) इस अन्तर्दर्शनके प्रति (चिकिद्धि) जाग, (नः इदं वचः) तेरे प्रति हमारा यह वचन है। (सहस्य) हे शक्तिके अधीश्वर! (सुशिप्र) हे दृढ़ जबड़ेवाले उपभोक्ता! (दम्पते) हे हमारे घरके स्वामी! (अत्रयः) वस्तुओंके भोक्ता वे (त्वां) तुझे (स्तोमैः वर्धयन्ति) अपनी स्तुतियोंसे बढ़ाते हैं और (अत्रयः) उपभोगकर्ता वे (त्वा) तुझे (गीर्भिः) अपने स्तुतिवचनोंसे (शुम्भन्ति) उज्ज्वल-आनन्दमय वस्तु बनाते हैं।

तेईसवाँ सूक्त

समृद्ध और विजयशील आत्माका सूक्त

[ऋषि अग्निदेवके द्वारा दिव्य प्रकाशके उस प्रचुर ऐश्वर्यकी कामना करता है जिसके सामने अन्धकारकी सेनाएँ टिक ही नहीं सकतीं, क्योंकि वह अग्नि अपनी ऐश्वर्य-परिपूर्णता और शक्तिसे उन्हें अभिभूत कर देता है। ऐसा वह आत्माके पुरुषार्थके सभी क्रमिक स्तरों पर करता है और इनमेंसे प्रत्येक स्तर पर मनुष्य सत्य और परात्पर पुरुषरूपी इस दिव्य शक्तिके द्वारा उन स्तरोंमें निहित सभी काम्य पदार्थोंको प्राप्त कर लेता है।]

1

अग्ने सहन्तमा भर द्युम्नस्य प्रासहा रयिम्।
विश्वा यश्चर्षणीरभ्यासा वाजेषु सासहत्॥

(सहन्तम अग्ने) अत्यधिक बलपूर्वक वशमें करनेवाले शक्तिस्वरूप अग्नि-देव! (द्युम्नस्य) प्रकाशकी (प्र-सहा रयिम्) शक्तिपूर्ण समृद्धिको (आ भर) हमारे लिए ला, (यः) जो शक्तिमय समृद्धि (विश्वाः चर्षणीः) हमारे कार्य-पुरुषार्थके सभी क्षेत्रोंमें (आसा) तेरे ज्वालारूपी मुखके द्वारा (वाजेषु) परिपूर्ण ऐश्वर्योंके अन्दर प्रवेश करनेमें (अभि ससहत्) बल-पूर्वक सफल होगी।

2

तमग्ने पृतनाषहं रयिं सहस्व आ भर।
त्वं हि सत्यो अद्‌भुतो दाता वाजस्य गोमतः॥

(अग्ने) हे ज्वाला! (सहस्वः) हे शक्तिमय देव! (तं रयिम् आ भर) वह समृद्ध आनन्द ला जो (पृतना-सहम्) हमारे विरुद्ध युद्ध कर रही सेनाओंको प्रचण्डतासे परास्त करनेवाला हो, (हि) क्योंकि (त्वं सत्यः) तू सत्तामें सत्यतत्त्व है, (अद्‌भुतः) वह विश्वातीत और अद्‌भुत तत्त्व है जो मनुष्यको (गोमतः वाजस्य दाता) ज्योतिर्मय ऐश्वर्य-परिपूर्णता प्रदान करता है।

3

विश्वे हि त्वा सजोषसो जनासो वृक्तबर्हिषः।
होतारं सद्मसु प्रियं व्यन्ति वार्या पुरु॥

(विश्वे जनासः) ये सब मनुष्य जिन्होंने (सजोषसः) प्रेममय हृदयसे युक्त होकर (वृक्त-र्बाहषः) यज्ञके अपने आसनको निर्मल किया है, (सद्मसु) आत्माके निवास-स्थानों[1]में (त्वा) तुझे (व्यन्ति) पाते हैं,— (होतारम्) यज्ञके पुरोहित और (प्रियम्) प्रियतम तुझको प्राप्त करते हैं। वे (पुरु वार्या) अपने अनेक वरणीय पदार्थोंको [सद्मसु व्यन्ति] आत्माके निवासस्थानोंमें प्राप्त करते हैं।

4

स हि ष्मा विश्वचर्षणिरभिमाति सहो दधे ।
अग्न एषु क्षयेष्वा रेवन्नः शुक्र दीदिहि द्युमत् पावक दीदिहि ।।

(सः विश्वचर्षणिः) मनुष्यके सब कार्योंमें वही कर्म करता है। (सः) वही अपने अन्दर (अभिमाति सहः दधे) सर्व-अभिभावक शक्ति रखता है। (शुक्र) हे शुभ्र-उज्ज्वल ज्वाला! तू (नः) हमारे (एषु क्षयेषु) इन घरों-में (रेवत्) आनन्द और समृद्धिसे भरपूर होकर (दीदिहि) चमक। (द्युमत् दीदिहि) प्रकाशसे भरपूर होकर चमक, (पावक) हे हमें पवित्र करनेवाले।

---

1. आत्माके 'सदन' या घर; आत्मा एक स्तरसे दूसरे स्तर तक विकास करता है और प्रत्येक स्तरको अपना निवासस्थान बनाता है। कहीं-कहीं इन्हें नगर कहा गया है। ऐसे स्तर सात हैं जिनमें-से प्रत्येकके अपने सात प्रदेश हैं और उनके ऊपर एक और भी स्तर है। साधारणतया हम सौ नगरोंके विषयमें सुनते हैं, यह दुगनी संख्या संभवतः प्रत्येक स्तरमें आत्माकी प्रकृति पर नीचेकी ओर दृष्टि और प्रकृतिकी आत्माकी ओर ऊर्ध्वमुखी अभीप्साको दर्शाती है।

चौबीसवाँ सूक्त

उद्धारक और रक्षकके प्रति

[ऋषि बुराईसे रक्षणके लिए और दिव्य प्रकाश व सारतत्त्व (वसु) की पूर्णता प्राप्त करनेके लिए भगवत्संकल्पका आवाहन करता है।]

1–2

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः।।

(अग्ने) हे संकल्परूप अग्निदेव! (त्वं नः अन्तमः भव) तू हमारा अन्तरतम सहवासी वन (उत) और तू हमारे लिए (शिवः) कल्याणकारी हो, (त्राता) हमारा उद्धारक वन, (वरूथ्यः) हमारे रक्षणका कवच बन। (वसुः) पदार्थोंके सारतत्त्वका स्वामी और (वसु-श्रवाः) उस सार-तत्त्वका दिव्यज्ञान रखनेवाला तू (अच्छ नक्षि) हमारे पास आ और (नः) हमें (द्युमत्तमं रयिं) अपने सारतत्त्वकी अत्यन्त प्रकाशमय समृद्धि (दाः) प्रदान कर।

3–4

स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णो अघायतः समस्मात्।
तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः।।

(सः) वह तू (वोधि) जाग! (नः हवं श्रुधि) हमारी पुकार सुन! (नः) हमें (समस्मात् अघायतः) उन सबसे जो हमें अशुभ व बुराईकी ओर प्रवृत्त करना चाहते हैं (उरुष्य) दूर रख। (दीदिवः) हे ज्योतिर्मय! (शोचिष्ठ) हे पवित्रतम प्रकाशकी ज्वाला! (तं त्वा) उस तुझको हम (सखिभ्यः) अपने मित्रोंकें लिए (ईमहे) चाहते हैं ताकि वे (नूनम्) अभी ही (सुम्नाय) आनन्द और शान्ति प्राप्त करें।

पच्चीसवाँ सूक्त

प्रकाशके अधीश्वर व देवत्वके निर्माताके प्रति

[ऋषि अग्निको इस रूपमें स्तुति करता है कि वह एक क्रान्तदर्शी संकल्प है जिसकी सम्पूर्ण सत्ता ही है प्रकाश और सत्य, दिव्यताके सारतत्त्व का मुक्तहस्तसे दान। वह अग्निदेव एक पुत्र है जो द्रष्टाओंके विचारके समक्ष उत्पन्न होता है और वह मनुष्यमें उत्पन्न देवत्व (देव) के रूपमें अपने-आपको हमें दे देता है। वह देवत्व (देव) हमारे ही कार्योंका पुत्र है जो दिव्य सत्य और दिव्य शक्तिसे समृद्ध है, वह संग्राम और यात्राके विजयशील अश्वके रूपमें अपने-आपको हमें प्रदान कर देता है। उस द्रष्टा-संकल्पकी सम्पूर्ण गति है ऊपरकी ओर, अतिचेतनकी विशालता और प्रकाश-की ओर। उसकी वाणी मानो उन द्युलोकोंका गर्जनमय संगीत है। वह अपनी पूर्ण क्रियासे हमें अवश्य ही अन्धकार और सीमाके घेरेसे पार ले जायगा।]

1

अच्छा वो अग्निमवसे देवं गासि स नो वसुः।
रासत् पुत्र ऋषूणामृतावा पर्षति द्विषः॥

(वः अवसे) अपने संवर्धनके लिये (अग्निम् अच्छ) उस संकल्पशक्तिके प्रति, (देवम् [अच्छ]) उस देवके प्रति (गासि) गीत गाओ, क्योंकि (स नः वसुः) वह हमारे सारतत्त्वका स्वामी है और (रासत्) खुले हाथसे दान देता है, (ऋषूणां पुत्रः) ज्ञानके अन्वेषकोंका पुत्र है, (ऋतावा) सत्यका रक्षक है, (द्विषः पर्षति) हमारे विध्वंसकोंकी बाढ़से हमें पार उतारता है।

2

स हि सत्यो यं पूर्वे चिद् देवासश्चिद् यमीधिरे।
होतारं मन्द्रजिह्वमित् सुदीतिभिर्विभावसुम्॥

(स हि सत्यः) वह सत्यस्वरूप है, अपनी सत्तामें सच्चा है (यं) जिसे (पूर्वे चिद्) पुरातन द्रष्टाओंने और (यं) जिसे (देवासः चिद्) देवोंने भी (सुदीतिभिः) पूर्ण प्रभाओंके द्वारा (विभावसुम् ईधिरे) उसके प्रकाशके विशाल सारतत्त्वके रूपमें प्रदीप्त किया, (मन्द्रजिह्वम्) अपने परम आनन्द-

की जिह्वासे युक्त, (होतारम्) हविके वाहक उस पुरोहितको [उन्होंने प्रदीप्त किया]।

3

स नो धीती वरिष्ठया श्रेष्ठया च सुमत्या।
अग्ने रायो दिदीहि नः सुवृक्तिभिर्वरेण्य॥

(वरेण्य अग्ने) हे अत्यधिक वरणीय ज्वाला! इस प्रकार (नः श्रेष्ठया धीती) हमारे श्रेष्ठ चिंतनसे, (सुमत्या) हमारी अत्यधिक उज्ज्वल, पूर्णता-प्राप्त मतिसे, (सुवृक्तिभिः) उस मतिके द्वारा समस्त बुराईके नितान्त उच्छेदनसे (नः रायः दिदीहि) तेरा प्रकाश हमें आनन्द दे।

4

अग्निर्देवेषु राजत्यग्निर्मर्तेष्वाविशन्।
अग्निर्नो हव्यवाहनोऽग्निं धीभिः सपर्यत॥

(अग्निः) वह दिव्य संकल्प ही (देवेषु राजति) देवोंमें चमकता है। (अग्निः) वह दिव्य संकल्प ही (मर्तेषु आविशन्) मर्त्योंमें अपने प्रकाशसे प्रवेश करता है। (अग्निः) वह संकल्प ही (नः हव्य-वाहनः) हमारी हविका वाहक है। (अग्निम्) उस संकल्पाग्निको (धीभिः) अपने सब विचारोंमें (सपर्यत) खोजो और उसकी उपासना करो।

5

अग्निस्तुविश्रवस्तमं तुविब्रह्माणमुत्तमम्।
अतूर्तं श्रावयत्पतिं पुत्रं ददाति दाशुषे॥

(अग्निः) संकल्पाग्नि (दाशुषे) हविर्दाताको (पुत्रं ददाति) पुत्र देता है, उसके कार्योंसे उत्पन्न फलरूपी-पुत्र[1] प्रदान करता है जो (तुवि-श्रवस्तमम्) अनेक अन्तःप्रेरणाओंसे परिपूर्ण है, (तुविब्रह्माणम्) आत्माकी अनेक अन्त-र्ध्वनियोंसे भरपूर है, (उत्तमम्) सर्वोच्च है, (अतूर्तं) जिसपर आक्रमण नहीं किया जा सकता, और जो (श्रवयत्-पतिम्) पदार्थोंका ऐसा स्वामी है, जो ज्ञानके प्रति हमारे कान खोलता है।

1. 'यज्ञका पुत्र' वेदमें एक सतत रूपक है। यहाँ स्वयं अग्निदेव ही अपने-आपको मनुष्यको पुत्रके रूपमें दे देता है, ऐसे पुत्रके रूपमें जो पिताका उद्धार करता है। साथ ही अग्नि युद्धका अश्व एवं यात्राका घोड़ा, श्वेत अश्व, रहस्यमय द्रुतगतिशाली दधिक्रावन् भी है जो हमें युद्धमेंसे पार कर हमारी यात्राके लक्ष्य तक ले जाता है।

6

अग्निर्ददाति सत्पतिं सासाह यो युधा नृभिः।
अग्निरत्यं रघुष्यदं जेतारमपराजितम् ।।

निश्चयसे (अग्निः) यह संकल्पाग्नि ही हमें (सत्पतिं ददाति) सत्ताओं-के स्वामीको दानमें देता है, (यः) जो स्वामी (युधा) युद्धोंमें (नृभिः) शक्तिकी आत्माओंसे (ससाह) विजयी होता है। (अग्निः) संकल्पाग्नि हमें (अत्यं [ददाति]) युद्धका अश्व देता है जो (रघुष्यदं) अत्यन्त सरपट दौड़ता है, (जेतारम्) सदा विजय प्राप्त करता है और (अपराजितम्) कभी जीता नहीं जा सकता।

7

यद् वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो।
महिषीव त्वद् रयिस्त्वद् वाजा उदीरते।।

(यद् वाहिष्ठं) जो हमारे अन्दर वहन करनेमें सबसे अधिक शक्ति-शाली है (तद्) उसे हम (अग्नये) संकल्पाग्निके लिये देते हैं। (विभावसो) प्रकाश ही जिसका विशाल सारतत्त्व है हे ऐसे अग्निदेव! तू (बृहत् अर्च) विशाल सत्ताके गीत गा। (त्वद् रयिः) तेरी समृद्धि (महिषी इव) मानों स्वयं भगवती[1]की ही विशालता है, (त्वद् वाजाः उत् ईरते) तेरी ऐश्वर्य-परिपूर्णताका तीव्र वेग ऊपरकी ओर जाता है।

8

तव द्युमन्तो अर्चयो ग्रावेवोच्यते बृहत्।
उतो ते तन्यतुर्यथा स्वानो अर्त त्मना दिवः।।

(तव अर्चयः) तेरी ज्वालामयी दीप्तियां (द्युमन्तः) देदीप्यमान हैं; (ग्रावा इव) आनन्दरस सोमको पीसनेवाले पत्थरकी ध्वनिकी तरह (बृहत् उच्यते) एक विशाल वाणी तुझसे उठ रही है। (ते स्वानः) तेरा महान् शब्द (त्मना) अपने-आप ही इस प्रकार (अर्त) ऊपर उठ रहा है (यथा) जिस प्रकार (दिवः) द्युलोकसे (तन्यतुः) बिजलीकी गड़गड़ाहटका गीत।

9

एवाँ अग्निं वसूयवः सहसानं ववन्दिम।
स नो विश्वा अति द्विषः पर्षन्नावेव सुक्रतुः।।

---

1. अदिति, विशाल माता।

(एव) इस प्रकार (वसूयवः) वसुको—सारतत्त्वको चाहते हुए हम (सहसानम्) जीतनेमें शक्तिशाली (अग्निम्) दिव्य संकल्पाग्निकी (ववन्दिम) वन्दना करते हैं। (सुक्रतुः सः) अपने क्रिया-कलापकी पूरी शक्तिसे सम्पन्न वह अग्नि (नः) हमें (विश्वाः द्विषः) उन समस्त शक्तियोंसे जो हमें नष्ट करना चाहती हैं (नावा इव) समुद्रमें नौकाकी तरह (अति पर्षत) पार ले जाय।

छब्बीसवाँ सूक्त

पुरोहित और यज्ञिय अग्नि का सूक्त

[ऋषि दिव्य ज्वालाका उसके इन सब सामान्य गुणोंके रूपमें आवाहन करता है कि वह यज्ञकर्ता है, ज्योतिर्मय लोकके अन्तर्दर्शनसे युक्त प्रकाशमय द्रष्टा, देवोंको लानेवाला, भेंटोंका वाहक, दूत, विजेता, मनुष्यमें दिव्य क्रियाओंका संवर्द्धक एवं जन्मोंका ज्ञाता है और है देवोंका उत्तरोत्तर आविर्भाव करनेवाले यज्ञकी प्रगतिका नेता।]

1

अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया।
आ देवान् वक्षि यक्षि च ॥

(अग्ने) हे ज्वालास्वरूप अग्ने (पावक) हे पवित्र करनेवाले! (देव) हे देव! (रोचिषा मन्द्रया जिह्वया) अपनी प्रकाशमय आनन्दोल्लासपूर्ण जिह्वासे (देवान् आ वक्षि) देवोंको हमारे पास ले आ (यक्षि च) और उन्हें यज्ञस्वरूप भेंट दे।

2

तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम्।
देवाँ आ वीतये वह ॥

(घृतस्नो) हे निर्मलताको चुआनेवाले! (चित्रभानो) हे समृद्ध व विविध प्रकाशसे युक्त अग्ने! (तं त्वा) उस तुझको (ईमहे) हम चाहते हैं क्योंकि तू (स्वःदृशम्) हमारे सत्यमय लोकके अन्तर्दर्शनसे सम्पन्न है। (देवान्) देवोंको (वीतये) उनकी अभिव्यक्तिके लिए[1] (आ वह) पास ले आ।

3

वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि।
अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥

---

1. या सत्यके ज्योतिर्मय लोककी ओर "यात्रा करनेके लिए", या हवियोंका "भक्षण करनेके लिए"।

(कवे) हे द्रष्टा! (द्युमन्तं बृहन्तम्) प्रकाश और विशालतासे युक्त, (वीति-होत्रम्) हविरूप भेंटोंको उनकी यात्रा पर ले जानेवाले (त्वा) तुझ अग्निदेवको हम (अध्वरे) अपनी यज्ञयात्रामें (सम् इधीमहि) प्रज्वलित करते हैं।

4

अग्ने विश्वेभिरा गहि देवेभिर्हव्यदातये।
होतारं त्वा वृणीमहे ।।

(अग्ने) हे संकल्परूप अग्निदेव! तू (हव्यदातये) हमारी हवियोंको देनेके लिए (विश्वेभिः देवेभिः) सब देवोंके साथ (आ गहि) आ। (त्वा होतारं वृणीमहे) हम तुझे आहुतिके वाहक पुरोहितके रूपमें वरण करते हैं।

5

यजमानाय सुन्वत आग्ने सुवीर्यं वह।
देवैरा सत्सि बर्हिषि ।।

(सुन्वते यजमानाय) आनन्दमधुको निकालनेवाले यजमानके लिए, (अग्ने) हे ज्वालास्वरूप अग्निदेव! (सुवीर्यम् आ वह) पूर्ण शक्ति ले आ। (बर्हिषि) आत्माकी पूर्णताके आसन पर (देवैः आ सत्सि) देवोंके साथ बैठ।

6

समिधानः सहस्रजिदग्ने धर्माणि पुष्यसि।
देवानां दूत उक्थ्यः ।।

(अग्ने) हे ज्वालास्वरूप अग्निदेव! तू (समिधानः) सुप्रदीप्त होकर (धर्माणि पुष्यसि) दिव्य नियमोंका संवर्धन करता है। तू (सहस्रजित्) हजारगुणा ऐश्वर्यका विजेता है, (देवानां दूतः) देवोंका ऐसा दूत है जो (उक्थ्यः) हमारे स्तुतिवचनको प्राप्त करता है।

7

न्यग्निं जातवेदसं होत्रवाहं यविष्ठ्यम्।
दधाता देवमृत्विजम् ।।

(अग्निं निदधात) तुम अपने अन्दर उस ज्वालाको प्रतिष्ठित करो जो (जातवेदसं) जन्मोंको जाननेवाली है, (होत्रवाहं) भेंटका वहन करनेवाली है, (यविष्ठ्यम्) तरुणतम शक्तिसे सम्पन्न है, (ऋत्विजम्) सत्यकी ऋतुओंमें दिव्य यज्ञ करनेवाली है।

8

प्र यज्ञ एत्वानुषगद्या देवव्यचस्तमः ।
स्तृणीत बर्हिरासदे ।।

(अद्य) आज (यज्ञः) [तुम्हारा] यज्ञ (आनुषक्) निरन्तर (प्र एतु) प्रगति करे, ऐसा यज्ञ जो (देवव्यचस्तमः) देवोंके पूर्ण आविर्भावको लाएगा। (बर्हिः स्तृणीत) अपनी आत्माका आसन बिछाओ (आसदे) जिससे कि वे [देव] वहाँ बैठ सकें।

9

एदं मरुतो अश्विना मित्रः सीदन्तु वरुणः ।
देवासः सर्वया विशा ।।

(मरुतः)[1] जीवन-शक्तियाँ (इदम् आ सीदन्तु) यहाँ अपना आसन-ग्रहण करें और (अश्विना)[2] शक्तिरूप अश्वके सवार, (मित्रः)[3] प्रेम का अधिपति, (वरुणः)[4] विशालताका अधीश्वर एवं (देवासः) सब देव भी (सर्वया विशा) अपनी समस्त प्रजाओंके साथ [आ सीदन्तु] इस आसन पर बैठें।

1. मरुत्
2. युगलरूप अश्विदेव
3. मित्र
4. वरुण

सत्ताईसवाँ सूक्त

शक्ति और ज्योति का सूक्त

[अर्धदेवता त्रैवृष्ण त्र्यरुण त्रसदस्यु और द्रष्टा अश्वमेधके रूपमें ऋषि **भागवत मन** इन्द्रकी ज्योतिकी मानवीय मनमें परिपूर्णताका और **भागवत संकल्प** अर्थात् अग्निकी शक्तिकी प्राणमें परिपूर्णताका प्रतीकरूप प्रतिनिधि है। राक्षसोंके हन्ता मनोमय पुरुषने--जो मानवमें उत्पन्न इन्द्रके रूपमें ज्ञान-के प्रति जाग्रत् हो चुका है--द्रष्टाको प्रकाशकी अपनी दो गौएं दी हैं जो उसका शकट खींचती हैं, अपने दो चमकीले अश्व दिए हैं जो उसका रथ खींचते हैं और ज्ञानकी उषाकी दसगुना बारह गौएं दी हैं। उसने उस कामनाको अपनी सहमति प्रदानकी है और उसे सम्पुष्ट भी किया है जिसके द्वारा **प्राणमय पुरुषने प्राणमय अश्वको** यज्ञाहुतिके रूपमें देवोंको प्रदान किया है। ऋषि प्रार्थना करता है कि त्रिविध उषाका अधिपति यह **मनोमय पुरुष** यात्रा करनेवाले **प्राणको** जो सत्यकी खोज कर रहा है, अपेक्षित मानसिक प्रज्ञा और प्रभुत्व-शक्ति प्रदान करे और स्वयं उसके बदलेमें अग्नि-से शान्ति और आनन्द प्राप्त करे। दूसरी तरफ **प्राणमय पुरुषने** सौ शक्तियाँ--अर्थात् ऊर्ध्वमुखी यात्राके लिए आवश्यक प्राणशक्ति प्रदानकी है; ऋषि प्रार्थना करता है कि यह **प्राणमय पुरुष** वह विशाल शक्ति प्राप्त करे जो अतिचेतनाके स्तर पर **सत्य-सूर्यकी** शक्ति है।]

1

अनस्वन्ता सत्पतिर्मामहे मे गावा चेतिष्ठो असुरो मघोनः।
त्रैवृष्णो अग्ने दशभिः सहस्रैर्वैश्वानर त्र्यरुणश्चिकेत ॥१॥

(अग्ने) हे दिव्य संकल्पाग्ने! (वैश्वानर) हे सार्वभौम शक्ते[1]! (चेतिष्ठः) अन्तर्दर्शनमें सर्वोच्च, (सत्पतिः) अपनी सत्ताके स्वामी (मघोनः) अपने परिपूर्ण ऐश्वर्योंके अधिपति (असुरः) शक्तिशाली एकमेव ने (मे) मुझे (गावा) प्रकाशकी अपनी दो गौएं (मामहे) दी हैं जो (अनस्वन्ता) उसकी गाड़ी खींचती हैं। (त्रि-अरुणः) तीन प्रकारकी उषावाला, (त्रैवृष्णः)

1. अथवा, "देवता"।

त्रिविध वृषभ[1]का पुत्र वह (दशभिः सहस्रैः) अपने दस हजार[2] ऐश्वर्योंके साथ (चिकेत) ज्ञानके प्रति जाग गया है।

2

यो मे शता च विंशतिं च गोनां हरी च युक्ता सुधुरा ददाति।
वैश्वानर सुष्टुतो वावृधानोऽग्ने यच्छ त्र्यरुणाय शर्म॥

(यः) जो तू (मे) मुझे (गोनां शता च विंशतिं च) उषाकी एक सौ वीस[3] गौएं (ददाति) देता है (च) और (युक्ता) गाड़ीमें जुते हुए, (सुधुरा) जुएको ठीक तरह वहन करनेवाले (हरी) दो चमकीले घोड़े[4] (ददाति) देता है, (अग्ने) हे दिव्य संकल्पाग्ने! (वैश्वानर) हे सार्वभौम शक्ते! (सुष्टुतः) सम्यक्तया स्तुति किया हुआ और (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त होता हुआ वह तू (त्रि-अरुणाय) त्रिविध उषाके स्वामीके लिए (शर्म) शान्ति और परम आनन्द (यच्छ) प्रदान कर।

---

1. त्रिविध बैल है इन्द्र,—स्वर् अर्थात् भागवत मनके तीन ज्योतिर्मय प्रदेशोंका अधिपति। त्र्यरुण त्रसदस्यु अर्धदेव है, इन्द्र-रूपमें परिणत मानव है। इसलिए इसे इन्द्रके सब प्रचलित विशेषणों—"असुर", "सत्पति", "मघवन्"—के द्वारा वर्णित किया गया है। त्रिविध उषा है उक्त तीन प्रदेशोंकी उषा जो मानवीय मन पर उदित हुआ करती है।
2. सहस्रकी संख्या परम परिपूर्णताका प्रतीक है, परन्तु ज्योतिर्मय मनकी दस सूक्ष्म शक्तियाँ हैं जिनमेंसे प्रत्येकको अपना समग्र पूर्णैश्वर्य प्राप्त करना होता है।
3. यह दिव्य ज्ञानकी ज्योतियोंकी प्रतीकात्मक संख्या है, गो ज्योतियाँ वर्षके बारह महीनों और यज्ञकी बारह ऋतुओंकी उषाओं (गौओं)की शृंखला ही हैं। ये ज्योतियाँ पुनः दस गुना बारह हैं जो दस सूक्ष्म बह्निोंसे अर्थात् प्रदीप्त मनोमय सत्ताकी शक्तियोंसे सम्बन्ध रखती हैं।
4. इन्द्रके दो चमकीले अश्व बहुत सम्भवतः वही हैं जो प्रथम मन्त्रकी दो प्रकाशरूपी गौएं हैं; वे अतिमानसिक सत्य-चेतनाकी दो दृष्टि-शक्तियाँ हैं—दायीं और बायीं, बहुत सम्भवतः साक्षात् सत्य-विवेक और सम्बोधि-ज्ञान। ज्ञानके प्रकाशकी प्रतीकात्मक गौओंके रूपमें वे अपने आपको भौतिक मनके साथ, गाड़ीके साथ जोतते हैं; ज्ञानकी शक्तिके प्रतीकात्मक अश्वोंके रूपमें वे अपने आपको इन्द्र—मुक्त विशुद्ध मनके रथके साथ जोतते हैं।

3

एवा ते अग्ने सुमतिं चकानो नविष्ठाय नवमं त्रसदस्युः।
यो मे गिरस्तुविजातस्य पूर्वीर्युक्तेनाभि त्र्यरुणो गृणाति।।

(अग्ने) हे संकल्पाग्निदेव! (ते सुमतिं) तुम्हारी सुमतिकी (चकानः) अभीप्सा करते हुए उसने (एव) ऐसा किया है। यह सुमति (नविष्ठाय) उसे नई-नई प्रदानकी गई है, (नवमम्) उसके लिए नई-नई प्रकट हुई है। वह अग्निदेव (त्रसदस्युः) दस्युओंको दूर भगानेवाला[1] और (त्रि-अरुणः) त्रिविध उषाओंका स्वामी है (यः) जो (युक्तेन) समाहित मनसे (मे तुवि-जातस्य) मेरे अनेक जन्मों[2]की (पूर्वीः गिरः) अनेक वाणियोंका (अभि गृणाति) प्रत्युत्तर देता है।

4

यो म इति प्रवोचत्यश्वमेधाय सूरये।
ददृचा सनिं यते ददन्मेधामृतायते।।

(यः) जो (मे इति प्रवोचति) मुझे अपनी सहमतिसे प्रत्युत्तर देता है वह (अश्वमेधाय सूरये) अश्वमेध[3] यज्ञके इस ज्ञानप्रदीप्त दाताके लिए (ऋचा) प्रकाशपूर्ण स्तुतिवचनके द्वारा (यते सनिं) उसकी यात्राके लक्ष्यकी उपलब्धि (ददत्) प्रदान करे और (ऋतायते) सत्यके अभिलाषीके लिए (मेधां ददत्) मेधाशक्ति प्रदान करे।

---

1. त्रसदस्यु; यह सब वस्तुओंमें इन्द्रके विशेष गुणोंको प्रतिमूर्त्त करता है।
2. उच्चतर स्तर पर इस आत्म-परिपूर्तिके द्वारा द्रष्टा मानों चेतनाके अनेक प्रदेशोंमें उत्पन्न होता है। इन प्रदेशोंमेंसे प्रत्येकसे उसकी वाणियाँ ऊपर उठती हैं ,जो उसमें विद्यमान प्रेरणाओंको प्रकट करती हैं, ये प्रेरणाएं दिव्य-परिपूर्त्तिकी खोज करती हैं। **मनोमय पुरुष** इनको प्रत्युत्तर और अनुमति देता है। यह अभिव्यक्तिकारी शब्दको उसके अनुरूप उत्तरमें प्रकाशपूर्ण वाणी प्रदान करता है और सत्यके अन्वेषक प्राणको बुद्धिकी वह शक्ति प्रदान करता है जो सत्यको खोज लेती और धारण करती है।
3. **अश्वमेध** यज्ञका अर्थ है **प्राण-शक्ति**को उसके सब आवेगों, कामनाओं और उपभोगों सहित दिव्य सत्ताके प्रति भेंट करना। **प्राणमय पुरुष** (द्वित) स्वयं यज्ञरूपी भेंटका दाता है, वह यज्ञको तब निष्पन्न करता है जब वह अग्नि-शक्तिके द्वारा अपने प्राणिक स्तर पर अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर लेता है, और जब वह इस सूक्तमें वर्णित रूपकके अनुसार ज्योतिर्मय द्रष्टा—**अश्वमेध**—बन जाता है।

5

यस्य मा परुषाः शतमुद्धर्षयन्त्युक्षणः।
अश्वमेधस्य दानाः सोमा इव त्र्याशिरः॥

(शतम् परुषाः उक्षणः) प्रसारके एक सौ सशक्त बैल[1] (मा उत् हर्षयन्ति) मुझे आनन्दकी तरफ ऊपर उठा ले जाते हैं। (अश्वमेधस्य) अश्वमेध यज्ञके कर्ताकी (दानाः) भेंटें (सोमा इव) सोम—आनन्दमदिराके ऐसे प्रवाहोंके समान हैं जो (त्रि-आशिरः) अपने तीन प्रकारके अन्तर्मिश्रणोंसे युक्त हैं।

6

इन्द्राग्नी शतदाव्न्यश्वमेधे सुवीर्यम्।
क्षत्रं धारयतं बृहत् दिवि सूर्यमिवाजरम्॥

(इन्द्राग्नी) ईश्वरीय मन और ईश्वरीय संकल्प (अश्वमेधे) अश्वमेध यज्ञके कर्तामें और (शतदाव्नि) सौ अश्वोंके दातामें, (दिवि अजरं सूर्यम् इव) द्युलोकमें अक्षय प्रकाशमय सूर्यकी तरह, (सुवीर्यं) पूर्ण शक्ति और (बृहत् क्षत्रं) युद्धका विशाल बल[3] (धारयतम्) धारण करायें।

---

1. प्राणकी पूरी-की-पूरी सौ शक्तियाँ जिनके द्वारा प्राणिक स्तरके सारे प्रचुर वैभवकी वृष्टि विकसित होते मनुष्यपर की जाती है। क्योंकि प्राणिक शक्तियाँ कामना और उपभोगके साधन हैं इसलिए यह वर्षण आनन्द-मदिराके उस प्रवाहके समान है जो आत्माको नये और मादक हर्षोल्लासोंकी ओर ऊँचा ले जाता है।
2. सत्तासे निचोड़कर निकाले गए आनन्दको सोमकी मधु-मदिराके रूपमें निरूपित किया गया है; यह 'दूध', 'दही' और 'धान्य'से मिश्रित है, दूध है ज्योतिर्मय गौओंका दूध, दही है बौद्धिक मनमें गौओंकी उपज (दूध) का स्थिरीकरण, धान्य है भौतिक मनकी शक्तिमें प्रकाशकी रूपरचना। ये प्रतीकात्मक भाव प्रयुक्त शब्दों (गो, दधि, यव) के दोहरे अर्थसे इंगित किये गए हैं।
3. प्राणिक सत्ताकी पूर्ण और विशाल शक्ति जो मनोमय सत्तामें निहित सत्यकी अनन्त और अमर ज्योतिके अनुरूप है।

अट्ठाईसवाँ सूक्त

अमरता के राजा देदीप्यमान अग्नि का सूक्त

[ऋषि ज्ञानकी उषामें सुप्रदीप्त संकल्पाग्निका इस रूपमें स्तुति-सम्मान करता है कि वह अमरताका राजा है, आत्माको उसकी आध्यामिक समृद्धि व परम आनन्द एवं प्रकृति पर सुशासित स्वामित्व प्रदान करता है। वह हमारी हवियोंका वाहक है, हमारे यज्ञका ज्ञानप्रदीप्त मार्गदर्शक है जो उसे उसके दिव्य और वैश्व लक्ष्य तक ले जाता है।]

1

समिद्धो अग्निर्दिवि शोचिरश्रेत् प्रत्यङ्ङुषसमुर्विया वि भाति।
एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईळाना हविषा घृताची ।।

(अग्निः) संकल्पाशक्तिकी ज्वाला (समिद्धः) प्रज्वलित होकर (दिवि) मनके द्युलोकमें (शोचिः अश्रेत्) निर्मल प्रकाशकी ओर उठती है। (उर्विया वि भाति) वह अपनी ज्योतिका विस्तार करती है और (उषसम् प्रत्यङ्) उषाको अपने सामने रखती है। (घृताची) निर्मलतासे देदीप्यमान और (विश्ववारा) समस्त वरणीय पदार्थोंसे परिपूरित वह उषा (नमोभिः) समर्पणकी क्रियाओंसे और (हविषा) हविसे (देवान् ईळाना) देवोंको ढूंढ़ती हुई, (प्राची) ऊपरकी ओर गति करती हुई (एति) आती है।

2

समिध्यमानो अमृतस्य राजसि हविष्कृण्वन्तं सचसे स्वस्तये।
विश्वं स धत्ते द्रविणं यमिन्वस्यातिथ्यमग्ने नि च धत्त इत् पुरः ।।

(अग्ने) हे अग्निदेव! (समिध्यमानः) जब तू सुप्रदीप्त होता है तब (अमृतस्य राजसि) अमरताका राजा होता है और (हविष्कृण्वन्तं) यज्ञकर्त्ताको (स्वस्तये) वह आनन्दपूर्ण स्थिति देनेके लिये (सचसे) उसका आलिंगन करता है। (सः) वह तू (यम् आतिथ्यम् इन्वसि) जिसका अतिथि बनकर आता है (सः विश्वं द्रविणं धत्ते) वह अपने अन्दर सम्पूर्ण सारभूत ऐश्वर्य धारण करता है (च) और (पुरः इत् निधत्ते) वह तुझे अपने अन्दर सामनेकी ओर प्रतिष्ठित करता है।

3

अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु।
सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि ॥

(अग्ने) हे ज्वालारूप अग्निदेव! (महते सौभगाय) आनन्दका विशाल उपभोग[1] करनेके लिये (शर्ध) अपनी युद्ध करनेवाली शक्ति प्रकट कर। (तव उत्तमानि द्युम्नानि सन्तु) तेरी सर्वोत्तम दीप्तियाँ प्रकट हों, (सुयमं सं जास्पत्यम्) प्रभु और उसकी सहचरी शक्तिके सुनियन्त्रित एकत्व का (आ कृणुष्व) निर्माण कर, (शत्रूयतां महांसि अभि तिष्ठ) विरोधी शक्तियों के महान् बलपर अपना पैर रख।

4

समिद्धस्य प्रमहसोऽग्ने वन्दे तव श्रियम्।
वृषभो द्युम्नवाँ असि समध्वरेष्विध्यसे ॥

(अग्ने) हे ज्वाला! मैं (तव) तेरी (समिद्धस्य प्रमहसः श्रियं) सुप्रदीप्त सामर्थ्यकी गरिमाका (वन्दे) वन्दन करता हूँ। (द्युम्नवान् वृषभः असि) तू देदीप्यमान वृषभ--पुरुषशक्ति--है, (अध्वरेषु सम् इध्यसे) हमारे यज्ञोंकी प्रगतिमें तू सम्यक्तया प्रज्वलित होती है।

5

समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षि स्वध्वर।
त्वं हि हव्यवाळसि ॥

(आहुत अग्ने) हे हमारी भेंटोंको ग्रहण करनेवाले ज्वालारूप अग्निदेव! (सु-अध्वर) हे यज्ञके पूर्ण पथ-प्रदर्शक! तू (समिद्धः) सुप्रदीप्त होकर (देवान् यक्षि) देवोंको हमारी हवि अर्पण कर, (हि) क्योंकि (त्वं) तू (हव्यवाट् असि) हमारी भेंटोंका वाहक है।

6

आ जुहोता दुवस्यताऽग्निं प्रयत्यध्वरे।
वृणीध्वं हव्यवाहनम् ॥

---

1. वैदिक अमरता एक विशाल निःश्रेयस है, दिव्य और असीम सत्ता-का विस्तृत उपभोग है जो आत्मा और प्रकृतिके पूर्ण एकत्व पर अवलंबित है। आत्मा अपना तथा अपने वातावरणका राजा बन जाता है जो अपने सभी स्तरों पर सचेतन होता है, उनका स्वामी होता है और प्रकृति होती है उसकी वधू जो विभाजनों और विरोधों-से मुक्त होकर अनन्त और प्रकाशपूर्ण समस्वरतामें पहुँच जाती है।

(अग्निम् आ जुहोत) हविरूप भेंट अग्निमें डालो। (अध्वरे प्रयति) जब तुम्हारा यज्ञ अपने लक्ष्यकी ओर प्रगति कर रहा हो तब (अग्नि दुवस्यत) अपनी कायासे दिव्य संकल्पाग्निकी सेवा करो[1]। (हव्यवाहनम् वृणीध्वम्) हमारी हविके वाहक अग्निदेवको स्वीकार करो[2]।

---

1. या, "संकल्पाग्निको क्रियारत करो।"
2. इस सूक्तके साथ अग्निके प्रति संबोधित ऋग्वेदके पाँचवें मण्डलके पहिले अट्ठाईस सूक्तोंकी यह श्रृंखला समाप्त होती है।

प्रकाशके संरक्षक

सूर्य---ज्योति और द्रष्टा

ऋग्वेद प्राचीन उषामेंसे एक सहस्रवाचामय स्तोत्रके रूपमें उद्भूत हुआ है जो मनुष्यकी आत्मासे सर्व-सर्जक सत्य और सर्व-प्रकाशक ज्योतिके प्रति उठा है। वैदिक ऋषियोंके विचारमें सत्य और प्रकाश पर्यायवाची या समानार्थक शब्द हैं जैसे कि उनके विरोधी शब्द अन्धकार और अज्ञान भी पर्यायवाची हैं। वैदिक देवों और असुरोंका संग्राम दिन और रातके बीच होनेवाला सतत संघर्ष है; यह द्यौ, अंतरिक्ष और पृथिवीके त्रिविध लोकपर प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिये, मानव प्राणीके मन, प्राण और शरीरके मोक्ष या बन्धनके लिये, उसकी मर्त्यता या अमरताके लिये किया जा रहा है। यह परम सत्यकी शक्तियों और परम प्रकाशके अधिपतियों द्वारा उन दूसरी अन्धकारमय शक्तियोंके विरुद्ध लड़ा जा रहा है। वे अन्धकारमय शक्तियाँ इस असत्यके आधारको जिसमें हम निवास करते हैं, तथा अज्ञानके इन सैकड़ों दुर्गवद्ध नगरोंकी लोहमय दीवारोंको कायम रखनेके लिये संघर्ष करती हैं।

प्रकाश और अन्धकारके बीच एवं सत्य और असत्यके बीच यह जो विरोध है उसकी जड़ें उस मूल वैश्व विरोधमें हैं जो प्रकाशयुक्त अनन्त और अन्धकारमय सान्त चेतनाके बीच पाया जाता है। अदिति, अनन्त एवं अखण्ड चेतना, देवोंकी माता है, दिति या दनु, द्वैधभाव, पृथक्कारी चेतना असुरोंकी। इसलिये मनुष्यमें विराजमान देवता प्रकाश, अनन्तता और एकताकी ओर गति करते हैं, असुर अपनी अन्धकाररूपी गुहामें निवास करते हैं और मनुष्यके ज्ञान, संकल्प, बल, आनन्द और अस्तित्वको खण्ड-खण्ड, बेसुरा, क्षत-विक्षत और सीमित करनेके लिये ही गुफासे बाहर निकलते हैं। अदिति मूलतः एकमेव तथा स्वतःप्रकाशमय अनन्त सत्ताकी विशुद्ध चेतना है। वह एक ऐसी ज्योति है जो सब वस्तुओंकी माता है। अनन्त सत्ताके रूपमें वह दक्षको अर्थात् विवेक और संविभाग करनेवाले दिव्य मनके विचारको जन्म देती है, उस वैश्व अनन्त सत्ता अथवा रहस्यमयी गौके रूपमें, जिसके स्तन समस्त लोकोंका पोषण करते हैं, वह स्वयं दक्षसे उत्पन्न होती है।

दक्षकी यह दिव्य पुत्री ही देवोंकी माता है। विश्वमें अदिति है वस्तुओंकी अखण्ड-अनन्त एकता जो द्वैध-भावसे रहित, अद्वय, है और दिति अर्थात् पृथक्कारी, द्वैधकारी चेतना है उस अदितिकी वैश्व सृष्टिका उल्टा पासा,—परवर्ती गाथामें उस अदितिकी बहन और सपत्नी। यहाँ निम्नतर सत्तामें जहाँ वह पृथिवीतत्त्वके रूपमें अभिव्यक्त है, उसका पति निम्न या अमंगलमय पिता है जिसका वध उसके शिशु इन्द्रके द्वारा किया जाता है, इन्द्र है दिव्य मनकी निम्न सृष्टिमें अभिव्यक्त शक्ति। सूक्तमें कहा गया है कि इन्द्र अपने पिताको पैरोंसे घसीटते हुए उसका वध कर डालता है और अपनी माताको विधवा बना देता है। एक दूसरे रूपकमें जो हमारी आधुनिक रुचिकी मर्यादाके प्रतिकूल होता हुआ भी प्रवल और भावप्रकाशक है, सूर्यको अपनी बहन उषाका प्रेमी और अपनी माता अदितिका दूसरा पति कहा गया है। और उसी रूपकको बदलकर अदितिकी स्तुति सर्वव्यापक विष्णुकी पत्नीके रूपमें की गई है, जो विष्णु वैश्व सृष्टिमें अदितिके पुत्रोंमें से एक है और इन्द्रका छोटा भाई है। ये रूपक जो अपने गुह्य अर्थकी कुंजीके अभावमें स्थूल और उलझे प्रतीत होते हैं, कुंजीके मिलते ही तत्काल पर्याप्त स्पष्ट हो जाते हैं। अदिति विश्वमें एक अनन्त चेतना है जो सीमित मन और शरीरके द्वारा कार्य करनेवाली निम्नतर सर्जक शक्तिसे परिणीत होकर अधिकृत कर ली जाती है। किन्तु मनुष्यकी मनोमय सत्तामें अदितिसे उत्पन्न दिव्य या प्रदीप्त मन (इन्द्र)की शक्तिके द्वारा उस दासतासे मुक्त हो जाती है। यह इन्द्र ही सत्यज्योतिःस्वरूप सूर्यका द्युलोकमें उदय कराता है और उससे अन्धकारों और असत्योंको एवं पृथक्कारी मनकी संकुचित दृष्टिको दूर करवाता है। विष्णु वह विशालतर सर्वव्यापक सत्ता है जो तब हमारी मुक्त एवं एकीभूत चेतनाको अपने अधिकारमें कर लेता है, किन्तु वह (विष्णु) हमारे अन्दर तभी उत्पन्न होता है जब इन्द्र अपने बलशाली और ज्योतिर्मय रूपमें प्रकट हो चुकता है।

यह सत्य है सूर्यकी ज्योति, उसका शरीर। इसका वर्णन यों किया गया है कि यह सत्य, ऋत और बृहत् है, स्वर्का ज्योतिर्मय अतिमानसिक द्युलोक—"बृहत् स्वर्, महान् सत्य"—है जो हमारे द्युलोक और हमारी पृथिवीके परे छिपा हुआ है; सूर्य है "वह सत्य" जो अन्धकारमें खोया हुआ पड़ा है और अवचेतनकी गुप्त गुफामें हमसे रोककर रखा हुआ है। यह छिपा हुआ सत्य बृहत् है, क्योंकि यह केवल उस अतिमानसिक स्तरपर स्वतंत्र और व्यक्त रूपमें निवास करता है जहाँ अस्तित्व, संकल्प, ज्ञान

और आनन्द हर्षोल्लासमय तथा असीम अनन्ततामें गति करते हैं, जहाँ वे उस प्रकार सीमित व अवरुद्ध नहीं हैं जैसे कि निम्नतर सत्ताका निर्माण करनेवाले मन, प्राण और शरीरके इस चारदीवारीसे घिरे हुए अस्तित्वमें। उच्चतर सत्ताकी इस विशालताकी ओर ही हमें दो घेरनेवाले मानसिक तथा भौतिक आकाशोंको भेदकर पार करते हुए आरोहण करना है। इसका वर्णन एक ऐसी दिव्य सत्ताके रूपमें किया गया है जो अपने सीमा-रहित विस्तारमें मुक्त एवं विशाल है, यह एक ऐसी विशालता है जहाँ न कोई वाधा है और न सीमाका अवरोध, यह है सूर्यके देदीप्यमान यूथोंकी एक भयमुक्त चरागाह; यह है सत्यका धाम और सदन, देवोंका अपना ही घर, सूर्यलोक, सच्ची ज्योति जहाँ आत्माके लिये कोई भय नहीं, उसकी सत्ताके विशाल तथा सम आनन्दको किसी प्रकारकी चोट पहुँचनेकी संभावना नहीं।

यह अतिमानसिक विशालता सत्ताका आधारभूत सत्य भी है, 'सत्यम्', जिसमेंसे इसका क्रियाशील सत्य सहजभावसे, श्रमके संघर्षके विना, एक पूर्ण व निर्दोष गतिके रूपमें स्रवित होता है, क्योंकि उन शिखरोंपर चेतना और शक्तिके वीच कोई विभाजन नहीं, कोई खाई नहीं, ज्ञान और संकल्पके बीच कोई सम्बन्ध-विच्छेद नहीं, हमारी सत्ता और उसकी क्रियामें कोई असामञ्जस्य नहीं, हर चीज वहाँ 'ऋजु' है, वहाँ "कुटिलताकी रत्तीभर भी संभावना नहीं।" इसलिये विशालता और सत्य सत्ताका यह अतिमानसिक स्तर "ऋतम्" भी है अर्थात् वस्तुओंकी यथार्थ क्रिया भी है। यह है गति, क्रिया, अभिव्यक्तिका परम सत्य; संकल्प, हृद्भाव और ज्ञानका निर्भ्रान्त सत्य; विचार, शब्द और भावावेशका पूर्ण सत्य। यह है स्वतः-स्फूर्त ऋत, स्वतंत्र विधान, वस्तुओंकी मूल दिव्य व्यवस्था जो विभक्त तथा पृथक्कारी चेतनाकी असत्यताओंसे अछूती है। यह है विशाल, दिव्य तथा स्वतःप्रकाश समन्वय जो आधारभूत एकतासे उत्पन्न होता है, हमारी क्षुद्र सत्ता तो उसका केवल दीन-हीन, आंशिक, भग्न एवं विकृत, खंडात्मक रूप और विश्लेषण है। ऐसा था वह सूर्य जो वैदिक पूजाका ध्येय था, वह प्रकाशमय स्वर्ग जिसकी हमारे पितर अभीप्सा करते थे, अदितिके पुत्र सूर्यका वह लोक एवं देह।

अदिति एक अनन्त ज्योति है जिसकी रचना है दिव्य लोक। उस अनन्त ज्योतिकी सन्तानरूप देवता, जो ऋत के अन्दर उससे उत्पन्न हुए हैं और उसकी गतिके इस क्रियाशील सत्यमें व्यक्त हुए हैं, अव्यवस्था तथा अज्ञानके विरुद्ध इसकी रक्षा करते हैं। वे देवता ही ब्रह्माण्डमें सत्यकी

अज्ञेय क्रियाओंको स्थिर बनाये रखते हैं, वे ही इसके लोकोंको सत्यकी प्रतिमूर्तिमें परिणत करते हैं। वे उदार दानी मनुष्यपर सत्ताके प्रवल प्रवाहोंको बरसाते हैं जिनका रहस्यवादी कवियोंने इन विविध रूपकों द्वारा वर्णन किया है कि वे प्रवाह सप्तविध सौर जल हैं, द्युलोककी वर्षा, सत्यकी धाराएं, द्युलोककी सात शक्तिशाली नदियाँ हैं, ज्ञानमय जल हैं, ऐसे प्रवाह हैं जो आच्छादक वृत्रके नियंत्रणको छिन्न-भिन्न करते हुए आरोहण करते हैं और मनको आप्लावित कर देते हैं। द्रष्टा और प्रकाशक वे देव मनुष्यके मनके तमसाच्छन्न आकाशपर सत्यके प्रकाशका उदय कराते हैं, उसकी प्राणिक सत्ताके वातावरणको उसकी ज्योतिर्मय, मधुवत् मधुर तृप्तियोंसे भर देते हैं और उसकी भौतिक सत्ताके धरातलको सूर्यकी शक्ति द्वारा उसकी विशालता एवं प्रचुरतामें रूपान्तरित कर देते हैं, सर्वत्र दिव्य उषाका सर्जन करते हैं।

तब मनुष्यमें सत्यकी ऋतुएँ, दिव्य क्रियाएँ,—जिन्हें कभी-कभी आर्य क्रियाएँ कहा जाता है—स्थापित हो जाती हैं। सत्यका विधान मनुष्यके कार्यको अपने अधिकारमें लाकर परिचालित करता है; सत्यका शब्द उसके विचारमें सुनाई देता है। तब सत्यके सीधे-सरल और अविचल पथ, द्युलोककी वाट और घाट, देवों और पितरोंके जानेके मार्ग (देवयान-पितृयान) दिखाई देने लगते हैं; क्योंकि इस पथपर दिव्य क्रिया-कलापको कोई क्षति नहीं पहुँचती, यह ऋजु, निष्कंटक और सुखद है और जब एक बार इसपर हमारे पैर जम जाते हैं और प्रकट हुए देवता हमारे रक्षक होते हैं तो इसपर चलना सुगम हो जाता है, इस पथके द्वारा ही ज्योतिर्मय पितरोंने शब्दकी शक्तिसे, सोमसुराकी शक्ति और यज्ञकी शक्तिसे अभय ज्योतिमें आरोहण किया और वे अतिमानसिक सत्ताके विशाल और खुले स्तरोंपर जाकर प्रतिष्ठित हुए। उनके वंशज मनुष्यको भी उन्हींकी तरह पृथक्कारी चेतनाकी कुटिल गतियोंके स्थानपर सत्य-सचेतन मनकी सरल और ऋजु क्रियाओंको प्रतिष्ठित करना होगा।

क्योंकि सूर्यके संचरण, दिव्य अश्व दधिक्रावन्की सरपट दौड़ें, देवोंके रथके पहियोंकी चाल—ये सब सदा ही विस्तृत और समतल क्षेत्रोंमें सीधे मार्गपर यात्रा करते हैं जहाँ सब कुछ खुला है और दृष्टि सीमित नहीं; परन्तु निम्नतर सत्ताके मार्ग कुटिल और चक्करदार हैं, गड्ढों और विघ्न-बाधाओंसे घिरे हैं और वे दिव्य प्रेरणासे वंचित होकर एक ऐसी ऊबड़-खाबड़ एवं विषम भूमिपर रेंगते हैं जो मनुष्योंसे उनके लक्ष्य, उनके पथ, उनके संभव सहायकों, उनकी प्रतीक्षा कर रहे संकटों, उनकी घातमें बैठे

शत्रुओंको पर्देके पीछे छिपा देती है। देवोंके सीधे और पूर्ण नेतृत्वमें मन और शरीरकी सीमाएँ अन्ततोगत्वा पार हो जाती हैं, हम उच्चतर द्यौके तीन प्रकाशमान लोकोंको अधिकृत कर लेते हैं, परमानन्दमय अमरताका उपभोग करते हैं, विकसित होकर देवोंका प्रकट रूप धारण कर लेते हैं और अपनी मानवीय सत्तामें उच्चतर या दिव्य सृष्टिकी वैश्व रचनाओंका निर्माण करते हैं। मनुष्य तब दिव्य और मानवीय दोनों जन्म धारण करता है; वह दोहरी गतिका अधिपति होता है, अदिति और दिति दोनोंको एक साथ धारण करता है, व्यष्टिमें विश्वात्मभावको चरितार्थ करता है, सान्तमें अनन्त बन जाता है।

यही है वह विचार जिसका मूर्तरूप है सूर्य। सूर्य सत्यका प्रकाश है जो दिव्य उषाके बाद मानव चेतनापर उदित होता है, वह उषाका इस प्रकार अनुसरण करता है जैसे प्रेमी अपनी प्रियाका, और उन पथोंपर चलता है जो उस उषाने अपने प्रेमीके लिए अंकित किये हैं। क्योंकि, द्युलोककी पुत्री और अदितिकी मुखाकृति अथवा शक्ति-रूपी उषा मानव सत्तापर दिव्य ज्योतिका सतत उन्मीलन ही है। वह है आध्यात्मिक ऐश्वर्योंका आगमन, एक ज्योति, एक शक्ति, एक नया जन्म, द्युलोककी स्वर्णिम निधिका मनुष्यकी भौतिक सत्तामें वर्षण। 'सूर्य' शब्दका अर्थ है ज्ञानप्रदीप्त या ज्योतिर्मय, जैसे कि ज्ञानदीप्त मनीषीको भी 'सूरि' कहा जाता है। परन्तु साथ ही इस शब्दकी धातुका अभिप्राय है : सर्जन करना या, अधिक शाब्दिक अर्थ करना हो तो, ढीला छोड़ देना, विनिर्मुक्त करना, वेग प्रदान करना,—क्योंकि भारतीय विचारमें सृष्टि-रचनाका अर्थ है पीछेकी ओर रोक रखी हुई वस्तुको ढीला छोड़कर सामने ले आना, अनन्त सत्तामें जो कुछ छिपा है उसकी अभिव्यक्ति करना। ज्योतिर्मय दृष्टि और ज्योतिर्मय सृष्टि—ये सूर्यके दो कार्य हैं। वह स्रष्टा सूर्य (सूर्य सविता) है, और है सत्यप्रकाशक चक्षु, सर्व-द्रष्टा सूर्य।

वह क्या निर्मित करता है? सर्वप्रथम लोक, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनन्त सत्-स्वरूप परमेश्वरके जाज्वल्यमान प्रकाश और सत्यमेंसे उत्पन्न हुई है, उस सूर्यके देहमेंसे बाहर निकली है जो उस पुरुषकी अनन्त आत्म-दृष्टिका प्रकाश है, उस अग्निसे बनी है जो उस आत्म-दृष्टिका सर्वदर्शी संकल्प है, उसकी सर्वज्ञ सृष्टि-शक्ति एवं देदीप्यमान सर्वशक्तिमत्ता है। दूसरे, मनुष्यकी अंधकारावृत चेतनाकी रात्रिमें, भूत-मात्रका यह पिता, सत्यका यह द्रष्टा उस अशुभ और निम्नतर सृष्टिके स्थानपर,—जिसे वह तब हमसे दूर हटा देता है,—दिव्य लोकोंके अपरिमेय सामंजस्यको अपने अंदरसे

प्रकट करता है। ये दिव्य लोक आत्म-सचेतन अतिमानसिक सत्यसे और आविर्भूत देवत्वके सजीव विधानसे शासित होते हैं। तो भी जब इस सृष्टिका प्रश्न होता है तब सूर्यका नाम विरले ही लिया जाता है; यह नाम अनन्त ज्योति और सत्य-साक्षात्कारके विग्रहके रूपमें उसके निष्क्रिय पक्षोंके लिए आरक्षित है। अपनी क्रियाशील शक्तिमें वह अन्य नामोंसे संबोधित किया गया है। तब वह सविता (सवितृ) होता है—'सविता' शब्द उसी धातुसे बना है जिससे स्रष्टा-वाची 'सूर्य' शब्द। अथवा तब वह वस्तुओंको आकार देनेवाला त्वष्टा या संवर्धक पूषा होता है। ये संज्ञाएँ कभी-कभी सूर्यके समानार्थक शब्दोंके रूपमें प्रयुक्त होती हैं और कभी-कभी यूँ प्रयुक्त होती हैं मानो ये इस वैश्व देवत्वके अन्य रूपोंको, यहाँतक कि अन्य व्यक्तित्वोंको प्रकट करती हों। और फिर सविता चार महान् और क्रियाशील देवों—मित्र, वरुण, भग और अर्यमा, अर्थात् प्रकाशमय सामंजस्य, विशुद्ध विशालता, दिव्य उपभोग, उच्च-स्थित शक्तिके अधिपतियोंके द्वारा अपने-आपको प्रकट करता है, विशेषकर तब जब कि वह मनुष्यमें सत्यकी रचना करता है।

परन्तु यदि सूर्य स्रष्टा सविता है, जो वेदकी भाषामें समस्त चराचरका आत्मा है, और यदि यह सूर्य एक ऐसा दिव्य "विद्योतमान सत्य भी है जो द्युलोकके धारण करनेवाले विधानमें प्रतिष्ठित है", तब सब लोकोंको सत्यके उस विधानको प्रकट करना चाहिये और वे सब बहुतसे द्युलोक होने चाहिएँ। तो फिर ये हमारी मर्त्य सत्ताके असत्य, पाप, मृत्यु, दुःख-संताप कहाँसे आते हैं? हमें बताया गया है कि वैश्व अदितिके आठ पुत्र हैं जो उसके शरीरसे उत्पन्न हुए हैं, उनमेंसे सातसे वह देवोंकी ओर गति करती है, परन्तु आठवें पुत्र मार्तंडको जो मर्त्य सृष्टिसे संबंध रखता है, वह अपनेसे दूर फेंक देती है; सातसे वह देवोंके परम जीवन एवं उनके आदि युगकी ओर गति करती है, परन्तु मार्तंडको उस निश्चेतनसे, जिसके अंदर उसे झोंक दिया गया था, मर्त्यके जन्म-मरण पर शासन करनेके लिए वापिस निकाल लाती है।

यह मार्तंड या आठवां सूर्य काला या अंधकारमय, खोया एवं छिपा हुआ सूर्य है। असुरोंने इसे लेकर अपनी अन्धकारमय गुफामें छिपा दिया है, और देवों और द्रष्टाओंको इसे यज्ञकी शक्तिके द्वारा वहांसे मुक्तकर तेज, गरिमा और स्वतन्त्रताके रूपमें प्रकट करना होगा। कम आलंकारिक भाषा-में कहें तो मर्त्य जीवन एक उत्पीड़ित, गुप्त, छद्मवेषी सत्यसे शासित है; जिस प्रकार दिव्य-द्रष्टृ-संकल्प-रूप अग्निदेव पहले-पहल मानवीय आवेश और

स्वेच्छाके धुँएसे धूमिल और तिरोहित होकर पृथ्वीपर कार्य करता है, ठीक उसी प्रकार दिव्य-ज्ञान-स्वरूप सूर्य रात्रि और अन्धकारमें छिपा पड़ा है और अप्राप्य है, साधारण मानवीय सत्ताके अज्ञान और भूल-भ्रांतिमें आवृत और अंतर्निहित है। द्रष्टा अपने विचारोंमें विद्यमान सत्यकी शक्तिसे अन्धकारमें पड़े हुए इस सूर्यको ढूंढ़ निकालते हैं, वे हमारी अवचेतन सत्तामें छिपे हुए इस ज्ञानको, अखंड और सर्वस्पर्शी दृष्टिकी इस शक्तिको, देवोंकी इस आंख-को उन्मुक्त कर देते हैं। वे उसकी दीप्तियोंको मुक्त करते हैं, वे दिव्य उषाको जन्म देते हैं। दिव्य-मनःशक्तिरूपी इन्द्र, द्रष्टा-संकल्परूप अग्नि, अंतःप्रेरित शब्दका अधिपति बृहस्पति, और अमर-आनन्द-स्वरूप सोम मनुष्य-में उत्पन्न होकर पर्वत (भौतिक सत्ता)के दृढ़ स्थानोंको छिन्नभिन्न करनेमें ऋषियोंकी सहायता करते हैं, असुरोंकी कृत्रिम बाधाएँ खंड-खंड हो जाती हैं और यह सूर्य ऊपर चढ़ता हुआ हमारे द्युलोकोंमें जगमगा उठता है। उदित होकर यह अतिमानसिक सत्यकी ओर आरोहण करता है। "वह उस पथपर अपने लक्ष्यकी ओर जाता है जिसे देवोंने उसके लिए बाज़की तरह चीरकर बनाया है।" वह अपने सात तेजस्वी अश्वोंके साथ उच्चतर सत्ताके पूर्णतया ज्योतिर्मय समुद्र तक आरोहण करता है। वह एक जहाज-में द्रष्टाओं द्वारा उस पार ले जाया जाता है। सूर्य संभवतः अपने-आपमें एक स्वर्णिम जहाज है जिसमें संवर्धक पूषा मनुष्योंको बुराई, अन्धकार और पापसे पार कराकर सत्य और अमरता तक ले जाता है।

यह सूर्यका प्रथम पक्ष है कि वह सत्यकी परम ज्योति है जो मानवको अज्ञानसे मुक्त होनेके बाद प्राप्त होती है। "इस अन्धकारसे परे उच्चतर ज्योतिको देखते हुए हमने उसका अनुसरण किया है और उस उच्चतम ज्योति-तक पहुंच गये हैं, जो दिव्यसत्तामें दिव्य सूर्य है।" (ऋ० 1.50.10[1])। यह उस विचारको प्रस्तुत करनेकी वैदिक शैली है जिसे हम उपनिषदोंमें अधिक खुले रूपमें अभिव्यक्त पाते हैं, सूर्यका वह उज्ज्वलतम रूप जिसमें मनुष्य "वही मैं हूँ" इस मुक्त दृष्टिसे सर्वत्र एकमेव पुरुषको देखता है। सूर्यकी उच्चतर ज्योति वह है जिसके द्वारा अन्तर्दृष्टि हमारे अन्धकारमय स्तर पर उदित होती है और अतिचेतनकी ओर गति करती है, उच्चतम ज्योति है इस अन्तर्दृष्टिसे अन्य वह महत्तर सत्य-दृष्टि जो प्राप्त

---

1. उद् वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
   देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ ऋ. 1.50.10

हो जानेपर अनन्तके दूरतम परम लोकमें गति करती है। (ऋ. X.37.3-4[1])

यह तेजोमय सूर्य मनुष्यके देवोन्मुख संकल्पसे निर्मित होता है। यह दिव्य कार्योंके कर्ताओंसे पूर्णतया गढ़ा जाता है। क्योंकि यह ज्योति परम-देवका वह दर्शन है जिस तक मनुष्य अपनी सत्ताके यज्ञ या योगसे, प्रच्छन्न सत्यकी शक्तियोंके प्रति आत्मोत्थान और आत्म-दानके दीर्घ प्रयास द्वारा प्राप्त अपनी सत्ता और परमदेवके ऐक्यसे पहुंचता है। ऋषि पुकारकर कहता है, "हे सूर्य! तू है सर्व-दर्शी प्रज्ञा, हम जीवधारी तुझे महान् ज्योति-को हमारे पास लाते हुए देखें, साथ ही परमानन्दके दर्शनके-बाद-दर्शनके लिए हमपर देदीप्यमान होते हुए और अपनी ऊर्ध्वस्थ शक्तिके विशाल पुंजमें आनन्दकी ओर ऊपर आरोहण करते हुए देखें!" (ऋ. X. 37.8[2])। हमारे अन्दर स्थित प्राणशक्तियोंको, पवित्र करनेवाले मरुत् देवताओंको, जो ज्ञानके लिए युद्ध करते हैं, दिव्य-मन-स्वरूप इन्द्रके द्वारा सृष्ट होते हैं और दिव्य पवित्रता तथा विशालता-स्वरूप वरुणके द्वारा अनुशासित होते हैं, इस सूर्यकी ज्योतिके द्वारा अपना आनंदोपभोग प्राप्त करना है।

सूर्यकी ज्योति उस दिव्य अंतर्दृष्टिका एक स्वरूप एवं देह है। सूर्यका वर्णन यूँ किया गया है कि वह सत्यकी विशुद्ध और अन्तर्दृष्टियुक्त शक्ति है जो उसका उदय होनेपर द्युलोकके स्वर्णकी तरह चमक उठती है। वह एक महान् देवता है जो मित्र और वरुणकी अन्तर्दृष्टि है, वह उस साक्षात् बृहत्ता एवं उस सामंजस्य का विशाल और अजेय चक्षु है। मित्र और वरुणका चक्षु सूर्यकी अंतर्दृष्टिका महान् समुद्र है। वह विशाल सत्य-दर्शन जो उसका साक्षात् करनेवालोंको हमसे ऋषिका नाम दिलवाता है, इस सूर्यका ही सत्य-दर्शन है। अपने आप "विशाल-दर्शी" होता हुआ "वह सूर्य अर्थात् इन देवोंके त्रिविध ज्ञान और इनके अधिक शाश्वत जन्मोंको जाननेवाला वह द्रष्टा" उस सबको देखता है जो कुछ कि देवों और मनुष्योंमें है; "मर्त्योंमें सरल तथा कुटिल वस्तुओं पर दृष्टि डालता हुआ वह उनकी चेष्टाओंको नीची निगाहसे देखता है।" प्रकाशकी इस आंखसे ही इन्द्र जिसने सुदूर

1. प्राचीनमन्यदनु वर्तते रज उदन्येन ज्योतिषा यासि सूर्य ॥
ऋ. X. 37.3
येन सूर्य ज्योतिषा बाधसे तमो जगच्च विश्वमुदियर्षि भानुना।
ऋ. X. 37.4

2. महि ज्योतिर्बिभ्रतं त्वा विचक्षण भास्वन्तं चक्षुषेचक्षुषे मयः।
आरोहन्तं बृहतः पाजसस्परि वयं जीवाः प्रति पश्येम सूर्य ॥
ऋ. X. 37.8

दृष्टिके लिए सूर्यका उदय कराया है, प्रकाशकी सन्तानोंको अन्धकारकी सन्तानोंसे पृथक् करते हुए, आर्य-शक्तियोंका दस्युकी शक्तियोंसे भेद करता है ताकि वह इनका विनाश कर सके किन्तु उन्हें उनकी पूर्णता तक ऊँचा उठा सके।

परन्तु ऋषित्व (क्रान्तदर्शिता) अपने साथ न केवल दूर-दर्शन अपितु दूर-श्रवण भी लाती है। जैसे ऋषिकी आंखें प्रकाशकी ओर खुली होती हैं वैसे ही उसका कान अनन्त स्पन्दनोंको ग्रहण करने के लिए उद्घाटित होता है। सत्यके समस्त प्रदेशोंसे उसके अन्दर उसका शब्द स्पन्दन करता हुआ आता है जो उसके विचारोंका स्वरूप बन जाता है। जब "विचार सत्यके धामसे उठता है" तभी सूर्य अपनी किरणोंके द्वारा प्रकाशकी रहस्यमयी गौको विशालतामें मुक्त कर देता है। सूर्य अपने आप न केवल "द्युलोकका एक पुत्र है जो देवोंसे उत्पन्न दूर-दर्शी ज्ञानचक्षु है" (ऋ. X. 37.1[1]), अपितु वह परम शब्दका वक्ता भी है तथा प्रकाशित और प्रकाशक विचारका प्रेरक भी। "हे सूर्य! निष्पाप रूपमें उदित होते हुए तू आज जिस सत्यको मित्र और वरुणके प्रति कहता है उसीको हम भी कहें और हे अदिति! तेरे प्रिय होते हुए, हे अर्यमन्! तेरे प्रिय होते हुए हम परमदेवमें निवास करें" (ऋ. VII. 60.1[2])। और गायत्रीमें जो प्राचीन वैदिक धर्मका चुना हुआ मंत्र है, सविता-देव सूर्यके परम प्रकाशका वरणीय पदार्थके रूपमें आवाहन किया गया है और यह प्रार्थना की गई है कि वह देव हमारे समस्त विचारोंको अपनी प्रकाशपूर्ण प्रेरणा प्रदान करे।

सूर्य है सविता अर्थात् स्रष्टा; क्योंकि मनुष्यके अन्दर विद्यमान दिव्य-दृष्टि पर इस प्रकार देवत्वका आरोपण करनेमें द्रष्टा और स्रष्टा फिरसे मिल जाते हैं। उस अन्तर्दृष्टिकी विजय, "सत्यके अपने धामके प्रति" इस ज्योतिका आरोहण, सूर्यकी उस अन्तर्दृष्टिके, जो अनन्त विशालता और अनन्त सामंजस्यकी चक्षु है, इस महान् सागरका परिप्लावन वास्तवमें दूसरी या दिव्य सृष्टिके अतिरिक्त कुछ नहीं है। क्योंकि तब हमारे अन्दर स्थित सूर्य सब लोकों और सब उत्पन्न पदार्थोंको एक सर्वग्राही दृष्टिसे इस रूपमें देखता है कि वे दिव्य प्रकाशके गोयूथ हैं और अनन्त अदितिके देह हैं।

---

1. नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतं सपर्यत।
   दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत॥ ऋ. X. 37.1
2. यदद्य सूर्य ब्रवोऽनागा उद्यन् मित्राय वरुणाय सत्यम्।
   वयं देवत्रादिते स्याम तव प्रियासो अर्यमन् गृणन्तः॥
   ऋ. VII. 60.1

समस्त वस्तुओंको इस प्रकार नयी दृष्टिसे देखना, विचार, कार्य, वेदन, संकल्प और चेतनाको नये सिरेसे सत्य, आनन्द, ऋत और अनन्तताके रूपोंमें ढालना, एक नयी सृष्टि है। यह है हमारे अन्दर "उस महत्तर सत्ता का" आगमन "जो इस लघुतर सत्ताके दूसरी ओर उस पार विद्यमान है और जो, यदि वह भी अनन्त देवका एक स्वप्न ही हो तो भी, असत्यको इससे दूर हटा देती है"।

मनुष्यको प्रकाश प्रदान करना और उसकी ऊर्ध्वमुखी यात्राके द्वारा उसके लिए नया जन्म और नयी सृष्टि तैयार करना ही दिव्य ज्योति तथा द्रष्टा-स्वरूप सूर्यका कार्य है।

दिव्य उषा

जैसे सूर्य दिव्य सत्यके स्वर्णिम प्रकाशकी प्रतिमूर्ति और देवता है उसी प्रकार उषा हमारे मानवीय अज्ञानकी रात्रिपर परम प्राकाशके उन्मीलनकी प्रतिमूर्ति और देवता है। द्युलोककी पुत्री उषा और उसकी बहिन रात्रि एक ही शाश्वत अनंतका सीधा और उलटा पार्श्व हैं। चरम रात्रि, जिसमेंसे लोक उदित होते हैं, निश्चेतनका प्रतीक है। वही है निश्चेतन समुद्र, वही है अंधकारके भीतर छिपा अंधकार जिसमेंसे एकमेव अपने तपस्की महिमासे प्रादुर्भूत होता है। परंतु इस जगत्में, जहाँ वस्तुओंको देखनेकी हमारी दृष्टि तमसाच्छन्न मर्त्य दृष्टि है, अज्ञानकी एक अल्पतर रात्रि शासन करती है जो द्युलोक, पृथ्वीलोक और अंतरिक्षलोकको, हमारी मानसिक और भौतिक चेतना तथा हमारी प्राणिक सत्ताको ढके हुई है। यहाँ ही द्युलोककी पुत्री उषा अपने सत्यकी दीप्तियोंके साथ, अपने वरदानोंके आनंदके साथ उदित होती है। अंधकारको काले चोगेकी तरह उतार फेंकती हुई, प्रकाशका परिधान पहरे हुई युवतीकी न्याईं परम आनंदके ज्योतिर्मय प्रभुकी यह वधू अपने वक्षःस्थलकी शोभाओंका अनावरण करती है, अपने चमकीले अंगोंको प्रकाशमें लाती है और सूर्यको लोकोंकी ऊर्ध्वारोही शृंखलापर आरोहण कराती है।

हमारे अंधकारकी यह रात्रि सर्वथा प्रकाशरहित ही नहीं है। यदि और कुछ भी न हो, यदि सब कहीं घना अंधकार ही अंधकार हो तो भी क्रान्तदर्शी-संकल्परूपी अग्नि (कवि-क्रतुः)की दिव्य ज्वाला घने अंधकारको चीरकर प्रज्वलित होती है और उस व्यक्तिको प्रकाश देती है जो उसकी छाया तले दूर बैठा होता है। यद्यपि वह अभीतक यज्ञकी वेदीपर उस प्रकार प्रदीप्त नहीं होती जैसे कि वह उषाकालमें होगी, तो भी वह पार्थिव

सत्तापर आवेग और कामनाके इस सारे आच्छादक धुएँके होते हुए भी, देवोंमेंसे सबसे निचले और फिर भी सबसे बड़े देवके रूपमें गुप्त ज्योतिके संकल्प और कार्योंको पूरा करती है। और रातको अनंत सम्राट्के अजेय कार्यकलापको प्रकट करते हुए तारे चमक उठते हैं और उनके साथ चंद्रमा भी आता है। इसके अतिरिक्त रात्रि सर्वदा अपनी ज्योतिर्मय बहिनको अपने वक्षःस्थलमें छिपाये रखती है; हमारा यह अज्ञानमय जीवन मनुष्यके अंदर, प्रच्छन्न रूपसे कार्य करते हुए देवों द्वारा प्रबोधित होकर दिव्य उषाके जन्मकी तैयारी करता है ताकि वह (उषा) वेगपूर्वक प्रचालित होकर ज्योतिर्मय स्रष्टाकी सर्वोच्च सृष्टिको प्रकट कर सके। क्योंकि दिव्य उषा अदितिकी ही एक शक्ति या मुखाकृति है, वह देवोंकी माता है। वह उन्हें हमारी मानवसत्तामें उनके उन सच्चे रूपोंमें जन्म देती है जो अब और दबकर हमारी क्षुद्रताका रूप नहीं धार लेते और हमारी दृष्टिके प्रति ढके नहीं रहते।

परंतु यह महान् कार्य सत्यके व्यवस्थित क्रमोंके अनुसार उसकी नियत ऋतुओंमें, यज्ञके बारह महीनोंमें, सूर्य-सविताके दिव्य वर्षोंमें संपन्न किया जाता है। इसलिये निशा और उषाका सतत लयताल तथा क्रमिक आगमन, ज्योतिके प्रदीपन और उसके निर्वासनके काल, हमारे अंधकारके आवरणोंके उद्घाटन और उसका हमारे ऊपर एक बार फिर आ जमना—यह सब तब तक होता रहता है जब तक दिव्य जन्म साधित नहीं हो जाता और फिर तब तक भी जब तक वह अपनी महत्तामें, अपने ज्ञान, प्रेम और बलमें परिपूर्ण नहीं हो जाता। ये बादमें आनेवाली रात्रियाँ उन चरम-अन्धकारमय अवस्थाओंसे भिन्न हैं जिन्हें यह मानकर भयानक समझा जाता है कि वे शत्रुको अवसर देनेवाली हैं और हड़प जानेवाले विभाजक असुरोंके अड्डे हैं। ये तो वस्तुतः सुहावनी रात्रियाँ हैं जो दिव्य और धन्य हैं, जो उषाके समान ही हमारे अभिवर्धनके लिये प्रयास करती हैं। इस प्रकार निशा और उषा भिन्न-भिन्न रूपोंवाली होती हुई भी एक-मनवाली हैं और उसी एक ज्योतिर्मय शिशुको बारी-बारीसे दूध पिलाती हैं। तब हमें अन्धकारकी गतियोंके द्वारा भी सुखकर रात्रियोंमें शुभ्रतर देवीकी सत्य-प्रकाशक प्रभाओंका ज्ञान होता है। इसलिए कुत्स ऋषि इन दो बहिनोंकी इस रूपमें स्तुति करता है कि "एक ही प्रेमीवाली और परस्पर-संगत वे अमर बहिनें प्रकाशके रंग-रूपका निर्माण करती हुई द्यावापृथिवीमें विचरण करती हैं; इन दोनों बहिनोंका एक ही अनंत पथ है, अपने रूपोंमें भिन्न होती हुई भी समान मनवाली वे देवोंसे शिक्षित होकर उसपर एक-एक

करके चलती हैं" (ऋ०I.113.2,3)।[1] क्योंकि इनमेंसे एक है गोयूथोंकी तेजस्वी माता, दूसरी है अंधकारमय गाय, कृष्णवर्ण अनंत सत्ता, जिसके काली होनेपर भी उससे हमारे लिए द्युलोकका प्रकाशमय दूध दोहा जा सकता है।

इस प्रकार त्रिदश या तीस उषाएँ—तीस हमारी मनोमय सत्ताकी संख्या है—निरंतर बारी-बारीसे आकर एक मास बनाती हैं जिससे कि अंतमें मानवजातिके सुदूर अतीत युगमें हमारे पूर्वजोंको हुआ आश्चर्यमय अनुभव किसी दिन हमपर प्रस्फुटित हो उठे। उस अतीत युगमें उषाएँ बीचमें किसी भी रात्रिके बिना एक दूसरीके बाद आती थीं, वे अपने प्रेमीके समान सूर्यके पास आकर उसके चारों ओर चक्कर लगाती थीं और उसके नियत कालपर आगमनोंके अग्रदूतके रूपमें फिर-फिर लौटकर नहीं आती थीं। पूर्वजोंके अनुभवका यह प्रस्फुटन तब साधित होगा जब अतिमानसिक चेतना मानस सत्तामें चरितार्थ होकर प्रकाशित हो उठेगी और हम उस वर्ष-व्यापी दिनको अधिकृत कर लेंगे जिसका रसास्वादन देवगण सनातन पर्वतके शिखरपर करते हैं। "सर्वश्रेष्ठ" या सर्वोच्च, अत्यंत महिमामय उषाका उदय तब होगा, जब यह "शत्रुको दूर भगाती हुई, सत्यकी संरक्षिका, सत्यमें उत्पन्न, आनंदसे पूर्ण, सर्वोच्च सत्योंका उच्चारण करनेवाली, सब वरोंमें परिपूर्ण होकर देवत्वोंके जन्म और आविर्भावको लायेगी" (ऋ० I.113. 12[2])। इस बीच प्रत्येक उषा आनेवाली उषाओंकी लंबी परंपरामें पहली उषाके रूपमें आती है और उन उषाओंके पथ और लक्ष्यका अनुसरण करती है जो उससे पहले ही आगे जा चुकी हैं। प्रत्येक उषा आती हुई जीवनको ऊपरकी ओर प्रेरित करती है और हमारे अंदर "किसी एकको जो मर चुका था" जगा देती है (ऋ. 1.113.8)[3]। देवोंकी माता, अनंतकी शक्ति,

---

1. रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने॥
समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।
न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे॥
ऋ. I. 113.2,3

2. यावयद्द्वेषा ऋतपा ऋतेजाः सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती।
सुमङ्गलीर्बिभ्रती देववीतिमिहाद्योषः श्रेष्ठतमा व्युच्छ॥
ऋ. I. 113.12

3. परायतीनामन्वेति पाथ आयतीनां प्रथमा शश्वतीनाम्।
व्युच्छन्ती जीवमुदीरयन्त्युषा मृतं कं चन बोधयन्ती॥
ऋ. I. 113.8

यज्ञसे जागृत होनेवाली विशालदृष्टिरूप उषा आत्माके विचारको अभिव्यक्त कर देती है एवं जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है उस सबमें हमें विश्वव्यापी जन्म प्रदान करती है (ऋ. 1.113.19[1])।

भौतिक प्रकृतिकी सुंदरता और महिमासे गहरे प्रभावित वैदिक ऋषि, अन्तःप्रेरित कवि उन रूपकोंसे अधिकाधिक लाभ उठाये विना नहीं रह सके जो उन्हें पार्थिव उषाके उदयके इस भव्य और आकर्षक प्रतीकसे प्राप्त हुए थे, यहाँ तक कि यदि हम असावधानीसे या काव्यमय रूपकके प्रति अत्यधिक आसक्तिके साथ उनका अध्ययन करें तो हम उनका गंभीर भाव खो देंगे या उसका वर्जन ही कर देंगे। परंतु अपनी सुंदर देवीके प्रति गाये हुए किसी सूक्तमें वे हमारे सामने उन उज्ज्वल संकेतों, प्रकाशप्रद विशेषणों, गंभीर रहस्यमय पदावलियोंको प्रस्तुत करना नहीं भूलते जो हमें प्रतीकके दिव्य भावका स्मरण करायेंगे। विशेषकर वे किरणोंके अर्थात् तेजस्वी गौओंके यूथके उस अलंकारका प्रयोग करते हैं जिसके चारों ओर उन्होंने अंगिरस् ऋषियोंकी रहस्यमय गाथाको गूंथा है। उन्होंने उषाका आवाहन किया है कि वह हमपर उस प्रकार चमके जिस प्रकार वह सप्तमुखी (सप्तास्य) अंगिरसूपर, नौ रश्मियों और दस रश्मियोंवाले ऋषियोंकी एकात्मतापर चमकी थी जिन्होंने आत्माके चरम विचारके द्वारा, प्रकाशप्रद शब्दके द्वारा उन दुर्गबद्ध वाड़ों, "अंधकारके बाड़ों"को तोड़कर खोल डाला था जिनमें पणियोंने, रात्रिके कृपण स्वामियों और व्यापारियोंने सूर्यके तेजस्वी गोयूथोंको बंदकर रखा था। उषाकी रश्मियां हैं 'इन तेजस्वी गौओंका विमोचन'; स्वयं उषाएँ मानो उन यूथ-बद्ध प्रभाओंकी उन्मुक्त ऊर्ध्वमुख गतियाँ हैं। पवित्र और पावक होती हुई वे बाड़ेके द्वारोंको तोड़कर खोल देती हैं, उषा यूथोंकी ऐसी माता है जो सत्यकी स्वामिनी है, वह अपने आप एक तेजस्वी गौ है और उसका दूध द्युलोकसे उपजा दिव्य रस है, एक ऐसा प्रकाशमय दुग्ध है जो देवोंकी सुरासे मिश्रित है।

यह उषा न केवल हमारी पृथ्वीको अपितु समस्त भुवनोंको प्रकाशित करती है। वह हमारी सत्ताके क्रमिक स्तरोंको प्रकट करती है ताकि हम सब 'नानाविध जीवनों' पर दृष्टिपात कर सकें जिन्हें हम धारण करने में समर्थ हैं। वह सूर्यकी आंखसे उन्हें प्रकाशमें लाती है तथा 'संभूतिके लोकोंके' अभिमुख होकर 'अमरताकी दिव्य दृष्टिके रूपमें उन सबके ऊपर

---

1. माता देवानामदितेरनीकं यज्ञस्य केतुर्बृहती वि भाहि।
प्रशस्तिकृद् ब्रह्मणे नो व्युच्छा नो जने जनय विश्ववारे ॥ ऋ. I.113.19

ऊर्ध्वमें स्थित होती है।' (ऋ. III. 61.3[1])। वह स्वयं एक ऐसी दिव्य दृष्टि है जो चक्षुके रूपमें विस्तृततया चमक उठती है और वह अपने प्रेमी सूर्यकी तरह केवल अन्तर्दृष्टि ही नहीं अपितु शब्द भी प्रदान करती है; "वह प्रत्येक विचारकके लिए वाणी खोज लाती है", वह आत्माके भीतर विद्यमान विचारको अभिव्यक्ति प्रदान करती है। जो केवल अल्प ही देखते हैं उन्हें वह विशाल दृष्टि प्रदान करती है और उनके लिए सारे लोकोंको प्रकट कर देती है। क्योंकि वह विचारकी देवी हैं, "अनेक विचारोंसे सम्पन्न युवती और सनातन देवी है जो दिव्य विधानके अनुसार गति करती है" (ऋ. III. 61. I[2])। वह प्रत्यक्ष-अनुभवरूपी ज्ञानकी देवी है जिसके पास पूर्ण सत्य है। वह सब ज्योतियोंकी परम ज्योति है और वैविध्ययुक्त तथा सर्वालिंगी चेतन दृष्टिके रूपमें उत्पन्न हुई है। वह एक ज्ञानपूर्ण ज्योति है जो अंधकारमेंसे निकलकर ऊपरको उठती है। ऋषि पुकारकर कहता है, "हम इस अंधकारको पार कर इसके दूसरे किनारेपर पहुँच गए हैं", "उषा फूट रही है और वह ज्ञानमय जन्मोंका सर्जन कर रही और उन्हें रूप प्रदान कर रही है" (ऋ. I. 92.6[3])।

सत्यका विचार निरन्तर इस ज्योतिर्मय उषा देवीके साथ सम्बद्ध है। वह द्युलोककी प्रभाओंके द्वारा सत्यसे परिपूरित देवीके रूपमें जागरित होती है। वह सत्यके शब्द उच्चारित करती हुई आती है। उसके उदय अपने पदार्पणमें प्रकाशमय होते हैं, क्योंकि सत्यसे उत्पन्न होनेके कारण वे सत्यमय हैं। सत्यके धामसे ही वे उषाएँ जागरित होती हैं। वह पूर्ण सत्योंकी तेजस्वी नेत्री है जो हमें अनुभवमें चित्र-विचित्र विविध प्रकाशोंसे युक्त पदार्थोंके प्रति जागरित करती है और सब द्वारोंको खोल देती है। प्रचंड अग्निदेव सत्यके आधारमें, जो उषाओंका भी आधार है, अपनी प्रेरणा पाकर हमारे द्युलोक और पृथ्वीके महान् विस्तारमें प्रवेश करता है; क्योंकि इस उषाके देदीप्यमान होनेका अर्थ है "मित्र और वरुणका बृहत् ज्ञान और

---

1. उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः।
   समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्या ववृत्स्व॥ ऋ. III.61.3
2. उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।
   पुराणी देवि युवतिः पुरन्धिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे॥
   ऋ. III.61.1
3. अतारिष्म तमसस्पारमस्योषा उच्छन्ती वयुना कृणोति।
   श्रिये छन्दो न स्मयते विभाती सुप्रतीका सौमनसायाजीगः॥
   ऋ. I.92.6

वह आनन्दमय वस्तुकी भांति प्रकाशको सर्वत्र अनेक रूपोंमें व्यवस्थित कर देता है" (ऋ. III. 61.7[1]) ।

इसके अतिरिक्त उषा हमें हमारे अभीष्ट ऐश्वर्य प्रदान करती है तथा मनुष्यको दिव्य पथ पर ले जाती है। वह सब वरोंकी सम्राज्ञी है और जो धन-संपदा वह देती है, जिसे गौ और अश्वके गुह्य प्रतीकोंसे प्रकट किया गया है, वह उच्चतर स्तरोंका शुभ्र विपुल वैभव है। अग्निदेव उससे उनके आनंदपूर्ण सारतत्त्वकी याचना करता है और उसके प्रकाशमय आगमनके समय उससे वह सारतत्त्व प्राप्त कर लेता है। वह मर्त्यको अन्तःप्रेरित ज्ञान, प्रचुर ऐश्वर्य एवं प्रेरक बल व विशाल ऊर्जा प्रदान करती है। वही अपने प्रकाशसे मर्त्योंके लिए पथका निर्माण करती है। वह उनके लिए उन अच्छे मार्गोंको बनाती है जो सुखद और सुगम हैं। वह मानवको उसकी यात्रापर अग्रसर करती है। ऋषि कहता है, "तू यहाँ बल, ज्ञान और महान् प्रेरणाके लिए विद्यमान है, तू लक्ष्यकी ओर हमारी गति है, तू हमें यात्रापथपर चलाती है।" उसका पथ प्रकाशका पथ है और वह सत्यसे जोते गए अश्वोंके द्वारा उसपर गति करती है, वह स्वयं सत्यसे संपन्न है और है सत्यकी शक्तिसे विशाल। वह सत्यके पथका प्रभावशाली रूपमें अनुसरण करती है और एक ज्ञानीकी तरह इसकी दिशाओंका उल्लंघन नहीं करती। सूक्तमें आगे गाया गया है, "इसलिए हे दिव्य उषा! आनंदके अपने रथमें सत्यके शब्दोंका उच्चारण करती हुई तू अमर रूपमें हमपर प्रकाशित हो जा। अपने विशाल बलसे युक्त सुनियन्त्रित, सुनहरे रंगवाले, अश्व तुझे यहाँ लावें" (ऋ. III. 61.2[2])

पथके अन्य नेताओंकी तरह वह भी शत्रुओंका नाश करनेवाली है। जब कि आर्य उषामें जागता है, जीवन और ज्योतिके संबंधमें कृपण पणि अंधकारके अन्तस्तलमें जहाँ उषाकी चित्र-विचित्र ज्ञानकिरणें नहीं हैं, बिना जागे सोए पड़े रहते हैं। सशस्त्र वीरकी भांति वह हमारे शत्रुओंको दूर भगा देती है और आक्रमण करनेवाले युद्धके घोड़ेकी तरह अंधकारको तितर-बितर कर देती है। द्युलोककी पुत्री शत्रुओं और सब अंधकारोंको परे

---

1. ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन् वृषा मही रोदसी आ विवेश।
   मही मित्रस्य वरुणस्य माया चन्द्रेव भानुं विदधे पुरुत्रा ।।
   ऋ. III. 61.7
2. उषो देव्यमर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
   आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये ।।
   ऋ. III. 61.2

धकेलती हुई ज्योतिके साथ आती है। और यह ज्योति उस स्वर्लोककी—ज्योतिर्मय लोक की ज्योति है जिसका सर्जन सविता सूर्य हमारे लिए करेगा। क्योंकि वह प्रकाशमय मार्गोंकी दिव्य उषा है, सत्यसे विशाल है और हमारे लिए सत्यका भास्वर लोक लाती है, इसलिए ज्ञान-आलोकित मनुष्य अपने विचारोंसे उसकी आराधना करते हैं। परम आनन्दके अधिपतिकी वधू उषा मानों चोगेको उतारती हुई अपने परिपूर्ण कार्य और परिपूर्ण आनन्दोपभोगसे 'स्वर्'का निर्माण करती है और द्युलोकके अंतिम छोरोंसे संपूर्ण पृथ्वीपर अपनी महिमासे विशाल रूपमें फैल जाती है। आनन्द-मधुको स्थापित करती हुई वह द्युलोकमें ऊर्ध्वस्थित शक्तिको प्राप्त करती है और उस लोकके तीन ज्योतिर्मय प्रदेश इस महती उषाकी आनंदपूर्ण दृष्टिसे भासित हो उठते हैं।

इसीलिए ऋषि पुकार-पुकारकर कहता है, "उठो, जीवन और बल हमारे पास आ गए हैं, अंधकार दूर हो गया है, ज्योति आ गई है, उषाने सूर्यकी यात्राके लिए पथ खाली कर दिया है। आओ हम उधर चलें जहाँ देवगण हमारी सत्ताको इन सीमाओंसे परे आगे ले जाएँगे" (ऋ. 1.113.16[1])।

संवर्धक पूषा

क्योंकि हमारे अन्दर दिव्य कार्य सहसा ही संपन्न नहीं हो सकता, देवत्वका निर्माण एकदम ही नहीं किया जा सकता, अपितु केवल उषाओंके क्रमिक आगमनसे, प्रकाशप्रद सूर्यके समय-समयपर पुनः-पुनः उदयनोंसे होनेवाले ज्योतिर्मय विकास एवं सतत पोषणके द्वारा ही साधित हो सकता है, अतः सौर-शक्ति-स्वरूप सूर्य अपने-आपको एक दूसरे रूपमें—संवर्धक पूषाके रूपमें प्रकट करता है। इस नामकी मूलभूत धातुका अर्थ है बढ़ाना, पालन-पोषण करना। ऋषियों द्वारा अभिलषित आध्यात्मिक संपदा वह है जो इस प्रकार "दिन प्रतिदिन" अर्थात् इस पोषक सूर्यके प्रत्येक पुनरावर्तनके समय वृद्धिको प्राप्त होती है। पुष्टि और वृद्धि प्रायः ही ऋषियोंकी प्रार्थना का उद्देश्य होती है। पूषा सूर्य-शक्तिके इस पहलूका प्रतिनिधित्व करता है। वही है "प्रचुर ऐश्वर्यों (वाजों)का प्रभु एवं स्वामी, हमारी अभिवृद्धियोंका अधिपति, हमारा संगी-साथी"। पूषा हमारे यज्ञको समृद्ध करनेवाला है। विशाल पूषा हमारे रथको अपने सामर्थ्यसे अग्रसर करेगा। वह हमारे

---

1. उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात् तम आ ज्योतिरेति।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥
ऋ. I. 113.16

प्रचुर ऐश्वर्योंके संवर्धनमें समर्थ होगा। पूषाका वर्णन इस रूपमें किया गया है कि वह अपने-आप दिव्य ऐश्वर्योंकी धारा है और है उनके सारतत्त्वकी अपरिमित राशि। वह दिव्य ऐश्वर्योंके हर्षके विशाल कोषका प्रभु है और हमारे आनंदमें साथी-संगी है।

क्रमानुगत उषाओंके बीच अज्ञानकी जो रात्रि आती है उसके प्रत्यागमनका चित्रण इस प्रकार किया गया है कि वह सूर्यके उन देदीप्यमान गोयूथोंका विलोप है जिन्हें पणि वारंवार ऋषिके पास से चुरा लेते हैं और कभी-कभी उसका चित्रण इस रूपमें किया गया है कि वह स्वयं सूर्यका ही विलोप है जिसे पणि अपनी अंधकारमय अवचेतनकी गुफामें पुनः छिपा देते हैं। पूषा जो पुष्टि प्रदान करता है वह सत्यके इन विलुप्त होते हुए आलोकोंको पुनः प्राप्त करनेपर निर्भर करती है। इसलिए यह देव उनकी बलपूर्वक पुनः प्राप्तिमें इन्द्रसे संबद्ध है जो दिव्य मनकी शक्ति है और इसका भाई, सखा एवं संग्राममें सहायक है। वह हमारे सहायक गणको, जो गोयूथोंकी खोज करता है, पूर्ण बनाता और संसिद्ध करता है ताकि वह गण जीते और अधिकृत करे। "पूषा हमारे ज्योतिर्मय गोयूथोंका पीछा करे, पूषा हमारे युद्ध-अश्वोंकी रक्षा करे, पूषा हमारे लिए प्रचुर बलों व ऐश्वर्यों (वाजों) को जीत लाए...हे पूषा! हमारी गायोंके पीछे जा। पूषा अपना दायां हाथ हमारे ऊपर सामनेकी ओर रखे। जो गौएँ हमने खोई हैं, उन्हें पूषा हमारे पास हांक लाए" (ऋ. VI.54.5,6,10[1])। इसी प्रकार वह खोए हुए सूर्यको भी वापिस लाता है। "हे तेजस्वी पूषा! ज्वालाकी चित्रविचित्र पूर्णताके अधिपति देवताको जो हमारे द्युलोकको धारण किये है, हमारे पास इस प्रकार ले आ मानो वह हमारा खोया हुआ पशु हो। पूषा उस भास्वर सम्राट्को ढूंढ़ लाता है जो हमसे छिपा और गुफ़ामें गुप्त पड़ा था" (ऋग्वेद 1.23.13-14[2])। साथ ही हमें एक ऐसे प्रदीप्त अंकुशके विषयमें बताया गया है जिसे यह ज्योतिर्मय देवता वहन करता है और जो आत्माके विचारोंको प्रेरित करता है तथा देदीप्यमान प्रभापुंजकी परिपूर्णताका साधन है। जो कुछ वह हमें देता है,

---

1. पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षत्वर्वतः। पूषा वाजं सनोतु नः॥ ऋ. VI.54.5
पूषन्ननु प्र गा इहि............... ऋ. VI.54.6
परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु॥
ऋ. VI. 54.10

2. आ पूषञ्चित्रबर्हिषमाघृणे धरुणं दिवः। आजा नष्टं यथा पशुम्॥
पूषा राजानमाघृणिरपगूळ्हं गुहा हितम्। अविन्दच्चित्रबर्हिषम्॥
ऋ. I.23.13-14

वह सुरक्षित है। क्योंकि उसके पास ज्ञान है, वह गोयूथको गंवाता नहीं और हमारी संभूतिके लोकका संरक्षक है। क्योंकि उसे हमारे सब लोकोंका एक अन्तर्दर्शन है जो जितना अविकल और एकीभूत है उतना ही विविध रूपसे व्यवस्था करनेवाला और सर्वग्राही भी है, इसलिए वह हमारा पोषक और संवर्धक है। वह हमारे परम आनंदका अधिपति है जो हमारे ज्ञानकी उपलब्धिको गंवाता नहीं, और जबतक हम उसकी क्रियाओंके विधानमें निवास करते हैं तबतक हमें कोई चोट या क्षति नहीं पहुँच सकती। आत्माकी जो सुखमय अवस्था वह हमें प्रदान करता है वह इससे समस्त पाप और बुराईको दूर हटा देती है तथा हमारी वैश्वसत्तामें संपूर्ण देवत्वका निर्माण करनेके लिए आज और कल सतत सहायक होती है।

क्योंकि सूर्य ज्ञानका अधिपति है, पूषा भी विशेषकर द्रष्टाके तेजोमय विचारोंका ज्ञाता, चिंतक और संरक्षक है,—गोयूथोंका पालक है जो विचारमें आनंद लेता है, संपूर्ण विश्वमें अंतर्यामी रूपसे स्थित है और सर्वव्यापी होता हुआ सर्जन करनेवाले ज्ञानके सब रूपोंका पोषण करता है। यह **संवर्धक पूषा** ही ज्ञानप्रदीप्त मनुष्योंके मनोंको स्पंदित और प्रेरित करता है एवं उनके विचारोंकी सिद्धि और पूर्णताका साधन है। वह द्रष्टा है जो मननशील मानवमें प्रतिष्ठित है और उसके आलोकित मनका संगी-साथी है जो उसे मार्गपर परिचालित करता है। वह हमारे अंदर उस विचारको प्रकट करता है जो **गाय** और **अश्व** तथा धन-संपदाके समस्त प्राचुर्यको जीत लेता है। वह प्रत्येक विचारकका मित्र है। वह विचारको उसके संवर्धनमें इस प्रकार संजोता है जैसे प्रेमी अपनी वधूको लाड़-प्यारसे पोसता है। परमानंदकी खोज करनेवाले विचार ऐसी शक्तियाँ हैं जिन्हें पूषा अपने रथमें जोतता है, वे हैं "अज[1] शक्तियाँ" जो उसके रथके जूएको अपने ऊपर ले लेती हैं।

रथका, यात्राका तथा मार्गका रूपक पूषाके साथ संवद्ध रूपमें निरंतर ही आता है, क्योंकि यह विकास जिसे वह प्रदान करता है, परे विद्यमान सत्यकी पूर्णताकी ओर एक यात्रा है। वेदमें वर्णित **पथ** सदा ही इस सत्यका पथ होता है। इस प्रकार ऋषि पूषासे प्रार्थना करता है कि वह हमारे लिए सत्यका सारथि बने और वैदिक विचार और ज्ञानका भाव तथा इस पथका

---

1. 'अज' शब्दका दोहरा अर्थ है—बकरी और अजन्मा। गौ अर्थवाले शब्दकी तरह वेदमें भेड़ और बकरी अर्थवाले शब्द भी एक गूढ़ आशयके साथ प्रयुक्त किये जाते हैं। इन्द्रको भेड़ और बैल दोनों ही कहा जाता है।

भाव प्रायः एक दूसरेके साथ गुंथे हुए हैं। पूषा पथका अधिपति है जिसे हम इस प्रकार जोतते हैं मानो वह विचारके लिए और ऐश्वर्यकी विजय के लिए एक रथ हो। वह हमें हमारे मार्गोंका विवेकपूर्ण ज्ञान कराता है ताकि विचार सिद्ध व पूर्ण बनाए जा सकें। वह हमें ज्ञानके द्वारा उन मार्गोंपर ले जाता है, शक्तिशाली रूपमें हमें सिखाता है और कहता है कि "यह इस प्रकार है और केवल इसी प्रकार है" ताकि हम उससे उन धामोंका ज्ञान प्राप्त कर सकें जिनकी ओर हम यात्रा करते हैं। द्रष्टाके रूपमें ही वह हमारे रथोंके अश्वोंका प्रचालक है। उषाकी तरह वह हमारे लिए सुखके सुगम मार्ग बनाता है। क्योंकि वह हमारे लिए संकल्प और बल खोज लाता है—और उन मार्गोंको पार करनेके द्वारा हमें बुराईसे मुक्त कर देता है। उसके रथका पहिया हानि पहुँचाने नहीं आता, नाही उसकी गतिमें कोई कष्ट व क्लेश है। निःसंदेह मार्गमें शत्रु हैं, परंतु वह हमारी यात्राके इन बाधकोंका अवश्य वध कर डालेगा। "हे पूषा! हे वृक (विदारक)! जो आनंदका बाधक हमें बुराई सिखाता है उसे प्रहारके द्वारा मार्गसे दूर भगा दो, जो विरोधी है और कलुषित हृदयवाला, लुटेरा या दस्यु है उसे हमारी यात्राके पथसे दूर धकेल दो। द्वैधकी जो कोई भी शक्ति हममें बुराईको प्रकट करती है उसके दुःखदायी बलको पद-दलित कर दो" (ऋ. I. 42. 2-4[1])।

इस प्रकार मनुष्यकी आत्माका दिव्य और ज्योतिर्मय संवर्धक पूषा हमें हमारे रथके पहियोंके साथ चिपकी हुई सब विघ्नबाधाओंसे परे उस प्रकाश तथा आनंदकी ओर ले जाएगा जिसका सर्जन सूर्य-सविता करता है। "जीवन-शक्ति जो सभीका जीवन है तेरी रक्षा करेगी, पूषा तेरे सामने खुले पड़े प्रगतिके पथमें तेरी रक्षा करेगा, और जहाँ शुभ कार्यके कर्ता आसीन हैं, जहाँ वे जा चुके हैं, वहीं दिव्य सविता तुझे प्रतिष्ठित करेगा। पूषा सब क्षेत्रोंको जानता है और वह हमें उस रास्ते से ले जाएगा, जो भय-संकटसे नितांत मुक्त है। परम आनंदका दाता, देदीप्यमान देव जो समस्त बल-वीर्यसे संपन्न है, हमारा अगुआ बनकर अपने ज्ञानसे हमें स्थिरता-पूर्वक आगे-आगे ले चले। द्यावापृथिवीमेंसे होकर जानेवाले पथोंपर तेरी

---

1. यो नः पूषन्नघो वृको दुःशेव आदिदेशति। अप स्म तं पथो जहि ॥
अप त्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितम्। दूरमधि स्रुतेरज ॥
त्वं तस्य द्वयाविनोऽघशंसस्य कस्य चित्। पदाभि तिष्ठ तपुषिम् ॥
ऋ. I. 42.2,3,4

अग्रगामी यात्रामें पूषाका जन्म हो गया है, क्योंकि वह उन दोनों लोकोंमें विचरण करता है जो हमारे लिए आनंदसे भरपूर बनाए गये हैं। यहाँ वह अपने ज्ञानमें विचरता है और यहाँसे परे भी यात्रा करता है।" (ऋग्वेद X. 17.4–6[1])

स्रष्टा सविता

तेजस्वी उषाओंके प्रयाणके, सूर्यके दिव्य पुनरावर्तनोंके, पूषाके संवर्धनों एवं मार्गपर उसके नेतृत्वके परिणामको साररूपमें ज्योतिर्मय स्रष्टा सविताकी सृष्टि कहकर वर्णित किया गया है। सविता देव ही हमें वहाँ प्रतिष्ठित करता है जहाँ कर्मके प्राचीन कर्ता हमसे पहले जा चुके हैं। इस दिव्य स्रष्टाकी उस वरणीय ज्वाला और तेज पर ही ऋषिको ध्यान करना होता है[2] और उस तेजकी ओर ही यह देव हमारे विचारोंको प्रेरित करता है, सविता देवके आनंदके विविध रूपोंपर ही हमारी आत्माको ध्यान करना होता है जब कि वह उसकी ओर यात्रा करती है। उस परम सृष्टिमें ही अखंड और अनंत देवी अपनी वाणी उच्चरित करती है और सर्व-शासक राजा वरुण, मित्र तथा अर्यमा भी वहीं अपनी वाणी उच्चरित करते हैं। उस परम सिद्धिकी ओर ही इन सब देवताओंकी शक्ति संयुक्त सहमतिके साथ मुड़ती है।

वह दिव्य वाणी सत्यकी ही वाणी है। क्योंकि अतिचेतन सत्य गुप्त पड़ा है और उस अनंत सत्ताका आधार है जो हमारे आरोहणके उन उच्चतर शिखरोंपर प्रकाशित हो उठती है। जिसे हम आज जीवन मानते हैं वह

---

1. आयुर्विश्वायुः परि पासति त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ।।
ऋ. X.17.4

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् ।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ।।
ऋ. X.17.5

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।
उभे अधि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ।।
ऋ. X. 17.6

2. तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् ।।
ऋ. 3.62.10; यजु. 3.35; साम. 1462

दुःस्वप्न है, एक मृत्यु है जो हमपर शासन करती है, क्योंकि हम मिथ्या ज्ञानमें, एक सीमित और विभक्त अस्तित्वमें निवास करते हैं जो प्रत्येक भक्षकके प्रति खुला है। वह असली जीवन नहीं। जीवनके लिए हमें सूर्यपर चिरकाल तक दृष्टि जमानेमें समर्थ होना होगा। जीवनके लिए हमें अपने विचारमें ऐसा ज्ञान और शब्द धारण करनेमें समर्थ होना होगा जो सर्वोच्च अनुभूतिसे पूर्ण हों। हमें एक आहुतिके रूपमें सत्यको आगे लाना होगा ताकि ज्योतिर्मय देव प्रकाशसे पूर्ण अपने स्वर्णिम हाथोंके साथ हमारे द्युलोकोंमें ऊँचा उदित हो सके और हमारा शब्द सुन सके। जो शक्तिशाली एकमेव ज्ञानके विचारसे संपन्न है और देवोंके लिए अमरता व परमोच्च आनंदोपभोगका सर्जन करता है उसकी उस परम और विशाल अवस्थाको हमें अपने अंदर वरण और ग्रहण करना होगा। हमें सविता देवका सूत्र विस्तारित करना होगा, ताकि वह हमें जीवनकी उन उच्चतर भूमिकाओंकी ओर उन्मुक्त कर दे जो मनुष्योंके लिए प्राप्य बना दी गई हैं और उनकी सत्तासे समस्वरित हैं। उस परम आनंदको धारण करनेके लिए हमें वरुणकी विशालता और पवित्रतामें, मित्रकी सर्वालिंगी समस्वरतामें, सविताकी परम सृष्टिमें पाप और बुराई से मुक्त होना होगा।

तब सविता देव दुःस्वप्नके दुखदर्दको हमसे दूर कर मिटा देगा। ऋजुताके अभिलाषीके लिए वह अपने अस्तित्वकी वर्धनशील विशालताका सर्जन करेगा ताकि हम अपने अधूरे ज्ञानके साथ भी अपनी सत्तामें देवोंकी ओर अभिवर्धित हों। देवताओंके द्वारा वह हमारे ज्ञानको पोषित करेगा तथा हमें अनंत अदितिकी अखंड चेतनामें देवोंके उस विश्वमय स्वरूपकी ओर ले जाएगा जिसे हमने अपना लक्ष्य चुन लिया है। हमने अपने अज्ञानमें, पदार्थोंके अपने खंडित और संकुचित अवलोकनमें, अपनी निरी मर्त्य संभूति और मानवीयतामें देवों या मनुष्योंके विरुद्ध जो कुछ भी किया है उस सबको वह मिटा देगा तथा हमें पापसे मुक्त कर देगा। क्योंकि वह ऋतका स्रष्टा है, वह एक ऐसा रचयिता है जो सत्यका सर्जन करता है।

हमारी भौतिक सत्ताकी महान् विशालता तथा शक्तिमें, हमारे मनकी समृद्ध विपुलतामें वह उस सत्यका सर्जन करेगा एवं उस सत्यकी अक्षय विशालताके द्वारा हमारी सत्ताके सब लोकोंको धारित करेगा। इस प्रकार, सत्य ही जिसकी सृष्टि है ऐसे सविताकी एवं मित्र और वरुणकी क्रियामें, देवगण उस सत्यके विविध प्रकाशके सारतत्त्वको और उसके सामर्थ्यों और आलोकोंके आनंदको हमारे अंदर तब तक धारण करते रहेंगे जब तक संपूर्ण अस्तित्व, हमारे पीछे और आगे, नीचे और ऊपर, सवितृदेव-रूप ही

नहीं बन जाता और जबतक हम सुविस्तृत जीवन अधिगत नहीं कर लेते एवं अपनी सत्ताका विश्वमय रूप निर्मित नहीं कर लेते। इस विश्वमय रूपका सर्जन वह हमारे लिए तब करता है जब वह स्वर्णिम प्रकाशके हाथोंसे, मधुर सोमरस का आस्वादन करनेवाली जिह्वासे, सत्यके उच्चतम द्युलोकके त्रिविध ज्ञानमें संचरण करता है, देवोंमें उस दिव्य लयको प्राप्त करता है जिसे वह अपने पूर्णतः चरितार्थ विधानके लिए बनाता है, और जब प्रकाशका अंबर पहने हुए वह कवि, जिसने विश्वका निर्माण करनेके लिए प्रारम्भमें ज्ञान और शक्तिकी अपनी दोनों भुजाओंको फैलाया था, अपने उस स्वर्णिम सामर्थ्यमें निज धाममें आसीन हो जाता है। वस्तुओंको आकार देनेवाले त्वष्टाके रूपमें जिसने सदा नृ-देवताओं और उनकी स्त्रीरूप शक्तियोंके साथ अर्थात् पुरुषकी शक्तियों और प्रकृतिकी शक्तियोंके साथ मिलकर सब वस्तुओंकी रचनाकी है और करता है, वही सविताके रूपमें मानवके लिये, देहमें उत्पन्न मननशील प्राणीके लिए, उसी सत्य और अमरताका अवश्यमेव सर्जन करेगा।

चार राजा

सविता सूर्यकी सृष्टि दिव्य उषाके पुनः पुनः उदयोंसे आरंभ होती है और हमारे अंदर पूषा सूर्यके कार्यके द्वारा उषाकी आध्यात्मिक देनों और संपदाओंके सतत पोषणसे वह अभिवर्धित होती है। परंतु वास्तविक रचना, सर्वांगीण पूर्णता सब देवों (विश्वेदेवाः)के, अदितिके पुत्रोंके, विशेषकर चार महान् प्रकाशमय राजाओं—वरुण, मित्र, भग, अर्यमाके हमारे अंदर जन्म और विकासपर निर्भर करती है। इन्द्र, मरुत् और ऋभु, वायु, अग्नि, सोम तथा अश्विन् वस्तुतः प्रधान कार्यकर्ता हैं। विष्णु, रुद्र, ब्रह्मणस्पति, भावि-लक्ष्यभूत शक्तिशाली त्रिदेव विकासकी अनिवार्य अवस्थाओंपर शासन करते हैं,—क्योंकि उनमेंसे एक अपने चरणपातसे उन अंतर्लोकोंके विशाल ढाँचेका निर्माण करता है जिनमें हमारे आत्माकी क्रिया घटित होती है, दूसरा अपने मन्यु व बल और रौद्र दयाशीलताके द्वारा महान् विकासको बलपूर्वक आगे बढ़ाता तथा विरोधी एवं विद्रोही और अनिष्टकर्तापर प्रहार करता है, और तीसरा सदा ही आत्माकी गहराइयोंसे सर्जक शब्दका बीज प्रदान करता है। इसी प्रकार पृथ्वी और द्युलोक, दिव्य जलधाराएँ, महान् देवियाँ और पदार्थोंको आकार देनेवाला त्वष्टा जिसकी वे देवियाँ सेवा करती हैं—ये सब या तो विकासका क्षेत्र प्रदान करते हैं या उसकी सामग्री लाते एवं बनाते हैं; परन्तु संपूर्ण सर्जनपर, उसके सर्वांगपूर्ण विशाल व्योमपर, शुद्ध

तानेवानेपर, उसके सोपानोंके मधुर और व्यवस्थित सामंजस्यपर, उसकी परिपूर्तिके प्रदीप्त बल एवं सामर्थ्यपर, और उसके समृद्ध, पवित्र और प्रचुर आनंदोपभोग एवं हर्षोल्लासपर सौर देव वरुण, मित्र, अर्यमा और भग अपनी दिव्य दृष्टिकी महिमा और सुरक्षाकी छत्रच्छाया रखते हैं।

वे पवित्र कविताएँ जिनमें सब देवों (विश्वेदेवाः), अनंतसत्ताके पुत्रों—आदित्यों तथा अर्यमा, मित्र और वरुणकी स्तुतिकी गई है,—जो यज्ञमें औपचारिक आवाहनके सूक्तमात्र नहीं हैं,—उन अति-सुन्दर, पावक और गंभीर कविताओंमेंसे हैं जिन्हें मनुष्यकी कल्पनाशक्तिने आविष्कृत किया है। आदित्योंका वर्णन अनुपम गरिमा और उदात्तताके सूत्रोंमें किया गया हैं। ये मेघ, सूर्य और वृष्टिधाराके पौराणिक बर्बर देवता नहीं हैं, नाहीं आश्चर्यचकित जंगली लोगोंके अस्तव्यस्त अलंकार हैं, अपितु उन मनुष्योंकी पूजाके पात्र हैं जो आंतरिक रूपसे हमारी अपेक्षा कहीं अधिक सुसभ्य और आत्मज्ञानमें कहीं अधिक गहरे पहुँचे हुए थे। संभव है उन्होंने अपने रथोंके साथ बिजलीको न जोता हो, नाहीं सूर्य तथा तारेको तोला हो और न प्रकृतिकी सभी विनाशक शक्तियोंको जनसंहार और आधिपत्यमें उनकी सहायता पानेके लिये मूर्तरूप दिया हो, परंतु उन्होंने हमारे अंदरके सभी द्युलोकों और पृथ्वियोंको माप लिया था और उनकी थाह पा ली थी। उन्होंने अपना लंबसीस निश्चेतन, अवचेतन तथा अतिचेतनके अंदर डाला था। उन्होंने मृत्युकी पहेलीका अध्ययन किया था और अमरताका रहस्य ढूंढ़ लिया था तथा एकमेव भगवान्को खोजा और पा लिया था और उसकी ज्योति व पवित्रता और प्रज्ञा व शक्तिकी महिमाओंमें उसे जान लिया था और उसकी पूजा की थी। ये थे उनके देव, जो उतनी ही महान् और गहन परिकल्पनाओंके मूर्तरूप थे जितनी महान् परिकल्पनाओंने कभी मिस्र-निवासियोंके गूढ़ सिद्धान्तोंको अनुप्राणित किया था अथवा जिन्होंने पुराने आदिकालीन यूनानके उन मनुष्योंको अंतःप्रेरित किया था जो ज्ञानके पिता थे, जिन्होंने ओरफियस (Orpheus) की रहस्यमय रीति-रस्मोंको या एलियूसिस (Eleusis) की गुप्त दीक्षाको स्थापित किया था। परंतु इस सबके ऊपर थी एक "आर्य-ज्योति",[1] एक विश्वास एवं हर्ष और देवोंके साथ एक सुखद समस्तरीय मित्रता जिसे आर्य अपने साथ जगत्में लाया था। वह ज्योति उन अंधकारमय छायाओंसे मुक्त थी जो प्राचीनतर जातियोंके साथ, गंभीर-विचारमग्न

---

1. प्रैषामनीकं शवसा दविद्युतद्विदत् स्वर्मनवे ज्योतिरार्यम्।
ऋ. 10.43.4

पृथ्वीमाताके पुत्रोंके साथ संपर्क होनेसे मिस्रदेशपर पड़ी थीं। इन जातियोंका दावा था कि द्युलोक उनका पिता है और इनके ऋषियोंने हमारे भौतिक अंधकारमेंसे उस द्युलोकके सूर्यको उन्मुक्त किया था।

आर्य-विचारवालोंका लक्ष्य है स्वयंप्रकाश एकमेव; इसलिये ऋषियोंने उसकी पूजा सूर्यके रूपमें की। उस 'एकं सत्'को ऋषियोंने विविध नामोंसे पुकारा है—इन्द्र, अग्नि, वायु, मातरिश्वा। उस सर्वोच्च देवके सम्बन्धमें और यहाँ उसके कार्योंकी प्रतिमूर्ति अर्थात् सूर्यके सम्बन्धमें वेदमें "वह एक", "वह सत्य"[1] ये पद निरंतर आते हैं। एक उदात्त तथा रहस्यमय स्तोत्रमें यह टेक बार-बार दोहराई गई है, "देवोंकी बृहत् शक्तिशालिता,—वह एक" (ऋ. III.55.1)[2]। वहीं है सत्यके पथसे सूर्यकी उस यात्राका लक्ष्य जो, हम देख चुके हैं कि, जागृत और ज्ञानप्रदीप्त आत्माकी यात्रा भी है। "तुम्हारा", मित्र और वरुणका "वह सत्य इस सत्यसे छिपा हुआ है, जहाँ (उस सत्यमें) वे सूर्यके घोड़े खोल देते हैं। वहाँ दस सौ रश्मियाँ इकट्ठी मिलती हैं,—मैंने उस एकमेवको, मूर्तिमान् देवोंके परमदेवको देख लिया है" (ऋ. V.62.1)[3]।

परन्तु अपने आपमें वह एकमेव कालातीत है और हमारा मन और मानव सत्ता कालमें अस्तित्व रखते हैं। "वह न आज है न कल, उसे कौन जानता है जो परात्पर है, जब उसके पास पहुँचते हैं तो वह हमसे तिरोहित हो जाता है" (ऋ. I.170.1)[4]।

इसलिये अपनेमें देवोंको जन्म देते हुए, उनके बलशाली और भास्वर रूपोंका संवर्धन करते हुए, उनके दिव्य शरीरोंका निर्माण करते हुए[5] हमें उस एककी ओर विकसित होना है और यह नव-जन्म और आत्मनिर्माण यज्ञका सच्चा स्वरूप है, यह यज्ञ एक ऐसा यज्ञ है जिसके द्वारा हमारी चेतनाका अमरता[6]की ओर जागरण होता है।

---

1. 'तद् एकं, तत् सत्यम्' ये दो ऐसे वाक्यांश हैं जिनकी व्याख्याकारोंने सदैव सतर्क रूपसे अशुद्ध व्याख्या की है।
2. ....महद् देवानामसुरत्वमेकम्।। ऋ. III.55.1
3. ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्।
 दश शता सह तस्थुस्तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम्।। ऋ. V.62.1
4. न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद् वेद यदद्भुतम्।
 अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं वि नश्यति।। ऋ. I.170.1
5. देववीति, देवताति।
6. अमृतस्य चेतनम्। ऋ. 1.170.4

अनंतके पुत्रोंका जन्म दो प्रकारका होता है। ऊपर तो उनका जन्म भागवत सत्यमें लोकोंके स्रष्टाओं और दिव्य विधानके संरक्षकोंके रूपमें होता है। और दूसरे वे यहाँ भी, स्वयं इस लोकमें तथा मनुष्यमें, भगवान्‌की वैश्व और मानवी शक्तियोंके रूपमें उत्पन्न होते हैं। इस दृश्य जगत्‌में वे विश्वकी पुंल्लिङ्गी और स्त्रीलिङ्गी शक्तियाँ एवं ऊर्जाएं (नृ और ग्ना) हैं और सूर्य, अग्नि, वायु, जल, पृथिवी और व्योमके देवोंके रूपमें, जड़-प्राकृतिक सत्तामें सदा विद्यमान चेतन शक्तियोंके रूपमें उनका यह बाहरी पहलू हमें आर्यपूजाका वाह्य या चैत्य-भौतिक पक्ष प्रदान करता है। जगत्‌के विषयमें यह प्राक्कालीन विचार कि वह केवल जड़प्राकृतिक सद्वस्तु ही नहीं अपितु चैत्य-भौतिक सद्-वस्तु है, मंत्रके प्रभाव और मनुष्यके वाह्य जीवनके साथ देवोंके सम्बन्धके विषयमें प्राचीन विचारोंके मूलमें है। इसलिये प्रार्थना और पूजामें और भौतिक फलोंके लिए यज्ञके अनुष्ठानमें शक्ति मानी जाती है; इसी कारण सांसारिक जीवनके लिए और तथाकथित जादू-टोनेमें इनका उपयोग किया जाता है जो अथर्ववेदमें प्रमुख रूपसे प्रकाशमें आया है और ब्राह्मणग्रन्थोंके प्रतीकवादके अधिकांशके पीछे भी कार्य कर रहा है।[1] परन्तु स्वयं मनुष्यमें देवता सचेतन मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ हैं। "संकल्पकी शक्तियाँ होते हुए वे संकल्पके कार्य करते हैं; वे हमारे हृदयोंमें चिंतन-रूप हैं; वे आनंदके अधिपति हैं जो आनंद लेते हैं; वे विचारकी सब दिशाओं-में यात्रा करते हैं।" उनके बिना मनुष्यकी आत्मा न अपने दाएँ और बाएँ-में भेद कर सकती है, न अपने आगे और पीछेमें और नाहीं मूर्खतापूर्ण और बुद्धिमत्तापूर्ण बातोंमें। उनसे परिचालित होकर ही यह "अभय ज्योति" तक पहुंच सकती और उसका रसास्वादन कर सकती है।[2] इसी कारण उषाको यों सम्वोधित किया गया है—"हे तू जो मानवी और दिव्य है", और देवोंका वर्णन निरंतर उन्हें "मानुष" या मानवीय शक्तियाँ (मानुषाः, नराः) कहकर किया गया है। वे हैं हमारे "प्रकाशमय द्रष्टा", "हमारे वीर", "हमारे वाजपति" (प्रचुर ऐश्वर्य और बलके पति)। वे अपनी मानवीय सत्ताकी हैसियतसे (मनुष्वत्) यज्ञको संचालित करते हैं

---

1. वेदके वाह्य अर्थका असली रहस्य यही है। आधुनिक विद्वानोंने केवल इसी अर्थको देखा है और इसे भी अत्यन्त अधूरे रूपम समझा है। वाह्याचारी धर्म भी निरी प्रकृतिपूजासे अधिक कुछ था।
2. न दक्षिणा विचिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा।
पाक्या चिद् वसवो धीर्या चिद् युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम् ॥
ऋ. II.27.11

और अपनी उच्च दिव्य सत्तामें उसे ग्रहण करते हैं। अग्नि हमारी आहुति का वाहक पुरोहित है और बृहस्पति शब्दका। इस भावमें अग्निको मनुष्य-के हृदयसे उत्पन्न कहा गया है। सभी देव इसी प्रकार यज्ञके द्वारा उत्पन्न होते और बढ़ते हैं तथा अपनी मानवी क्रियासे अपने दिव्य देह धारण करते हैं। जगत्‌के आनंदकी सुरारूप सोम मनमेंसे, जो उसे पवित्र करनेवाली एक "प्रकाशमय एवं विस्तीर्ण" छलनी है, वेगपूर्वक गुजरता हुआ, वहाँ दस वह्निनोंसे शोधित होकर देवोंको जन्म देता हुआ स्रवित होता है।

परन्तु इन आंतरिक शक्तियोंका स्वभाव सदा ही दिव्य होता है और इसलिए इनकी प्रवृत्ति ज्योति, अमरता तथा अनंतताकी ओर ऊपर जाने-की होती है। वे "अनंतके पुत्र" हैं, अपने संकल्प और क्रियामें एकमय, पवित्र, परिपूत धाराओंवाले, कुटिलतासे मुक्त, निर्दोष और अपनी सत्तामें अक्षत। विशाल, गंभीर, अपराजित, विजयशील, अंतर्दृष्टिके अनेक करणोंसे संपन्न वे हमारे अन्दर कुटिल वस्तुओं और पूर्ण वस्तुओंको देखते हैं। सब कुछ इन राजाओंके निकट है, यहाँ तक कि वे वस्तुएँ भी जो सर्वोच्च हैं। अनंतके पुत्र होते हुए वे जगत्‌की गतिमें निवास करते हैं और उसे आश्रय देते हैं। वे देवता होनेके कारण उस सबके संरक्षक हैं जो विश्वके रूपमें प्रकट होता है; दूरगामी विचारसे युक्त और सत्यसे परिपूर्ण होते हुए वे बल-वीर्यकी रक्षा करते हैं (ऋ. II.27.2,3,4)[1]। वे विश्वके, मानवके और विश्वकी सब प्रजाओंके राजा हैं (नृपति, विश्पति), आत्मशासक, विश्व-शासक (स्वराट्, सम्राट्) हैं, वे उन दस्युओंकी तरह शासक नहीं हैं जो असत्य और द्वैधभावमें रहनेका यत्न करते हैं, परन्तु इसलिए शासक कहलाते हैं कि वे सत्यके राजा हैं। क्योंकि उनकी माता है अदिति "जिसमें कोई द्वैधभाव नहीं है", "ज्योतिर्मय अखंड अदिति जो प्रकाशमय लोकके दिव्य-धामको धारण करती है।" और उसके पुत्र "सदा जागते हुए उसके साथ दृढ़तासे चिपके रहते हैं।" वे अपनी सत्तामें, अपने संकल्प, विचार, आनंद, क्रिया और गतिमें "अत्यंत ऋजु" हैं, "वे सत्यके विचारक हैं जिनकी प्रकृति-

---

1. इमं स्तोमं सक्रतवो मे अद्य मित्रो अर्यमा वरुणो जुषन्त।
आदित्यासः शुचयो धारपूता अवृजिना अनवद्या अरिष्टाः॥
त आदित्यास उरवो गभीरा अदब्धासो दिप्संन्तो भूर्यक्षाः।
अन्तः पश्यन्ति वृजिनोत साधु सर्वं राजभ्यः परमा चिदन्ति॥
धारयन्त आदित्यासो जगत् स्था देवा विश्वस्य भुवनस्य गोपाः।
दीर्घाधियो रक्षमाणा असुर्यमृतावानश्चयमाना ऋणानि॥
ऋ. II.27.2,3,4

का विधान सत्यका विधान है।" "वे सत्यके द्रष्टा और श्रोता हैं।" वे "सत्यके सारथि हैं, जिनका आसन उसके प्रासादोंमें हैं, वे पवित्र विवेकवाले और अजेय हैं, विशालदृष्टि-संपन्न नर हैं।" "वे अमर हैं जो सत्यको जानते हैं।" इस प्रकार असत्य और कुटिलतासे मुक्त ये आंतरिक दिव्य सत्ताएँ हमारे अन्दर अपने स्वाभाविक स्तर, धाम, भूमिका और लोक तक उठ जाती हैं। "द्विविध जन्मोंवाले ये देवता अपनी सत्तामें सच्चे हैं और सत्यपर अधिकार रखते हैं, प्रकाशमें बहुत विशाल और एकीभूत हैं और हैं इसके प्रकाशमय लोकके स्वामी।"

इस ऊर्ध्वोन्मुख गतिमें वे अशुभ और अज्ञानको छिन्न-भिन्न करके हमसे दूर कर देते हैं। ये वे हैं "जो पार होकर निष्पापता और अविभक्त सत्ता-में पहुँच जाते हैं"। इसी लिए ये हैं "वे देव जो उद्धार करते हैं"। शत्रु, आक्रामक किंवा अनिष्टकर्ताके लिए उनका ज्ञान मानो दूर-दूर तक फैले हुए जाल बन जाता है, क्योंकि उसके लिये प्रकाश अंधताका कारण होता है, शुभकी दिव्य गति अशुभका अवसर और मार्गका रोड़ा। परन्तु आर्य ऋषि-की आत्मा रथके साथ वेगसे दौड़ती हुई घोड़ीकी तरह इन संकटोंसे पार हो जाती है। देवोंके नेतृत्वमें आर्य ऋषि बुराईके अन्दर होनेवाले सब प्रकार-के स्खलनोंसे ऐसे बच जाता है जैसे अनेकों खोह-खड्डोंसे। अदिति, मित्र और वरुणकी विशाल एकता, पवित्रता और समस्वरताके विरुद्ध उसने जो पाप किया हो उसे ये देव क्षमा कर देते हैं ताकि वह विशाल तथा "अभय ज्योति" का रसास्वादन करनेकी आशा कर सके और लंबी रात्रियाँ उसपर न आवें। वैदिक देव निरी भौतिक प्रकृति-शक्तियाँ ही नहीं हैं अपितु जगत्की सब वस्तुओंके पीछे और अन्दर विद्यमान चैत्य सचेतन शक्तियाँ हैं—यह बात उनके वैश्व स्वरूपमें और पाप व असत्यसे हमें इस प्रकार छुड़ानेमें जो संबंध है उससे पर्याप्त स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि तुम वे हो जो अपने ज्ञानात्मक मनकी शक्तिसे जगत्पर शासन करते हो, चर और अचर सभी भूतोंके अन्दर स्थित विचारक हो, इसलिये हे देवो! तुम हमें, जो कर्म हमने किया है और जो नहीं किया है उसके पापसे पार करके आनंदकी ओर ले जाओ। .. (ऋ. X.63.8)[1]

पथ और यात्राका रूपक वेदमें सदा देखनेमें आता है। वह पथ है

---

1. य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये॥
ऋ. X.63.8

सत्यका पथ, जिसपर हम दिव्य नेतृत्वके द्वारा आगे ले जाये जाते हैं। हे अनन्तके पुत्रो! हमारे लिए निर्भय शान्ति संपादित करो, हमारे लिए आनन्दके सुगम सन्मार्ग बनाओ (ऋ. X.63.7)[1]।

"तुम्हारा पथ सुगम है हे अर्यमा, हे मित्र, वह पथ है निष्कंटक और पूर्ण, हे वरुण" (ऋ. II.27.6)[2]।

"जिन्हें अनंतताके पुत्र अपने उत्तम मार्गदर्शनोंके द्वारा आगे ले जाते हैं, वे सब पाप और बुराईसे पार होकर आनंदमें पहुँच जाते हैं" (ऋ. X.63.13)[3]। सदा ही वह लक्ष्य होता है परम कल्याण, विशाल आनंद और शान्ति, अखंड ज्योति, बृहत् सत्य और अमरता। "तुम हे देवो! विरोधी (विभाजक) शक्तिसे हमें दूर रखो, हमें आनंद-प्राप्तिके लिये व्यापक शान्ति प्रदान करो" (ऋ. X.63.12)[4]। "अनंतताके पुत्र हमें अक्षय प्रकाश देते हैं।" "हमारे यज्ञ-संबन्धी ज्ञानसे सम्पन्न मनके अधिपतियो! प्रकाशका सर्जन करो।" "तुम्हारा जो बढ़ता हुआ जन्म है, जो, हे अर्यमा, भयके इस जगत्में भी परम आनन्दका सर्जन करता है, उसे हम आज ही जानना चाहते हैं, हे अनन्तके पुत्रो!" क्योंकि जिसका सर्जन किया जाता है वह है "अभय ज्योति" जहाँ मृत्यु, पाप, ताप, अज्ञानका कोई संकट नहीं—वह है वस्तुओंके अन्दर स्थित, अखंड, अनन्त और अमर, आनन्दोल्लसित परम आत्माकी ज्योति। क्योंकि "ये अमरताके आनन्दोल्लसित स्वामी हैं, यही सर्वव्यापी अर्यमा, मित्र औरं वरुण।"

तो भी स्वर्के अर्थात् दिव्य सत्यके लोकके रूपकमें ही लक्ष्य ठोस रूपमें चित्रित हुआ है। अभीप्सा यह की गई है "आओ उस ज्योतिमें पहुँचें जो स्वर्लोककी है, उस ज्योतिमें जिसे कोई खंड-खंड नहीं कर सकता"। स्वर् है मित्र, वरुण और अर्यमाका महान्, अखंडनीय जन्म-धाम जो आत्माके प्रकाशमय द्युलोकोंमें निहित है। क्योंकि वे सर्व-शासक राजा पूर्ण रूपसे वर्धित होते हैं और उनमें कोई कुटिलता नहीं है, अतः वे द्युलोकमें हमारे वास-धामको धारण करते हैं। वह है त्रिविध लोक जिसमें मनुष्यकी उन्नीत चेतन-सत्ता तीन दिव्य तत्त्वोंको अर्थात् उसकी अनंत सत्ता, उसकी अनंत

---

1. ता आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये। ऋ. X.63.7
2. सुगो हि वो अर्यमन् मित्र पन्था अनृक्षरो वरुण साधुरस्ति। ऋ. II.27.6
3. यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये॥ ऋ. X.63.13
4. आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये॥ ऋ. X.63.12

चेतन-शक्ति और उसके अनंत आनंद[1]को प्रतिबिम्बित करती है। "वे अपने अंदर ज्ञानमें तीन पृथिवियों, तीन द्युलोकोंको, इन देवोंके तीन कार्य-व्यापारोंको धारण करते हैं। हे अनंतके पुत्रो! तुम्हारी वह विशालता सत्यसे महान् है, हे अर्यमन्! हे मित्र! हे वरुण! वह विशालता महान् और रमणीय है। वे प्रकाशके तीन स्वर्गिक लोकोंको धारण करते हैं, स्वर्णसम भास्वर वे देव जो स्वयं पवित्र हैं और जिनकी धाराएँ पवित्र हैं। कभी न सोनेवाले अजेय वे देव पलक नहीं झपकाते, अपनी विशालता उस मर्त्यके प्रति प्रकट करते हैं जो सरल है" (ऋ. 2.27.8.9)[2]। सबको पवित्र करनेवाली ये धाराएँ उस वृष्टि और प्रचुरताकी धाराएँ हैं, सत्यके द्युलोककी नदियाँ हैं। "वे ज्योतिके रथमें बैठे हैं, ज्ञानमें शक्तिशाली, निष्पाप; परम कल्याणके लिए वे द्युलोककी वर्षा और प्रचुरताका परिधान पहने हुए हैं" (ऋ.10.63.4)[3]। उस प्रचुरताकी वर्षाके द्वारा वे हमारी आत्माओंको उसके स्रोत तक आरोहण करनेके लिए तैयार करते हैं, वह स्रोत है एक उच्चतर समुद्र जिससे ज्योतिर्मय धाराएँ अवतरित होती हैं।

हम देखेंगे कि सब-देवों (विश्वेदेवाः) के प्रति तथा अनंत माताके पुत्रोंके प्रति सम्बोधित सूक्तोंमें इस महान् त्रयी—वरुण, मित्र और अर्यमाका निरूपण कितने विस्तारसे किया गया है। इस त्रयीका शिखरभूत चौथा देव है भग। इसके साथ वे तीनों पूर्ण सत्य और अनंतताके पुंज और चरम शिखर के प्रति ऋषियोंकी चरम अभीप्सामें उनके विचारपर छाये रहते हैं। उनकी इस प्रधानताका कारण है उनका विशिष्ट स्वभाव और व्यापार, जो निस्संदेह प्रायः किसी बड़ी भारी प्रमुखताके साथ तो नहीं प्रकट होते किन्तु उनके साँझे कार्य, उनकी संयुक्त प्रकाशमय प्रकृति, उनकी निर्विशेष उपलब्धिकी पृष्ठभूमिके रूपमें हमारे सामने आते हैं। क्योंकि उनके पास एक ज्योति है, एक कार्य है, वे हमारे अंदर एक अखंड सत्यको पूर्ण बनाते हैं; हमारे सहमति देनेवाले विश्वात्मभाव[4]में सब देवोंका यह

---

1. त्रिधातु।
2. तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून् त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम्।
   ऋतेनादित्या महि वो महित्वं तदर्यमन् वरुण मित्र चारु॥
   त्री रोचना दिव्या धारयन्त हिरण्ययाः शुचयो धारपूताः।
   अस्वप्नजो अनिमिषा अदब्धा उरुशंसा ऋजवे मर्त्याय॥ ऋ. II.27.8-9
3. नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः।
   ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥ ऋ. X.63.4
4. वैश्वदेव्यम्।

ऐक्य ही इन आदित्य-सूक्तोंमें वैदिक विचारका उद्देश्य है। तो भी यह ऐक्य उनकी शक्तियोंके सम्मिलनसे साधित होता है और इसलिए इसमें उनमेंसे प्रत्येकका निजी स्वभाव और व्यापार होता है। इन चारोंका सम्मिलित स्वभाव और व्यापार है समग्र दिव्यता या भगवत्ताको उसके चार सारभूत तत्वोंकी स्वाभाविक परस्पर-क्रियाके द्वारा सर्वांगीण रूपमें निर्मित करना। भगवान् सर्वस्पर्शी, अनंत और शुद्ध सत्ता है। वरुण हमारे पास दिव्य आत्माका अनंन्त सागरसम विस्तार और उसकी आकाशीय तात्त्विक पवित्रता लाता है। भगवान् निस्सीम चेतना है जो ज्ञानमें पूर्ण और पवित्र है और इसलिए वस्तुओंके अपने अवलोकन और विवेचनमें प्रकाशमय ढंगसे यथार्थ, उनके विधान और स्वभावको समस्वर करनेमें पूर्णतः सामंजस्यमय और सुखमय है। मित्र हमारे लिए इस प्रकाश और सामंजस्यको, इस यथार्थ विवेक और परस्पर-सम्बन्ध और मैत्रीपूर्ण सुसंवादको लाता है, साथ ही वह मुक्तात्माके उन सुखद विधानोंको भी लाता है जिनके अनुसार वह अपने समस्त समृद्ध विचारमें, अपने उज्ज्वल कार्योंमें और सहस्रविध हर्षोपभोगमें अपने साथ और परम सत्यके साथ समरस होता है। भगवान् अपनी सत्तामें शुद्ध और पूर्ण शक्ति है और हमारे अंदर वस्तुओंके मूल स्रोत और सत्यकी ओर जानेकी एक ऊर्ध्वमुख प्रवृत्ति है। अर्यमा हमारे पास सर्व-समर्थ बलको और पूर्ण-मार्गदर्शन-युक्त, सुखमय, आंतरिक अभ्युत्थानको लाता है। भगवान् एक ऐसा पवित्र निभ्रांत, सर्वस्पर्शी, अक्षुब्ध आनंदोल्लास है जो अपनी अनंत सत्ताका उपभोग करता है और उस सबका भी समान रूपसे उपभोग करता है जिसका वह अपने अंदर सर्जन करता है। भग हमें मुक्त आत्माके उस आनन्दातिरेकको और आत्माके अपने ऊपर और जगत्के ऊपर स्वतंत्र और अच्युत स्वामित्वको भी राजकीय ढंगसे प्रदान करता है।

राजाओंका यह चतुष्टय वस्तुतः सच्चिदानंद, सत् चित् और आनंदकी परवर्ती सारभूत त्रयी है जिसमें आत्म-संविद् और आत्म-शक्ति, अर्थात् चित् और तपस् चेतनाकी दो अवस्थाएँ गिने जाते हैं। परंतु इस चतुष्टयको यहाँ इसकी वैश्व अवस्थाओं और वैश्व पर्यायोंके रूपमें परिणत कर दिया गया है। राजा वरुणका आधार है सत्की सर्व-व्यापी पवित्रतामें ; देवोंके प्रियतम, आनंदमय और शक्तिशाली मित्रका चित्के सर्व-एकीकारक प्रकाशमें, अनेक रथोंवाले अर्यमाका गति और तपकी क्रिया और सर्व-दर्शिनी शक्तिमें, भगका आनंदके सर्वालिङ्गी हर्षमें। तथापि ये सब चीजें चरितार्थ देवत्वमें एकरूप हो जाती हैं, क्योंकि त्रयीका प्रत्येक तत्त्व अपने आपमें दूसरोंको अन्तर्निहित

रखता है और उनमेंसे कोई भी दूसरोंसे पृथक् रूपमें नहीं रह सकता, इस लिए चारोंमेंसे प्रत्येक अपने सारभूत गुणकी शक्तिसे अपने भाइयोंकी प्रत्येक सर्वसामान्य विशेषताको भी धारण करता है। इसी कारण यदि हम वेदको उतनी सावधानीसे न पढ़ें जितनी सावधानीसे यह लिखा गया था, तो हम इसके भेद-प्रभेदोंको खो बैठेंगे और इन प्रकाशमय राजाओंके अविभेद्य सर्वसाधारण व्यापारोंको ही देखेंगे, क्योंकि निस्संदेह सूक्तोंमें आद्योपान्त पाई जानेवाली सब देवोंकी "भिन्नतामें एकता" मनोवैज्ञानिक सत्यकी सूक्ष्मताओंसे अपरिचित मनके लिए इस बातको कठिन बना देती है कि वह देवताओंमें सर्वसामान्य या परस्पर-परिवर्तनीय गुणोंके अस्त-व्यस्त पुंजके सिवाय और कुछ देखे। ये भेद-प्रभेद वहाँ हैं ही और इनका उतना ही बड़ा बल और महत्त्व है जितना कि यूनानी और मिस्री प्रतीकवादमें। प्रत्येक देव अपने अंदर अन्य सबको धारण किये है, परंतु उसके अपने विशिष्ट व्यापारमें उसका अपनापन तब भी बना रहता है।

इन चारों देवोंके बीच भेदका यह स्वरूप वेदमें उनकी घटती-बढ़ती प्रधानताकी व्याख्या कर देता है। वरुण सहज ही इन सबमें प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अनंत सत्ताका साक्षात्कार वैदिक पूर्णताका आधार है। दिव्य सत्ताकी विशालता एवं पवित्रता जब एक बार प्राप्त हो जाती है तब शेष सब उसमें अन्तर्निहित ऐश्वर्य, सामर्थ्य और गुणके रूपमें अनिवार्य रूपसे प्राप्त हो जाता है। मित्रकी स्तुति वरुणके साथ संयुक्त रूपमें या फिर दूसरे देवोंके नाम और आकारके रूपमें,—अधिकतर वैश्व कर्मकर्ता अग्निके नाम और आकारके रूपमें,—की गई है, इनके बिना तो कदाचित् ही। उस संयुक्त स्तुतिमें वे देव अपनी क्रियामें सामंजस्य और प्रकाशतक पहुँचते हुए अपने अंदर दिव्य मित्रको प्रकट कर देते हैं। प्रकाशमय राजाओंके सूक्तोंमेंसे अधिकतर मित्रावरुणकी युगल-शक्तिके प्रति सम्बोधित हैं। कुछ सूक्त पृथक् रूपसे वरुणके प्रति या वरुण-इन्द्रके प्रति, एक मित्रके प्रति, दो या तीन भगके प्रति सम्बोधित किये गये हैं, अर्यमाके प्रति एक भी नहीं। क्योंकि अनंत विशालता और पवित्रता स्थापित हो जानेपर, उनके आधारपर और उनकी नींवपर, हमारी सत्ताके आध्यात्मिक स्तरसे लेकर अन्नमय स्तरपर्यन्त सभी विभिन्न स्तरोंके परस्पर-सम्बद्ध नियमोंसे, देवोंकी क्रियाओंके द्वारा प्रकाशमय सामंजस्य प्राप्त करना होगा; और यही है मित्र और वरुणका द्वन्द्व। अर्यमाकी शक्तिको कदाचित् ही एक स्वतंत्र तत्त्वके रूपमें देखा जाता है; वह तो एक ऐसा तत्त्व है जैसा कि विश्वमें विद्यमान शक्ति,—विश्वगत शक्ति सत्ताकी केवल एक अभिव्यक्ति

एवं गति है या उसका एक महत्त्वपूर्ण क्रियाशील रूपमात्र है, वह चेतना वा ज्ञानका, वस्तुओंके अंतर्निहित सत्यका क्रियान्वित एवं उन्मुक्त होना मात्र है, जिसके द्वारा वे (चेतना वा ज्ञान आदि) शक्तिके सार-तत्त्वके रूपमें और प्रभावकारी आकारके रूपमें परिणत हो जाते हैं, अथवा वह (विश्वगत शक्ति) एक ऐसी स्व-उपलब्धिकारी और स्वायत्तकारी गतिका एक प्रभाव-शाली रूपमात्र है जिसके द्वारा सत् और चित् अपने-आपको आनंदके रूपमें चरितार्थ कर लेते हैं। इसलिए **अर्यमा**का आवाहन सदा ही **अदिति** या **वरुण** या **मित्र**के साथ संयुक्त रूपमें किया जाता है अथवा महान् सिद्धि-कारक त्रयीमें या राजाओंके चरितार्थ चतुष्टयके रूपमें या **सब-देवों** (**विश्वे-देवाः**) और आदित्योंके सर्वसामान्य आवाहनमें।

दूसरी ओर **भग** हमारी सत्ताके छिपे हुए दिव्य सत्यकी उपलब्धिकी ओर हमारी गतिका चरम शिखर है; क्योंकि उस सत्यका सार है परम आनन्द। **भग** साक्षात् सविता ही है; **सर्व-उपभोक्ता भग** एक ऐसा स्रष्टा-सविता है जो अपनी सृष्टिके दिव्य उद्देश्यमें कृतार्थ हो गया है। इसलिए वह साधन-की अपेक्षा कहीं अधिक एक साधित परिणाम है या फिर सबसे अन्तिम साधन है, हमारे आध्यात्मिक ऐश्वर्यके दाताकी अपेक्षा कहीं अधिक उसका स्वामी है।

सब-देवों (**विश्वेदेवाः**)के प्रति ऋषि वामदेवका सूक्त विशद स्पष्टताके साथ उस उच्च अभीप्सामय आशाको दर्शाता है जिसके प्रति कृपालु होनेके लिए और जिसे सुखमय सिद्धि तक पहुँचानेके लिए इन वैदिक देवताओंका आह्वान किया जाता था।

"तुममेंसे कौन हमारा उद्धारक है? कौन हमारा त्राता है? हे **पृथ्वी** और **द्यौ**! द्वैध-भावसे मुक्त तुम हमारा उद्धार करो। हे **मित्र**! हे **वरुण**! इस मर्त्यभावसे हमें बचाओ जो हमारे मुकाबलेमें अतीव प्रबल है! हे देवो! तुममेंसे कौन हमारे लिए यज्ञकी यात्रामें परम कल्याणको दृढ़तया सम्पुष्ट करता है? जो हमारे उच्च मूल धामोंको प्रदीप्त करते हैं, ज्ञानमें निस्सीम जो देव हमारे अंधकारको दूर करते हुए उदित होते हैं, वे अविनश्वर सर्व-नियंता देव ही हमारे लिए उन सबका विधान करते हैं। सत्यके चिन्तक वे सिद्धिकर्ता ज्योतिमें देदीप्यमान होते हैं। प्रकाशप्रद शब्दोंके द्वारा मैं **अदिति**रूप बहती हुई नदीको जो दिव्य आनंदमय है, अपना साथी बनानेके लिए खोजता हूँ। हे अजेय **निशा** और **उषा**! कृपा करके ऐसा अवश्य करो कि दोनों दिन (दिनका प्रकाशमय और अंधकारमय रूप) हमारी पूर्णतया रक्षा करें। **अर्यमा** और **वरुण** विवेकपूर्वक पथ दर्शाते हैं, और प्रेरणाका

अधिपति अग्नि विवेकपूर्वक आनंदमय लक्ष्यका मार्ग दिखलाता है। हे इन्द्र और विष्णु! स्तुति किये हुए तुम हमारे लिए पूर्णतया उस शान्तिका विस्तार करो जिसमें सब शक्तियाँ और महती सुरक्षा विद्यमान हैं। पर्वतके, मरुत्के और हमारे दिव्य त्राता भगके संवर्धनोंका मैं सहर्ष वरण करता हूँ। सब पदार्थोंका स्वामी जगत्-सम्बन्धी पापसे हमारी रक्षा करे और मित्र उसके विरुद्ध किये जानेवाले पापसे हमें बहुत दूर रखे। अब स्तोता अभीष्ट वस्तुओंके द्वारा जिन्हें हमें प्राप्त करना है, अहिर्बुध्न्य (आधारस्थित सर्प) के साथ द्यौ और पृथिवी—इन देवियोंकी स्तुति करे, मानो अपने विशाल संचरणके द्वारा उस समुद्रको अधिकृत करनेके लिए उन्होंने उन (छिपी हुई) नदियोंको खोल दिया हो जो जाज्वल्यमान ज्योतिसे मुखरित हैं। अदिति देवी देवोंके साथ हमारी रक्षा करे, दिव्य परित्राता सदा जागरूक रहता हुआ निरंतर हमारा उद्धार करे। मित्र और वरुणके मूल धामके और अग्निके उच्च स्तरके नियमोंका हम कभी उल्लंघन न करें। अग्नि ऐश्वर्य-सम्पदाओंके उस विशाल सारतत्त्वका और सर्वांगपूर्ण उपभोगका स्वामी है। वह उन प्रचुर ऐश्वर्योंको हमपर मुक्त हस्तसे लुटाता है। हे उषा! हे सत्यकी वाणी! बल और ऐश्वर्यकी सम्राज्ञी! हमारे पास बहुतसे अभीष्ट वर ला, तू जिसमें उनका समस्त वैभव है। इसी लक्ष्यकी ओर सविता, भग, वरुण, मित्र, अर्यमा, इन्द्र हमारे परम आनंदके ऐश्वर्योंके साथ हमारे लिए सम्यक्तया गति करें" (ऋ. IV.55)[1]।

---

1. को वस्त्राता वसवः को वरूता द्यावाभूमी अदिते त्रासीथां नः।
सहीयसो वरुण मित्र मर्तात् को वोऽध्वरे वरिवो धाति देवाः ॥1॥
प्र ये धामानि पूर्व्याण्यर्चान् वि यदुच्छान् वियोतारो अमूराः।
विधातारो वि ते दधुरजस्रा ऋतधीतयो रुरुचन्त दस्माः ॥2॥
प्र पस्त्यामदितिं सिन्धुमर्कैः स्वस्तिमीळे सख्याय देवीम्।
उभे यथा नो अहनी निपात उषासानक्ता करतामदब्धे ॥3॥
व्यर्यमा वरुणश्चेति पन्थामिषस्पतिः सुवितं गातुमग्निः।
इन्द्राविष्णू नृवदु षु स्तवाना शर्म नो यन्तममवद् वरूथम् ॥4॥
आ पर्वतस्य मरुतामवांसि देवस्य त्रातुरव्रि भगस्य।
पात् पतिर्जन्यादंहसो नो मित्रो मित्रियादुत न उरुष्येत् ॥5॥
नू रोदसी अहिना बुध्न्येन स्तुवीत देवी अप्येभिरिष्टैः।
समुद्रं न संचरणे सनिष्यवो घर्मस्वरसो नद्यो अप व्रन् ॥6॥
देवैर्नो देव्यदितिर्नि पातु देवस्त्राता त्रायतामप्रयुच्छन्।
नहि मित्रस्य वरुणस्य धासिमर्हामसि प्रमियं सान्वग्नेः ॥7॥

वरुण

'वरुण' शब्द हमें एक ऐसी धातुसे प्राप्त हुआ है जिसके अर्थ हैं—चारों ओरसे घेरना, आच्छादित या व्याप्त करना। इस नामके इन अर्थोंसे प्राचीन रहस्यवादियोंके काव्यमय चक्षुके सामने ऐसे रूपक उभरे जो हमारे लिए अनंतका निकटतम ठोस प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्होंने भगवान्‌को हमारे ऊपर छाए उच्चतम द्युलोकके रूपमें देखा, दिव्य सत्ताको सर्वतोव्यापी सागरके समान अनुभव किया, उसकी असीम उपस्थिति में उन्होंने ऐसे निवास किया मानों शुद्ध और सर्वव्यापी व्योममें निवास कर रहे हों। वरुण है यह उच्चतम द्युलोक, आत्माको चतुर्दिक् व्याप्त करनेवाला यह सागर, यह है आकाशीय प्रभुता और अनंत व्यापकता।

इसी धातुने उन्हें अंधकारपूर्ण आच्छादक—विरोधी वृत्र—के लिए भी नाम प्रदान किया था, क्योंकि इस धातुके अनेक सजातीय अर्थोंमेंसे कुछ ये भी हैं—बाधा डालना और प्रतिरोध करना, पर्दा डालना या वाड़ लगाना, घेरना और परिवेष्टित करना। परन्तु अंधकारपूर्ण वृत्र सघन बादल और आवरणकारी छाया है। उसका ज्ञान—क्योंकि उसे भी ज्ञान है जिसे माया कहते हैं—सीमित सत्ताका बोध है और अन्य सारी समृद्ध और विशाल सत्ताका जो हमारी होनी चाहिए, अवचेतन रात्रिमें छिपाए रखना है। सर्जनशील ज्ञानके इस निषेधके लिए और उसकी विरोधिनी शक्तिके लिए वह देवोंके विरुद्ध दृढ़तासे खड़ा होता है,—यह प्रभु और मानवके दिव्य अधिकारके विरुद्ध उसका अदिव्य अधिकार है। वरुण अपनी विशाल सत्ता और बृहत् दृष्टिसे इन सीमाओंको पीछे धकेल देता है; उसकी प्रभुता हमें अपने प्रकाश से चतुर्दिक् व्याप्त करती हुई उस चीज़को प्रकट कर देती है जिसे अंधकारमय वृत्रके पुनः-पुनः आक्रमणने रोक रखा और तिरोहित कर रखा था। उसका देवत्व आलिंगनकारी और प्रकाशप्रद अनंतताकी एक आकृति या आध्यात्मिक प्रतिमा है।

इस कारण वरुणकी भौतिक आकृति जाज्वल्यमान अग्नि या देदीप्यमान सूर्य

(पिछले पृष्ठकी टिप्पणीका शेष भाग)

अग्निरीशे वसव्यस्याऽग्निर्महः सौभगस्य। तान्यस्मभ्यं रासते ॥8॥
उषो मघोन्या वह सूनृते वार्या पुरु। अस्मभ्यं वाजिनीवति ॥9॥
तत् सु नः सविता भगो वरुणो मित्रो अर्यमा। इन्द्रो नो राधसा गमत् ॥10॥
ऋ. IV. 55.1-10

और ज्योतिर्मय उषाकी अपेक्षा बहुत कम सुनिश्चित है। प्राचीन भाष्यकारोंने विचित्र ढंगसे यह कल्पनाकी कि वह रात्रिका देवता है। पुराणोंमें वह जलोंका देवता है और उसका पाश, जो वेदमें मनोवैज्ञानिक रूपकसे अधिक कुछ होनेका दावा कभी नहीं करता, समुद्र-देवताका उग्र चाबुक बन गया है। यूरोपीय विद्वानोंने उसे यूनानी देवता यूरेनससे अभिन्न माना है और उसकी आदिम आकाशीय प्रकृतिके कुछ अंश देखकर एक विचारगत परिवर्तनकी कल्पना की है जो वरुणका ऊर्ध्ववर्ती नीलाकाशसे अधोवर्ती नीलाकाश-की ओर एक प्रकारका पतन या पदच्युति तक है। संभवतः इन्द्रके अन्तरिक्षका स्वामी और देवोंका राजा बन जानेसे आदि राजा वरुणको जलोंके आधिपत्यसे संतुष्ट होना पड़ा। यदि हम रहस्यवादियोंकी प्रतीकात्मक पद्धतिको समझें तो हम देखेंगे कि ये सब कल्पनाएँ अनावश्यक हैं। उनकी पद्धति है एकत्र रखे हुए नाना विचारों और रूपकोंको एक ऐसे सर्वसामान्य विचारमें संयुक्त कर देना जो उन्हें जोड़नेवाली सभी कड़ियाँ प्रदान करता है। इस प्रकार वेदका वरुण राजा है—वास्तविक द्युलोकोंका नहीं, क्योंकि उनका राजा है द्यौष्पिता, प्रकाशके द्युलोकोंका भी नहीं, क्योंकि उनका राजा है इन्द्र, बल्कि वह सबपर छाए हुए उच्चतम व्योमका और साथही सब सागरोंका राजा है। सब विस्तार वरुणके हैं, प्रत्येक अनन्तता उसीका ऐश्वर्य और संपदा है।

रहस्यवादी विचारमें आकाश और सागर परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं; इस एकताका उद्‌गम ढूँढ़नेके लिए दूर जानेकी जरूरत नहीं। सृष्टिके विषयमें हिमालयसे आंडिज (Andes) तक सारे संसारमें जो प्राचीन धारणा थी उसमें यह कल्पना की गई थी कि पदार्थोंका उपादान-तत्त्व है जलोंका आकाररहित विस्तार, जो प्रारंभमें अंधकारसे आच्छादित था और जिसमेंसे दिन और रात तथा द्युलोक और पृथ्वी और सब लोक बाहर निकले हैं। यहूदियोंके सृष्टयुत्पत्ति-प्रकरणमें कहा गया है कि "समुद्रके ऊपरी तल पर अंधकार था और ईश्वरकी आत्मा जलोंपर विचरण कर रही थी।" शब्दके द्वारा उसने समुद्रको अंतरिक्षसे विभक्त किया, जिसके परिणामस्वरूप अब यहाँ दो समुद्र हैं, एक पार्थिव जो अंतरिक्षके नीचे है, दूसरा द्युलोकीय जो अंतरिक्षके ऊपर है। इस सार्वभौम विश्वासको या इस वैश्व रूपकको गुह्यवादियोंने पकड़ा और इसमें अपने समृद्ध मनोवैज्ञानिक मूल्योंको भर दिया। एक अंतरिक्षकी जगह उन्होंने दो को देखा,—एक पार्थिव और दूसरा दिव्य। दो सागरोंके स्थानपर उनकी अनावृत दृष्टिके सामने तीन सागर प्रसारित हो उठे।

जो कुछ उन्होंने देखा वह एक ऐसी वस्तु थी जिसे मानव कभी आगे चलकर देखेगा जब प्रकृति और जगत्‌को देखनेकी उसकी भौतिक दृष्टि आंतरात्मिक दृष्टिमें बदल जायगी। उनके नीचे उन्होंने देखी अगाध रात्रि और तरंगित होता हुआ तमस्, अंधकारमें छिपा अंधकार, निश्चेतन समुद्र जिससे 'एकमेव' के शक्तिशाली तपस्‌के द्वारा उनकी सत्ता उद्भूत हुई थी। उनके ऊपर उन्होंने देखा प्रकाश और मधुरताका दूरवर्ती समुद्र जो उच्चतम व्योम है, आनन्दस्वरूप विष्णुका परम पद है, जिसकी ओर उनकी आकर्षित सत्ताको आरोहण करना होगा। इनमेंसे एक था अंधकारपूर्ण आकाश, आकारहीन, जड़, निश्चेतन असत्; दूसरा था ज्योतिर्मय व्योमसदृश सर्व-चेतन एवं निश्चेतन सत्। ये दोनों 'एकमेव'के ही विस्तार थे, एक अंधकारमय, दूसरा प्रकाशमय।

इन दो अज्ञात अनन्तताओंके अर्थात् अनन्त संभाव्य शून्य और अनन्त परिपूर्ण 'क्ष'के बीच उन्होंने अपने चारों ओर अपनी आंखोंके सामने, नीचे, ऊपर, नित्य विकसनशील चेतन सत्ताका तीसरा समुद्र देखा, एक प्रकारकी असीम तरंग देखी, जिसका उन्होंने एक साहसपूर्ण रूपकके द्वारा इस प्रकार वर्णन किया कि वह द्युलोकसे परे परमोच्च समुद्रों तक आरोहण करती या उनकी ओर प्रवाहित होती है। यह है वह भयानक समुद्र जो हमें पोत द्वारा पार करना है। इस समुद्रमें शक्तिशाली और प्रचण्ड-वेगमय राजा तुग्रका पुत्र, आनन्दोपभोगका अभिलाषी भुज्यु डूबने ही वाला था, क्योंकि उसे उसके मिथ्याचारी साथियोंने, दुष्टाचारी सत्ताओंने इसमें फेंक दिया था, परन्तु अश्विनीकुमारोंका रथ-पोत उसे बचानेके लिये द्रुत गतिसे आ पहुंचा। यदि हम ऐसे संकटोंसे बचना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हमारा सीमित संकल्प और विवेक वरुणके विशाल ऋत और सत्यके द्वारा अनुशासित हों। हम किसी मानवीय नाव पर न सवार हों, अपितु "निर्दोष और अच्छे चप्पूवाली दिव्य नौकापर आरोहण करें जो डूबती नहीं, जिसके द्वारा हम पाप और कलुषको पार कर सुरक्षित रूपसे समुद्रके पार पहुंच सकें।" इस मध्यवर्ती समुद्रके बीचमें पृथ्वीके 'ऊपर' हमने ज्ञानके सूर्यको निश्चेतनाकी गुहासे उदित होते हुए और द्रष्टाओंके नेतृत्वमें समुद्र-यात्रा करते हुए देखा है। क्योंकि यह भी तो एक समुद्री आकाश है। अथवा हम यूं कहें कि यह आकाशोंकी क्रमपरंपरा है। यदि हम इस वैदिक रूपकमालाका अनुसरण करना चाहें तो हमें यह कल्पना करनी होगी कि सागरके ऊपर सागर रखा हुआ है। यह जगत् ऐसी चोटियोंकी श्रृंखला है जो कि गहराइयां हैं और हैं अन्तहीन विशालताओंका एक दूसरीमें अवगुण्ठित होना

और एक दूसरीमेंसे विकसित होना। अधःस्थ व्योम ऊपरके सदा अधिकाधिक ज्योतिर्मय व्योमकी ओर उठता है, चेतनाका प्रत्येक स्तर बहुतसे निम्न स्तरोंपर आधारित है और बहुतसे उच्चतर स्तरोंकी अभीप्सा करता है।

परन्तु हमारे दूरतम आकाशोंसे परे प्रकाशके परम सागरमें और उच्चतम अतिचेतनात्मक विस्तारमें हमारा द्युलोक सत्यके रूपमें हमारी प्रतीक्षा कर रहा है। वह सत्य निम्नतर सत्यसे उसी प्रकार छिपा है जिस प्रकार निश्चेतन रात्रिमें अन्धकार उत्तरोत्तर बड़े अन्धकारके द्वारा परिवेष्टित और रक्षित होता है। वह है राजा वरुणका सत्य। उस ओर उषाएँ चमकती हुई उदित होती हैं, नदियां यात्रा करती हैं और सूर्य वहाँ अपने रथके अश्व खोल देता है। वरुण इस सबको अपनी विशाल सत्ता में तथा अपने असीम ज्ञानके द्वारा धारण करता है, देखता है और इसपर शासन् करता है। ये सब सागर उसीके हैं, और निश्चेतन समुद्र एवं उसकी रात्रियांतक जो अपने बाह्य रूपमें उसकी प्रकृतिके इतनी विपरीत हैं, उसीकी हैं। उसकी प्रकृति तो है सुखमय ज्योति और सत्यके एकमेव सनातन विशाल सूर्यकी विस्तृत जाज्वल्यमान प्रभा। दिन और रात, प्रकाश और अंधकार, उसकी अनंतता में प्रतीक-रूप हैं। "ज्योतिर्मय वरुण रात्रियोंको आलिंगित किए है, वह उषाओंको अपने सर्जनशील ज्ञानके द्वारा अपने अन्दर धारण करता है। अंतर्दृष्टिसे संपन्न वह प्रत्येक पदार्थके चारों ओर विद्यमान है।"

सागरोंके इस विचारसे ही संभवतः वैदिक नदियोंकी मनोवैज्ञानिक परिकल्पनाका उदय हुआ। ये नदियां सर्वत्र विद्यमान हैं। ये वे धाराएं हैं जो पर्वतसे नीचेकी ओर बहती हैं और वृत्रके अंधकारमय रहस्योंमेंसे गुजरती हुई और उन्हें अपने प्रवाहसे प्रकाशित करती हुई मनकी ओर आरोहण करती हैं; वे हैं द्युलोककी शक्तिशाली धाराएँ जिन्हें इन्द्र पृथ्वीपर लाता है; वे हैं सत्यकी धाराएँ; वे हैं इसके ज्योतिर्मय आकाशोंसे पड़नेवाली वर्षा; वे हैं सात शाश्वत बहिनें और सहेलियां; वे हैं दिव्य धाराएँ जिनके पास ज्ञान है। वे पृथ्वीपर उतरती हैं, सागरसे उद्भूत होती हैं, सागरकी ओर बहती हैं, पणियोंके द्वारोंको तोड़कर बाहर निकल जाती हैं, परम समुद्रोंकी ओर आरोहण करती हैं।

सागरसदृश वरुण इन सब धाराओंका राजा है। यह कहा गया है कि "नदियोंके उद्भवमें वह सात बहिनोंका भाई है, वह उनके मध्यमें स्थित है" (ऋ. VIII. 41 2)[1]। एक दूसरे ऋषिने गाया है "नदियोंमें वरुण अपने

---

1. नाभाकस्य प्रशस्तिभिर्यः सिन्धूनामुपोदये सप्तस्वसा स मध्यमो नभन्तामन्यके समे॥ ऋ. VIII. 41.2

कार्योंके विधानको धारण करता हुआ, साम्राज्यके लिए अपने संकल्पमें पूर्णता से युक्त होकर बैठा है" (ऋ. I. 25.10)[1]। वशिष्ठ ऋषि उन धाराओं के विषयमें मनोवैज्ञानिक संकेतोंका स्पष्ट अंबार लगाते हुए कहता है कि "वे दिव्य, पवित्र, पावक और मधुस्रावक हैं जिनके मध्यमें राजा वरुण प्राणियोंके सत्य और असत्यको देखता हुआ प्रयाण करता है" (ऋ. VII. 49.3)[2]। वरुण भी इन्द्रकी तरह जिसके साथ प्रायः ही उसका सम्बन्ध जोड़ा जाता है जलधाराओंको मुक्त करता है; उसके शक्तिशाली हाथोंसे वेगपूर्वक प्रचालित होकर वे भी उसकी तरह सर्वव्यापक बन जाती हैं और असीम लक्ष्यकी ओर प्रवाहित होती हैं। "विशाल धारक, अनंतताके पुत्रने उन्हें सब ओर मुक्त कर दिया है; नदियां वरुणके सत्यकी ओर यात्रा करती हैं" (ऋ. II.28.4)[3]।

न केवल लक्ष्य अपितु प्रयाण भी उसीका है। "शक्ति और सहस्र-विध दृष्टिसे युक्त वरुण इन नदियोंके लक्ष्यको देखता है। वह राज्योंका राजा है, वह नदियोंका साक्षात् रूप है, उसीके लिए है परम और वैश्व शक्ति।" उसकी समुद्रीय गति सत्ताके साम्राज्योंको आच्छादित किए है और द्युलोकोंके भी द्युलोकके स्वर्गकी ओर आरोहण करती है। यह कहा गया है कि "यह है गुप्त सागर और द्युलोकको पार करता हुआ वह ऊपर आरोहण करता है; जब वह इन उषाओंमें यज्ञीय शब्दको स्थापित कर चुकता है, तब अपने ज्योतिर्मय पगसे भ्रांतियोंको रौंदकर चूर-चूर कर देता है और स्वर्गकी ओर आरोहण करता है" (ऋ. VIII. 41.8)[4]। हम देखते हैं कि वरुण जब उत्तरोत्तर अभिव्यक्त होकर भगवन्मुक्त ऋषिकी आत्मामें अपनी अनन्त विशालता एवं परमानन्दकी ओर उठता है, तब वह प्रच्छन्न भगवान्‌की समुद्रीय तरंग ही होता है।

वह अपने पदचापसे जिन भ्रांतियोंको छिन्न-भिन्न करता है वे पापके

---

1. नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः॥
ऋ. I. 25.10

2. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
मधुश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥
ऋ. VII.49 3

3. प्र सीमादित्यो असृजद् विधर्तां ऋतं सिन्धवो वरुणस्य यन्ति॥
ऋ. II. 28.4

4. स समुद्रो अपीच्यस्तुरो द्यामिव रोहति नि यदासु यजुर्दधे।
स माया अर्चिना पदाऽस्तृणान्नाकमारुहन्नभन्तामन्यके समे॥
ऋ. VIII. 41.8

अधिपतियोंकी मिथ्या कृतियाँ हैं। क्योंकि वरुण दिव्य सत्यका यह व्योम एवं दिव्य सत्ताका सागर है, इसलिए वह एक ऐसी सत्ता है कि कोई मानवी-कृत भौतिक समुद्र या आकाश वैसी सत्ता कभी नहीं बन सकता। वह है पवित्र और महामहिम सम्राट् जो बुराईका ध्वंस करता और पापसे मुक्त करता है। पाप है दिव्य सत्य और ऋतकी पवित्रताका उल्लंघन; इसकी प्रतिक्रिया है पवित्र और बलशाली देवका कोप। जो लोग अंधकारके पुत्रों-की तरह अपने अहंकी इच्छा और अज्ञानकी गुलामी करते हैं उनके विरुद्ध दिव्य विधानका राजा वेगपूर्वक अपने अस्त्र फेंकता है, उनपर उसका पाश उतर आता है। वे वरुणके जालमें फंस जाते हैं। परन्तु जो यज्ञके द्वारा सत्यकी खोज करते हैं वे रस्सेसे खोले गए बछड़ेकी तरह या वध-स्तंभसे छोड़े गए पशुकी तरह पापके बंधनसे मुक्त हो जाते हैं। ऋषिगण वरुणकी प्रतिशोधात्मक हिंसाकी बारबार निन्दा करते हैं और उससे प्रार्थना करते हैं कि वह उन्हें पापसे और उसके प्रतिफल-रूप मृत्युसे मुक्त कर दे। वे ऊंचे स्वरसे पुकारते हैं कि "विनाशको हमसे दूर हटा दे। जो पाप हमने किया है उसे भी हमसे अलग कर दे"; अथवा सदा ही श्रृंखला व बंधनके उसी प्रसिद्ध अर्थमें वे कहते हैं कि "पापको पाशके समान मुझसे काटकर पृथक् कर दे।"

पाप स्वभावगत दुष्टताका परिणाम है,—इस अपरिपक्व धारणाको इन गंभीर मनीषियों और सूक्ष्म मनोविज्ञान-वेत्ताओंके विचारमें कोई स्थान नहीं था। जो कुछ उन्होंने अनुभव किया वह थी अज्ञानकी बड़ी हठीली शक्ति, या तो मनमें ऋत एवं सत्यको न अनुभव करना या इच्छाशक्तिमें उसे न पकड़ पाना या उसका अनुसरण करनेमें प्राणकी सहजप्रेरणाओं और काम-नाओंकी असमर्थता या दिव्य विधानकी महत्ताकी ओर उठनेमें भौतिक सत्ता-की निरी अक्षमता। वशिष्ठ एक भावुकतापूर्ण स्तोत्रमें शक्तिशाली वरुण-को पुकारकर कहता है "हे पवित्र! हे बलशाली देव! संकल्पकी दीनता-के वश ही हमने तुम्हारे विरुद्ध आचरण किया है, हमारे प्रति दयालु हो, हमपर कृपा करो। तुम्हारे स्तोताको तृष्णाने आ घेरा है यद्यपि वह जलोंके बीच खड़ा है; हे बलशाली प्रभो! दया दिखाओ, कृपा करो। हे वरुण! जो कुछ हम मानवप्राणी करते हैं वह चाहे जो भी हो, दिव्य जन्मके विरुद्ध हम जो अभिद्रोह करते हैं, जहां कहीं भी अज्ञानसे हमने तुम्हारे नियमोंकी अव-हेलना की है, हे प्रभो! उस पापके लिए हमपर प्रहार मत करो" (ऋ. VII. 89.3-5)[1]।

---

1. क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे। मृळा सुक्षत्र मृळय॥
अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्। मृळा सुक्षत्र मृळय।

पापकी यह जननी अविद्या अपने सारभूत परिणाममें एक त्रिविध पाश-का—सीमित मन, कार्य-अक्षम प्राण और तमसाच्छन्न भौतिक पाशविक सत्ता की त्रिविध रज्जुका—रूप धारण करती है, जिससे ऋषि शुनःशेपको बलि-पशुके रूपमें यज्ञ-स्तंभसे बांधा गया था। इसका पूरा परिणाम है सत्ताकी संघर्षरत या निष्क्रिय दीनता। मर्त्य निरानंदताकी तुच्छता और सत्ताकी अपूर्णता ही प्रतिक्षण पतनको प्राप्त होती हुई मृत्युकी ओर जा रही है। जब शक्तिशाली वरुण आता है और इस त्रिविध बंधनको काट फेंकता है तब हम ऐश्वर्य और अमरताकी ओर मुक्त हो जाते हैं। हमारे अन्दरका वास्तविक पुरुष उन्नीत होता हुआ अविभक्त सत्तामें अपने सच्चे राजत्वकी ओर उठता है। ऊर्ध्व पाश ऊपर उड़ता है और जीवात्माके पंखोंको अति-चेतन शिखरोंमें खोल देता है। मध्यका पाश दोनों ओर और सब ओर खुल पड़ता है,—संकुचित जीवन अपनी सीमाएँ तोड़कर सत्ताके सुखमय विस्तारमें जा मिलता है; नीचेका पाश खुलकर नीचे गिर जाता है और हमारी शारीरिक सत्ताकी मिश्रधातुको अपने साथ ले जाता है ताकि वह लुप्त हो जाए एवं निश्चेतनकी मूल धातुमें विलीन हो जाए। यह मुक्ति ही शुनःशेपके दृष्टांत तथा वरुणके प्रति उसके दो महान् सूक्तोंका आशय है।

जैसे सत्तामें विद्यमान अज्ञान या असत्य—वेद साधारणतया कम गूढ़ शब्दा-वलीको पसंद करता है—पाप और तापका कारण है, उसी प्रकार ज्ञान या सत्य वह साधन है जो पवित्र और मुक्त करता है। जिस आंखसे वरुण देखता है वह है ज्योतिर्मय प्रतीकात्मक सूर्य। इस आंखके कारण ही वह पवित्र करनेवाला है। दिव्य विचारका शिक्षण देते समय जबतक वह हमारे संकल्पपर शासन नहीं करता और हमें विवेक नहीं सिखाता तबतक हम देवोंकी नौकापर आरूढ़ नहीं हो सकते और न ही उसके द्वारा सब पाप और स्खलनसे परे जीवन-सागरके पार पहुंच सकते हैं। हमारे अन्दर ज्ञान-संपन्न मनीषीके रूपमें निवास करता हुआ वरुण हमारे किए पापको काटकर पृथक् कर देता है; हमारी अज्ञानावस्थाके ऋणोंको वह अपनी राजशक्तिसे रद्द कर देता है। या एक भिन्न रूपकका प्रयोग करते हुए वेद हमें बतलाता है कि इस सम्राट्की सेवामें एक हजार चिकित्सक हैं, उनके द्वारा हमारी

(पिछले पृष्ठकी टिप्पणीका शेष)

यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि।
अचित्ती यत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः॥
ऋ. VII. 89.3,4,5

मानसिक तथा नैतिक दुर्बलताओंका उपचार हो जानेपर ही हम वरुणकी विशाल और गंभीर सुमति[1]में एक सुरक्षित आधार पाते हैं।

महान् वरुणका राजत्व है समस्त सत्तापर असीम साम्राज्य। वह है शक्तिशाली विश्व-शासक राजाधिराज, 'सम्राट्'! उसके विशेषण और वर्णन ऐसे हैं जिन्हें धार्मिक और साथ-ही-साथ दार्शनिक मनवाला मनीषी विना परिवर्तनके या बहुत ही कम परिवर्तनके साथ परम तथा वैश्व देवके लिए प्रयुक्त कर सकता है। वह साक्षात् विशालता और बहुविधता है। उसके सामान्य विशेषणोंमें कुछ ये हैं—विशाल वरुण, प्राचुर्यमय वरुण, ऐसा वरुण जिसका निवासस्थान है विस्तार, बहुत जन्मोंवाला[2] वरुण। परन्तु उसकी बलशाली सत्ता न केवल एक वैश्व विस्तार है वह एक वैश्व शक्ति और सामर्थ्य भी है। वेदने उसका वर्णन ऐसे शब्दोंमें किया है जिनके दोनों अर्थ हैं—बाह्य और आंतरिक। "तेरी शक्ति और सामर्थ्य एवं मन्यु-को न तो ये पक्षी अपने प्रयाणमें प्राप्त कर सकते हैं, न निर्निमेष गति करती हुई ये धाराएँ, और न ही वे प्राप्त कर सकते हैं जो वायुकी विपुलतामें बाधा डालते हैं" (ऋ. I. 24.6)[3]। यह वैश्व सत्ताकी एक शक्ति है जो सब जीवधारियोंके चारों ओर और उनके अन्दर सक्रिय है। शक्ति और सत्ता-की इस विशाल विश्वमयताके पीछे विश्वमय ज्ञानकी विशाल विश्वमयता निरीक्षण और कार्य कर रही है। राजत्वका विशेषण निरंतर ही ऋषित्वके विशेषणके साथ युगल-रूपमें प्रयुक्त किया गया है, निष्प्रभाव ढंगसे नहीं अपितु प्रबल, अर्थगर्भित प्राचीन शैलीसे। वरुण शूरवीरकी अनेकविध ऊर्जा और मनीषीकी विशाल अभिव्यक्तिसे संपन्न है; वह शक्तिकी महिमासे मंडित देवताके रूपमें हमारे पास आता है और उसी गतिमें हम उसमें विशाल-दृष्टिमय आत्मा पाते हैं।

उसके लिये राजा और ऋषिके इन दो विशेषणोंके सतत संयोजनका पूरा तात्पर्य उसकी प्रभुताके द्विविध स्वरूपमें प्रकट होता है। वह है 'स्वराट्' और 'सम्राट्', आत्मशासक और सर्वशासक। आर्य राजत्वके ये दो

---

1. शतं ते राजन् भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु। ऋ. I. 24.9

2. विश्वायुः। ऋ. 4.42.1

3. नहि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं वयश्चनामी पतयन्त आपुः।
नेमा आपो अनिमिषं चरन्तीर्न ये वातस्य प्रमिनन्त्यभ्वम्॥ ऋ. I.24.6

पहलू हैं। मानवमें ये हैं विचार और कार्यकी प्रभुता एवं प्रज्ञा और संकल्पका पूर्ण वैभव; राजर्षि और वीर मनीषी। उस देवमें अर्थात् "सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सहस्राक्ष सत्य-स्वरूप" वरुणमें, ये हमें परात्पर तथा वैश्व तत्त्वों तक उठा ले जाते हैं; हम दिव्य और शाश्वत प्रभुसत्ताको, चेतनाके पूर्ण ऐश्वर्य और शक्तिके संपूर्ण वैभवको, सर्वशक्तिमान् प्रज्ञा, सर्वज्ञ शक्ति, समर्थित विधान और पूर्णतया चरितार्थ सत्यको प्रकाशित हुआ देखते हैं।

इस भव्य परिकल्पनाके वैदिक प्रतीक वरुणका वर्णन सुन्दर ढंगसे यूं किया गया है कि वह विराट् मनीषी एवं सत्यका संरक्षक है। यह कहा गया है कि उसीमें समस्त प्रज्ञाएं अवस्थित हैं और वहां अपने केन्द्रमें एकत्रित हैं। वह है दिव्य द्रष्टा जो मनुष्यके क्रांतदर्शी ज्ञानोंको इस प्रकार पोषित करता है मानों द्युलोक अपना रूप विस्तारित कर रहा हो। यहां हम ज्योतिर्मय गौओंके प्रतीककी कुंजी पाते हैं। क्योंकि उसके विषयमें कहा गया है कि लोकोंका आश्रयदाता वह इन तेजस्वी गौओंके गुप्त नाम जानता है और द्रष्टाओंके विचार उस विशाल दृष्टिवालेकी कामना करते हुए उसकी ओर बहुत परे जाते हैं जैसे गौएं चरागाहकी ओर जाती हैं। उसके विषयमें यह भी कहा गया है कि वह ज्ञानमें महिमायुक्त मरुतोंके लिए मनुष्योंके विचारोंकी इस प्रकार रक्षा करता है जैसे यूथकी गौओंकी।

यह है विचारका पक्ष; इसीके समानान्तर कार्यके पक्षके भी वर्णन पाए जाते हैं। महान् वरुण जगत्के उदीयमान विचारोंकी तरह ही उनके ऊर्ध्वीकृत बलोंका भी आधार और केन्द्र है। अविजित क्रियाएँ जो सत्यसे स्खलित नहीं होतीं उसमें ऐसी प्रतिष्ठित हैं जैसे कि एक पर्वतपर। क्योंकि वह परात्पर वस्तुओंको इस प्रकार जानता है, अत: वह हमारी सत्तापर सर्वोच्च प्रभुताकी महिमामयी दृष्टि डालनेमें समर्थ है और वहां वह "जो कार्य किए जा चुके हैं और जो अभी किए जाने शेष हैं" (ऋ. 1.25.11)[1], जिन चीजोंको करना बाकी है—और जिन्हें जानना भी बाकी है उन सबको देखनेकी क्षमता रखता है। वरुणकी प्रज्ञा हमारे अन्दर उस दिव्य शब्दको घड़ती है जो अन्त:प्रेरित और अन्तर्ज्ञानमय होनेके कारण नये ज्ञानका द्वार खोल देता है। ऋषि पुकारकर कहता है, "हम पथके अन्वेषकके रूपमें उसकी कामना करते हैं, क्योंकि वह हृदयके द्वारा विचारको अनावृत कर देता है; नये सत्यका जन्म हो।" क्योंकि यह राजा पाशविक और मूढ़

---

1. अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति।
कृतानि या च कर्त्वा॥ ऋ. I. 25.11

चक्रका चालक नहीं; उसके चक्र निरर्थक विधानके निष्फल चक्र नहीं; वहां है एक पथ; वहां है एक सतत प्रगति एवं लक्ष्य।

वरुण इस पथपर हमारा नेता है। शुनःशेप पुकारकर कहता है, "संकल्पमें पूर्ण, अनन्तताका-पुत्र हमें सन्मार्गसे ले चले और हमारे जीवनको आगे-आगे बढ़ाये। वरुणने अपना प्रकाशका सुनहरा वस्त्र पहन रखा है और उसके गुप्तचर उसके चारों ओर विद्यमान हैं" (ऋ. 1.25.12,13)[1]। ये गुप्तचर हमारे हृदयके वेधक, प्रकाशके प्रच्छन्न शत्रुओंको ढूंढ़ निकालते हैं—जो, हमारी समझमें, हृदयके द्वारा सत्य-विचारके अनावरणको रोकना चाहते हैं। क्योंकि, हम इस यात्राको, जिसे हम धाराओंके प्रयाणके रूपमें देख चुके हैं, सूर्यकी यात्राके रूपमें भी देखते हैं जिसका पथ-प्रदर्शक है सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् राजा। उस बृहत्‌में, जहां कोई आधार नहीं है, वरुणने अग्निके लिए यज्ञके इंधनका एक ऊंचा स्तूप बनाया है जो दिव्य सूर्यकी जाज्वल्यमान सामग्री ही होना चाहिये। "उसकी किरणें नीचेकी ओर प्रेरित हैं, उनका आधार ऊपर है; ज्ञानकी उनकी अनुभूतियां हमारे अन्दर स्थापित हों। राजा वरुणने सूर्यके चलनेके लिए एक विशाल पथ बनाया है; जहाँ चरण रखनेकी कोई जगह नहीं वहां भी उसने उसके चरण रखनेके लिए स्थान बनाये हैं। वह हृदयके वेधकोंको भी प्रकाशमें लायगा" (ऋ. I. 24.7, 8)[2]। उसकी पवित्रता है आत्माको हानि पहुंचानेवालेकी महान् भक्षिका।

पथ है नए सत्य, नयी शक्तियों, उच्चतर उपलब्धियों और नये लोकोंकी सतत रचना और निर्माण। वे सारी चोटियाँ, जिनकी ओर हम अपनी भौतिक सत्ताकी नींवसे आरोहण कर सकते हैं, एक प्रतीकात्मक अलंकारके द्वारा पृथ्वीपर विद्यमान पर्वत-शिखरोंके रूपमें वर्णितकी गई हैं तथा अन्तर्दृष्टिमय वरुण उन सबको अपने अन्दर धारण करता है। किसी महान्

---

1. स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्।
प्र ण आयूंषि तारिषत्॥
बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम्।
परि स्पशो नि षेदिरे॥ ऋ. I. 25.12,13

2. अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः।
नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः॥
उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ॥
अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित॥
I.24.7,8

पर्वतके एक स्तरसे उत्तरोत्तर उच्च स्तरके रूपमें लोकके बाद लोकमें पहुंचा जाता हैं। ऐसा कहा जाता है कि वरुणके अग्रगामी प्रयाणमें यात्रा करनेवाला पथिक उन सब-वस्तुओंपर अपनी पकड़ रखता है जो किन्हीं भी भूमिकाओंमें उत्पन्न होती हैं। परन्तु उसका अन्तिम लक्ष्य देवका उच्चतम त्रिविध लोक ही होना चाहिए। "तीन आनन्दपूर्ण उषाएं उसकी क्रियाओंके विधानके अनुसार बढ़ती हैं। सर्वदर्शी प्रज्ञासे युक्त वह देव तीन श्वेत उज्ज्वल भूमियोंमें निवास करता है। वरुणके तीन उच्चतर लोक हैं जहाँसे वह सात और सातके सामंजस्योंपर शासन करता है। वह उस मूलधामका निर्माता है जिसे वरुणका 'वह सत्य' कहते हैं, और वही है संरक्षक और संचालक" (देखो ऋ. VIII. 41.9-10)[1]।

तो साररूपमें, वरुण विशाल सत्ता, विशाल ज्ञान और विशाल सामर्थ्यका द्युलोकीय, सागर-सदृश, अनन्त सम्राट् है, एकमेव परमात्माकी क्रियाशील सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ताकी अभिव्यक्ति है, सत्यका शक्तिशाली संरक्षक, दंडदाता तथा उपचारकर्ता है, पाशका अधिपति व बंधनोंसे मुक्ति देनेवाला है जो विचार और क्रियाको सुदूरवर्ती व ऊर्ध्वस्थित सत्यकी विशाल ज्योति और शक्तिकी ओर ले जाता है। वरुण सब राज्यों और समस्त दिव्य और मर्त्य सत्ताओंका राजा है; पृथ्वी और द्युलोक तथा प्रत्येक लोक केवल उसीके अधिकार-क्षेत्र हैं।

मित्र

यदि वरुणकी पवित्रता, अनंतता और सबल प्रभुता दिव्य सत्ताका भव्य एवं विशाल आधार और गरिमामय सारतत्त्व हैं तो मित्र उसका सौन्दर्य और पूर्णत्व है। अनंत, पवित्र और स्वराट्-सम्राट् बनना ही दिव्य मानवका स्वभाव होना चाहिए क्योंकि इस प्रकार ही वह परमात्माके स्वभावमें सहभागी बनता है। परन्तु वैदिक आदर्श दिव्य प्रतिमूर्तिकी एक विशाल और अचरितार्थ योजनासे ही संतुष्ट नहीं होता। इस विशाल आधारमें उत्कृष्ट

---

1. यस्य श्वेता विचक्षणा तिस्रो भूमीरधिक्षितः।
त्रिरुत्तराणि पप्रतुर्वरुणस्य ध्रुवं सदः
स सप्तानामिरज्यति नभन्तामन्यके समे ।।
यः श्वेताँ अधिनिर्णिजश्चक्रे कृष्णाँ अनुव्रता।
स धाम पूर्व्यं ममे यः स्कम्भेन वि रोदसी
अजो न द्यामधारयन्नभन्तामन्यके समे ।।
ऋ. VIII.41.9,10

तथा समृद्ध सामग्री भी होनी चाहिए। हमारी सत्ताका अनेक-कक्षीय भवन वरुणमें प्रतिष्ठित है और मित्रको उसकी उपयोगिता और साज-सामानके समुचित सामंजस्यमें उसकी व्यवस्था करनी है।

क्योंकि वरुणदेव अनंतताके साथ-साथ प्रचुरता भी है। वह आकाशीय स्वर्गके समान ही एक सागर भी है। उसका सबल सारतत्त्व आकाशकी तरह निर्मल और सूक्ष्म होते हुए भी निष्क्रिय शान्तिकी गंभीर शून्यता या सहज धूमिलता नहीं है, अपितु हमने इसमें विचार और क्रियाका तरंगित प्रयाण देखा है। वरुणका वर्णन हमारे सामने इस प्रकार किया गया है कि वह नाभि-केन्द्र है जिसमें संपूर्ण प्रज्ञा संगृहीत है, और एक ऐसी पहाड़ी है जिसपर देवोंकी मूल और अस्खलित क्रियाएँ आश्रय लेती हैं। राजा वरुण ऐसा देव है जो सोता नहीं, अपितु सदा ही जागृत और नित्य-शक्तिशाली है, शाश्वत कालसे वह प्रभावकारी शक्ति है, सत्य और ऋतके लिए कार्य करनेवाला है। तो भी वह सत्य का घटक अंग होनेके बजाय उसके संरक्षकके रूपमें कार्य करता है अथवा वह उन अन्य देवोंकी क्रियाके द्वारा निर्माण करता है जो उसकी विशालता और तरंगित शक्तिसे लाभ उठाते हैं। वह तेजस्वी गोयूथोंको पालता है और उन्हें प्रचालित भी करता है, परन्तु उन्हें चरागाहोंमें एकत्रित नहीं करता, हमारे अंगोंका निर्माता होनेकी अपेक्षा कहीं अधिक वह हमारी शक्तियोंका धारक और हमारी विघ्नबाधाओं एवं शत्रुओंका निवारक है।

तो फिर इसके केन्द्रमें ज्ञानको कौन संगृहीत करता है, अथवा कार्योंके इस धारणकर्तामें दिव्य कर्मकी कड़ीको कौन जोड़ता है? मित्र सामंजस्यकारी है, रचयिता है, मित्र ही निर्माणकारी प्रकाश है, मित्र ही वह देव है जो उस यथार्थ एकताको साधित करता है जिसका वरुण एक सारतत्त्व है और है अनंततया आत्म-विस्तार करनेवाली परिधि। ये दो राजा अपने स्वभावमें और अपने दिव्य कर्मोंमें एक दूसरेके पूरक हैं। इन्हींमें हम विशालताके अन्दर सामंजस्य देखते हैं, इन्हींके द्वारा हम उसे प्राप्त करते हैं। इस देवमें हम निर्दोष पवित्रताके दर्शन करते हैं और उसे बढ़ाते हैं, जो पवित्रता प्रज्ञा में निष्कलंक प्रेमका आधार बनती है। इसलिए ये दोनों आत्म-परिपूरक परमेश्वरका एक महान् युग्म हैं और वैदिक वाणी विशालसे विशालतर यज्ञके प्रति इनका एक साथ आह्वान करती है, जिस यज्ञमें ये वर्धनशील सत्य के अविभाज्य निर्माताके रूपमें आते हैं। मधुच्छंदस् हमें उनकी एकीभूत दिव्यताका प्रधान स्वर प्रदान करता है। "मैं पवित्र विवेक-शक्तिवाले मित्र, और शत्रुके भक्षक वरुणका आह्वान करता हूँ। सत्यके

संवर्धक, सत्यका स्पर्श प्राप्त किए हुए मित्र और वरुण सत्यके द्वारा संकल्प की विशाल क्रियाको प्राप्त करते हैं। विशालतामें निवास करनेवाले, अनेकविध जन्म लेनेवाले द्रष्टा सत्यके कार्योंमें विवेकको धारण किए रहते हैं।" (ऋ. 1. 2. 7-9)[1]।

'मित्र' यह नाम एक ऐसी धातुसे आया है जिसका मूलतः अर्थ था दबावके साथ धारण करना और, इस प्रकार, आलिंगन करना और इसीने हमें सखाके लिए साधारण संस्कृत शब्द 'मित्र' दिया है और साथ ही आनंद के लिए पुरातन वैदिक शब्द 'मयस्'। 'मित्र' शब्दके प्रचलित भावपर ही वैदिक कवि इस प्रत्यक्ष सूर्यदेवताके मनोवैज्ञानिक व्यापारकी अपनी गुप्त कुंजीके लिए लगातार निर्भर करते हैं। जब दूसरे देवोंको और विशेषकर तेजोमय अग्निको यज्ञकर्ता मानवके सहायक मित्रोंके रूपमें वर्णित किया जाता है, तब उनके विषयमें कहा जाता है कि वे मित्र हैं, या मित्रकी तरह हैं, या मित्र बन जाते हैं,—अब हमें यूं कहना चाहिए कि दिव्य संकल्पशक्ति या देवकी कोई भी अन्य शक्ति एवं व्यक्तित्व अंतमें अपने आपको दिव्य प्रेमके रूपमें ही प्रकट करता है। इसीलिए हमें कल्पना करनी चाहिए कि इन प्रतीकवादियोंके लिए मित्र सारतः प्रेमका अधिपति, दिव्य सखा, मनुष्यों और अमर देवोंका दयालु सहायक था। वेदमें उसे देवोंमें प्रियतम कहा गया है।

वैदिक द्रष्टाओंने प्रेमपर ऊर्ध्वसे अर्थात् इसके स्रोत और मूलस्थानसे दृष्टिपात किया और उन्होंने अपनी मानवतामें उसे दिव्य आनन्दके प्रवाहके रूपमें देखा और ग्रहण किया। मित्रदेवके इस आध्यात्मिक वैश्व आनंदकी, वेदांतिक आनंद अर्थात् वैदिक मयस्की व्याख्या करती हुई तैत्तिरीय उपनिषद् इसके विषयमें कहती है कि "प्रेम इसके शीर्षस्थान पर है"। परन्तु प्रेमके लिए वह जिस शब्द 'प्रियम्'को पसंद करती है उसका ठीक अर्थ है आत्माके आंतरिक सुख और संतोषके विषयोंकी आनन्ददायकता। वैदिक गायकोंने इसी मनोवैज्ञानिक तत्त्वका उपयोग किया। उन्होंने "मयस्" और "प्रयस्"का जोड़ा बनाया है,—'मयस्' है सब विषयोंसे स्वतंत्र आंतरिक आनंदका तत्त्व और 'प्रयस्' है पदार्थों और प्राणियोंमें आत्माको मिलनेवाले हर्ष और सुखके रूपमें उस आनन्दका बहिःप्रवाह। वैदिक सुख है यही दिव्य

1. मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीं साधन्ता॥
ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा। क्रतुं बृहन्तमाशाथे॥
कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया। दक्षं दधाते अपसम्॥
ऋ. I.2. 7-9

आनंद जो अपने साथ पवित्र उपलब्धिका और सब पदार्थोंमें निष्कलंक सुखके अनुभवका वरदान लाता है। यह वरदान विशाल विश्वमयताकी स्वतंत्रतामें सत्य और ऋतके अमोघ स्पर्शपर आधारित है।

मित्र देवोंमें प्रियतम है, क्योंकि वह इस दिव्य भोगको हमारी पहुंचके अन्दर ले आता है और हमें इस पूर्ण सुखकी ओर ले जाता है। वरुण हमारे अन्दर सीधे ही बलको उत्पन्न करता है; हम उस शक्ति और संकल्पको खोज निकालते हैं जो पवित्रतामें विशाल होते हैं। अभीप्साकारी अर्यमा अपनी शक्तिके विस्तारमें वरुणकी अनंतताके द्वारा सुरक्षित होता है। वह वरुणकी विश्वमयताकी शक्तिके द्वारा अपने विशाल कार्य संपन्न करता है और अपनी महान् गतिको साधित करता है। मित्र सीधे ही आनंद उत्पन्न करता है। उपभोक्ता भग मित्रके सर्व-समन्वयकारी सामंजस्यके द्वारा, उसके यथार्थ विवेकके पवित्रीकारक प्रकाशके द्वारा, दृढ़ आधार प्रदान करनेवाले विधानके द्वारा निर्दोष उपलब्धि एवं दिव्य भुक्तिमें प्रतिष्ठित होता है। इसीलिए मित्रके विषयमें यह कहा गया है कि सभी सिद्धि-प्राप्त आत्माएँ "इस अक्षत प्रियदेवके आनंदको" दृढ़तया पकड़े रहती हैं या उसके साथ स्थिरतया संसक्त रहती हैं, क्योंकि इसमें न पाप है, न व्रण न स्खलन। समस्त मर्त्य आनंदमें उसका अपना मर्त्य संकट रहता है; परन्तु अमर प्रकाश एवं विधान मनुष्यकी आत्माको निर्भय आनंदमें सुरक्षित रखता है। विश्वामित्र कहता है (ऋ. III. 59. 2)[1] कि जो मर्त्य मित्रके विधानसे, अनन्तताके इस पुत्रके विधानसे शिक्षा प्राप्त करता है वह प्रयस्को उपलब्ध किये हुए है, वह आत्माकी अपने विषयोंमें तृप्ति प्राप्त किये हुए है। ऐसी आत्माका वध नहीं किया जा सकता, न उसे जीता जा सकता है, न ही कोई बुराई निकटसे या दूरसे उसपर अधिकार कर सकती है। क्योंकि मित्र देवों और मनुष्योंमें ऐसी प्रेरणाओंको गढ़ता है जिनकी क्रिया आत्माकी सब अभिलाषाओं को सहज भावसे पूरा कर देती है।

सर्वाधिपत्यकी वह सुखमय स्वतंत्रता हमें उस देवकी विश्वमयता और उसके सामंजस्यकारी ज्योतिर्मय सर्वभूत-आलिंगनमेंसे प्राप्त होती है। मित्रका तत्त्व समस्वरताका तत्त्व है जिसके द्वारा सत्यकी बहुविध क्रियाएँ परस्पर पूर्णतया परिणयबद्ध ऐक्यमें ग्रथित हो जाती हैं। 'मित्र' इस नामकी

---

1. प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्॥
ऋ. III. 59.2

धातुके दोनों अर्थ हैं––आलिंगन करना, समा लेना तथा धारण करना और फिर निर्मित या घटित करना अर्थात् समग्रके अंगों और उपादानोंको इकट्ठे जोड़ना। आराध्य **मित्रदेव** हमारे अंदर पदार्थोंके आनन्दपूर्ण व्यवस्थापक और परम शक्तिशाली राजाके रूपमें जन्म लेता है। **मित्र** द्युलोक और पृथ्वीको धारण किए है और लोकों और प्रजाओंपर निर्निमेष दृष्टि डालता है, और उसकी जागरूक और पूर्ण विधि-व्यवस्थाएँ हमारे अन्दर मन और हृद्भावकी सुखमय यथायुक्त स्थिति––**सुमति**, जिसे हम 'आत्मप्रसाद'की-सी स्थिति कह सकते हैं––उत्पन्न करती हैं, जो हमारे लिए अक्षत निवासस्थान बन जाती है। वेदमंत्र कहता है, "समस्त निरानन्द स्थितिसे मुक्त होकर, **वाग्देवीमें** हर्षातिरेकसे उल्लसित होते हुए, पृथ्वीकी विशालतामें घुटने नवाते हुए हम **मित्रके––अनन्तताके पुत्रके**––क्रिया-विधानमें अपना निवास-धाम प्राप्त करें और उसकी 'सुमति'में निवास करें" (ऋ. III. 59. 3)[1]। जब **अग्नि मित्र** बन जाता है, जब दिव्य **संकल्प** दिव्य **प्रेमको** उपलब्ध कर लेता है तभी, वैदिक रूपकके शब्दोंमें, ईश्वर और ईश्वरी अपने प्रासादमें समस्वर होकर निवास करते हैं।

सत्यका समस्वरित सुख मित्रके कार्यका विधान है क्योंकि यह समस्वरता और पूर्णताप्राप्त मनःस्थिति **सत्य** और दिव्य **ज्ञानपर** ही आधारित हैं। ये **मित्र** और **वरुणकी मायासे** बनायी जाती, स्थिर और सुरक्षित रखी जाती हैं। यह प्रसिद्ध शब्द **माया** उसी धातुसे बना है जिससे मित्र। माया समग्रबोधात्मक, मात्री और निर्मात्री प्रज्ञा है जो चाहे दैवी हो या अदैवी, अदितिकी अविभक्त सत्तामें सुरक्षित हो या दितिकी विभक्त सत्तामें संघर्षरत, संपूर्ण नाटक एवं परिवेशको रचती है और उसकी संपूर्ण अवस्था को, उसके विधान और व्यापारको मर्यादित और निर्धारित करती है। माया क्रिया-शील उत्पादनंकर्त्री और निर्धारक दृष्टि है जो प्रत्येक प्राणीके लिए उसकी अपनी चेतनाके अनुसार उसका जगत् बनाती है। परन्तु मित्र है **प्रकाशका अधिपति, अनन्तताका पुत्र, सत्यका संरक्षक** और उसकी माया है एक अनन्त, परम, निर्भ्रांत सर्जनशील प्रज्ञाका अंग। **मित्र** हमारी सत्ताके अनेकानेक स्तरोंके सब क्रमिक सोपान और क्रमबद्ध धाम निर्मित करता है और उन्हें एक प्रदीप्त सामंजस्यमें परस्पर संयुक्त करता है। जो कुछ भी **अर्यमा**

---

1. अनमीवास इळया मदन्तो मितज्ञवो वरिमन्ना पृथिव्याः।
आदित्यस्य व्रतमुपक्षियन्तो वयं मित्रस्य सुमतौ स्याम॥
ऋ. III.59.3

अपने पथ पर अभीप्सा करता है उसे मित्रके 'धारणों' (धर्मों) या विधानों और उसके आधारों, भूमिकाओं और धामोंसे साधित करना होता है, मित्रस्य धर्मभिः, मित्रस्य धामभिः। क्योंकि 'धर्म' अर्थात् विधान वह है जो वस्तुओंको इकट्ठे धारण किए रखता है और जिसे हम पकड़े रहते हैं। 'धाम'का अर्थ है धर्म या विधानको प्रतिष्ठित सामंजस्यमें स्थापित करना, जो हमारे लिए हमारे जीवनकी भूमिकाका, हमारी चेतना, क्रिया और विचार-के स्वरूपका निर्माण करता है।

अदितिके अन्य पुत्रोंकी तरह मित्र ज्ञानका अधिपति है। वह ऐसे प्रकाशका स्वामी है जो नानाविध अन्तःप्रेरणाओंसे पूर्ण है, या वैदिक परिभाषाके अधिक निकट रहना चाहें तो यूं कह सकते हैं कि, ज्ञानके समृद्ध-तया विविध श्रवण (श्रुति)से पूर्ण है। सत्ताकी जिस विशालताका वह वरुणके साथ सांझे रूपमें आनंदोपभोग करता है उसमें वह सत्यकी सत्ता-की महिमासे द्युलोकका प्रभुत्व प्राप्त करता है या उसके ज्ञानकी इन अन्तः-प्रेरणाओं या अन्तःश्रवणों द्वारा पृथ्वी पर अपना विजयशील आधिपत्य विस्ता-रित करता है। इसलिए पांचों प्रकारकी आर्य प्रजाएँ इस तेजस्वी और सुन्दर मित्रको पानेके लिए प्रयास करती और उसकी ओर यात्रा करती हैं, वह अपनी ज्योतिर्मय शक्तिके साथ उनके भीतर आता है और अपनी विशा-लतामें सब देवोंका वहन करता है। वह महान् और आनन्दमय देव है जो जगत्में उत्पन्न प्राणियोंको उनके पथपर आरूढ़ कराकर उन्हें आगे ले चलता है। एक ऋचामें मित्र और वरुणमें यह भेद दिखाया गया है कि वरुण आत्माके परम पदका प्रभुत्वपूर्ण यात्री है, मित्र उस यात्रामें मनुष्योंको अग्रसर करता है। ऋषि कहता है, "अब भी मैं लक्ष्यकी ओर गति कर संकूँ और मित्रके पथपर यात्रा कर सकूँ।"

क्योंकि मित्र अपने सामंजस्यको वरुणकी विशालता और पवित्रताके बिना परिपूर्ण नहीं कर सकता, इसलिए उस महान् देवके संग इसका भी निरंतर आह्वान किया जाता है। आत्माकी सर्वोच्च भूमिकाएँ या स्तर उन्हींके हैं। मित्र और वरुणके आनन्दको ही हमारे अन्दर बढ़ना है। उनके विधानसे हमारी चेतनाका वह विशाल स्तर हमपर चमक उठता है और द्युलोक व पृथ्वी उनकी यात्राके दो मार्ग हैं। क्योंकि उनकी माता सत्यस्वरूप अदितिने उन्हें सर्वशक्तिमत्ताके लिए सर्वज्ञ और सर्वमहान्के रूप-में अपने अन्दर वहन किया है, और अखंड सत्ता, ज्योतिर्मय अदितिके साथ वे प्रतिदिन जागरूक रहते हुए चिपके रहते हैं, वही माता हमारे लिए प्रकाश-के उस जगत्में हमारे निवास-स्थानोंको धारण किए है और वे दोनों देव

उस लोककी देदीप्यमान शक्तिशालिताको प्राप्त करते हैं। वे हैं दो पुत्र जो सनातन कालसे अपने जन्मोंमें पूर्ण हैं और हमारे कार्यके विधानको धारे रहते हैं। वे एक विशाल ज्योतिर्मय शक्तिकी ही संतानें हैं, दिव्य विवेकशील विचारकी संतति हैं और संकल्पमें पूर्ण हैं। वे सत्यके संरक्षक हैं, परम व्योममें इसके विधानको अपने अंदर धारण किए हैं। स्वर् है उनका स्वर्णिम सदन और जन्मस्थान।

मित्र और **वरुण** अक्षत दृष्टिसे संपन्न हैं और हमारी दृष्टिकी अपेक्षा वे पथके अधिक अच्छे ज्ञाता हैं, क्योंकि ज्ञानमें वे सत्यके द्रष्टा हैं। अपने विवेकशील विचारके संवेगसे वे आच्छादक असत्यको उस सत्यसे परे हटा देते हैं जिसकी ओर हमें पथ द्वारा पहुंचना है। वे उस विशाल सत्यकी घोषणा करते हैं जिसके वे स्वामी हैं। क्योंकि वे इसके स्वामी हैं और इसके साथ-साथ संकल्पकी पूर्णताके भी स्वामी हैं जो सत्यका परिणाम होती है, इसीलिए वे हमारे अन्दर साम्राज्यके लिए आसीन हैं और सामर्थ्यके स्वामियोंके रूपमें हमारे कार्योंको थामे रहते हैं। वे पदार्थोंके ऊपर अपनी प्रभुतासे हमारे विचारोंको परिपुष्ट करते हुए सत्यसे सत्यको प्राप्त करते हैं और अपने परिपूत विवेकसे मनुष्योंमें स्थित इन्द्रियानुभूतिके द्वारा चेतनाकी आंखको संपूर्ण प्रज्ञाकी ओर खोल देते हैं। इस प्रकार सर्वदर्शी और सर्वज्ञ वे **मित्र** और **वरुण** विधानके द्वारा अर्थात् शक्तिशाली प्रभुकी **मायाके** द्वारा हमारे कार्योंकी रक्षा करते हैं, जैसे कि वे सत्यकी शक्तिसे सारे जगत् पर शासन करते हैं। वह **माया** द्युलोकोंमें प्रतिष्ठित है, प्रकाशमय सूर्यके रूपमें वहां विचरण करती है; वह उनका समृद्ध व आश्चर्यमय शस्त्र है। वे दूर-दूर तक सुननेवाले हैं, सत्य सत्ताके स्वामी हैं, स्वतः सत्यमय हैं, और प्रत्येक मानव प्राणीमें सत्यके संवर्धक हैं। वे तेजोमय गोयूथोंका पोषण करते हैं एवं द्युलोकके प्रचुर ऐश्वर्यकी वर्षा करते हैं, **शक्तिशाली प्रभुकी मायाके** द्वारा द्युलोककी वृष्टि कराते हैं। और वह दिव्य वृष्टि ही आध्यात्मिक आनन्दकी निधि है जिसकी द्रष्टागण अभीप्सा करते हैं—यही है अमरता[1]।

अर्यमा

चार महान् सौर देवोंमेंसे तीसरा, अर्यमा, ऋषियोंके आवाहनोंमें सबसे कम मुख्य है। उसे कोई पृथक् सूक्त संबोधित नहीं किया गया और यदि

1. **वृष्टिं वां राधो अमृतत्वमीमहे।** ऋ. 5 63.2

उसका नाम बार-बार आता है, तो भी वह जहां-तहां बिखरी ऋचाओंमें ही। ऋचाओंका ऐसा कोई प्रबल समुदाय नहीं जिससे हम उसके कार्य-व्यापारोंके संबंधमें अपना विचार दृढ़तापूर्वक बना सकें अथवा उसके बाह्य स्वरूपका गठन कर सकें। बहुधा उसका आवाहन केवल उसके कोरे नामसे, मित्र और वरुणके साथ किया जाता है अथवा अदितिके पुत्रोंके बृहत्तर समुदायमें प्रायः सदा ही अन्य सजातीय देवोंके साथ संयुक्त रूपमें। फिर भी ऐसी छः-सात आधी ऋचाएँ पाई जाती हैं जिनसे उसका एक मुख्य और विशिष्ट कार्य सत्यके अधिपतियोंके सामान्य विशेषणोंके द्वारा प्रकट होता है, वे विशेषण ज्ञान, आनन्द, अनन्तता और शक्तिके द्योतक हैं।

परवर्ती परंपरामें अर्यमाका नाम उन पितरोंकी सूचीमें शीर्षस्थान पर रखा गया है जिन्हें उनके उपयुक्त हविके रूपमें प्रतीकात्मक अन्न दिया जाता है, जिसे अन्त्येष्टि और श्राद्ध-संबंधी पौराणिक संस्कारोंमें पिंड कहा जाता है। पौराणिक परंपराओंमें पितरोंकी दो श्रेणियाँ हैं—दिव्य और मानवीय पितर, जिनमेंसे पिछले हैं हमारे पूर्वज, हमारे दिवंगत पितरोंकी आत्माएँ। परन्तु जिन पितरोंकी आत्माएँ स्वर्ग और अमरत्व प्राप्त कर चुकी हैं, उनके प्रसंगमें ही हमें अर्यमाके विषयमें विचार करना चाहिए। गीतामें श्रीकृष्णने पदार्थों और प्राणियोंमें विद्यमान सनातन देवकी मुख्य शक्तियों और विभूतियोंको गिनाते हुए अपने विषयमें कहा है कि मैं कवियोंमें उशना, ऋषियोंमें भृगु मुनियोंमें व्यास, आदित्योंमें विष्णु और पितरोंमें अर्यमा हूँ। यहाँ वेदमें पितर वे प्राचीन ज्ञानप्रदीप्त पुरुष हैं जिन्होंने ज्ञानका आविष्कार किया, पथका निर्माण और अनुसरण किया, सत्यको प्राप्त किया और अमरताको जीत लिया; उन थोड़ी-सी ऋचाओंमें, जिनमें अर्यमाका पृथक् व्यक्तित्व प्रकट हुआ है, उसकी स्तुति पथके प्रभुके रूपमें की गई है।

उसका नाम अर्यमा व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे 'अर्य', 'आर्य' और 'अरि' इन शब्दोंका सजातीय है। इन शब्दोंके द्वारा उन मनुष्यों या जातियोंका विशेष निर्देश किया जाता है जो वैदिक संस्कृतिका अनुसरण करती हैं तथा उन देवताओंका भी निर्देश किया जाता है जो उनके युद्धों और उनकी अभीप्साओं में उनकी सहायता करते हैं। अतएव 'अर्यमा' नाम इन्हीं शब्दोंकी तरह विशेष अर्थका सूचक है। 'आर्य' है पथका यात्री, दिव्य यज्ञके द्वारा अमरता का अभीप्सु, प्रकाशका एक दीप्तिमान् पुत्र, सत्यके स्वामियोंका पुजारी, मानवीय यात्राका विरोध करनेवाली अंधकारकी शक्तियोंके विरोधमें किए जानेवाले युद्धमें योद्धा। अर्यमा एक देवता है जिसकी दिव्य शक्तिपर इस आर्यत्वकी नींव निहित है। वही है यज्ञकी, अभीप्साकी, युद्धकी, पूर्णता और प्रकाश एवं

स्वर्गीय आनंदकी ओर यात्राकी यह शक्ति जिसके द्वारा पथका निर्माण किया जाता है, उसपर यात्राकी जाती है, समस्त प्रतिरोध और अंधकारको पार करते हुए उसके ज्योतिर्मय और सुखद लक्ष्य तक उसका अनुसरण किया जाता है।

परिणामस्वरूप, अर्यमा अपने कार्यमें पथके नेताओं—मित्र और वरुणके गुणोंको अपनाता है। यही शक्ति उस प्रकाश और समस्वरताकी सुखद प्रेरणाओंको और उस पवित्र विशालताके अनंत ज्ञान और सामर्थ्यकी गतिको चरितार्थ करती है। मित्र और वरुणकी तरह वह मनुष्योंको पथ पर यात्राके लिए प्रेरित करता है, वह मित्रके पूर्ण आत्मप्रसादसे भरा हुआ है। वह यज्ञके संकल्प व कार्यकलापमें पूर्ण है। वह और वरुण मर्त्योंके लिए पथको विशेष रूपसे निर्धारित करते हैं। वह वरुणकी तरह एक ऐसा देव है जो अपने जन्मोंमें अनेकविध है, उसकी तरह वह मनुष्योंके हिंसकके क्रोधका दमन करता है। अर्यमाके महान् पथके द्वारा ही हम असत्य या अशुभ विचारवाली उन सत्ताओंको पार कर जायेंगे जो हमारे पथमें बाधाएँ डालती हैं। इन राजाओंकी माता अदिति और अर्यमा हमें सुखद यात्राके मार्गोंसे समस्त विरोधी शक्तियोंसे परे ले जाते हैं। जो मनुष्य मित्र और वरुणकी क्रियाओंके ऋजुपथकी खोज करता है और शब्द व स्तुतिकी शक्तिसे अपनी समस्त सत्ताके द्वारा उनके विधानका आलिंगन करता है, वह अर्यमाके द्वारा अपनी प्रगतिमें रक्षित होता है।

परन्तु अर्यमाके कार्य-व्यापारको अत्यंत स्पष्ट करनेवाली ऋचा वह है जो उसका वर्णन इस प्रकार करती है, "अर्यमा अक्षत मार्ग और अनेक रथोंवाला है जो विविध आकारोंवाले जन्मोंमें यज्ञके सप्तविध होता की तरह निवास करता है" (ऋ. X.64.5)[1]। वह मानवीय यात्राका देवता है जो उसे उसकी अदम्य प्रगतिमें आगे ले जाता है और जब तक यह दिव्य शक्ति हमारी नेत्री है तबतक शत्रुके आक्रमण इस प्रगतिको परास्त नहीं कर सकते, न इसे सफलतापूर्वक रोक ही सकते हैं। यह यात्रा हमारे विकासकी बहुविध गतिके द्वारा और अर्यमाके अनेक रथों द्वारा साधित होती है। यह मानवीय यज्ञकी यात्रा है जो अपनी क्रियामें सप्तविध शक्तिसे युक्त है, क्योंकि हमारी सत्तामें सात प्रकारके तत्त्व विद्यमान हैं जिन्हें उनकी सर्वांगीण पूर्णतामें चरितार्थ करना होता है। अर्यमा यज्ञीय कर्मका स्वामी है जो दिव्य जन्मके देवताओंके प्रति इस सप्तविध क्रियाकी भेंट देता है। हमारे अन्दर स्थित अर्यमा हमारी सत्ताके आरोही स्तरोंमें हमारे जन्मके विविध रूप विकसित करता है, इन आरोही स्तरोंके द्वारा अर्यमाके मार्गके

1. अतूर्तपन्थाः पुरुरथो अर्यमा सप्तहोता विषुरूपेषु जन्मसु। ऋ. X.64.5

यात्री पितरोंने आरोहण किया था, और इन्हींके द्वारा अमरताके उच्चतम शिखर तक आरोहण करनेकी अभीप्सा आर्य आत्मामें होनी चाहिए।

इस प्रकार अर्यमा अपने अन्दर मनुष्यकी उस संपूर्ण अभीप्सा और गतिविधि को समेटे हुए है जो अपनी दिव्य पूर्णताकी ओर उसके सतत आत्म-विस्तार एवं आत्म-अतिक्रमणमें लगी हुई है। अटूट मार्गपर अर्यमाकी सतत गतिसे मित्र, वरुण तथा अदितिके पुत्र मानवीय जन्ममें अपनेको चरितार्थ कर लेते हैं।

भग

इस मार्गका लक्ष्य है दिव्य परमानन्द, सत्यका, हमारी सत्ताकी अनंतता-का अपरिमित हर्ष। भग देवता ही इस हर्ष और परमानन्दको मानव चेतनामें लाता है; वह मनुष्यके अन्दर दिव्य आनंदोपभोक्ता है। जीव-मात्रका लक्ष्य और ध्येय है—अस्तित्वका यह दिव्य उपभोग, इसकी खोज वह चाहे ज्ञानसे करे या अज्ञानसे, दिव्य सामर्थ्यसे करे अथवा अपनी अभी-तक अविकसित शक्तियोंकी दुर्बलतासे। "बलशाली मनुष्य अपने संवर्धनके लिए भगका आह्वान करता है, जो बलहीन है वह भी उसीको पुकारता है, तब वह आनंदकी ओर प्रयाण करता है" (ऋ. VII. 38.6)[1]। "हम उषाकालमें भगका आवाहन करें जो शक्तिशाली और विजयी है, अदितिका ऐसा पुत्र है जो विशाल आश्रयदाता है, आर्त, योद्धा और राजा जिसका ध्यान करते हैं और वे उस उपभोक्तासे कहते हैं 'हमें आनंदोपभोग प्रदान करो'" (ऋ. VII. 41.2)[2]। दिव्य भोक्ता (भग) ही आनंदोपभोगका स्वामी बने, और उसीके द्वारा हम भी आनंदोपभोगके स्वामी बनें। "हे भग! तुझे प्रत्येक मनुष्य पुकारता है, अवश्य ही तू हमारी यात्राका नेता बन, हे उपभोक्ता," (VII. 41.5)[3]। अपनी दिव्य उपलब्धियोंके विकासमें आनंद लेती हुई आत्माका वृद्धिशील एवं विजयशील आनंद जो हमें यात्रामें अग्रसर होने तथा विजय पानेके लिये तब तक बल देता रहता है जबतक हम अपने

---

1. भगमुग्रोऽवसे जोहवीति भगमनुग्रो अध याति रत्नम्॥
   ऋ. VII. 38.6
2. प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
   आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह॥
   ऋ. VII. 41.2
3. भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
   तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह॥
   ऋ. VII. 41.5

असीम परमानंदमें पूर्णताके लक्ष्य तक नहीं पहुंच जाते,—यह है मनुष्यके अन्दर भगके जन्मका चिह्न और यही है उसका दिव्य कार्य-व्यापार।

निश्चय ही समस्त उपभोग—मर्त्य और दिव्य—भग-सवितासे आता है; "मनुष्योंके लिए विस्तृत और विशाल शक्तिका सर्जन करता हुआ वह उनके लिए मर्त्य उपभोग लाता है।" किन्तु वैदिक आदर्श है संपूर्ण जीवनका समावेश और दिव्य और मानवीय संपूर्ण हर्ष का, पृथिवीके विस्तार और प्राचुर्यका, द्युलोककी विशालता एवं विपुलताका और उस मानसिक, प्राणिक तथा भौतिक सत्ताकी निधियोंका समावेश जिसे ऊँचा उठाकर और पवित्र करके अनंत और दिव्य सत्यके रूपमें सर्वांगपूर्ण बना दिया गया हो। सबको समाविष्ट करनेवाला यह आनंद ही भगकी देन है। मनुष्योंको उस उपभोक्ताका आह्वान करना चाहिए क्योंकि वह अनेक ऐश्वर्योंसे संपन्न है और सब आनन्दोंकी पूर्णतया व्यवस्था करता है,—उन त्रिगुणित, सात आनंदोंकी जिन्हें वह अपनी माता अदितिकी सत्तामें धारण किये है। जब हम अपने अन्दर "विस्तृत और विशाल शक्ति"का सर्जन कर लेते हैं और जब भगवान् भग, उषा और अनन्त-अविभक्त अदितिके रूपमें असीम चेतनाकी दीप्तियोंको परिधानकी तरह धारण कर लेता है और बिना विभाजनके सभी वांछनीय वरोंका वितरण करता हैं तभी दिव्य आनंद अपनी पूर्णतामें हमारे पास आता है। तब वह (भग) उस महत्तम आनंदका पूर्ण उपभोग मानव प्राणीको प्रदान करता है। इसलिए वसिष्ठ उसे पुकार-पुकारकर कहता है (ऋ. VII. 41.3)[1], "हे भग! हे हमारे पथप्रदर्शक, हे सत्यकी संपदासे संपन्न भग, हमें अपनी संपदा प्रदान करते हुए हमारे अन्दर इस विचारको" इस सत्य विचारको जिसके द्वारा आनंद प्राप्त होता है "उन्नत और संवर्धित करो, हे भग!"

भग स्रष्टा सविता है, जो अव्यक्त भगवान्से दिव्य विश्वके सत्यको ले आता है, इस निम्नतर चेतनाके उस दुःस्वप्नको हमसे दूर कर देता है जिसमें हम सत्य और असत्य, बल और दुर्बलता, हर्ष और शोकके विषम जालमें लड़खड़ाते रहते हैं। बन्दी बनानेवाली सीमाओंसे मुक्त एक अनंत सत्ता, दिव्य सत्यको विचारमें ग्रहण करने और संकल्पमें क्रियान्वित करनेवाला अनंत ज्ञान एवं बल, द्वैध, दोष या पापके बिना सबको अधिकृत करने और उनका उपभोग करनेवाला अनंत परमानन्द,—यही है भग-सविताकी

1. भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम॥
ऋ. VII. 41.3

सृष्टि, यही है वह महत्तम आनन्द। "दिव्य स्रष्टाकी इसी सृष्टिके बारेमें अदिति देवी हमें बतलाती है, इसीके बारेमें सर्वशासक वरुण, मित्र और अर्यमा एक मन और एक हृदयके साथ हमें बताते हैं।" चारों राजा अपनेमें सबसे छोटे और सबसे महान् आनंदोपभोक्ता भगकी मनुष्यमें आनंदमय पूर्णताके द्वारा अपने आपको अपनी अनंत माताके साथ परिपूरित और चरितार्थ पाते हैं। इस प्रकार चतुर्विध सविताकी दिव्य सृष्टि वरुणपर आधारित, मित्र द्वारा समन्वित और परिचालित, अर्यमा द्वारा निष्पादित और भगमें उपभुक्त होती है: अनंत मां अदिति अपनी तेजस्वी संतानोंके जन्म और कार्योंके द्वारा अपने आपको मनुष्यमें चरितार्थ करती है।

प्रकाशके अधिपति मित्रावरुणके सूक्त

पहला सूक्त

ऋ. 5.62

सत्य और आनंदके सहस्र-स्तंभ धामके अधिपति

[ऋषि उस शाश्वत तथा अपरिवर्तनीय सत्यकी स्तुति करता है जिसे परिवर्तनशील पदार्थोंका सत्य आवृत किये है। वही दिव्य ज्ञानके आविर्भूत सूर्यकी यात्राका ध्येय है। वह है सभी सत् पदार्थों और उस परमदेवकी शाश्वत एकता जिसके कि सभी देवता विविध रूप हैं। उसीमें यज्ञद्वारा प्राप्त सत्ता और ज्ञान तथा शक्ति व परम आनंदकी संपूर्ण संपदा एकत्र होती है। वही है वरुणकी विस्तृत निर्मलताओं एवं मित्रके उज्ज्वल सामंजस्योंकी बृहत् विशालता। वहाँ नित्य, स्थिर ज्ञानकी दिव्य ज्योतियोंके गोयूथ निवास करते हैं, क्योंकि वही सुखद क्षेत्र है जिसकी ओर वे यहाँ यात्रा कर रहे हैं। वैश्व गति और यात्राका प्रेरक हमारे अन्दर आन्तरिक प्रकाशकी उषाओंके द्वारा ऐसे ज्ञानको उंडेलता है जो रश्मिरूपी गायोंका दूध है। वहीं अमर्त्य सत्ताकी धाराएँ अवतरित होती हैं जिसके बाद उन मित्र और वरुण अर्थात् प्रकाश और पवित्रताकी, सामंजस्य और अनन्तताकी एक ही अखंड और पूर्ण गतिधारा प्रवाहित होती है। यही है द्युलोककी वर्षा जिसे ये दोनों देवता भौतिक सत्ताको उसके फलोंमें और दिव्य सत्ताको उसके प्रकाशकी सामूहिक प्रभाओंमें धारण करते हुए वरसाते हैं। इस प्रकार वे मनुष्यके अंदर दिव्य ज्ञानसे भरपूर शक्तिका और एक विशाल सत्ताका सर्जन करते हैं जिसकी वे रक्षा व संवर्धन करते हैं, और जो यज्ञके लिए बिछाया गया एक आसन होती है। इस सहस्रस्तंभयुक्त ज्ञान-शक्तिको वे अपने लिए एक धाम बनाते हैं और वहाँ शब्दके साक्षात्कारोंमें निवास करते हैं। यह अपनी आकृतिमें ज्योतिर्मय है और इसके जीवनके स्तंभ लौहशक्ति और स्थिरतासे युक्त हैं। वे उषःकालमें और ज्ञानसूर्यके उदयमें इसकी ओर आरोहण करते हैं और अपनी दिव्य दृष्टिके उस नेत्रसे अनंत और सांत सत्ताको एवं वस्तुओंकी अविभाज्य एकता और उनकी बहुविधताको निहारते हैं। यह है वह धाम जो परमके माधुर्य और हर्षोल्लास, अभेद्य

शक्ति और आनंदसे भरपूर और विशाल है और जिसे हम उनके पालक-पोषक रक्षणके द्वारा जीतना और अधिकृत करना चाहते हैं।]

1

ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्।
दश शता सह तस्थुस्तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम्॥

(ऋतेन) सत्य[1]से (वां) तुम दोनोंका (ध्रुवम् ऋतं) वह ध्रुव-सत्य[2] (अपिहितम्) ढका हुआ है (यत्र) जहाँ वे (सूर्यस्य) सूर्यके (अश्वान्) घोड़ोंको (विमुचन्ति) खोल देते हैं। वहाँ (दश शता) दस सौ[3]—हजार रश्मियां—(सह तस्थुः) एक साथ स्थिर रूपसे स्थित हैं। (तत् एकं) वह एक है। (वपुषाम् देवानाम्) देहधारी देवोंमें (श्रेष्ठं) सबसे महान् देव[4]के रूपमें (अपश्यम्) मैंने उसके दर्शन किये हैं।

2

तत्सु वां मित्रावरुणा महित्वमीर्मा तस्थुषीरहभिर्दुदुह्रे।
विश्वाः पिन्वथः स्वसरस्य धेना अनु वामेकः पविरा ववर्त्त॥

(मित्रावरुणा) हे मित्र और वरुण! (वां) तुम दोनोंकी (तत् सु महित्वम्) यही पूर्ण विशालता है। (ईर्मा) गति का अधिपति अपनी (तस्थुषीः) स्थिर दीप्तिओंकी गौओंको (अहभिः) दिनोंमें—प्रकाश-कालमें (दुदुह्रे) दोहता है। (स्वसरस्य विश्वाः धेनाः) आनंदमय भगवान्‌की संपूर्ण

---

1. वस्तुओंका क्रियाशील वैश्व सत्य। वस्तुएं अपनी देशकालगत परिवर्तन-शीलता और विभाज्यतामें प्रसारित और व्यवस्थित हैं। उनका क्रियाशील जागतिक सत्य उस शाश्वत तथा अविकारी सत्यको आवृत किये है जिसका वह आविर्भाव है।
2. शाश्वत सत्य दिव्य प्रकाश का लक्ष्य है जो हमारे अंदर उदित होता है और चमकते हुए ऊर्ध्व समुद्रसे होता हुआ ऊपरकी ओर ऊँचेसे ऊँचे द्युलोकोंमें यात्रा करता है।
3. दिव्य ऐश्वर्यका संपूर्ण प्राचुर्य अपने ज्ञान, शक्ति और आनंदकी वृष्टिधाराओं सहित।
4. एकमेव अर्थात् वह देव जो दिव्य सूर्य-रूपी अपने स्वरूपसे ढका हुआ है। तुलना करो ईशोपनिषद्‌के इस वचनसे, "हे सूर्य! जो तेज तेरा अत्यन्त कल्याणकारी रूप है उसके दर्शन मुझे करने दो। वहाँ, वहाँ जो पुरुष है वही मैं हूँ"—"तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि। योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।"

धाराओंको (वां) तुम दोनों (पिन्वथः) बढ़ाते हो और (एकः पविः) तुम्हारे रथका एक पहिया[1] (अनु आ ववर्त्त) उनके रास्तेमें गति करता है।

3

अधारयतं पृथिवीमुत द्यां मित्रराजाना वरुणा महोभिः।
वर्धयतमोषधीः पिन्वतं गा अव वृष्टिं सृजतं जीरदानू॥

(मित्रराजाना वरुणा) हे मित्रराजा और राजा वरुण (महोभिः) अपनी महानतासे तुम दोनों (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी और द्युलोकको (अधारयतम्) धारण करते हो। तुम (ओषधीः वर्धयतम्) ओषधियों, पृथिवीकी वनस्पतियोंको बढ़ाते हो। (गाः पिन्वतम्) द्युलोकके चमकते गोयूथोंको पुष्ट करते हो, (वृष्टिम् अव सृजतम्) इसकी जलधाराओंकी वर्षा लाते हो, (जीरदानू) हे वेगशाली शक्तिसे युक्त!

4

आ वामश्वासः सुयुजो वहन्तु यतरश्मयः उप यन्त्वर्वाक्।
घृतस्य निर्णिगनु वर्तते वामुप सिन्धवः प्रदिवि क्षरन्ति॥

हे मित्र और वरुण (वां) तुम दोनोंके (अश्वासः) अश्व (यतरश्मयः) सुनियंत्रित प्रकाशकी लगामोंसे (सुयुजः) अच्छी तरह जुते हुए (उप यन्तु अर्वाक् आ वहन्तु) तुम्हें हमारे पास नीचे ले आवें। (घृतस्य निर्णिक्) निर्मलता का स्वरूप (वाम् अनु वर्तते) तुम्हारे आनेपर साथ-साथ आता है, (सिन्धवः) नदियाँ (प्रदिवि) द्युलोकके संमुख (उप क्षरन्ति) बहती हैं।

5

अनु श्रुताममतिं वर्धदुर्वीं बर्हिरिव यजुषा रक्षमाणा।
नमस्वन्ता धृतदक्षाधि गर्ते मित्रासाथे वरुणेळास्वन्तः॥

(अमतिं वर्धत्) उस शक्तिको बढ़ाते हुए जो (श्रुताम् अनु) हमारे ज्ञानके श्रवण तक आती है, (यजुषा) यज्ञिय शब्द[2] से (बर्हिः इव उर्वीम् रक्षमाणा) अपने विशाल राज्यकी रक्षा करते हुए[3] मानो वह हमारे

---

1. एकीभूत गति, जब कि सूर्यका निचला पहिया पृथक् कर दिया जाता है: निम्नतर सत्य जो उस उच्चतर सत्यकी एकतामें ऊँचा उठा ले जाया जाता है जिससे वह अब अपनी गतिमें पृथक् हुआ प्रतीत होता है।
2. यजुः। ऋक् वह शब्द है जो अपने साथ प्रकाश लाता है, यजुः वह शब्द है जो ऋक्के अनुसार यज्ञिय कर्मका पथप्रदर्शन करता है।
3. अथवा "विशाल शक्तिका संवर्धन और रक्षण करते हुए"।

यज्ञका आसन हो, (नमस्वन्ता) नमनको लाते हुए, (धृतदक्षा) विवेकपर दृढ़ रहते हुए, (मित्र) हे मित्र ! (अधिगर्ते आसाथे) तुम अपना स्थान अपने घरमें ग्रहण करते हो। (वरुण) हे वरुण ! (इळासु अन्तः) ज्ञानके साक्षात्कारोंमें तुम भी (आसाथे) अपना स्थान ग्रहण करते हो।

6

अक्रविहस्ता सुकृते परस्पा यं त्रासाथे वरुणेळास्वन्तः।
राजाना क्षत्रमहृणीयमाना सहस्रस्थूणं बिभृथः सह द्वौ ।।

(वरुणा) हे मित्र और वरुण! तुम (अक्रवि-हस्ता) ऐसे हाथोंवाले हो जो कुछ बचा नहीं रखते, ऐसे तुम (सुकृते) पूर्ण कार्य करनेवालेके लिए (परस्पा) परात्पर अवस्थाके रक्षक हो, (यं) जिसे तुम (त्रासाथे) मुक्त भी करते हो। वह (इळासु अन्तः) ज्ञानके साक्षात्कारोंमें निवास करता है। (अहृणीयमाना राजाना) आवेगोंसे मुक्त राजाओ! (द्वौ) तुम दोनों (सह) मिलकर (सहस्रस्थूणम्) सहस्र स्तंभोंवाले (क्षत्रम्) बलको (बिभृथः) धारण करते हो।

7

हिरण्यनिर्णिगयो अस्य स्थूणा वि भ्राजते दिव्यश्वाजनीव।
भद्रे क्षेत्रे निमिता तिल्विले वा सनेम मध्वो अधिगर्त्यस्य ।।

(अस्य हिरण्यनिर्णिक्) इसका रूप स्वर्णमय प्रकाशका है, (अस्य स्थूणा अयः) इसका स्तंभ लोहमय है, वह (दिवि वि भ्राजते) द्युलोकमें ऐसे चमकता है (अश्वाजनी-इव) मानो वह वेगयुक्त बिजली[1] हो। वह (भद्रे क्षेत्रे) सुखद क्षेत्र[2]में (तिल्विले वा) या प्रकाशके क्षेत्र[3]में (निमिता) गढ़ा हुआ है। (मध्वः सनेम) हम उस स्वादु मधु[4]को अधिकृत कर सकें (अधिगर्त्यस्य) जो उस घरमें विद्यमान है।

8

हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावयःस्थूणमुदिता सूर्यस्य।
आ रोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदितिं दितिं च ।।

---

1. अथवा, 'घोड़ी', प्राणरूपी अश्वकी शक्ति।
2. आनन्द, आनन्दमय लोक।
3. उषाओंकी चमकका क्षेत्र, प्रकाशका लोक।
4. सोम।

(वरुण मित्र) हे वरुण ! हे मित्र ! (उषसः व्युष्टौ) उषाके फूटने पर, (सूर्यस्य उदिता) सूर्यके उदयकालमें (गर्तम् आ रोहथः) तुम उस घरकी ओर आरोहण करते हो (हिरण्य-रूपम्) जिसका स्वरूप स्वर्णमय है, (अयः-स्थूणम्) जिसके स्तंभ लोहमय हैं और (अतः) वहाँसे तुम (दितिम् अदितिं च) सान्त और अनन्त सत्ता[1]पर (चक्षाथे) दृष्टिपात करते हो ।

9

यद् बंहिष्ठं नातिविधे सुदानू अच्छिद्रं शर्म भुवनस्य गोपा ।
तेन नो मित्रावरुणावविष्टं सिषासंतो जिगीवांसः स्याम ।।

(भुवनस्य गोपा) हे विश्वके शक्तिशाली रक्षक ! (शर्म) तुम्हारा वह आनंद (यत्) जो (वंहिष्ठम्) अत्यधिक विशाल और पूर्ण है और (अच्छिद्रम्) छिद्ररहित है, उसे कोई भी (सुदानू न अतिविधे) भेदकर पार नहीं कर सकता । (तेन नः अविष्टम्) उस आनंदसे तुम हमें पोषित करो, (मित्रावरुणौ) हे मित्र, हे वरुण । (सिषासंतः) हम जो उस शांतिको अधिकृत करना चाहते हैं (जिगीवांसः स्याम) विजयी हों ।

1. अदिति और दिति ।

दूसरा सूक्त

ऋ. 5 . 63

वृष्टिदाता

[**मित्र और वरुण** अपनी संयुक्त सार्वभौमिकता और सामंजस्यसे दिव्य सत्य तथा उसके दिव्य विधानके संरक्षक हैं, जो सत्य और विधान हमारी परमसत्ताके व्योममें अनादि कालसे पूर्णावस्थामें विद्यमान हैं। वहाँसे वे कृपापात्र आत्मापर द्युलोकोंके प्रचुर ऐश्वर्य एवं इसके परमानन्दकी वर्षा करते हैं। क्योंकि वे स्वभावतः ही मनुष्यमें सत्यके उस लोकके द्रष्टा हैं, और सत्यलोकके विधानके संरक्षक होनेसे वे इस समस्त व्यक्त सृष्टिके शासक हैं, अतः वे आध्यात्मिक संपदा एवं अमरताकी वर्षा करते हैं। प्राण-शक्तियां पृथ्वी और आकाशमें सत्यान्वेषी विचारकी वाणीके साथ चारों तरफ फैल जाती हैं और वे दोनों सम्राट् उनकी पुकारपर सर्जक जलोंसे भरपूर देदीप्यमान मेघोंके साथ आ पहुँचते हैं। मायाके द्वारा ही, जो प्रभुकी दिव्य सत्य-प्रज्ञा है, वे इस प्रकार द्युलोककी वृष्टि करते हैं। वह दिव्य प्रज्ञा है **सूर्य, प्रकाश, मित्र तथा वरुणका** शस्त्र जो अज्ञानका विध्वंस करनेके लिए चारों तरफ विचरता है। प्रारंभमें **सूर्य,** जो सत्यका साकार रूप है, अपनी वृष्टियोंके झंझावेगमें छिपा होता है और तब जिस चीजका अनुभव होता है वह है केवल हमारे जीवनमें उनकी धाराओंके प्रवेशका माधुर्य। परन्तु मरुत् **प्राणशक्तियों और विचारशक्तियोंके** रूपमें हमारी सत्ताके समस्त लोकोंमें गुप्त ज्ञानकी उन भास्वर किरणोंकी खोज करते हुए जिन्हें प्रदीप्त संपदाओंके रूपमें एकत्र किया जाना है, चारों ओर विचरते रहते हैं। दिव्य वर्षाका नाद प्रकाशकी प्रभाओं एवं दिव्य जलधाराओंकी गतिसे परिपूर्ण है। उसके मेघ मरुतों—प्राणशक्तियोंके लिए परिधान बन जाते हैं। इस सबके बीचमें से दोनों राजा सत्यके शक्तिशाली प्रभुके निर्माणकारक ज्ञानसे तथा सत्यके विधानसे हमारे अन्दर दिव्य क्रियाओंको जारी रखते हैं, सत्यके द्वारा हमारी संपूर्ण सत्तापर शासन करते हैं और अन्तमें इसके आकाशमें सूर्यदेवको, जो अब प्रकट हो जाता है, एक ऐसे रथके रूपमें प्रतिष्ठित करते हैं, जो ज्ञानकी समृद्धतया विविध प्रभाओंसे संपन्न है और आत्माकी सर्वोच्च द्युलोकोंकी ओर यात्राका रथ है।]

1

ऋतस्य गोपावधि तिष्ठथो रथं सत्यधर्माणा परमे व्योमनि।
यमत्र मित्रावरुणावथो युवं तस्मै वृष्टिर्मधुमत्पिन्वते दिवः।।

(ऋतस्य गोपौ) सत्यके संरक्षक तुम दोनों (रथम् अधितिष्ठथः) अपने रथ पर आरोहण करते हो। (परमे व्योमनि सत्यधर्माणा) परम आकाश[1]में सत्यका विधान तुम्हारा ही है। (मित्रावरुणा) हे विशालता और सामंजस्यके स्वामियो! (युवं) तुम दोनों (अत्र) यहाँ (यम् अवथ) जिसका पालन-पोषण करते हो (तस्मै) उसके लिए (दिवः वृष्टिः) द्युलोककी वृष्टि (मधुमत् पिन्वते) मधुसे परिपूर्ण होकर वर्धित हो जाती है।

2

सम्राजावस्य भुवनस्य राजथो मित्रावरुणा विदथे स्वर्दृशा।
वृष्टिं वां राधो अमृतत्वमीमहे द्यावापृथिवी विचरन्ति तन्यवः।।

(मित्रावरुणा) हे मित्र और वरुण! (सम्राजौ) हे सम्राट्[2]-युगल (अस्य भुवनस्य राजथः) हमारी संभूतिके इस लोकके ऊपर तुम दोनों शासन करते हो। (विदथे स्वर्दृशा) ज्ञानकी प्राप्तिमें तुम प्रकाशके राज्यके द्रष्टा हो। (वां) तुम दोनोंसे हम (वृष्टिं राधः अमृतत्वम् ईमहे) वर्षा, आनंदमय समृद्धि तथा अमरताकी कामना करते हैं। वह देखो! (तन्यवः) गर्जनेवाले मरुत्[3]-देव (द्यावापृथिवी विचरन्ति) द्यावापृथिवीमें चारों ओर विचरण करते हैं।

3

सम्राजा उग्रा वृषभा दिवस्पती पृथिव्या मित्रावरुणा विचर्षणी।
चित्रेभिरभ्रैरुप तिष्ठथो रवं द्यां वर्षयथो असुरस्य मायया।।

(सम्राजौ) हे सम्राट्-युगल! (उग्रा वृषभा) प्रचुर ऐश्वर्यके शक्तिशाली वर्षक वृषभो! (दिवः पृथिव्याः पती) हे द्युलोक और पृथ्वीलोकके स्वामियो, (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण! (विचर्षणी) अपनी क्रियाओंमें सार्वभौम तुम दोनों (रवम्) उनकी पुकारपर (चित्रेभिः अभ्रैः उप तिष्ठथः)

---

1. अतिचेतन सत्ताकी अनन्तता।
2. सम्राट्—आत्मगत और बहिर्गत सत्ताके ऊपर आधिपत्य रखनेवाले।
3. मरुत्—प्राणशक्तियां और विचारशक्तियां जो हमारी समस्त क्रियाओंके लिए सत्यको खोज निकालती हैं। इस शब्दका अर्थ "आकार देनेवाला" या 'निर्माता' भी हो सकता है।

अपने विविध प्रकाशके मेघोंके साथ आ पहुंचते हो और (असुरस्य[1] मायया[2]) शक्तिशाली देवके ज्ञानकी शक्तिसे (द्यां वर्षयथः) द्युलोककी वर्षा करते हो।

4

माया वां मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम्।
तमभ्रेण वृष्ट्या गूहथो दिवि पर्जन्य द्रप्सा मधुमन्त ईरते ॥

(मित्रावरुणा) हे मित्र और वरुण! (वां माया दिवि श्रिता) यह है तुम्हारा ज्ञान जो द्युलोकमें प्रतिष्ठित है, (सूर्यः) यही है सूर्य, (ज्योतिः) यही है ज्योति। (चित्रम् आयुधं चरति) यह तुम्हारे समृद्ध व विविध शस्त्र के रूपमें सर्वत्र विचरण करता है। तुम (दिवि) आकाशमें (तम्) इसे (अभ्रेण वृष्ट्या गूहथः) मेघ और वर्षाके द्वारा छिपाये हुए हो। (पर्जन्य) हे द्युलोककी वर्षा करनेवाले देव! (मधुमन्तः द्रप्साः) मधुसे भरपूर तेरी धाराएं (ईरते) प्रवाहित हो उठती हैं।

5

रथं युञ्जते मरुता शुभे सुखं शूरो न मित्रावरुणा गविष्टिषु।
रजांसि चित्रा विचरन्ति तन्यवो दिवः सम्राजा पयसा न उक्षतम् ॥

(मित्रावरुणा) हे मित्र और वरुण! (मरुतः) प्राणशक्तियां (गविष्टिषु) प्रकाशके यूथोंकी अपनी खोजोंमें (सुखं रथम्) अपने सुखमय रथको (शुभे) आनन्दकी प्राप्तिके लिए (युञ्जते) जोतती हैं, (शूरः न [रथम्]) जैसे कोई शूरवीर युद्धके लिए रथ जोतता हो। (तन्यवः) गर्जना करती हुई वे (चित्रा रजांसि विचरन्ति) चित्र-विचित्र लोकोंमें परिभ्रमण करती हैं। (सम्राजा) हे राजकीय शासको! (नः दिवः पयसा उक्षतम्) हमपर द्युलोकके जलकी वृष्टि करो।

6

वाचं सु मित्रावरुणाविरावतीं पर्जन्यश्चित्रां वदति त्विषीमतीम्।
अभ्रा वसत मरुतः सु मायया द्यां वर्षयतमरुणामरेपसम् ॥

---

1. असुर—वेदमें यह शब्द देवके लिए प्रयुक्त हुआ है जैसे कि जिंदावस्तामें देव अहुरमज्दके लिए। पर साथ ही इसका प्रयोग उस देवकी अभिव्यक्त शक्तियों—देवताओंके लिए भी किया गया है। केवल थोड़े ही सूक्तोंमें यह अंधकारमय दैत्योंके लिए प्रयुक्त हुआ है और वहां इसकी एक और ही काल्पनिक व्युत्पत्ति है—अ-सुर, प्रकाशरहित, अ-देव।
2. माया—देवका सर्जनशील ज्ञान-संकल्प, चित्-तपस्।

(मित्रावरुणौ) हे मित्र तथा वरुण! (पर्जन्यः) द्युलोककी, वृष्टिका देवता (वाचं[1] वदति) अपनी ऐसी भाषा बोलता है जो (सु चित्रां त्विषीमतीम् इरावतीम्) समृद्ध और विविध ज्योति और गतिशक्तिसे पूर्ण है। (मरुतः) प्राणशक्तियोंने (अभ्रा) तुम्हारे मेघोंको (वसत) वेषभूषाके रूपमें पहन लिया है। (सु मायया) पूर्णतया अपने ज्ञानसे ही तुम (द्यां वर्षयतम्) ऐसे द्युलोककी वर्षा करते हो जो (अरुणाम्) उज्ज्वल रक्तवर्णवाला और (अरेपसम्) पापसे रहित है।

7

धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।
ऋतेन विश्वं भुवनं वि राजथः सूर्यमा धत्थो दिवि चित्र्यं रथम् ।।

(मित्रावरुणा) हे मित्र और वरुण! तुम (विपश्चिता) चेतनामें प्रदीप्त हो। (धर्मणा) देवके विधानसे और (असुरस्य मायया) शक्तिशाली देवके ज्ञानसे तुम (व्रता[2] रक्षेथे) क्रियाविधानोंकी रक्षा करते हो। (ऋतेन) सत्यके द्वारा (विश्वं भुवनं वि राजथः) हमारी संभूतिके समस्त लोकपर विशालतासे शासन करते हो। तुम (दिवि) द्युलोकमें (सूर्यम्) सूर्यको और (चित्र्यं रथं) विविध प्रभासे संपन्न रथको (आ धत्थः) स्थापित करते हो।

---

1. यहां हम तूफानके प्रतीकमें 'तन्यवः' शब्दका आंतरिक अर्थ पाते हैं। यह सत्यके शब्दका बहिर्गर्जन है जैसे कि बिजली इसके भावका बाह्य-स्फुरण।
2. **व्रतानि**—आर्योचित या दिव्य क्रियाएँ '**व्रतानि**' कहलाती हैं,—सत्यके उस दिव्य विधानकी क्रियाओंको 'व्रतानि' कहते हैं जिसे मनुष्यमें प्रकट किया जाना है। **दस्यु** या अनार्य, चाहे वह मानव हो या अतिमानव, वह है जो इन दिव्यतर क्रियाओंसे रहित है, अपनी अंधकारयुक्त चेतनामें इनका विरोध करता है और इस संसारमें इनका विध्वंस करनेकी चेष्टा करता है। इसलिए **अंधकारके स्वामी** दस्यु अर्थात् विनाशक कहलाते हैं।

तीसरा सूक्त

ऋ. 5. 64

आनंदधामकी ओर ले जानेवाले

[ऋषि अनंत विशालता और सामंजस्यके अधिपतियोंका आवाहन करता है, जिनकी भुजाएँ सत्य और आनंदके सर्वोच्च आत्मिक स्तरका आलिंगन करती हैं ताकि वे उद्बुद्ध चेतना और ज्ञानकी अपनी उन भुजाओंको उसकी ओर फैलाएं जिसके फलस्वरूप वह उनका सर्व-आलिंगी आनंद प्राप्त कर सके। मित्रके पथसे वह उसके सामंजस्योंके उस हर्षोल्लासकी अभीप्सा करता है जिसमें न घाव है न घात। प्रकाशदायी शब्दकी शक्तिसे सर्वोच्च सत्ताका ध्यान और धारण करता हुआ वह उस भूमिकामें अपनी अभिवृद्धिकी अभीप्सा करता है जो देवोंका उपयुक्त धाम है। दोनों महान् देव उसकी सत्तामें अपने दिव्य बल और बृहत्ताके उस विशाल लोकका सर्जन करें। वे दिव्य प्रकाश और दिव्य शक्तिकी उषामें उसके लिए इस लोकका प्रचुर ऐश्वर्य और परम आनन्द ले आवें।]

1

वरुणं वो रिशादसमृचा मित्रं हवामहे।
परि व्रजेव बाह्वोर्जगन्वांसा स्वर्णरम्॥

(रिशादसं वरुणं) शत्रुके नाशक वरुण और (मित्रं) मित्रका, (वः) इन दोनोंका (ऋचा हवामहे) हम प्रकाशपूर्ण शब्दसे आवाहन करते हैं। उनकी (बाह्वोः) भुजाएं (स्वर्णरम्[1]) प्रकाशकी शक्तिके लोकको (परि जगन्वांसा) इस प्रकार परिवेष्टित करती हैं (व्रजा-इव) मानो चमकते हुए गोयूथोंके बाड़ेके [परि जगन्वांसा] चारों तरफ डाली हुई हों।

2

ता बाहवा सुचेतुना प्र यन्तमस्मा अर्चते।
शेवं हि जार्यं वां विश्वासु क्षासु जोगुवे॥

1. स्वर्णरम्—'स्वर्' सत्यका सौर लोक है और इसके गोयूथ सौर दीप्तियों-की किरणें हैं। इसलिए इसकी तुलना चमकती हुई वैदिक गौओंके बाड़ोंसे की गई है।

(अस्मा) उस मनुष्यके प्रति (अर्चते) जो प्रकाशप्रद वाणीसे तुम्हारी अर्चना करता है (ता सुचेतुना[1] बाहवा) अपनी उन जागृत ज्ञानकी भुजाओं-को (प्र यन्तम्) फैलाओ। (वां) तुम दोनोंका (शेवं) आनंद (जार्यं हि) वंदनीय है जो (विश्वासु क्षासु) हमारी सब भूमिकाओंमें[2] (जोगुवे) व्याप्त हो जायगा।

3

यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे॥

(मित्रस्य पथा) मित्र[3]के मार्गसे (यायाम्) मैं चल सकूं (यत् नूनं) जिससे कि मैं इस क्षण ही (गतिम्[4] अश्याम्) अपनी यात्राके लक्ष्यको प्राप्त कर लूं। इसलिए मनुष्य (अस्य प्रियस्य) उस प्रिय मित्रके (शर्मणि सश्चिरे) आनंदके साथ दृढ़तासे संलग्न हो जाते हैं (अहिंसानस्य) जिसमें कोई चोटकी वेदना नहीं है।

4

युवाभ्यां मित्रावरुणोपमं धेयामृचा।
यद्ध क्षये मघोनां स्तोतॄणां च स्पूर्धसे॥

(मित्रावरुणा) हे मित्र! हे वरुण! (ऋचा) प्रकाशदायी शब्दके द्वारा (युवाभ्याम् उपमं) मेरा विचार उस सर्वोत्तमको धारण करे जो तुम्हारी निधि है; ताकि (यत् मघोनां स्तोतॄणां च) वह विचार ऐश्वर्यशलियोंके लिए तथा उन मनुष्योंके लिए जो तुम्हारी स्तुति करते हैं, (क्षये स्पूर्धसे ह) प्रचुर ऐश्वर्यके स्वामियोंके धामको प्राप्त करनेकी अभीप्सा करे[5]।

---

1. बाहुओंका विशेषण 'सुचेतुना' (अर्थात् जागृत-ज्ञानरूपी) यह प्रकट करता है कि देवताओंके शरीर और अंगोपांग तथा उनकी अन्य भौतिक संपदाएं—अस्त्र-शस्त्र, रथ, घोड़े—कितने पूर्ण रूपमें प्रतीकात्मक हैं।
2. हमारी सत्ताके सब स्तरोंमें।
3. मित्र, जो हमारी उच्चतर दिव्य सत्ताके पूर्ण तथा अक्षुण्ण सामंजस्योंका सर्जन करता है।
4. गति—यह शब्द आज भी मनुष्यके पृथ्वीपर किये गये कार्य या प्रयत्नोंसे प्राप्त आध्यात्मिक या अतिपार्थिव स्थितिके लिए प्रयुक्त किया जाता है। परन्तु इसका मतलब लक्ष्य या पथकी ओर गति भी हो सकता है: "ऐसी कृपा कर कि मैं अब भी पथ प्राप्त कर सकूं, मित्रके पथ पर गति कर सकूं।"
5. अर्थात्, मनुष्योंमें प्रकट होता हुआ वह उनको अपने निज धाम—सत्यके स्तर तक उठा ले जानेका यत्न करेगा।

5

आ नो मित्र सुदीतिभिर्वरुणश्च सधस्थ आ।
स्वे क्षये मघोनां सखीनां च वृधसे॥

(मित्र) हे मित्र! तुम (वरुणश्च) और वरुण (सुदीतिभिः) अपने पूर्ण दानोंके साथ (नः सधस्थे आ) हमारे समान-वासस्थानके लोकमें हमारे पास आओ। (मघोनां स्वे क्षये वृधसे) प्रचुर ऐश्वर्योंके स्वामियोंके अपने घरमें वर्धित होनेके लिए तथा (सखीनां च [वृधसे]) अपने साथियोंकी वृद्धिके लिए (नः आ) हमारे पास आओ।

6

युवं नो येषु वरुण क्षत्रं बृहच्च बिभृथः।
उरु णो वाजसातये कृतं राये स्वस्तये॥

(वरुण युवं) हे मित्र और वरुण, तुम दोनों (येषु) अपने उन दानोंमें (नः) हमारे पास (क्षत्रं बृहत् च) वल[2] और विशालता (बिभृथः) लाओ। (वाजसातये) प्रचुर ऐश्वर्योंकी विजयके लिए; (राये) आनंदके लिए और (स्वस्तये) हमारी आत्माकी प्रसन्नताके लिए (नः उरु कृतम्) हमारे अन्दर विशाल लोककी रचना करो।

7

उच्छन्त्यां मे यजता देवक्षत्रे रुशद्गवि।
सुतं सोमं न हस्तिभिरा पड्भिर्धावतं नरा बिभ्रतावर्चनानसम्॥

(यजता) हे यज्ञके अधिपतियो! (उच्छन्त्यां) उषाके फूटने पर, (रुशत्-गवि) रश्मिके चमकनेपर (देवक्षत्रे) देवोंकी शक्तिमें (मे आ धावतम्) मेरी तरफ दौड़ते हुए आओ। एवं (नरा हस्तिभिः सुतं सोमं न) मेरे सोमरसकी ओर जो मानो[3] मनुष्योंके हाथोंसे निचोड़कर निकाला गया है, (पड्भिः)

---

1. देवताओं। स्वर् देवताओंका "अपना घर" है।
2. सत्य-सचेतन सत्ताकी दिव्य शक्ति, जिसे अगली ऋचामें 'देवताओंकी शक्ति' कहा गया है। 'बृहत्' शब्दसे उस स्तर या 'विशाल लोक' का सतत वर्णन किया गया है जो सत्यम्, ऋतम्, बृहत् है।
3. "मानो" इस शब्दका प्रयोग, जैसा कि प्रायः देखनेमें आता है, यही दिखलाता है कि सोमरस और उसका निष्पीडन रूपक और प्रतीक हैं।

आ धावतम्) पैरोंसे रौंघते हुए अपने घोड़ोंके साथ द्रुतवेगसे आओ। (विभ्रतौ) हे दानोंके वहन करनेवाले देवो! (अर्चनानसम्[1]) प्रकाशके पथिककी ओर आओ।

1 अर्चनानस—वह जो शब्दसे जनित प्रकाशकी ओर यात्रा करता है। यह इस सूक्तके अत्रिवंशीय ऋषिका अर्थगर्भित नाम है।

चौथा सूक्त

ऋ. 5. 65

यात्राके अधिपति

[ऋषि हमारी सत्तामें अवस्थित, सत्यके दो महान् संवर्धकोंका आवाहन करता है ताकि वे हमारे सच्चे अस्तित्वकी उन प्रचुर सम्पदाओंकी ओर, उसकी उस विशालताकी ओर हमारी यात्रामें हमारा नेतृत्व करें, जिन्हें वे हमारी वर्तमान अज्ञानमय एवं अपूर्ण मानसिक सत्ताकी संकुचित सीमाओंमेंसे हमें निकालकर, हमारे लिए अधिकृत करते हैं।]

1

यश्चिकेत स सुक्रतुर्देवत्रा स ब्रवीतु नः।
वरुणो यस्य दर्शतो मित्रो वा वनते गिरः॥

(यः) जो (चिकेत) ज्ञानके प्रति जागृत हो गया है (सः सुक्रतुः) वह संकल्पमें पूर्ण हो जाता है, (सः) उसे (देवत्रा) देवोंके बीच (नः) हमारी पुकार (ब्रवीतु) पहुँचाने दो। (दर्शतः वरुणः) अन्तर्दर्शनसे संपन्न वरुण (वा) और (मित्रः) मित्र (यस्य गिरः) उसके स्तुतिवचनोंमें (वनते) आनंद लेते हैं।

2

ता हि श्रेष्ठवर्चसा राजाना दीर्घश्रुत्तमा।
ता सत्पती ऋतावृध ऋतावाना जनेजने॥

(ता हि राजाना) वे ऐसे सम्राट् हैं जो (श्रेष्ठवर्चसा) प्रकाशमें अत्यधिक तेजस्वी हैं, (दीर्घश्रुत्तमा) सुदूर श्रवण[1]की शक्तिसे संपन्न हैं। (ता) वे (जनेजने) प्राणी-प्राणीमें (सत्पती) सत्ताके स्वामी हैं, (ऋत-वृधा) हमारे अन्दर सत्यके संवर्धक हैं क्योंकि (ऋतवाना) सत्य उनका ही है।

3

ता वामियानोऽवसे पूर्वा उप ब्रुवे सचा।
स्वश्वासः सु चेतुना वाजाँ अभि प्र दावने॥

---

1. उनके पास दिव्य दृष्टि और दिव्य श्रुति हैं, प्रकाश और शब्द हैं।

(इयानः) पथपर यात्रा करता हुआ मैं (अवसे) अपनी अभिवृद्धिके लिए (ता वाम्) उन तुम दोनोंका (सचा उप ब्रुवे) एक साथ आवाहन करता हूँ जो (पूर्वा) आदि और सनातन हो। जैसे ही (सु-अश्वासः) पूर्ण अश्वों[1] के साथ हम यात्रा करते हैं, हम उन्हें जो (सु चेतुना) ज्ञानमें परिपूर्ण हैं (वाजान् अभि प्र दावने) प्रचुर ऐश्वर्योंके दानके लिए (उप ब्रुवे) पुकारते हैं।

4

मित्रो अंहोश्चिदादुरु क्षयाय गातुं वनते।
मित्रस्य हि प्रतूर्वतः सुमतिरस्ति विधतः॥

(मित्रः) मित्र (अंहोः[2] चित् आत्) हमारी संकुचित सत्तामेंसे भी हमारे लिए (उरु) विशालताको (वनते) जीत लेता है। (क्षयाय गातुं वनते) वह हमारे घरकी ओर जानेवाले मार्गको जीतता है।

(हि) क्योंकि (मित्रस्य सुमतिः अस्ति) मित्रका मन तब पूर्णतासे संपन्न होता है जब कि वह (विधतः) सबका सामंजस्य करता है और (प्रतूर्वतः) सब बाधाओंको पार करता हुआ लक्ष्यके प्रति शीघ्रतासे आगे बढ़ता है।

5

वयं मित्रस्यावसि स्याम सप्रथस्तमे।
अनेहसस्त्वोतयः सत्रा वरुणशेषसः॥

(वयं) हम (मित्रस्य अवसि स्याम) मित्रदेवके उस संवर्धनमें निवास करें जो हमें (सप्रथस्तमे) पूर्ण विस्तार प्रदान करता है। तब (वरुण-शेषसः) विशालताके अधिपतिकी संतानें (सत्रा) सदा (त्वा-ऊतयः) तुझसे पोषित होती हुई (अनेहसः) आघात और पापसे मुक्त हो जाती हैं।

6

युवं मित्रेमं जनं यतथः सं च नयथः।
मा मघोनः परि ख्यतं मो अस्माकमृषीणां गोपीथे न उरुष्यतम्॥

---

1. अश्व यहाँ सदाकी भाँति क्रियाशील शक्तियों एवं प्राणशक्तियों आदिका प्रतीक है, जिनके द्वारा हमारा संकल्प, हमारे कर्म और हमारी अभीप्सा अग्रसर होते हैं।

2. अंहोः—पीड़ा और बुराईसे भरी संकीर्णता हमारे सीमित मनकी अप्रकाशित स्थिति है। मित्रदेवकी कृपासे प्राप्त पूर्ण मनःसत्ता—सुमति—विशालतामें हमारा प्रवेश कराती है।

(मित्र) हे मित्रदेव ! (युवं) तुम दोनों (इमं जनं) इस मानवप्राणीको (यतथः) यात्रा करनेके लिए अपने मार्गपर लगाते हो (च) और (सं नयथः) उसका पूरी तरह पथप्रदर्शन करते हो। (अस्माकं मघोनः मा परि ख्यतम्) हमारे ऐश्वर्यके अधिपतियोंके चारों ओर अपनी बाड़ मत लगाओ और ([अस्माकम्] ऋषीणां मो [परि ख्यतम्]) हमारे सत्यके द्रष्टाओंके चारों ओर भी अपनी बाड़ मत लगाओ। (गो[1]पीथे) हमारे प्रकाश (सुधा)के पानमें (नः उरुष्यतम्) हमारी रक्षा करो।

1. गो—प्रकाश अथवा गाय। यहाँ इस शब्दका अभिप्राय प्रकाशकी माताका "दूध" या सार (गोरस) है।

पांचवां सूक्त

ऋ. 5. 66

आत्मसाम्राज्यके प्रदाता

[ऋषि वरुण और मित्रका आवाहन करता है,—वरुण जो सत्यका विशाल रूप है, मित्र जो प्रिय है और सत्यके सामंजस्यों तथा बृहत् आनंदका देवता है। वे हमारे लिए सच्ची और अनंत सत्ताकी पूर्ण शक्तिको जीतते हैं, ताकि हमारी अपूर्ण मानवीय प्रकृतिको अपनी दिव्य क्रियाओंकी प्रतिमामें रूपांतरित कर सकें। तब सत्यका सौर द्युलोक हममें प्रकट होता है, उसके प्रकाशके गोयूथोंकी विशाल चरागाह हमारे रथोंकी यात्राका क्षेत्र बन जाती है, द्रष्टाओंके उच्च विचार, उनका विशुद्ध विवेक, उनकी शीघ्रगामी प्रेरणाएँ हमारी हो जाती हैं, हमारी अपनी भूमि तक उस विशाल सत्यका लोक बन जाती है। क्योंकि तब वहाँ एक पूर्ण गति होती है, पाप-तापके इस अंधकार-का अतिक्रमण हो जाता है। हम आत्मसाम्राज्य प्राप्त कर लेते हैं जो हमारी अनंत सत्ताकी समृद्ध, पूर्ण और विशाल उपलब्धि है।]

1

आ चिकितान सुक्रतू देवौ मर्त रिशादसा।
वरुणाय ऋतपेशसे दधीत प्रयसे महे॥

(चिकितान मर्त्त) हे ज्ञानके प्रति जागृत मर्त्य! तू (देवौ आ) उन देवोंका अपने प्रति आवाहन कर जो (सुक्रतू) संकल्पमें पूर्ण हैं और (रिशा-दसा) तेरे शत्रुओंके विध्वंसक हैं। (वरुणाय) उस वरुणके प्रति (दधीत) अपने विचारोंको प्रेरित कर जिसका (ऋतपेशसे) स्वरूप सत्य ही है और (महे प्रयसे [दधीत]) परम आनंद[1]की ओर अपने विचार प्रेरित कर।

---

1. मित्रद्वारा प्रदत्त वह तृप्ति जो सत्य-स्तरके विशाल आनंदका आधार स्थापित करती है। अनंतताका देवता वरुण सत्यका विशाल रूप प्रदान करता है और सामंजस्योंका देवता मित्र सत्यकी शक्तियोंका पूर्ण आनंद, उसका पूर्ण सामर्थ्य।

2

ता हि क्षत्रमविह्रुतं सम्यगसुर्यमाशाते ।
अध व्रतेव मानुषं स्वर्ण धायि दर्शतम् ।।

(हि) क्योंकि (ता) वे ही (अविह्रुतम् असुर्यं क्षत्रं) अविकृत बल और पूर्ण सामर्थ्यको (सम्यक् आशाते) अच्छी तरह प्राप्त करते हैं। (अध) और तब (मानुषं) तेरी मानव सत्ता ऐसी हो जाएगी मानो (व्रता-इव) इन देवोंकी क्रियाएँ हों, (दर्शतं स्वः[1] न धायि) मानो प्रकाशका दर्शनीय द्युलोक तेरे अंदर स्थापित हो गया हो।

3

ता वामेषे रथानामुर्वीं गव्यूतिमेषाम् ।
रातहव्यस्य सुष्टुतिं दधृक् स्तोमैर्मनामहे ।।

इसलिये, हे मित्रावरुण, (ता वाम् एषे) उन प्रसिद्ध तुम दोनोंकी मैं कामना करता हूँ। (एषां रथानाम्) इन रथोंके दौड़नेके लिए मैं (उर्वीं गव्यूतिम् एषे) तुम्हारी गोयूथोंकी विस्तृत चरागाह चाहता हूँ। (रात-हव्यस्य) जब देव हमारी मुक्त हस्तोंसे प्रदत्त भेंटोंको ग्रहण करता है तब (स्तोमैः सुष्टुतिं दधृक् मनामहे) हमारे मन अपने स्तोत्रोंके द्वारा उसकी पूर्ण स्तुतिको प्रबल रूपसे धारण कर लेते हैं।

4

अधा हि काव्या युवं दक्षस्य पूर्भिरद्भुता ।
नि केतुना जनानां चिकेथे पूतदक्षसा ।।

(अध हि) तब निश्चयसे, (अद्भुता) हे सर्वातीत देवो! (युवं) तुम (दक्षस्य पूर्भिः) प्रकाशयुक्त विवेकके पूर्ण प्रवाहोंको लाकर (काव्या) द्रष्टा-की प्रज्ञाओंको अधिगत करते हो। (पूतदक्षसा केतुना) परिपूत विवेकवाले अनुभवके द्वारा (जनानाम्) इन मानवीय जीवोंके लिये तुम (निचिकेथे) ज्ञानको प्रत्यक्ष करते हो।

5

तदृतं पृथिवि बृहच्छ्रवएष ऋषीणाम् ।
ज्रयसानावरं पृथ्वति क्षरन्ति यामभिः ।।

---

1. अथवा "दृष्टिशक्ति-संपन्न स्वर्", प्रकाशका लोक जहाँ सत्यका पूर्ण दर्शन विद्यमान है।

(पृथिवि) हे विशाल पृथिवि, (ऋषीणां श्रवः-एषे) ऋषियोंके अन्तः-प्रेरित ज्ञानकी गतिके लिये (बृहत्) वह विशालता ! (तत् ऋतम्) वह सत्य ! (पृथु अरं त्रयसानौ) तुम दोनों विशालतासे, पूरी क्षमताके साथ गति करते हो। हमारे रथ (याममिः) अपनी यात्राओंमें (अति क्षरन्ति) धाराकी तरह गति करते हुए परे[1] तक पहुंच जाते हैं।

6

आ यद् वामीयचक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये ।।

(मित्र) हे मित्र, (यत् वाम्) जब तुम दोनों (ईय-चक्षसा) सुदूरगामी, समुद्रपारगामी दृष्टिसे संपन्न होते हो (च) और (वयं सूरयः) हम ज्ञान-प्रदीप्त द्रष्टा होते हैं, तब हम (स्वराज्ये आ यतेमहि) उस आत्मसाम्राज्यकी अपनी यात्राके प्रयासमें लक्ष्य तक पहुंच जायं, जो स्वराज्य[2] (व्यचिष्ठे) विस्तारसे चारों ओर फैला हुआ है और (बहुपाय्ये) अपनी अनेकानेक सत्ताओं पर शासन करनेवाला है।

---

1. अंधकार और शत्रुओंसे तथा निम्न सत्ताके पाप-तापसे परे।
2. स्वराज्य, स्वाराज्य और साम्राज्य, अन्दर और बाहर पूर्ण साम्राज्य, अपनी आन्तरिक सत्ताका शासन और अपने वातावरण व परिस्थितियों पर प्रभुत्व—यह था वैदिक ऋषियोंका आदर्श। यह केवल अपने मर्त्य मनसे परे अपनी सत्ताके प्रकाशपूर्ण सत्यकी ओर, अपने अस्तित्वके आध्यात्मिक स्तर पर विद्यमान अतिमानसिक अनंतताकी ओर आरोहण करनेसे ही प्राप्त हो सकता है।

छठा सूक्त

ऋ. 5. 67

धारक और रक्षक देव-युगल

[मित्र और वरुण अतिचेतन सत्ताकी उस विशालताको पूर्ण करते हैं जो यज्ञका लक्ष्य है। वे उसकी शक्तिके पूर्ण प्राचुर्यसे संपन्न हैं। जब वे उस ज्योतिर्मय मूलस्रोत और धाम तक पहुंचते हैं तो वे यज्ञिय कार्यके लिए प्रयास करनेवाले मनुष्योंको उसकी शान्ति और आनंद देते हैं। उस लक्ष्यकी ओर जाते हुए वे मर्त्यकी उसके उन अध्यात्म-सत्ताके शत्रुओंसे रक्षा करते हैं जो उसकी अमरताके मार्गमें बाधा डालना चाहते हैं; क्योंकि वे अपनी उच्चतर क्रियाओं और उच्चतर चेतनाके उन स्तरोंके साथ दृढ़तासे संसक्त रहते हैं जिनके साथ उन क्रियाओंका सम्बन्ध है और जिनकी ओर मनुष्य अपने आरोहणमें ऊपर उठता है। विश्वव्यापी और सर्वज्ञ वे उन शत्रुओंका विध्वंस कर देते हैं जो अहंकार और प्रतिबंधक अज्ञानकी शक्तियाँ हैं। अपनी सत्तामें सच्चे वे देव ऐसी शक्तियाँ हैं जो प्रत्येक व्यक्तिगत सत्तामें सत्यको स्पर्श करती और अधिकृत करती हैं। यात्रा और युद्धके नेता वे हमारे संकीर्ण और आर्त मर्त्यभावमेंसे भी उस उच्चतर चेतनाकी विशालताका सर्जन करते हैं। यही है वह सर्वोच्च सत्ता जिसके लिए अत्रि-ऋषियोंका विचार अभीप्सा करता है और जिस तक वह विचार मानव आत्मा द्वारा अधिष्ठित "शरीरों"में महान् देवों—मित्र, वरुण तथा अर्यमाको प्रतिष्ठित करके पहुंचता है।]

1

बळित्था देव निष्कृतमादित्या यजतं बृहत्।
वरुण मित्रार्यमन् वर्षिष्ठं क्षत्रमाशाथे ॥

(देवा) हे देवताओ! (आदित्या) हे अनन्त माता अदितिके तुम दो पुत्रो! (बट्) सचाई यह है कि (यजतं बृहत्) वह विशालता जिसके लिये हम यज्ञ करते हैं (इत्था निष्कृतम्) तुम्हारे द्वारा यथावत् पूर्ण की हुई है। (वरुण मित्र अर्यमन्) हे वरुण! हे मित्र! हे अर्यमन्! (वर्षिष्ठं क्षत्रम् आशाथे) तुम इसकी अधिक-से-अधिक विपुल शक्तिको धारण करते हो।

2

आ यद् योनिं हिरण्ययं वरुण मित्र सदथः ।
धर्तारा चर्षणीनां यन्तं सुम्नं रिशादसा ।।

(वरुण मित्र) हे वरुण! हे मित्र! (चर्षणीनां धर्त्तारा) मनुष्योंको उनके प्रयासमें आश्रय देनेवालो! (रिशादसा) शत्रुका संहार करनेवालो! (यत्) जब तुम (हिरण्ययं योनिम्) अपने सुवर्णमय प्रकाशके आदिधाममें (आ सदथः) प्रवेश करते हो, तब तुम उन्हें (सुम्नं यन्तम्) आनंद प्राप्त कराओ।

3

विश्वे हि विश्ववेदसो वरुणो मित्रो अर्यमा ।
व्रता पदेव सश्चिरे पान्ति मर्त्यं रिषः ।।

(वरुणः मित्रः अर्यमा) वरुण, मित्र और अर्यमा (हि) निश्चय ही (विश्वे) विश्वव्यापी और (विश्ववेदसः) सर्वज्ञ हैं। (व्रता सश्चिरे) अपनी क्रियाओंके विधानमें वे दृढ़ रहते हैं, (पदा-इव) उसी तरह जैसे कि वे अपने उन स्तरोंपर भी अडिग रहते हैं जिनपर वे पहुंचते हैं। वे (मर्त्यम्) मर्त्य मनुष्यकी (रिषः पान्ति) उसके शत्रुओंसे रक्षा करते हैं।

4

ते हि सत्या ऋतस्पृश ऋतावानो जनेजने ।
सुनीथासः सुदानवोऽंहोश्चिदुरुचक्रयः ।।

(ते हि सत्याः) क्योंकि वे अपनी सत्तामें सच्चे हैं इसलिए वे (जने-जने ऋतस्पृशः) प्राणी-प्राणीमें सत्यको स्पर्श करते हैं और (ऋतवानः) सत्यको धारण किए रहते हैं। (सुनीथासः) यात्राके पूर्ण पथप्रदर्शक, (सुदानवः) युद्धके लिए पूर्ण-शक्तिसंपन्न वे (अंहोः चित्) इस संकुचित सत्तामेंसे भी (उरुचक्रयः) विशालता का सर्जन करते हैं।

5

को नु वां मित्रास्तुतो वरुणो वा तनूनाम् ।
तत्सु वामेषते मतिरत्रिभ्य एषते मतिः ।।

(मित्र) हे मित्र! (वां कः वरुणः वा) तुम दोनोंमेंसे वह कौन है, तू या वरुण, जो (तनूनाम्) हमारे शरीरों[1]में (अस्तुतः नु) स्तुति द्वारा

1. केवल भौतिक शरीर नहीं; आत्मा यहाँ पांच कोषों या शारीरिक आवरणोंमें निवास करती है।

प्रतिष्ठित नहीं हुआ? (मतिः) हमारा विचार (वाम्) तुम दोनोंसे (तत् सु एषते) पूर्णतया उस परमतत्त्वको चाहता है, (अत्रिभ्यः[1] मतिः [तत्] एषते) भोक्ताओंके लिए हमारा विचार उसीकी अभिलाषा करता है।

---

1. अत्रि—शाब्दिक अर्थ है भोक्ता; इस शब्दका अर्थ यात्री भी हो सकता है।

सातवाँ सूक्त

ऋ. 5. 68

महान् शक्तिके अधिपति

[मित्र और वरुण सत्यकी महान् क्षात्रशक्तिको धारण किये हुए हैं, अतः वे हमें उस सत्यकी विशालता तक ले जाते हैं। उसी शक्तिसे वे सम्राट् के समान सबपर शासन करते हैं। वे सत्यकी निर्मलताओंसे संपन्न हैं और उनकी शक्तियां सब देवोंमें प्रकट होती हैं। इसलिए मित्र और वरुणको इन देवोंमें अपनी शक्ति स्थापित करनी चाहिये ताकि मानव परम आनन्दको और द्यावापृथिवीमें निहित सत्यकी संपदाको अधिकृत कर सके। वे सत्यके द्वारा सत्यको प्राप्त करते हैं; क्योंकि वे सत्यके उस प्रेरणापूर्ण विवेकको रखते हैं जो ज्ञान तक सीधा जाता है। इसलिये अज्ञानके अनिष्टोंमें गिरे विना वे दिव्य भावसे वर्धित होते हैं। उस शक्तिशाली प्रेरणाके अधिपति होते हुए वे मर्त्यपर ज्योतिर्मय वर्षाके रूपमें द्युलोकोंको उतारते हैं और विशालताको अपने एक गृहके रूपमें अधिकृत कर लेते हैं।]

1

प्र वो मित्राय गायत वरुणाय विपा गिरा।
महिक्षत्रावृतं बृहत् ।।

(वः) तुम सब (मित्राय वरुणाय) मित्र और वरुणके प्रति (गिरा) उस वाणीसे (प्र गायत) स्तुतिगीत गाओ जो (विपा) प्रकाश देती है; क्योंकि (महिक्षत्रौ) वे उस महान् शक्तिसे संपन्न हैं और (ऋतं बृहत्) सत्य और बृहत् उनका ही है।

2

सम्राजा या घृतयोनी मित्रश्चोभा वरुणश्च।
देवा देवेषु प्रशस्ता ।।

(उभा) वे, हां वे दोनों, (मित्रः च वरुणः च) मित्र और वरुण (सम्राजा) सर्वशासक हैं, (घृतयोनी) निर्मलताके गृह हैं। वे (देवा) ऐसे देव हैं (या) जो (देवेषु प्रशस्ता) देवोंके अन्दर स्तुतिवचन द्वारा प्रकट किये गए हैं।

3

ता नः शक्तं पार्थिवस्य महो रायो दिव्यस्य।
महि वां क्षत्रं देवेषु॥

इसलिये (ता) ऐसे तुम दोनों (नः) हमें (दिव्यस्य पार्थिवस्य) द्युलोक और पृथ्वीलोकके (महः रायः) महान् आनंद[1]-ऐश्वर्य प्राप्त करानेके लिए (शक्तम्) अपनी शक्ति लगाओ। क्योंकि (देवेषु) देवोंमें (वां क्षत्रं महि) तुम्हारी शक्ति महान् है।

4

ऋतमृतेन सपन्तेषिरं दक्षमाशाते।
अद्रुहा देवौ वर्धेते॥

(ऋतेन) सत्यके द्वारा तुम (ऋतं) सत्यके ज्ञानको (सपन्त) प्राप्त करते हो। तुम (इषिरं दक्षम्) प्रेरक-शक्ति[2]के विवेकको (आशाते) धारण किए हुए हो। (देवौ) हे देवो! (अद्रुहा वर्धेते) तुम दोनों बढ़ते हो और कभी हिंसित नहीं होते।

5

वृष्टिद्यावा रीत्यापेषस्पती दानुमत्याः।
बृहन्तं गर्तमाशाते॥

(वृष्टि-द्यावा) द्युलोकको वर्षामें परिणत करते हुए, (रीति-आपा) प्रवाहशील गतिके विजेता (दानुमत्याः इषः पती) इस शक्तिपूर्ण प्रेरणाके स्वामी तुम (बृहन्तं गर्तम् आशाते) विशाल गृहको अधिकारमें कर लेते हो।

---

1. विशाल सत्यचेतनाका वह आनंद या सुखद संपदा जो न केवल हमारी चेतनाके उच्चतर मानसिक स्तरोंमें अपितु हमारी भौतिक सत्तामें भी आविर्भूत है।
2. सीधी-सरल प्रेरणा जिसे देव धारण किये हुए हैं। मनुष्य अज्ञानसे सत्य-की ओर अज्ञान ही के सहारे गति करता हुआ एक वक्रिल और डांवा-डोल गतिका अनुसरण करता है। उसका विवेक असत्यके कारण विक्षुब्ध हो जाता है और वह अपने विकासमें निरन्तर ठोकरें खाता हुआ पाप और तापमें जा गिरता है। अपने अन्तरमें देवोंके संवर्धन द्वारा वह बिना ठोकर खाए, बिना दुःख-पीड़ाके सत्यसे अधिक विशाल सत्यकी ओर सीधे और हर्षोल्लासके साथ गति करनेमें समर्थ होता है।

आठवाँ सूक्त

ऋ. 5. 69

प्रकाशमय लोकोंके धारक

[ऋषि मित्र और वरुणका सत्ताके लोकों या स्तरोंके धारकोंके रूपमें आवाहन करता है, विशेषकर उन तीन प्रकाशमय लोकोंके धर्त्ताओंके रूपमें जिनमें त्रिविध मानसिक, त्रिविध प्राणिक, त्रिविध भौतिक स्तर अपनी सत्ता-के प्रकाशको और अपनी शक्तियोंके दिव्य विधानको पा लेते हैं। उनके द्वारा आर्य योद्धाका बल बढ़ जाता है और वह उस अविनश्वर विधानमें रक्षित रहता है। प्रकाशमय लोकोंसे सत्यकी नदियाँ अपने आनंदके फलके साथ अवतरित होती हैं। उनमेंसे प्रत्येकमें एक ज्योतिःस्वरूप पुरुष सत्यकी त्रिविध विचार-चेतनाके रूपको उर्वर बनाता है। ये लोक जो आत्माके ज्योतिर्मय दिवसका निर्माण करते हैं, मनुष्यमें दिव्य और अनंत चेतनाको स्थापित करते हैं और उसमें उस दिव्यशक्ति और सक्रियताको स्थापित करते हैं जिनके द्वारा हमारी सत्ताकी विस्तृत विश्वमयतामें समृद्ध आनंद और देवत्वका निर्माण साधित होता है। प्राणिक और भौतिक सत्ताके साधारण जीवनमें दिव्य क्रियाएं देवोंके द्वारा कुंठित और सीमित कर दी जाती हैं। परन्तु जब मित्र और वरुण हमारे अन्दर ज्योतिर्मय लोकोंको धारण करते हैं जिनमें इन क्रियाओंमेंसे प्रत्येक अपने सत्य और शक्तिको प्राप्त कर लेती है, तब वे सदाके लिए पूर्ण और दृढ़ हो जाती हैं।]

1

त्री रोचना वरुण त्रीँरुत द्यून् त्रीणि मित्र धारयथो रजांसि।
वावृधानावमतिं क्षत्रियस्यानु व्रतं रक्षमाणावजुर्यम्॥

(वरुण मित्र) हे वरुण! हे मित्र! तुम दोनों (त्री रोचना) प्रकाशके तीन लोकोंको, (त्रीन् द्यून्) तीन द्युलोकोंको (उत) और (त्रीणि रजांसि) तीन अंतरिक्ष-लोकोंको (धारयथः) धारण करते हो। तुम दोनों (क्षत्रि-यस्य अमतिं) योद्धाके बलको (ववृधानौ) बढ़ाते हो, (अजुर्यं व्रतम् अनु) अपनी क्रियाके अविनश्वर विधानके अनुसार (रक्षमाणौ) उसकी रक्षा करते हो।

2

इरावतीर्वरुण धेनवो वां मधुमद् वां सिन्धवो मित्र दुह्रे ।
त्रयस्तस्थुर्वृषभासस्तिसृणां धिषणानां रेतोधा वि द्युमन्तः ।।

(वरुण मित्र) हे वरुण! हे मित्र! (वां) तुम्हारी (धेनवः[1]) पोषक गौएं (इरावतीः) धाराओंसे संपन्न हैं, (वां सिन्धवः) तुम्हारी नदियां (मधुमत् दुह्रे) अपने मधुमय रसको स्रावित करती हैं। वहां (त्रयः द्युमन्तः वृषभासः[2]) तीन प्रकाशपूर्ण वृषभ (वि तस्थुः) विशालताओंमें स्थित हैं और (तिसृणां धिषणानां रेतोधाः) तीन विचारोंमें अपना बीज डालते हैं।

3

प्रातर्देवीमदितिं जोहवीमि मध्यंदिन उदिता सूर्यस्य ।
राये मित्रावरुणा सर्वतातेळे तोकाय तनयाय शं योः ।।

(प्रातः) प्रभातवेलामें, (मध्यंदिने) मध्याह्नकालमें तथा (सूर्यस्य उदिता) सूर्यके उदयके समय मैं (अदितिं देवीं) असीम दिव्य माताको (जोहवीमि) पुकारता हूँ। मैं (मित्रावरुणा) मित्र और वरुणसे (सर्वताता[3]) वैश्व सत्ताके निर्माणमें (तोकाय तनयाय) सर्जन और प्रजनन[4]के लिए और (राये) आनन्द-ऐश्वर्यके लिए (शं योः) शान्ति और गतिकी (ईळे) प्रार्थना करता हूँ।

4

या धर्तारा रजसो रोचनस्योतादित्या दिव्या पार्थिवस्य ।
न वां देवा अमृता आ मिनन्ति व्रतानि मित्रावरुणा ध्रुवाणि ।।

(या) [जो तुम दोनों] क्योंकि तुम दोनों (रोचनस्य रजसः) अंतरिक्षके ज्योतिर्मय क्षेत्रके (धर्तारा) धारण करनेवाले हो (उत) और (पार्थिवस्य

---

1. धेनवः—ये सत्यकी नदियां हैं, जैसे गावः, प्रकाशमय गौएं, इसके प्रकाशकी किरणें हैं।
2. वृषभ है पुरुष, आत्मा या सचेतन सत्ता; गौ है प्रकृति, चेतनाकी शक्ति। देवत्वका, भागवत पुत्रका सर्जन, सत्य सत्ताकी त्रिविध प्रकाशमय आत्माके द्वारा त्रिविध प्रकाशमय चेतनाको उर्वर करनेसे साधित होता है, जिसके फलस्वरूप वह उच्चतर चेतना मनुष्यमें सक्रिय, सर्जनशील और फलप्रद बन जाती है।
3. यज्ञका कार्य वैश्वसत्ता और दिव्यसत्ताके निर्माण या "विस्तार"में, सर्वताति और देवतातिमें, निहित है।
4. पुत्रका, मानव सत्ताके भीतर निर्मित देवत्वका सर्जन एवं प्रजनन।

[रजसः] धर्तारा)] पृथ्वीके प्रकाशमय क्षेत्रके धारक हो, इसलिए (आदित्या दिव्या) हे अनंतताके दिव्य पुत्रो ! (मित्रावरुण) हे मित्र ! हे वरुण ! (वां व्रतानि) तुम दोनोंकी क्रियाओंको जो (ध्रुवाणि) सदाके लिए दृढ़ हैं (अमृताः देवाः) अमर देव (न आ मिनन्ति) क्षति नहीं पहुंचाते ।[1]

1. अर्थात्, प्राणिक-स्तर और भौतिक-स्तरकी साधारण क्रियाएं अप्रकाशित हैं, अज्ञान और दोषसे पूर्ण हैं, इसलिए उनमें हमारी दिव्य और असीम सत्ताका विधान कुंठित और विकृत हो जाता है, और साथ ही वह सीमाओंके भीतर और विकारोंके साथ कार्य करता है। यह पूर्ण, स्थिर और निर्दोष रूपमें केवल तभी प्रकट होता है जब अतिमानसिक सत्य स्तर, मित्र और वरुणकी विशुद्ध विशालता और सामंजस्यके द्वारा हमारे अन्दर धारण किया जाता है, और वह प्राणिक तथा भौतिक चेतनाको अपनी शक्ति तथा प्रकाश में उठा ले जाता है।

नौवां सूक्त

ऋ. 5. 70

सत्ताके संवर्धक और उद्धारक

[ऋषि हमारी सत्ता और उसकी शक्तियोंके उस विशाल व बहुविध पोषणकी कामना करता है जिसे वरुण और मित्र प्रदान करते हैं, साथ ही वह यह भी कामना करता है कि वे दिव्य स्थितिकी समग्र प्रतिष्ठाकी ओर हमारे बलको पूर्ण रूपसे प्रेरित करें। वह उनसे प्रार्थना करता है कि वे विध्वंसकोंसे उसकी रक्षा व उद्धार करें एवं उनके विरोधी नियंत्रणको हमारे नाना कोषों व देहोंमें देवत्वकी वृद्धिको कुंठित करनेसे रोकें।]

1

पुरूरुणा चिद्ध्यस्त्यवो नूनं वां वरुण।
मित्र वंसि वां सुमतिम्॥

(वरुण मित्र) हे वरुण! हे मित्र! (वाम्) तुम दोनोंका (अवः) हमारी सत्ताका पोषण, (चित् हि नूनम्) अब निश्चयपूर्वक, (उरुणा) विशालता[1]के कारण (पुरु अस्ति) बहुविध है। (वां सुमतिं) तुम दोनोंके मनकी पूर्णताका (वंसि) मैं उपभोग करना चाहूंगा।

2

ता वां सम्यगद्रुह्वाणेषमश्याम धायसे।
वयं ते रुद्रा स्याम॥

हे मित्र और वरुण! (अद्रुह्वाणा) तुम वे हो जो हमें द्रोह व अनिष्ट[2] के हाथोंमें नहीं सौंपते। (धायसे) अपने आधारकी स्थापनाके लिए हम

---

1. अपने आध्यात्मिक तत्त्वोंके बहुविध ऐश्वर्य सहित असीम सत्य-भूमिकाकी विशालता। इसकी शर्त है दिव्य प्रकृतिकी अपने निजी विचार-मानस और चैत्य मनकी पूर्णता—सुमति—जो देवोंकी कृपाके रूपमें मनुष्यको प्राप्त होती है।
2. दस्युओंके, हमारी सत्ताके विनाशकों और उसकी दिव्य उन्नतिके शत्रुओंके तथा सीमा और अज्ञानके पुत्रोंके किए हुए अनिष्ट।

(तां वां) उन तुम दोनोंकी (सम्यक् इषम्) प्रेरणाकी पूर्णशक्तिका (अश्याम) उपभोग करें। (रुद्रा) हे तुम प्रचंड देवो! (वयं ते स्याम) हम ऐसे हो जाएं।

3

पातं नो रुद्रा पायुभिरुत त्रायेथां सुत्रात्रा।
तुर्याम दस्यून् तनूभिः॥

(रुद्रा) हे प्रचंड देवताओ[1]! तुम (पायुभिः) अपने रक्षणोंसे (नः पातम्) हमारी रक्षा करो (उत) और (सुत्रात्रा) अपने पूर्ण परित्राणसे (त्रायेथाम्) हमारा उद्धार करो। (दस्यून्) विध्वंस करनेवाले शत्रुओंको हम (तनूभिः) अपनी शारीरिक सत्ता द्वारा (तुर्याम) चीरकर पार कर जाएं।

4

मा कस्याद्भुतक्रतू यक्षं भुजेमा तनूभिः।
मा शेषसा मा तनसा॥

(अद्भुतक्रतू) हे संकल्पशक्तिमें सर्वातीत देवो! (तनूभिः) अपनी शारीरिक सत्ताओंमें हम (कस्य) किसीका भी[2] (यक्षम्) नियंत्रण (मा भुजेम) सहन न करें, (मा शेषसा) न अपनी सन्ततिमें, (मा तनसा) नाहीं अपनी रचनामें [यक्षं भुजेम] किसीका नियंत्रण सहन करें।

---

1. रुद्र देवो। रुद्र भगवान् है जो हिंसा और युद्धके द्वारा होनेवाले हमारे विकासका स्वामी है। वह अंधकारके पुत्रोंका तथा उनके द्वारा मनुष्यमें निर्मित की गई बुराईका घातक और विध्वंसक है। वरुण और मित्र दस्युओंके विरुद्ध ऊर्ध्वमुख संघर्षमें सहायकके रूपमें इस रुद्रत्वको धारण करते हैं।
2. अर्थात् विनाशकोंमेंसे किसी का भी।

दसवां सूक्त

ऋ. 5. 71

यज्ञमें आवाहन

[ऋषि उन वरुण और मित्रका सोम-हविके आस्वादनके लिए आवाहन करता है जो शत्रुओंके विध्वंसक हैं, हमारी सत्ताको महान् बनानेवाले हैं एवं अपने प्रभुत्व और प्रज्ञाके द्वारा हमारे विचारोंके सहायक हैं।]

1

आ नो गन्तं रिशादसा वरुण मित्र बर्हणा।
उपेमं चारुमध्वरम्॥

(वरुण मित्र) हे वरुण! हे मित्र! (रिशादसा) हे शत्रुका संहार करनेवाले देवो[1]! (बर्हणा) अपनी महान् बनानेवाली शक्तिके साथ (नः इमं चारुम् अध्वरम्) हमारे इस आनन्दपूर्ण यज्ञमें (उप आगन्तम्) हमारे पास आओ।

2

विश्वस्य हि प्रचेतसा वरुण मित्र राजथः।
ईशाना पिप्यतं धियः॥

(वरुण मित्र) हे वरुण! हे मित्र! तुम (हि) निश्चयसे (विश्वस्य राजथः) प्रत्येक मनुष्यके शासक हो और (प्रचेतसा) मेधावी विचारक हो। तुम (ईशाना) सबके स्वामी हो, (धियः पिप्यतम्) तुम हमारे विचारोंका पोषण करो।

3

उप नः सुतमा गतं वरुण मित्र दाशुषः।
अस्य सोमस्य पीतये॥

---

1. हमारी सत्ता, संकल्प और ज्ञानको कलुषित और क्षीण बनानेवाले शत्रुओं और घातकोंका विध्वंस करके वे हमारे अन्दर "बृहत् सत्य"की अपनी विशिष्ट विशालताओंका संवर्धन करते हैं। जब वे शासन करते हैं तो दस्युओंका नियंत्रण हट जाता है और सत्यका ज्ञान हमारे विचारोंमें बढ़ जाता है।

(वरुण मित्र) हे वरुण! हे मित्र! (नः सुतम्) हमारी सोमकी भेंट ग्रहण करनेके लिए (दाशुषः उप आ गतं) आत्मादानीके यज्ञमें पधारो, ताकि (अस्य सोमस्य पीतये) तुम इस सोममधुका पान कर सको।

ग्यारहवाँ सूक्त

ऋ. 5. 72

यज्ञमें आवाहन

[ऋषि मित्र और वरुणको यज्ञमें ऐसे देवताओंके रूपमें आवाहित करता है जो मनुष्यको सत्यके विधानके अनुसार मार्ग पर ले जाते हैं और उस विधानकी क्रियाओंके द्वारा हमारी आध्यात्मिक उपलब्धियोंको संपुष्ट करते हैं।]

1

आ मित्रे वरुणे वयं गीर्भिर्जुहुमो अत्रिवत्।
नि बर्हिषि सदतं सोमपीतये ।।

(वयं) हम (गीर्भिः) वाणियोंसे (अत्रिवत् मित्रे वरुणे आ जुहुमः) अत्रिकी तरह मित्र और वरुणके प्रति यज्ञ करते हैं।

हे मित्र और वरुण! (सोमपीतये) सोममधुका पान करनेके लिए (बर्हिषि नि सदतम्) विशालताके आसन पर विराजो।

2

व्रतेन स्थो ध्रुवक्षेमा धर्मणा यातयज्जना।
नि बर्हिषि सदतं सोमपीतये ।।

हे मित्र और वरुण तुम (व्रतेन) अपनी क्रियाके द्वारा (ध्रुवक्षेमा स्थः) कल्याणकी उपलब्धियोंको स्थिर रूपमें सुरक्षित रखते हो और (धर्मणा) अपने विधानके द्वारा (यातयत्-जना) मनुष्योंको ठीक मार्ग पर चलाते हो।

(सोमपीतये) सोममधुका पान करनेके लिए (बर्हिषि नि सदतम्) विशालताके आसन पर विराजो।

3

मित्रश्च नो वरुणश्च जुषेतां यज्ञमिष्टये।
नि बर्हिषि सदतां सोमपीतये ।।

(मित्रः च वरुणः च) मित्र और वरुण (नः यज्ञं जुषेताम्) हमारे यज्ञमें आनंद लें, (इष्टये) जिससे कि हम अपने अभीष्टको प्राप्त कर सकें।

(सोमपीतये) सोममधुका पान करनेके लिए वे (बर्हिषि नि सदताम्) विशालताके आसन पर विराजें।

वरुण-देवताका सूक्त

ऋ. 5. 85

[यह सूक्त आद्योपान्त लगातार द्वयर्थक है। बाह्य अर्थमें वरुणकी असुरके रूपमें स्तुति की गई है जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् प्रभु और स्रष्टा है, ऐसा देव है जो अपनी सर्जनात्मक प्रज्ञा और शक्तिसे युक्त है, जो लोकका निर्माण करता है तथा पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोकोंमें वस्तुओंके विधानको यथावत् बनाए रखता है। गुह्य अर्थमें बाह्य जगत्के भौतिक दृश्य पदार्थ प्रतीक बन जाते हैं। यहाँ असीम देवाधिदेव अपनी सर्व-व्यापक प्रज्ञा और निर्मलतासे संपन्न हैं और उसकी स्तुति इस रूपमें की गई है कि वह हमारी सत्ताके तीनों लोकोंको ज्ञानके सूर्यकी ओर उद्घाटित करता है, सत्यकी धाराओंको बरसाता है एवं आत्माको उसकी सत्ताके असत्य और पापसे निकालकर पवित्र करता है। इस सूक्तको यहाँ क्रमशः इसके बाह्य और गुह्य अर्थमें अनूदित किया गया है।]

1

सर्वज्ञ स्रष्टाके प्रति

प्र सम्राजे बृहदर्चा गभीरं ब्रह्म प्रियं वरुणाय श्रुताय।
वि यो जघान शमितेव चर्मोपस्तिरे पृथिवीं सूर्याय।।

(श्रुताय सम्राजे वरुणाय) प्रख्यात सर्वशासक वरुणके प्रति (ब्रह्म प्र अर्च) ऐसी वाणीका गान करो जो (बृहत्) विशाल है (गभीरं) गंभीर है तथा (प्रियम्) प्रिय है। ऐसे वरुणके प्रति गाओ (यः) जिसने (चर्म शमिता इव) पशुओंकी खाल उतारनेवालेकी तरह (पृथिवीं वि जघान) पृथिवीका विदारण करके उसे अलग किया है ताकि उसे (सूर्याय उपस्तिरे) सूर्यके नीचे बिछा सके।

2

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ।।

(वरुणः) उस वरुणने (वनेषु अन्तरिक्षं वि ततान) वृक्ष-शिखरोंपर अंतरिक्षको विस्तृत किया है, (अर्वत्सु वाजम्) घोड़ोंमें बलको, (उस्रियासु

पय:) गौओंमें दूधको, (हृत्सु क्रतुम्) हृदयोंमें संकल्पको, (अप्सु अग्निं) जलधाराओंमें अग्नि[1]को, (दिवि सूर्यं) द्युलोकमें सूर्यको तथा (अद्रौ सोमम्) पर्वतपर सोमवल्लीको (अदधात्) निहित किया है।

3

नीचीनवारं वरुणः कबन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम ॥

(वरुण:) वरुणने (नीचीनवारं कबन्धं) जलोंके धारक मेघको जिसकी खिड़कियाँ नीचेकी ओर खुली हैं (रोदसी अन्तरिक्षं) द्यावापृथिवी और अंतरिक्षपर (प्रससर्ज) बरसाया है। (तेन) उसके द्वारा (विश्वस्य भुवनस्य राजा) सकल विश्वका राजा (भूम वि उनत्ति) भूमिको ऐसे आप्लावित करता है (वृष्टि: यवं न) जैसे वर्षा जौ के खेतको।

4

उनत्ति भूमिं पृथिवीमुत द्यां यदा दुग्धं वरुणो वष्ट्यादित्।
समभ्रेण वसत पर्वतासस्तविषीयन्तः श्रथयन्त वीराः ॥

(वरुण:) वरुण (पृथिवीं भूमिम्) विस्तृत पृथिवीको (उत) और (द्यां) द्युलोकको (उनत्ति) आप्लावित करता है। निश्चय ही (यदा दुग्धं वष्टि) जब वह द्युलोकके दूधकी कामना करता है, (आत् इत्) तभी (उनत्ति) इसे बरसाता है। (पर्वतास:) पर्वत (अभ्रेण) मेघके परिधानसे (सं वसत) पूरी तरह आच्छादित हैं। (वीरा:[2] तविषीयन्त:) प्रचंड वीर अपने बलको प्रकट करते हैं और (श्रथयन्त) उनके सामने सब कुछ शिथिल पड़ जाता है।

5

इमामू ष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं मायां वरुणस्य प्र वोचम्।
मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण ॥

(सु श्रुतस्य आसुरस्य) प्रख्यात और शक्तिशाली (वरुणस्य) वरुणकी (इमां महीं मायां[3]) इस विशाल सर्जनात्मक प्रज्ञाको मैंने (प्र वोचम् ऊ) घोषित किया है, (य:) जो वरुण (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (मानेन-इव

---

1. सायण व्याख्या करता है कि यह मेघोंमें रहनेवाली वैद्युत अग्नि अथवा सागरमें रहनेवाला वडवानल है।
2. वीरा:—वीर। यहाँ इसका अर्थ है आंधी-तूफानके देवताके रूपमें मरुत्।
3. माया—इस शब्दकी धातुके मूल अर्थमें मापने, बनाने, निर्माण करने या योजना बनानेका प्रबल भाव है।

तस्थिवान्) मानो मापदंड लिए खड़ा है। उसने (पृथिवीं) पृथिवीको (सूर्येण वि ममे) सूर्यसे विस्तृत रूपसे माप डाला है।

6

इमामू नु कवितमस्य मायां महीं देवस्य नकिरा दधर्ष।
एकं यदुद्ना न पृणन्त्येनीरा सिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम्॥

(कवितमस्य देवस्य) कवियों—द्रष्टाओंमें सबसे महान् इस देवकी (इमाम् महीम् मायाम् ऊ नु) इस विशाल प्रज्ञाका (नकिः आ दधर्ष) कोई भी उल्लङ्घन नहीं कर सकता। (यत्) यही कारण है कि (समुद्रम् एकम्) समुद्र एक है, पर (एनीः अवनयः) ये दौड़ती हुई नदियां (आ सिञ्चन्तीः) अपनेको उसमें उंडेलती हुई भी उसे (उद्ना न पृणन्ति) जलसे नहीं भर सकतीं।

7

अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा।
वेशं वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत्॥

(वरुण) हे वरुण! (यत् सीम् आगः) जो भी कुछ पाप हमने (अर्यम्यं मित्र्यं वा) अर्यमाके अथवा मित्रके विधानके विरुद्ध, (सखायं वा) मित्रके प्रति (सदम् इत् भ्रातरं वा) अथवा सदैव अपने भाईके प्रति, (नित्यं वेशं वा) नित्य पड़ोसी या (अरणं वा) शत्रु[1]के विरुद्ध (चकृम) किया है, (वरुण) हे वरुणदेव! (तत् शिश्रथः) उसे हमसे दूर फेंक दो।

8

कितवासो यद्रिरिपुर्न दीवि यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म।
सर्वा ता विष्य शिथिरेव देवाऽधा ते स्याम वरुण प्रियासः॥

(दीवि कितवासः न) द्यूतके नियमका भंग करनेवाले धूर्त जुआरियोंकी तरह हमने (यत् रिरिपुः) जो पाप किया है, (यद् वा घा सत्यम् [रिरिपुः]) या सत्यके विरोधमें जो पाप किया है, (उत यत् न विद्म [रिरिपुः]) अथवा अज्ञानमें जो पाप किया है, (ता सर्वा) उन सबको (शिथिरा-इव) ढीले लटके हुए फलोंकी तरह (देव) हे देव! (वि स्य) काटकर परे फेंक दो। (अध ते प्रियासः स्याम) तभी हम तेरे प्रिय हो जाएँगे, (वरुण) हे वरुण!

1. अथवा परदेशी।

II

अनन्त प्रज्ञाका शक्तिशाली स्वामी

[ऋषि वरुणकी स्तुति अनन्त पवित्रता और प्रज्ञाके अधिपतिके रूपमें करता है जो हमारी पार्थिव सत्ताको ज्ञान-सूर्यके मेघमुक्त प्रकाशकी ओर खोल देता हैं, सत्यकी धाराओंको हमारी समस्त त्रिविध—मानसिक, प्राणिक और भौतिक—सत्तापर बरसाता है और अपनी शक्तिसे हमारे जीवनोंमेंसे समस्त पाप, बुराई व असत्यताको निकाल दूर करता है। वह हमारी कामनाके प्रिय व सुखद विषयोंके लिए हमारी खण्डित खोजके ऊपर हमारी प्राणिक सत्ताकी मुक्त विशालताका सर्जन करता है, हमारी युद्ध-रत प्राणशक्तियोंमें प्रचुर बल स्थापित करता है और विचारके चमकते हुए गोयूथोंमें द्युलोकका दूध, स्वर्गका रस। उसने हमारे हृदयोंमें संकल्पको, सत्ताकी धाराओंमें दिव्य-शक्ति—अग्निको, मनके सर्वोच्च द्युलोकमें दिव्य-ज्ञानके सूर्यको प्रतिष्ठित किया है, और हमारी सत्ताके अनेक उच्चस्तरोंवाले पर्वतपर आनन्द-मदिराको स्रावित करनेवाले पौदेको रोपा है। ये हैं सब साधन जिनके द्वारा हम अमरता प्राप्त करते हैं। वह वरुण अपनी प्रज्ञासे हमारे समग्र भौतिक जीवनकी, ज्ञान-सूर्यकी सत्य-ज्योतिके अनुसार, योजना बनाता है और हमारे अन्दर सत्य-स्तरकी उन सातों नदियोंके साथ अपनी अनन्त सत्ता और चेतनाकी एकताका निर्माण करता है जो ज्ञानकी अपनी धाराओंको उसकी अनन्त सत्ताके अंदर उंडेलती तो हैं, परन्तु उसकी अनन्तताको भर नहीं पातीं।]

1

प्र सम्राजे बृहदर्चा गभीरं ब्रह्म प्रियं वरुणाय श्रुताय।
वि यो जघान शमितेव चर्मोपस्तिरे पृथिवीं सूर्याय॥

(श्रुताय सम्राजे[1] वरुणाय) उस वरुणके प्रति जो दूर-दूर तक श्रवणकी जाने-वाली अन्तःप्रेरणाओंका स्वामी है और सर्वशासक है, (ब्रह्म) आत्माके उस देदीप्यमान, अन्तःस्फूर्त शब्दको (प्र अर्च) उज्ज्वल रूपमें गाओ जो (गभीरं बृहत् प्रियं) गभीर, विशाल और आनन्दमय है; (यः चर्म शमिता-इव) क्योंकि वह वरुण एक ऐसे व्यक्तिकी तरह है जो पशुसे चमड़ा काटकर पृथक्

1. ये दो विशेषण दिव्य सत्ताके दो पक्षों—'सर्वज्ञान', 'सर्वशक्ति'को द्योतित करनेके लिए अभिप्रेत हैं; "मायाम् असुरस्य श्रुतस्य"। मनुष्यको अपने आपको दिव्य बनाते हुए द्रष्टा और सम्राट् देवकी प्रतिमूर्ति बनना होता है।

कर देता है, (वि जघान) अन्धकारको सब तरफ़से छिन्नभिन्न कर देता है, ताकि (पृथिवीं सूर्याय उपस्तिरे) वह हमारी पृथिवीको अपने ज्योतिर्मय सूर्यके नीचे विस्तृत कर सके[1]।

2

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो अप्स्वग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ ।।

(वरुणः) उस वरुणने (वनेषु अन्तरिक्षं) पार्थिव आनन्दके वनोंके ऊपर अन्तरिक्षको (वि ततान) विस्तृत रूपसे फैला दिया है, (अर्वत्सु[3] वाजम्) हमारे जीवनके युद्धाश्वोंमें उसने अपना बल-प्राचुर्य और (उस्रियासु[4] पयः) ज्ञानके हमारे प्रदीप्त गोयूथोंमें उनका द्युलोकीय दूध (अदधात्) निहित किया है। वरुणने (हृत्सु क्रतुं[5]) हमारे हृदयोंमें संकल्पको (अप्सु अग्नि) जलधाराओं[6]में दिव्य अग्नि[7]को, (दिवि सूर्यम्) हमारे द्युलोकमें प्रकाश-स्वरूप सूर्यको (अदधात्) प्रतिष्ठित किया है और (अद्रौ सोमम्) हमारी सत्ता[8]के पर्वतपर आनन्दवल्लीको (अदधात्) रोपित किया है।

3

नीचीनवारं वरुणः कबन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम ।।

---

1. विज्ञान-ज्योतिके साक्षात्कारों तथा अंतःप्रेरणाओंको ग्रहण करनेके लिए भौतिक मनकी सीमाएँ दूर धकेल दी गई हैं और इसे महान् विशालतामें फैला दिया गया है।
2. वन, या पृथिवीके आनन्दमय प्ररोह ('वन'का अर्थ सुख भी है) अन्तरिक्ष-लोकका,—हमारे अंदरके उस प्राणलोकका आधार हैं जो प्राण-देवता वायुका प्रदेश है। वही कामनाओंकी तृप्तिका लोक है। ज्ञानके और सत्यके विधानके द्वारा आनन्द या दिव्य हर्षको ग्रहण करनेके लिए इसे भी इसकी पूर्ण विशालतामें फैला दिया गया है जो सीमाओंसे रहित है।
3. अर्वत्सु—'अर्वत्' शब्दके दोनों अर्थ हैं "युद्धकर्ता, संघर्षकर्ता" और "अश्व"।
4. उस्रियासु—'उस्रियाः'के दोनों अर्थ हैं, "उज्ज्वल रश्मियां" और "गौएँ"।
5. क्रतु—दिव्य कार्यके लिए संकल्प, यज्ञिय संकल्प।
6. सत्ताका समुद्र अथवा सत्ताकी धाराएँ जो ऊपरसे अवतरित होती हैं।
7. अग्नि—दिव्य संकल्पकी अग्नि जो यज्ञको ग्रहण करती और उसका पुरोहित बन जाती है।
8. हमारी सत्ताको सदा एक पर्वतकी उपमा दी जाती है जो अनेकों धरातलोंसे युक्त होता है, प्रत्येक धरातल सत्ताका एक क्षेत्र या स्तर है।

(वरुणः) वरुणने (रोदसी अन्तरिक्षं) द्यावापृथिवी और अन्तरिक्षके ऊपर (कवन्धं प्र ससर्ज) प्रज्ञाके उस धारकको बरसाया है (नीचीनवारं) जिसके द्वार नीचेकी ओर खुले हैं।[1] (तेन) उसके साथ (विश्वस्य भुवनस्य राजा) हमारी समस्त सत्ताका राजा (भूम वि उनत्ति) हमारी पृथिवीको ऐसे आप्लावित करता है (वृष्टिः यवं न) जैसे वर्षा जौंको आप्लावित कर देती है।

4

उनत्ति भूमिं पृथिवीमुत द्यां यदा दुग्धं वरुणो वष्ट्यादित्।
समभ्रेण वसत पर्वतासस्तविषीयन्तः श्रथयन्त वीराः॥

(वरुणः) वरुण (पृथिवीं भूमिं) हमारी विशाल पृथ्वीको (उत) और (द्यां) हमारे द्युलोकको (उनत्ति) आप्लावित कर देता है। हाँ, (यदा) जब वह (दुग्धं वष्टि) दूध[2] चाहता है तो उसे (उनत्ति) बरसा देता है। (आत् इत्) उसके अनंतर (पर्वतासः) पर्वत (अभ्रेण) बादलसे (सं वसत) आच्छादित हो जाते हैं। (वीराः) उसके वीर[3] (तविषीयन्तः) अपने बलको प्रकट करते हैं और (श्रथयन्त) उसे [बादलको] दूर हटा देते हैं।

5

इमामू ष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं मायां वरुणस्य प्र वोचम्।
मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण॥

(श्रुतस्य आसुरस्य वरुणस्य) जिसकी वाणी दूर-दूर तक सुनी जाती है और जो शक्तिशाली अधिपति है उस वरुणकी (इमां महीं मायाम् ऊ सु) इस विशाल प्रज्ञाको मैं (प्र वोचम्) घोषित करता हूँ, क्योंकि वह (अन्तरिक्षे) हमारे अन्तरिक्षमें (मानेन-इव तस्थिवान्) मानो मानदण्ड लिये खड़ा है, (यः)

---

1. विज्ञान अनन्तको उसके संकल्प और ज्ञानमें ग्रहण करनेके लिए ऊपरकी ओर उद्घाटित होता है। यहाँ उसके द्वार निम्नतर सत्ताको आप्लावित करनेके लिए नीचेकी ओर खुलते हैं।
2. अनन्त-चेतनारूपी गाय—अदिति—का दूध।
3. मरुत्—पूर्ण विचारात्मक ज्ञानको प्राप्त करनेवाली प्राण-शक्तियां। वे मेघ या आच्छादक वृत्रको छिन्न-भिन्न करनेमें इन्द्रकी सहायता करते हैं और सत्यकी जलधाराएँ बरसाते हैं तथा गुप्त सूर्यके बल द्वारा छिपाए हुए प्रकाशको लानेमें भी सहायता पहुँचाते हैं। यहाँ दोनों विचारोंको एक अन्य रूपकमें मिला दिया गया है।

जो (पृथिवीं) हमारी पृथिवीको (सूर्येण) अपने ज्योतिर्मय सूर्यसे (वि ममे) पूरा-पूरा मापता है।[1]

6

इमामू नु कवितमस्य मायां महीं देवस्य नकिरा दधर्ष।
एकं यदुद्ना न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम् ॥

(कवितमस्य देवस्य) द्रष्टा-ज्ञानमें सबसे महान् वरुण देवकी (इमां महीं मायाम् ऊ नु) इस विशाल प्रज्ञाको (नकिः आ दधर्ष) कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। (यत्) क्योंकि (एकं समुद्रम्) उस एक, सागर-स्वरूप वरुणमें (एनीः अवनयः) उज्ज्वल पोषक नदियाँ[2] (आ सिञ्चन्तीः) अपनी धाराएँ डालती हुई भी (उद्ना न पृणन्ति) उसे जलसे भर नहीं सकतीं।

7

अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा।
वेशं वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत् ॥

(वरुण) हे वरुण ! (यत् सीम् आगः) जो कोई भी पाप हमने (अर्यम्यं) तेरी अर्यमा-शक्तिके रूपमें तेरे प्रति, (वा) या (मित्र्यं) तेरी मित्र-शक्तिके रूपमें तेरे प्रति, (वा) या (सखायं) सखाके रूपमें, (वा) या (भ्रातरं) भाईके रूपमें, (वा) या (नित्यं वेशम्) शाश्वत अन्तर्वासी (वा) अथवा अरणम्) योद्धा[3]के रूपमें तेरे प्रति (चकृम) किया है (तत्) उस सबको (सदम् इत्) सदाके लिए (शिश्रथः) दूर फेंक दे, (वरुण) हे वरुण !

8

कितवासो यद्रिरिपुर्न दीवि यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म।
सर्वा ता विष्य शिथिरेव देवाऽधा ते स्याम वरुण प्रियासः ॥

---

1. मनुष्य भौतिक सत्तामें निवास करता है। वरुण उसमें विज्ञानकी ज्योति लाता है और उसे माप डालता है अर्थात् वह हमारे पार्थिव जीवनको विज्ञान-सूर्यसे प्रकाशित मनके द्वारा सत्यके माप-दण्डके अनुसार गढ़ता और योजनाबद्ध करता है। वह हमारे प्राणिक स्तरमें, जो मानसिक और भौतिक स्तरके बीचकी कड़ी है, असुरके रूपमें अपना स्थान ग्रहण करता है ताकि वह वहाँ प्रकाशको ग्रहण करके उसे सर्जनात्मक और निर्धारक शक्तिके रूपमें भौतिक स्तर तक पहुँचा सके।
2. सात नदियोंको, जो सत्यके स्तरसे अवतरित होती हैं, यहाँ 'अवनयः' कहा गया है। इस शब्दका धात्वर्थ वही है जो 'धेनवः' का, अर्थात् पोषक गौएँ।
3. दस्युओंके विरुद्ध योद्धा।

(कितवासः न) जैसे चालाक जुआरी (दीवि रिरिपुः) अपने जुएके खेलमें अपराध करते हैं उसी तरह (यत् [रिरिपुः]) हमने जो पाप किया है, (यद् वा घ) अथवा जो पाप हमने (सत्यं [रिरिपुः]) सत्यके विरोधमें किया है (उत) और (यत्) जो पाप (न विद्म) अज्ञानवश किया है (सर्वा ता) उन सबको (शिथिरा-इव) शिथिल वस्तुओंकी तरह (वि स्य) चीर-फाड़कर पृथक् कर दे। (अध) तब हम (ते प्रियासः स्याम) तेरे प्रिय हो जाएँ, (देव वरुण) हे वरुणदेव!

उषाके सूक्त

पहला सूक्त

ऋ. 5. 79

[ऋषि सत्य-ज्योतिकी उषाके निज-समस्त-अपरिमित-शोभा-सहित पूर्ण आविर्भावके लिये प्रार्थना करता है। वह अपने देवों व ऋषियोंके समस्त उदार गणोंके साथ, अपने विचारके प्रकाशमय यूथोंके साथ, अपने बलके दौड़ते हुए अश्वोंके साथ, विज्ञान-सूर्यकी प्रदीप्त रश्मियोंके साथ, स्वभावत: ही अपने संगमें रहनेवाली ज्योतिर्मय प्रेरणाके साथ आविर्भूत हो, जिन सबके साथ कि वह आया करती हैं। उषाको आने दो, फिर कार्य कभी लम्बा व मन्द नहीं होगा।]

1

महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती।
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ।।

(उष:) हे उषा-देवि ! तू (दिवित्मती) द्युलोककी अपनी समस्त श्रीशोभाके साथ आ और (अद्य) आज ही (न: बोधय) हमें जगा, (यथा चित्) जैसे कि तू पहले एक बार (न:) हमें (महे राये) महान् आनन्दके प्रति, (वाय्ये) ज्ञानके जन्मके पुत्र-भावमें, (सत्यश्रवसि[1]) सत्यके अंत:प्रेरित श्रवणमें (अबो-धय:) जगा चुकी है।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है ! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है !

2

या सुनीथे शौचद्रथे व्यौच्छो दुहितर्दिवः।
सा व्युच्छ सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ।।

(दिव: दुहित:) हे द्युलोककी पुत्री ! (या) तू जो (वि औच्छ:) उस मनुष्यमें उषाके रूपमें प्रस्फुटित हो उठती है जिसे (शौचत्-रथे[2]) प्रकाशके जाज्वल्यमान रथका (सुनीथे) पूर्ण नेतृत्व प्राप्त है, उसी प्रकार (सा) वह तू (सहीयसि)

---

1. ऋषिका नाम, सत्यश्रवस्, यहां मनुष्यमें सूर्यके जन्मके विशेष लक्षणोंका गुप्त प्रतीक है।
2. यह भी वही रूपक है पर अन्य नामके साथ। यह सूर्यके जन्मका परिणाम दर्शाता है।

हे अपनी शक्तिमें और अधिक महत्तर! (वाय्ये) ज्ञानके जन्मके पुत्रभावमें, (सत्यश्रवसि) सत्यके अंतःप्रेरित श्रवणमें आज भी (वि उच्छ) प्रस्फुटित हो।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है!

3

सा नो अद्याभरद्वसुर्व्युच्छा दुहितर्दिवः।
यो व्यौच्छः सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥

(दिवः दुहितः) हे द्युलोककी पुत्रि (आभरत्-वसुः सा) निधियोंका वहन करनेवाली वह तू (अद्य) आज ही (नः) हमारे लिये (वि उच्छ) प्रकाशके रूपमें प्रस्फुटित हो जा, (या उ) जो तू (सहीयसि) हे अपनी शक्तिमें और अधिक महत्तर! (वाय्ये) ज्ञानके ज़न्मके पुत्रभावमें, (सत्यश्रवसि) सत्यके अंतःप्रेरित श्रवणमें (वि औच्छः) पहले एक बार प्रस्फुटित हो चुकी है।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है!

4

अभि ये त्वा विभावरि स्तोमैर्गृणन्ति वह्नयः।
मघैर्मघोनि सुश्रियो दामन्वन्तः सुरातयः सुजाते अश्वसूनृते ॥

(विभावरि) हे विशाल और भास्वर उषादेवि! (वह्नयः) यज्ञ-हविके वाहक[1] (ये) जो लोग (त्वाम्) तुझे (स्तोमैः) अपने स्तोत्रोंसे (अभिगृणन्ति) अपनी वाणीमें अभिव्यक्त करते हैं वे (मघैः सुश्रियः) तेरे प्रचुर ऐश्वर्यसे यशस्वी हैं (मघोनि) हे राज्ञि, (दामन्वन्तः) उनके उपहार उदारतापूर्ण हैं, (सुरातयः) उन्हें प्राप्त वरदान परिपूर्ण हैं।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पद-चापमें ही निहित है!

5

यच्चिद्धि ते गणा इमे छदयन्ति मघत्तये।
परि चिद्वष्टयो दधुर्ददतो राधो अह्रयं सुजाते अश्वसूनृते ॥

---

1. मानवीय पुरोहित नहीं अपितु दिव्यशक्तियाँ, उषाके गण या दल, 'गणाः', जो एक साथ ही आन्तर यज्ञके पुरोहित, द्रष्टा और संरक्षक हैं तथा दिव्य ऐश्वर्यके विजेता और दाता भी हैं।

(यत् चित् हि) जब (ते इमे गणाः) तेरे देवोंके ये गण (मघत्तये छदयन्ति) तेरे प्रचुर ऐश्वर्योंकी आशामें तुझे प्रसन्न करना चाहते हैं तब वे (वष्टयः चित् परिदधुः) अपनी अभिलाषाओंको चारों ओर प्रतिष्ठित करते हैं, (अह्रयं राधः ददतः) तेरे अविचल आनंदैश्वर्यका मुक्तहस्तसे दान करते हैं।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है। (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है!

6

ऐषु धा वीरवद्यश उषो मघोनि सूरिषु।
ये नो राधांस्यह्रया मघवानो अरासत सुजाते अश्वसूनृते ।।

(उषः) हे उषा-देवि! (मघोनि) हे प्रचुर ऐश्वर्यकी राज्ञि! (एषु सूरिषु) अपने इन द्रष्टाओंमें (वीरवत् यशः) अपनी वीरतापूर्ण शक्तियोंके तेजोमय यशको (आ धाः) निहित कर। (ये मघवानः) जो तेरे प्रचुर ऐश्वर्यके अधिपति हैं वे (नः) हमें (अह्रया राधांसि) तेरे अविचल आनंद-ऐश्वर्यका (अरासत) मुक्तहस्तसे दान करें।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है!

7

तेभ्यो द्युम्नं बृहद्यश उषो मघोन्या वह।
ये नो राधांस्यश्व्या गव्या भजन्त सूरयः सुजाते अश्वसूनृते ।।

(उषः) हे उषा-देवि! (मघोनि) हे प्रचुर ऐश्वर्यकी रानी! (तेभ्यः) उन द्रष्टाओंके लिये (द्युम्नं) अपनी दीप्ति और (बृहत् यशः) विशाल यश (आ वह) ले आ, (ये सूरयः) जो द्रष्टा (नः) हमें (अश्व्या राधांसि) तेरे अश्वोंके आनन्दका और (गव्या राधांसि) तेरे गोयूथोंके आनन्दका (भजन्त) आस्वादन प्रदान करें।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है!

8

उत नो गोमतीरिष आ वहा दुहितर्दिवः।
साकं सूर्यस्य रश्मिभिः शुक्रैः शोचद्भिरर्चिभिः सुजाते अश्वसूनृते ।।

(दिवः दुहितः) हे द्युलोककी पुत्रि! तू (गोमतीः इषः उत) अपने प्रकाशके पंजसे भरी हुई प्रेरणाकी शक्तियोंको भी (नः आ वह) हमारे लिए ले आ।

(सूर्यस्य रश्मिभिः साकं) अपने सूर्यकी उन रश्मियोंके संग उन्हें आने दो जो उसके (शुक्रैः शोचद्भिः अर्चिभिः) शुभ्र, जाज्वल्यमान प्रकाशके दानोंकी निर्मलतासे युक्त हैं।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है!

9

व्युच्छा दुहितर्दिवो मा चिरं तनुथा अपः।
नेत्त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति सूरो अर्चिषा सुजाते अश्वसूनृते ।।

(दिवः दुहितः) हे द्यौकी पुत्रि ! तू (वि उच्छ) प्रकाशके रूपमें प्रस्फुटित हो, (अपः चिरं मा तनुथाः) कार्यको बहुत लम्बा मत फैला क्योंकि (सूरः) सूर्य (अर्चिषा) अपनी प्रदीप्त किरणोंसे (त्वा न इत् तपाति) तुझे संतप्त नहीं करता, (यथा) जैसे वह (स्तेनं) चोरको और (रिपुं) शत्रुको तपाता है[1]।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है!

10

एतावद्वेदुषस्त्वं भूयो वा दातुमर्हसि।
या स्तोतृभ्यो विभावर्युच्छन्ती न प्रमीयसे सुजाते अश्वसूनृते ।।

(उषः) हे उषा-देवि। (त्वं) तू (एतावत् वा इत् दातुम् अर्हसि) इतना दे (वा) अथवा (भूयः दातुम् अर्हसि) इससे अधिक भी दे, (या) जो तू [क्योंकि तू] (स्तोतृभ्यः) अपने स्तोताओंके प्रति (विभावरि) अपने वैभवोंके पूर्ण विस्तारमें प्रस्फुटित होती है, (उच्छन्ती न प्रमीयसे) अपने उदयमें तू सीमित नहीं होती।

(सुजाते) हे उषा, तेरा जन्म पूर्ण है! (अश्वसूनृते) सत्य तेरे अश्वोंके पदचापमें ही निहित है!

---

1. सत्यकी सत्ताकी ओर प्रयास लम्बा और दूभर होता है क्योंकि अन्धकार और विभाजनकी शक्तियाँ, हमारी सत्ताकी निम्नतर शक्तियाँ ज्ञानकी उपलब्धियों-पर अपना स्वत्व और अधिकार जमा लेती हैं, वे उन्हें या तो निरर्थक पड़े रहने देती हैं या उनका दुरुपयोग करती हैं। वे यज्ञ-हविकी वाहक नहीं वरन् उसे विकृत करनेवाली हैं। वे सूर्यकी पूर्ण रश्मिसे आहत होती हैं। परन्तु ज्ञानकी यह उषा पूर्ण ज्योतिको सहन कर सकती है और महान् कार्यको द्रुत वेग से समाप्त करा सकती है।

दूसरा सूक्त

ऋ 5. 180

[ऋषि द्युलोककी पुत्री दिव्य उषाकी इस रूपमें स्तुति करता है कि वह सत्य एवं आनन्दको और प्रकाशपूर्ण द्युलोकोंको लानेवाली है, प्रकाशकी स्रष्ट्री है, अन्तर्दृष्टिकी दात्री है, सत्यके मार्गोंकी निर्मात्री, अनुगामिनी और नेत्री है, अन्धकारको मिटानेवाली है एवं भगवान्‌की ओर हमारी यात्रामें शाश्वत तथा नित्य-युवती इष्टदेवी है।]

1

द्युतद्यामानं बृहतीमृतेन ऋतावरीमरुणप्सुं विभातीम्।
देवीमुषसं स्वरावहन्तीं प्रति विप्रासो मतिभिर्जरन्ते ॥

(द्युतत्-यामानं) प्रकाशमय यात्राकी उषाकी, (ऋतावरीं) सत्यकी रानी और (ऋतेन बृहतीं) सत्यसे विशाल उषाकी, (अरुणप्सुं विभातीं) जिसके गुलाबी अंगोंसे छिटकनेवाली प्रभा कितनी ही विशाल है ऐसी उषाकी, (स्वर् आवहन्तीं देवीम् उषसम्) अपने साथ प्रकाशमय द्युलोकको लानेवाली भगवती उषाकी (विप्रासः) द्रष्टा लोग (मतिभिः) अपने विचारोंसे (प्रति जरन्ते) स्तुति करते हैं।

2

एषा जनं दर्शता बोधयन्ती सुगान्पथः कृण्वती यात्यग्रे।
बृहद्रथा बृहती विश्वमिन्वोषा ज्योतिर्यच्छत्यग्रे अह्नाम् ॥

(एषा) यही है वह उषा जो (दर्शता) अन्तर्दर्शनसे संपन्न है। वही (जनं बोधयन्ती) जन-जनको जागृत करती है, (पथः सुगान् कृण्वती) उसके मार्गोंको यात्रा करनेके लिए सुगम बनाती है और (अग्रे याति) उसके आगे-आगे चलती है। (बृहद्रथा) कितना विशाल है उसका रथ! (बृहती विश्वम्-इन्वा) कितनी विशाल और सर्वव्यापक है वह देवी! (उषाः अह्नाम् अग्रे ज्योतिः यच्छति) अहो कैसे वह दिनोंके आगे-आगे ज्योति लाती है!

3

एषा गोभिररुणेभिर्युजानाऽस्रेधन्ती रयिमप्रायु चक्रे।
पथो रदन्ती सुविताय देवी पुरुष्टुता विश्ववारा वि भाति ॥

(एषा) यही है वह उषा जो (अरुणेभिः गोभिः युजाना) गुलाबी प्रकाशकी अपनी गौओंको जोतती है। (अस्रेधन्ती) उसकी यात्रा कभी विफल नहीं होती और (अप्रायु रयिं चक्रे) वह जिस निधिको बनाती है वह कभी नष्ट नहीं होती। (सुविताय पथः रदन्ती) वह आनन्दके लिए हमारे मार्गोंको काटकर बनाती है। (देवी) वह दिव्य है, (वि भाति) अत्यन्त भास्वर है उसकी प्रभा! (पुरु-स्तुता) अनेकानेक स्तोत्र उसकी ओर उठते हैं, (विश्व-वारा) वह अपने साथ प्रत्येक वर लाती है।

4

एषा व्येनी भवति द्विबर्हा आविष्कृण्वाना तन्वं पुरस्तात्।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति॥

(द्विबर्हा) पृथ्वी और द्युलोककी उसकी द्वयात्मक शक्तिमें उसे देखो, (एषा वि-एनी भवति) किस प्रकार वह अपनी शुभ्रतामें प्रकट होती है और (तन्वं पुरस्तात् आविष्कृण्वाना) अपने शरीरको हमारे सामने खोल देती है! (प्रजानती इव) एक ऐसे व्यक्तिकी तरह जो बुद्धिमान् और ज्ञानी है वह (ऋतस्य पन्थां साधु अन्वेति) सत्यके मार्गका पूरी तरह अनुसरण करती है और (दिशः न मिनाति) हमारे क्षेत्रोंमें कोई बाधा नहीं डालती।

5

एषा शुभ्रा न तन्वो विदानोर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्।
अप द्वेषो बाधमाना तमांस्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्॥

देखो, (एषा शुभ्रा तन्वः न) कैसा भास्वर होता है उसका शरीर जब उसे (विदाना) पा और जान लिया जाता है! किस प्रकार वह (स्नाती) प्रकाशमें नहाती हुई-सी (ऊर्ध्वा इव अस्थात्) ऊर्ध्वमें स्थित है ताकि (नः दृशये) हम अन्तर्दर्शन प्राप्त कर सकें। (द्वेषः तमांसि) समस्त शत्रुओं और सम्पूर्ण अन्धकारको (अप बाधमाना) दूर भगाती हुई (दिवः दुहिता उषाः) द्युलोककी पुत्री उषा (ज्योतिषा आ अगात्) प्रकाशके साथ आ गई है।

6

एषा प्रतीची दुहिता दिवो नॄन्योषेव भद्रा नि रिणीते अप्सः।
व्यूर्ण्वती दाशुषे वार्याणि पुनर्ज्योतिर्युवतिः पूर्वथाकः॥

देखो, (भद्रा योषा इव) हर्षसे परिपूर्ण स्त्रीकी तरह (दिवः एषा दुहिता) द्युलोककी यह पुत्री (नॄन् प्रतीची) देवोंसे मिलनेके लिए उनकी ओर

गति करती है और (अप्सः नि रिणीते) उसका रूप सदा उनके अधिकाधिक निकट पहुँचता जाता है। (दाशुषे) यज्ञहविके दाताके लिए (वार्याणि) समस्त आशीर्वादोंको (वि-ऊर्ण्वती) अनावृत करती हुई (युवतिः) उस नित्य-युवती देवीने (पुनः) एक बार फिर (ज्योतिः अकः) प्रकाशका सर्जन किया है जैसे उसने (पूर्वथा) आदिकालमें किया था।

सविता-देवका सूक्त

ऋ. 5. 81

[ऋषि सूर्यदेवकी स्तुति इस प्रकार करता है कि वह दिव्य ज्ञानका स्रोत और आन्तरिक लोकोंका स्रष्टा है। उसमें, द्रष्टामें, प्रकाशके अभिलाषी अपने मन और विचारोंको लगाते हैं। ज्ञानके समस्त रूपोंका एकमात्र ज्ञाता वह देव यज्ञका एकमात्र परम नियन्ता है। वह सब आकारोंको अपनी सत्ता और सर्जनात्मक दृष्टिके परिधानके रूपमें ग्रहण करता है और लोकोंमें दो प्रकारके जीवोंके लिए परम शुभ और सुखकी सृष्टि करता है। वह दिव्यज्ञानकी उषाके मार्गमें चमकते हुए स्वर्गिक लोकको प्रकट करता है। उसी मार्गपर दूसरे देवता उसका अनुसरण करते हैं। उसके प्रकाशकी महानताको ही वे अपनी समस्त शक्तियोंका लक्ष्य बनाते हैं। उसने हमारे लिए हमारे पार्थिव लोकोंको अपनी शक्ति और महानतासे माप दिया है। परन्तु दिव्य सूर्यकी रश्मियोंमें अपनी अभिव्यक्तिकी असली महिमाको तो वह प्रकाशके तीन लोकोंमें ही प्राप्त करता है। तब वह अपनी सत्ता और अपने प्रकाशसे हमारे अन्धकारकी रात्रिको घेर लेता है और मित्र बन जाता है जो अपने नियमोंसे हमारे उच्चतर और निम्नतर लोकोंका ज्योतिर्मय सामंजस्य उत्पन्न करता है। हमारी समस्त रचना का स्रष्टा एकमात्र वही है और अपने अग्रगामी प्रयाणोंके द्वारा वह इसे संवर्धित करता रहता है जब तक कि हमारी संभूतिका समस्त लोक उसके प्रकाशसे पूरित नहीं हो उठता।]

1

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥

(विप्राः) ज्ञानप्रदीप्त मनुष्य (विप्रस्य) ज्योतिर्मय, (बृहतः) विशाल और (विपश्चितः) चेतनामें प्रकाशमय देवमें (मनः युञ्जते) अपना मन लगाते हैं, (उत) और (धियः युञ्जते) अपने विचारोंको लगाते हैं। (एकः इत् वयुन-वित्) ज्ञानकी समस्त अभिव्यक्तिका वह एकमात्र ज्ञाता (होत्राः वि दधे) यज्ञके सभी नियमोंका व्यवस्थापक है। (सवितुः देवस्य परि-स्तुतिः मही) महान् है सृष्टिकर्ता सविता-देवकी स्तुति!

2

विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद्भद्रं द्विपदे चतुष्पदे।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति ।।

(कविः) द्रष्टा (विश्वा रूपाणि) सब रूपोंको (प्रति मुञ्चते) वस्त्रकी तरह पहिनता है ताकि वह (द्विपदे चतुष्पदे[1]) द्विपाद् और चतुष्पाद् प्राणियोंके लिए (भद्रं प्रासावीत्) कल्याण और आनन्दका सर्जन कर सके। (सविता) सविता अपने प्रकाशसे (नाकम्) हमारे आनन्दमय द्युलोककी (वि अख्यत्) रूपरेखा बनाता है। (वरेण्यः) वह परम और वरणीय है। (उषसः प्रयाणम् अनु) उषाके प्रयाणमें (वि राजति) उसकी दीप्तिका प्रकाश विशाल होता है।

3

यस्य प्रयाणमन्वन्य इद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना ।।

और (प्रयाणम् अनु) उसी प्रयाणमें (अन्ये इत् देवाः) अन्य सब देव (ओजसा) अपने बलसे (यस्य देवस्य महिमानम् [अनु] ययुः) [जिस] इस देवकी महिमा का अनुसरण करते हैं। (सः एतशः सविता देवः) यह वही उज्ज्वल सविता-देव है (यः) जिसने (महित्वना) अपनी शक्ति और महानतासे (पार्थिवानि रजांसि) हमारे पार्थिव प्रकाशमय लोकोंको (विममे) माप डाला है।

4

उत यासि सवितस्त्रीणि रोचनोत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि।
उत रात्रीमुभयतः परीयस उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः ।।

परन्तु (सविता) हे सविता! तू (त्रीणि रोचना उत) द्यौके चमकते हुए तीनों लोकोंकी ओर भी (यासि) जाता है (उत) और (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्यकी रश्मियोंके द्वारा तू (सम् उच्यसि) प्रकट किया जाता है, (उत) और तू (रात्रीम्) रात्रिको (उभयतः) दोनों तरफसे (परि ईयसे) घेर लेता है,

---

1. द्विपद् और चतुष्पद्का शाब्दिक अर्थ है दोपाया और चौपाया, परन्तु 'पद'का अर्थ सोपान या तत्त्व भी होता है, जिसपर आत्मा अपनेको प्रतिष्ठित करता है। चतुष्पाद्का गुह्य अर्थ है चार तत्त्वोंवाले अर्थात् वे जो निम्नतर लोकके चार प्रकारके तत्त्वोंमें निवास करते हैं और द्विपाद्का गुह्य अर्थ है दो तत्त्वोंवाले अर्थात् वे जो देव और मानवके दोहरे तत्त्वमें निवास करते हैं।

(उत) और (देवं) हे देव! तू (धर्मभिः मित्रः भवसि) सत्यके स्थिर विधानोंसे संपन्न मित्र बन जाता है।

5

उतेशिषे प्रसवस्य त्वमेक इदुत पूषा भवसि देव यामभिः।
उतेदं विश्वं भुवनं वि राजसि श्यावाश्वस्ते सवितः स्तोममानशे ॥

(उत) और (त्वम् एकः इत्) तू अकेला ही (प्रसवस्य ईशिषे) सर्जनमें समर्थ है, (उत पूषा भवसि) और तू ही पोषक बन जाता है। (उत) और (देव) हे देव! (यामभिः) अपने मार्गपर अपने प्रयाणोंसे तू (इदं विश्वं भुवनं) संभूतिके इस समस्त लोकको (वि राजसि) देदीप्यमान करता है। (सवितः) हे सविता देव! (श्यावाश्वः) श्यावाश्वने (ते स्तोमम्) तेरे देवत्वकी स्तुति को (आनशे) प्राप्त कर लिया है।

कुछ अन्य सूक्त

रहस्यमय मदिराका देव[1]

I

ऋ. IX. 75

1

अभि प्रियाणि पवते चनोहितो नामानि यह्वो अधि येषु वर्धते।
आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि रथं विश्वञ्चमरुहद्विचक्षणः॥

(चनः-हितः) आनन्दमें स्थित वह सोम (प्रियाणि नामानि) प्रिय नामोंकी ओर (अभि पवते) प्रवाहित होता है, (येषु) जिन नामोंमें (यह्वः अधि वर्धते) वह शक्तिशाली देव बढ़ता है। (बृहन्) विशाल और (विचक्षणः) बुद्धिमान् वह (बृहतः सूर्यस्य) विशाल सूर्यके (रथं) रथपर, (विश्वञ्चम् [रथम्]) विश्वव्यापी गतिके रथपर (अधि आ अरुहत्) आरोहण करता है।

2

ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियं वक्ता पतिर्धियो अस्या अदाभ्यः।
दधाति पुत्रः पित्रोरपीच्यं नाम तृतीयमधि रोचने दिवः॥

वह सोम (पवते) प्रवाहित होता है जो (ऋतस्य जिह्वा) सत्यकी जिह्वा है, (प्रियं मधु) आनन्दमय मधु[2] है एवं (अस्याः धियः) इस विचारका (वक्ता पतिः) वक्ता और अधिपति है तथा (अदाभ्यः) अजेय है। (पुत्रः) वह पुत्र (दिवः रोचने) द्यौके ज्योतिर्मय लोकमें (पित्रोः) माता-पिता[3] के (तृतीयम् अपीच्यं नाम) तीसरे गुह्य नामको (अधि दधाति) प्रतिष्ठित करता है।

---

1. सोमदेवके इन दो सूक्तों (ऋ. 9.75 और 9.42)का यथासंभव अक्षरशः अनुवाद किया गया है ताकि वेदके मौलिक प्रतीकवादको, उसके आध्यात्मिक अर्थोंमें उसका अनुवाद किये बिना, दर्शाया जा सके।
2. सोमकी मधुर मदिरा।
3. द्यौ और पृथिवी। तीन द्युलोक और तीन पृथिवियां हैं और शिखर पर है द्यौ का त्रिविध ज्योतिर्मय लोक, जिसे स्वर् कहा गया है। उसके निम्न स्तरमें उसका यूं वर्णन किया गया गया है कि वह उषामें विद्यमान त्रिविध पृष्ठ या त्रिवृत् स्तर है। वह "विशाल सूर्य" का लोक है और उसे अपने आपमें "सत्यम्, ऋतम्, बृहत्" के रूपमें वर्णित किया गया है।

3

अव द्युतानः कलशाँ अचिक्रदन्नृभिर्येमानः कोश आ हिरण्यये ।
अभीमृतस्य दोहना अनूषताऽधि त्रिपृष्ठ उषसो वि राजति ।।

(द्युतानः) प्रकाशके रूपमें प्रस्फुटित होता हुआ वह (नृभिः आयेमानः) मनुष्योंके द्वारा ले जाया जाता हुआ (कलशान्) [देहरूप] घटोंमें और (हिरण्यये कोशे) सुवर्णमय कोशमें (अव अचिक्रदत्) शब्द करता हुआ पड़ता है। (ईम्) उसीमें (ऋतस्य दोहनाः अभि अनूषत) सत्यके दोहे गए रस उषाके रूपमें प्रस्फुटित होते हैं[1]। (उषसः त्रिपृष्ठः अभि) उषाकी त्रिविध पीठपर वह (वि राजति) विशाल रूपमें प्रदीप्त होता है।

4

अद्रिभिः सुतो मतिभिश्चनोहितः प्ररोचयन् रोदसी मातरा शुचिः ।
रोमाण्यव्या समया वि धावति मधोर्धारा पिन्वमाना दिवेदिवे ।।

(अद्रिभिः सुतः) पत्थरोंसे निष्पीड़ित किया हुआ, (मतिभिः चनः-हितः) विचारोंसे आनन्दमें निहित किया हुआ, (शुचिः) निर्मल, (मातरा रोदसी) दोनों माताओं—द्यौ और पृथिवीको (प्ररोचयन्) देदीप्यमान करता हुआ वह सोम (अव्या रोमाणि समया) भेड़ों[2]के समस्त केशोंमेंसे होता हुआ (वि धावति) समरूपसे प्रवाहित होता है। (मधोः धारा) उसकी मधु-धारा (दिवे-दिवे) दिन-प्रतिदिन (पिन्वमाना) बढ़ती जाती है।

5

परि सोम प्र धन्वा स्वस्तये नृभिः पुनानो अभि वासयाशिरम् ।
ये ते मदा आहनसो विहायसस्तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम् ।।

(सोम) हे सोम! (स्वस्तये) हमारे सुख-आनन्दके लिए (परि प्र-धन्व) सर्वत्र तीव्र गतिसे संचार कर। (नृभिः पुनानः) मनुष्योंसे शुद्ध-पवित्र किया हुआ तू अपनेको (आशिरं) रस-मिश्रणोंसे (अभि वासय) आच्छादित[3] कर। (ये ते मदाः) तेरे जो हर्षोल्लास (आहनसः) आघात

---

1. अथवा "सत्यके दोहनेवाले उसके प्रति उच्च स्वरसे स्तोत्रगान करते हैं।"
2. छलनी, जिसमेंसे सोमको शुद्ध किया जाता है, भेड़की ऊनसे बनी होती है। इन्द्र है भेड़ा (मेष), इसलिए भेड़का अर्थ अवश्य ही इन्द्रकी शक्ति है, बहुत संभवतः दिव्यता-प्राप्त इन्द्रिय-मन, इन्द्रियम्।
3. सोमको पानी, दूध तथा अन्य द्रव्योंके साथ मिलाया जाता था; यह कहा गया है कि सोम अपने-आपको जल-धाराओं और 'गौओं' अर्थात् उषारूपी चमकीली गौके रसों या दीप्तियोंके परिधानसे आच्छादित करता है।

कर रहे हैं और (विहायसः) विशाल रूपसे विस्तृत हैं (तेभिः) उनसे तू (इन्द्रम्) इन्द्रको (मघम् दातवे) प्रचुर-ऐश्वर्यका दान करनेके लिए (चोदय) प्रेरित कर।

II

ऋ. IX. 42

1

जनयन् रोचना दिवो जनयन्नप्सु सूर्यम् ।
वसानो गा अपो हरिः ।।

(दिवः रोचना जनयन्) द्युलोकके ज्योतिर्मय लोकों[1]को जन्म देता हुआ, (अप्सु सूर्यं जनयन्) जलों[2]में सूर्यको जन्म देता हुआ (हरिः) देदीप्यमान देव [सोम] (अपः गाः[3] वसानः) अपने-आपको जलों और रश्मियोंके परिधानसे आवृत करता है।

2

एष प्रत्नेन मन्मना देवो देवेभ्यस्परि ।
धारया पवते सुतः ।।

(देवेभ्यः परि एषः देवः) देवोंको घेरे हुए वह देव (प्रत्नेन मन्मना) सनातन विचारके द्वारा (धारया सुतः) धारारूपमें निचोड़कर निकाला हुआ (पवते) प्रवाहित होता है।

3

वावृधानाय तूर्वये पवन्ते वाजसातये ।
सोमाः सहस्रपाजसः ।।

(सहस्रपाजसः) सहस्रों बलोंसे युक्त (सोमाः) सोमरस उस व्यक्तिके लिए (पवन्ते) प्रवाहित होते हैं जो (ववृधानाय) बढ़ रहा है और (तूर्वये) द्रुत गतिसे प्रगति कर रहा है[4] ताकि वह (वाजसातये) प्रचुर बल व ऐश्वर्य जीत सके।

---

1. स्वर्के तीन लोकों।
2. अग्नि, सूर्य और स्वयं सोमके भी विषयमें कहा गया है कि वे जलोंमें या सात नदियोंमें पाए जाते हैं।
3. गाः—इसके दो अर्थ हैं, गौएँ और रश्मियाँ।
4. ववृधानाय तूर्वये—सब बाधाओंमेंसे होते हुए मार्गपर बढ़ने और प्रगति करनेके लिए। यज्ञको मनुष्यका विकास और एक यात्रा—इन दोनों रूपकोंके द्वारा वर्णित किया गया है।

4

दुहानः प्रत्नमित्पयः पवित्रे परि षिच्यते।
क्रन्दन्देवाँ अजीजनत् ॥

(दुहानः) दोहा गया (प्रत्नम् इत् पयः) वह सनातन अन्नरस (पवित्रे) शुद्ध करनेवाली छाननीमें (परि सिच्यते) डाला जाता है और (क्रन्दन्) जोरसे शब्द करता हुआ वह (देवान् अजीजनत्) देवोंको जन्म देता है।

5

अभि विश्वानि वार्याऽभि देवाँ ऋतावृधः।
सोमः पुनानो अर्षति ॥

(सोमः) सोम (पुनानः) अपने-आपको पवित्र करता हुआ (विश्वानि वार्या अभि) सब वरणीय वरोंकी ओर तथा (देवान् अभि) उन देवोंकी ओर (अर्षति) यात्रा करता है जो (ऋतावृधः) सत्यको बढ़ाते हैं।

6

गोमन्नः सोम वीरवदश्वावद्वाजवत्सुतः।
पवस्व बृहतीरिषः ॥

(सोम) हे सोम, (सुतः) निष्पीड़ित होकर तू (गोमत् वीरवत् अश्ववत् वाजवत्) गौओं, वीरों और अश्वोंसे युक्त तथा प्रचुरतासे सम्पन्न ऐश्वर्य (नः पवस्व) हमपर प्रवाहित कर, (बृहतीः इषः)[1] विशाल प्रेरणाओंको [पवस्व] प्रवाहित कर।

---

1. कर्मकाण्डीय भाष्यकारके अनुसार 'बृहतीः इषः'का अर्थ है "विपुल अन्न"। क्योंकि यहाँ उसकी सामान्य व्याख्याके अनुसार 'अन्न' अर्थवाले दो शब्द हैं—"इष्" और "वाज", अतः यहाँ वह 'वाज' शब्दका एक और अर्थ करके मंत्रकी इस प्रकार व्याख्या करता है, "हमें एक ऐसा धन दो जिसके साथ गौएँ, मनुष्य, घोड़े और युद्ध हों, और साथ ही हमें प्रचुर अन्न भी दो।"

एक वैदिक सूक्त

ऋ. 7. 60

1

यदद्य सूर्य ब्रवोऽनागा उद्यन्मित्राय वरुणाय सत्यम् ।
वयं देवत्रादिते स्याम तव प्रियासो अर्यमन्गृणन्तः ।।

(सूर्य) हे सूर्य, हे प्रकाश ! (यत् अद्य) क्योंकि आज (उद्यन्) अपने उदयमें (अनागाः) निर्दोष होते हुए तूने (मित्राय) प्रेमके अधिपति और (वरुणाय) पवित्रताके अधिपतिके प्रति (सत्यं ब्रवः) सत्यकी घोषणा की है, इसलिए (अदिते) हे असीम माता ! (वयं) हम (तव प्रियासः) तेरे प्रिय होकर, (अर्यमन्) हे बलके अधिपति ! (तव प्रियासः) तेरे प्रिय होकर (गृणन्तः) अपने समस्त संभाषणमें (देवत्रा स्याम) देवत्वमें निवास करें।

2

एष स्य मित्रावरुणा नृचक्षा उभे उदेति सूर्यो अभि ज्मन् ।
विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च गोपा ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन् ।।

(मित्रावरुणा) हे मित्र ! हे वरुण ! (एषः स्यः नृचक्षाः) यह ही है वह देव जो आत्माके लिए देखता है, (सूर्यः) वह सूर्य जो (उभे अभि) द्यौ और पृथिवी दोनोंके ऊपर (ज्मन्) व्यापक विस्तारमें (उदेति) उदित होता है। (विश्वस्य स्थातुः जगतः च गोपाः) वह स्थावर और जंगम सभीकी रक्षा करता है, क्योंकि वह (मर्तेषु) मर्त्योंमें (ऋजु वृजिना च) सरल-सीधी और टेढ़ी वस्तुओंको (पश्यन्) देखता है।

3

अयुक्त सप्त हरितः सधस्थाद् या ईं वहन्ति सूर्यं घृताचीः ।
धामानि मित्रावरुणा युवाकुः सं यो यूथेव जनिमानि चष्टे ।।

इस देदीप्यमान देवने आज (सधस्थात्) हमारी उपलब्धिके लोकमें (सप्त हरितः) सात तेजोमय शक्तियों [अश्वों]को (अयुक्त) जोत दिया है (याः) जो (घृताचीः) अपनी निर्मलतासे युक्त होती हुई (ईम् सूर्यं वहन्ति) इस सूर्यको वहन करती हैं; (यः) जो यह देव, (मित्रावरुणा) हे मित्र, हे वरुण, (युवाकुः) तुम दोनोंको चाहनेवाला है, (धामानि

जनिमानि) आत्माके धामों तथा जन्मस्थानोंकी (यूथा-इव संचष्टे) उस प्रकार देख-रेख करता है जैसे पशुपालक अपने यूथोंकी।

4

उद् वां पृक्षासो मधुमन्तो अस्थुरा सूर्यो अरुहच्छुक्रमर्णः।
यस्मा आदित्या अध्वनो रदन्ति मित्रो अर्यमा वरुणः सजोषाः ॥

(वां मधुमन्तः पृक्षासः) तुम्हारी मधुमय तुष्टियां (उत् अस्थुः) ऊपरकी ओर उठती हैं, क्योंकि (सूर्यः) हमारा सूर्य (शुक्रम् अर्णः) निर्मल प्रकाशके सागरमें (आ अरुहत्) आरोहण कर चुका है, (यस्मै) जिसके लिये [उसके लिये] (आदित्याः) अनन्त माता अदितिके पुत्र (अध्वनः रदन्ति) उसके मार्गको काटकर बनाते हैं। (मित्रः) प्रेमका अधिपति, (अर्यमा) बलका अधिपति और (वरुणः) पवित्रताका अधिपति भी (सजोषाः) परस्पर समस्वर होकर [अध्वनः रदन्ति] उसका मार्ग बनाते हैं।

5

इमे चेतारो अनृतस्य भूरे मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति।
इम ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः ॥

(इमे हि सन्ति मित्रः अर्यमा वरुणः) यही हैं वे प्रेम, बल और पवित्रताके अधिपति मित्र, अर्यमा और वरुण जो (भूरेः अनृतस्य चेतारः) हमारे भीतरके अत्यधिक असत्यको पहचानकर उसे पृथक् करते हैं। (इमे शग्मासः अदब्धाः अदितेः पुत्राः) असीम माता अदितिके ये शक्तिशाली व अजेय पुत्र (ऋतस्य दुरोणे) सत्यके गृहमें (ववृधुः) बढ़ते हैं।

6

इमे मित्रो वरुणो दूळभासोऽचेतसं चिच्चितयन्ति दक्षैः।
अपि क्रतुं सुचेतसं वतन्तस्तिरश्चिदंहः सुपथा नयन्ति ॥

(इमे दूळभासः मित्रः वरुणः) ये हैं वे प्रेम, पवित्रता [और शक्ति]के देवता मित्र, वरुण [और अर्यमा] जिनका दमन करना कठिन है। वे (दक्षैः) अपनी विवेकशील क्रियाओंसे (अचेतसं चित् चितयन्ति) अज्ञानी को भी ज्ञान देते हैं; उसके लिये वे (सुचेतसम्) समीचीन अंतर्दृष्टिसे युक्त (क्रतुम् अपि) संकल्पकी प्रेरणाएँ भी (वतन्तः) लाते हैं और उसे (सुपथा) सन्मार्ग से (अंहः तिरः चित् नयन्ति) पाप और बुराईसे परे ले जाते हैं।

7

इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याश्चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति ।
प्रव्राजे चिन्नद्यो गाधमस्ति पारं नो अस्य विष्पितस्य पर्षन् ।।

(इमे) ये मित्र, वरुण [और अर्यमा] (दिवः) द्युलोकसे (अनिमिषा) निर्निमेष आँखोंसे (पृथिव्याः अचेतसम्) अज्ञानी मानवकी पार्थिव सत्तामें उसके लिये (चिकित्वांसः) देखते और जानते हैं तथा (नयन्ति) उसका पथ-प्रदर्शन करते हैं। (प्रव्राजे चित्) अपनी अग्रगामी गतिमें भी मनुष्य (नद्यः गाधम् अस्ति) नदीके अथाह गढ़ेमें जा पहुँचता है। तो भी वे (नः) हमें (अस्य विष्पितस्य) इस विशालताके (पारं पर्षन्) दूसरे पार तक ले जाएंगे।

8

यद्गोपावददितिः शर्म भद्रं मित्रो यच्छन्ति वरुणः सुदासे ।
तस्मिन्ना तोकं तनयं दधाना मा कर्म देवहेळनं तुरासः ।।

(यत्) जो (गोपावत्) रक्षण, (शर्म) शान्ति और (भद्रम्) सुख-आनन्द (अदितिः) अनन्त मां और (मित्रः वरुणः) प्रेम और पवित्रताके अधिपति (सुदासे यच्छन्ति) यज्ञके सेवकको प्रदान करते हैं (तस्मिन्) उसीमें (तोकं तनयम् आ दधानाः) हम अपने समस्त सर्जन और निर्माणको प्रतिष्ठित करें। (तुरासः) हे द्रुतगामी पथिको! (देवहेळनं मा कर्म) हम देवके किसी नियमका उल्लङ्घन न करें।

अव वेदिं होत्राभिर्यजेत रिपः काश्चिद्वरुणध्रुतः सः ।
परि द्वेषोभिरर्यमा वृणक्तूरुं सुदासे वृषणा उ लोकम् ।।

(वरुण-ध्रुतः सः) जिसे पवित्रताके अधिपति वरुणने धारण कर रखा है वह (होत्राभिः) यज्ञकी शक्तियोंके द्वारा (काश्चित् रिपः) विघातकोंको, चाहे वे कैसे भी हों, (वेदिं) अपनी वेदीसे (अव यजेत) दूर रखता है। (अर्यमा) हे बलके अधिपति! (सुदासे) यज्ञके सेवकमेंसे (द्वेषोभिः परि वृणक्तु) द्वेष तथा विभाजनका उन्मूलन कर दे। उसके अंदर (उरुम् उ लोकम्) अन्य विशाल लोकका निर्माण करो (वृषणौ) हे प्रचुर ऐश्वर्य-वृष्टिके दाताओ!

10

सस्वश्चिद्धि समृतिस्त्वेष्येषामपीच्येन सहसा सहन्ते ।
युष्मद्भिया वृषणो रेजमाना दक्षस्य चिन्महिना मृळता नः ।।

(एषां समृतिः हि) इन देवोंका एक साथ आना निश्चय ही (सस्वः चित्) देदीप्यमान बल और (त्वेषी) प्रकाशमय लोकका आगमन है। ये देव (अपीच्येन सहसा) अपनी समीपस्थ और समीप आती हुई शक्तिसे (सहन्ते) हमें अभिभूत कर लेते हैं। देखो! (वृषणः) हे प्रचुर ऐश्वर्यके वर्षक देवो! हम (युष्मत् भिया रेजमानाः) तुम्हारे भयसे कांप रहे हैं, (दक्षस्य चित् महिना) अपने विवेककी महिमासे (नः मृळ) हमें सुख-शान्तिमें प्रतिष्ठित करो।

11

यो ब्रह्मणे सुमतिमायजाते वाजस्य सातौ परमस्य रायः।
सीक्षन्त मन्युं मघवानो अर्य उरु क्षयाय चक्रिरे सुधातु॥

क्योंकि (यः) जो मनुष्य (ब्रह्मणे) ब्रह्मज्ञानके लिए, (वाजस्य सातौ) प्राचुर्यकी प्राप्तिके लिए और (परमस्य रायः [सातौ]) परम आनन्दकी विजयके लिए जब भी (सुमतिम् आयजाते) यज्ञ द्वारा मनकी समीचीन स्थितिको अधिगत कर लेता है, तब (अर्यः मघवानः) शक्तिशाली योद्धा एवं निधिके स्वामी देवता (मन्युं सीक्षन्त) उसके भावुक हृदयके साथ दृढ़तया संलग्न हो जाते हैं और (क्षयाय) उसके निवासस्थानके लिए वहाँ (उरु चक्रिरे) विशाल लोकका निर्माण करते हैं तथा उस लोकको (सुधातु [चक्रिरे]) पूर्ण और पक्की धातका बनाते हैं।

12

इयं देव पुरोहितिर्युवभ्यां यज्ञेषु मित्रावरुणावकारि।
विश्वानि दुर्गा पिपृतं तिरो नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

(देवा मित्रावरुणौ) हे देवो. हे मित्र और वरुण, (युवभ्यां) तुम दोनोंके लिए हमने (यज्ञेषु) अपने यज्ञोंमें (इयं पुरोहितिः अकारि) दिव्य प्रतिनिधिके इस कार्यको सामने रखा है। (नः विश्वानि दुर्गा तिरः पिपृतम्) हमें सब दुर्गम स्थानोंसे निकालकर सुरक्षित पार ले जाओ। (यूयं सदा नः स्वस्तिभिः पात) हमें सदा शाश्वत सुख-आनन्दोंके संग में रखो।

विचारके देवों (मरुतों)का स्तोत्र*

जगमगाता हुआ देवगण, विचारके देवताओंका गण मेरी आत्मामें उदित हो गया है। वे देव ऊपरकी ओर प्रयाण करते हुए एक स्तोत्र गाते हैं, जो हृदयके प्रकाशका एक सूक्त है। हे मेरी आत्मा! तू उन देवोंके प्रचण्ड और बलशाली संगीतके सुर पर अति वेगसे आगे बढ़ती जा। वस्तुतः वे एक ऐसी अंतप्रेरणाके आनन्दसे मदोन्मत्त हैं, जो छल-कपट करके असत्यके पक्षमें नहीं चली जाती, क्योंकि शाश्वत प्रकृतिका सत्य उसका पथप्रदर्शक है।[1] वे स्थिर और देदीप्यमान प्रकाशके साथी हैं और प्रकाशके बलपर वे अपने उत्तुंग आक्रमणोंको कार्य-रूप देते हैं। विजयशील वे अपने पथपर प्रचण्ड वेगसे बढ़ते चले जाते हैं, स्वतः ही रक्षण करनेवाले वे असत्यके विरुद्ध हमारी आत्माकी स्वयमेव रक्षा करते हैं;[2] क्योंकि वे अनेक हैं और अपने तेजस्वी दलोंमें बिना व्यवधानके प्रयाण करते हैं। द्रुतगतिसे दौड़ते हुए वृषभोंके झुंडकी तरह वे उग्र हैं। उनके सामने रात्रियाँ आती हैं, परन्तु वे उन रात्रियोंको कूदकर पार कर जाते हैं। वे हमारे विचारोंमें पृथिवीको अधिकृत करते हैं और उन्हींके साथ द्युलोकोंकी ओर ऊपर उठ जाते हैं। वे न अर्ध-प्रकाश हैं और नाहीं शक्तिहीन वस्तुएँ, अपितु आक्रमणमें सशक्त और प्राप्तिके लिए महाशक्तिशाली हैं। वे प्रकाशके भालोंको पकड़े हुए हैं और उन्हें अपने हाथोंसे अन्धकारकी संतानपर छोड़ते हैं। विचारके देवोंकी कौंधती बिजली रात्रिकी तलाश करती है और उनके युद्ध-आह्वानपर द्युलोक का प्रकाश हमारी आत्माओंपर अपने आप उदित हो जाता है। सत्य उनका प्रकाशमय बल है। विचारके देवोंके गण आत्माके शिल्पी हैं और वे इसकी अमरताको गढ़ते हैं। वे हमारे जीवनके रथके आगे अपने द्रुतगामी अश्व जोतते हैं और उन्हें सरपट गतिसे आनन्दकी ओर हाँकते हैं जो जीवनका लक्ष्य है।

---

* ऋग्वेदके 5 वें मण्डलके ७ सूक्तों (52-58) पर आधारित।

1. प्र श्यावाश्व धृष्णुयाऽर्चा मरुद्भिर्ऋक्वभिः।
   ये अद्रोघमनुष्वधं श्रवो मदन्ति यज्ञियाः॥
2. ते हि स्थिरस्य शवसः सखायः सन्ति धृष्णुया।
   ते यामन्ना धृषद्विनस्त्मना पान्ति शश्वतः॥ ऋ. V. 52-1, 2

उन्होंने अपने अंग-प्रत्यंगको परुष्णीके—अपरिमित धाराओंवाली नदीके जलोंमें स्नान कराया है। उन्होंने दिव्य वेश धारण किया है और अब वे अपने रथोंके पहियोंसे प्रकृतिकी समस्त गुह्य गुफाओंको तोड़कर खोल देते हैं।[1] कभी तो वे शाखा-प्रशाखाओंवाले सहस्रों मार्गोंपर प्रयाण करते हैं और कभी अपने लक्ष्य पर सीधे दौड़ते हैं। कभी तो उनके मार्ग अन्दर ही अन्दर होते हैं और कभी वे बाह्य प्रकृतिके हजारों मार्गोंका अनुसाण करते हैं। विश्व-यज्ञ उनके देवत्वके अनेक नामोंसे तथा उनके सदा विस्तृत होते हुए प्रयाणसे अपने आपको पूरा करता है, किसी समय वे अपने आपको हमारे जीवनकी सरपट दौड़नेवाली शक्तियाँ बना लेते हैं, तो किसी वक्त वे देवता और आत्माकी शक्तियाँ बन जाते हैं। अन्तमें वे परम लोकके आकार, अन्तर्दृष्टिके आकार व प्रकाशके आकार धारण कर लेते हैं। उन्होंने लक्ष्य प्राप्त कर लिया है। वे विश्वके लयतालोंको आश्रय देते हैं, वे गान करते हुए वस्तुओंके असली स्रोतके ही चारों ओर अपने भव्य नृत्यका ताना-बाना बुनते हैं। वे परमोच्च आकारके स्रष्टा हैं। वे आत्माको अन्तर्दृष्टिमें विशाल बनाते हैं और हमें प्रकाशकी दिव्य प्रखर ज्वाला बना देते हैं। कारण, ये देव सत्यके वेगशाली अन्वेषक हैं; सत्यके लिए ही इनकी बिजलियां प्रहार करती और खोज करती हैं। वे द्रष्टा हैं, स्रष्टा और विधाता हैं। उनके आक्रमण द्युलोकके सामर्थ्य और शक्तिसे अंतःप्रेरित होते हैं। इसलिए हमारे विचारोंमें पुष्ट किए हुए वे हमें अपने मार्गपर विश्वासके साथ द्रुतवेगसे बढ़ाए लिए चलते हैं। जब मन उनसे भरा होता है, वह देवत्वकी ओर आगे ले जाया जाता है, क्योंकि उनमें मार्गकी भास्वर अन्तःप्रेरणा होती है।

कौन है वह जिसने उनके जन्मस्थानको जान लिया है? या कौन है वह जो उनके परम आनन्दोंमें उनके साथ (एक आसनपर) बैठा है?[2] वह कौन है जो परे स्थित अपने सखाकी अभिलाषा और खोज करता है? अपनी आत्मामें अनेक रंगरूपवाली एक 'मां'ने उन्हें अपने अंदर वहन किया और उस मांके विषयमें वे उसे बताते हैं। एक रौद्र देव (रुद्र) उनका पिता था जिसकी प्रेरणा सभी उत्पन्न प्राणियोंको परिचालित करती है और उसीको वे प्रकट करते हैं। सात और सात विचार-स्वरूप देव मेरी ओर

---

1. उत स्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्यवः।
उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा।। ऋ. V. 52. 9
2. को वेद जानमेषां को वा पुरा सुम्नेष्वास मरुताम्। ऋ. V. 53. 1

आए और उन्होंने सात वार सौगुना (ऐश्वर्य) दिया। मैं अपने विचारोंके उज्ज्वल यूथोंको, जो उन्होंने प्रदान किए हैं, यमुनामें स्नान कराऊँगा और अपनी आत्मांकी नदीमें अपने तीव्र वेगोंको शुद्ध-पवित्र करूँगा।[1]

देखो! वे अपने दलों और संघोंमें प्रयाण करते हैं। हम अपने चिन्तनोंकी चालके साथ उनके कदमोंपर चलें। क्योंकि, वे अपने साथ सृष्टिका अविनश्वर वीज और अमर रूपोंका परमाणु वहन करते हैं और इसे यदि वे आत्माके खेतोंमें बो दें तो वहाँ वैश्व जीवन और परात्पर आनन्दकी फसल उग आएगी। वे उस सवसे किनारा करेंगे जो हमारी अभीप्साका उपहास करता है और उस सवको पार कर जाएँगे जो हमें सीमित करता है। वे सव प्रकारके दोषों और जड़ताओं तथा आत्माकी दरिद्रताओंको नष्ट कर देंगे। कारण, द्युलोकके प्राचुर्यकी वर्षा उन्हींकी है और उन्हींके हैं वे तूफान जो जीवनकी नदियोंको वहाए रखते हैं। उनकी विद्युत्-गर्जनाएँ हैं देवोंके सूक्तका गान और सत्यका उद्घोष। वे हैं एक आँख जो हमें सुखद मार्गपर ले जाती है और जो उनका अनुसरण करता है, वह लड़खड़ाता नहीं, और नाहीं वह पीड़ा वा आघात प्राप्त करता है और न जरा व मृत्यु।[2] उनके वैभव नष्ट नहीं होते और नाहीं उनके आनन्द क्षीण होते हैं। वे मानवको द्रष्टा और राजा वना देते हैं। उनकी विशालता है दिव्य सूर्यकी दीप्ति। वे हमें अमरताके धामोंमें प्रतिष्ठित कर देंगे।

वह सब जो पुरातन था और वह सब जो नूतन है, वह सव जो आत्मासे उठता है और वह सव जो अभिव्यक्त होना चाहता है—उस सबके प्रेरक वे ही हैं।[3] वे उच्च, निम्न और मध्य द्युलोकमें स्थित हैं। वे सर्वोच्च परम सत्तासे अवतीर्ण हुए हैं। वे सत्यसे उत्पन्न हुए हैं। वे मनके

---

1. सप्त मे सप्त शाकिन एकमेका शता ददुः।
यमुनायामधि श्रुतमुद् राधो गव्यं मृजे नि राधो अश्व्यं मृजे॥
ऋ. V. 52.17

2. ...अध स्मा नो अरमतिं सजोषसश्चक्षुरिव यन्तमनु नेषथा सुगम्।...
न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति।
ऋ. V. 54.6-7

3. यत्पूर्व्यं महतो यच्च नूतनं यदुद्यते वसवो यच्च शस्यते।
विश्वस्य तस्य भवथा नवेदसः शुभं यातामनु रथा अवृत्सत॥
ऋ. V. 55.8

ज्योतिर्मय नेता हैं। वे आनन्दकी मधुर मदिरा का पान करेंगे और हमें सर्वोच्च अन्तःप्रेरणाएँ प्रदान करेंगे। भगवती देवी उनके साथ है जो व्यथा, तृष्णा और कामनाको हमसे दूर कर देगी और मनुष्यके मनको फिरसे देवत्वके रूपमें गढ़ देगी। देखो! ये सत्यके ज्ञाता हैं, ऐसे द्रष्टा हैं जिन्हें सत्य अन्तःप्रेरित करता है, ये हैं अभिव्यक्तिमें विशाल, प्रसारणमें बृहत्, नित्य युवा और अमर।[1]

---

1. हये नरो मरुतो मृळता नस्तुवीमघासो अमृता ऋतज्ञाः।
सत्यश्रुतः कवयो युवानो बृहद्गिरयो बृहदुक्षमाणाः॥
ऋ. V. 58.8

वैदिक अग्नि

I*

1

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ।।

(जातवेदसे) उस सर्वज्ञ अग्निदेवके लिये जो हमारी सत्ताके विधानको जानता है और (अर्हते) अपने कार्योंके लिए स्वतः-पर्याप्त है, (मनीषया) अपने विचारसे हम (इमं स्तोमं सं महेम) उसके सत्यका यह गीत रचें और इसे (रथम् इव [सं महेम]) एक ऐसा रथ-सा बनाएँ जिसपर वह आरोहण करे। (अस्य संसदि हि) जब वह हमारे साथ निवास करता है तब (नः भद्रा प्रमतिः) एक कल्याणकारी बुद्धि हमारी सम्पदा बन जाती है। (अग्ने) हे अग्ने! (तव सख्ये) तेरी मित्रतामें अर्थात् जब तू—वह[1]—हमारा मित्र बन जाता है तब (वयं मा रिषाम) हम कभी नष्ट व हिंसित नहीं हो सकते।

2

यस्मै त्वमायजसे स साधत्यनर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम्।
स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिरग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ।।

(यस्मै त्वम् आयजसे) जिसके लिये तू यज्ञ करता है अर्थात् जो कोई भी तुझे अपने यज्ञका पुरोहित बनाता है (सः साधति) वह पूर्णताको प्राप्त करता है जो उसके श्रमका फल है। (अनर्वा क्षेति) वह अपनी सत्ताके

---

* ऋ. I. 94

1. श्रीअरविन्दने इस सारे सूक्तमें मध्यम पुरुष (तव, त्वम् आदि)को प्रथम पुरुषके अर्थमें लिया है, इस सूक्तके अनुसार वैदिक अग्निका स्वरूप प्रतिपादित करनेके लिये त्वम्, तव आदिका अर्थ "वह, उसका" आदि किया है। वस्तुतः इस सूक्तकी व्याख्यामें उनका अभिप्राय है वैदिक अग्निके स्वरूपका वर्णन, न कि सूक्तका शाब्दिक अर्थ। हमने यहाँ मूल शब्दोंके सामने श्रीअरविन्दके दिए भावार्थ और सीधे-सादे शब्दार्थ दोनोंको प्रस्तुत कर दिया है। श्रीअरविन्दका दिया भावार्थ 'पुरुष व्यत्यय'का उदाहरण भी माना जा सकता है जो वेदमें बहुलतासे पाया जाता है।—अनुवादक

शिखरपर एक ऐसे धाममें निवास करता है जहाँ न कोई युद्ध है, न शत्रु। (सुवीर्यं दधते) वह अपने अंदर विपुल सामर्थ्यको दृढ़तया धारण करता है। (स तूताव) वह अपने बलमें सुरक्षित रहता है। (अंहतिः एनम् न अश्नोति) बुराई उसपर अपने हाथ नहीं रख सकती। शेष पूर्ववत्।

3

शकेम त्वा समिधं साधया धियस्त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम्।
त्वमादित्याँ आ वह तान् ह्यु श्मस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

यही है हमारे यज्ञकी अग्नि। (त्वा समिधं शकेम) हम तुझे [उसे] ऊँचे-सा-ऊँचा प्रदीप्त करनेमें समर्थ हों, (धियः साधय) हमारे विचारोंको तू पूर्ण बना [वह पूर्ण बनाए]। (त्वे आहुतं हविः देवाः अदन्ति) देवता तेरे अन्दर डाली गई आहुतिका ही भक्षण करते हैं, अर्थात् जो कुछ भी हम देते हैं वह सब इसी अग्निमें डाला जाना चाहिए ताकि वह देवोंके लिए अन्न बन जाए। (आदित्यान् त्वम् आ वह तान् हि उश्मसि) अनन्त चेतनाके देवोंको, जिन्हें हम चाहते हैं, हमारे पास ले आ [यह अग्नि ले आए] शेष पूर्ववत्।

4

भरामेध्मं कृणवामा हवींषि ते चितयन्तः पर्वणापर्वणा वयम्।
जीवातवे प्रतरं साधया धियोऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

(वयं ते इध्मं भराम) हम तेरे लिए [इस अग्निके लिए] समिधा इकट्ठी करें, (हवींषि कृणवाम) हवियोंको तय्यार करें, (पर्वणा-पर्वणा चितयन्तः) तेरे [इसके] कालों और ऋतुओंकी संधियोंसे अपनेको सचेतन बनाएं। (धियः साधय) तू [वह] हमारे विचारोंको इस प्रकार बना [बनाए] कि वे (प्रतरं जीवातवे) हमारी सत्ताका विस्तार करें और हमारे लिए एक वृहत्तर जीवनका निर्माण करें। शेष पूर्ववत्।

5

विशां गोपा अस्य चरन्ति जन्तवो द्विपच्च यदुत चतुष्पदक्तुभिः।
चित्रः प्रकेत उषसो महाँ अस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

यह अग्निदेव (विशां गोपाः) जगत् और उसके प्राणियोंका संरक्षक है, इन सब यूथोंका पालक है। (जन्तवः, यत् च द्विपत् उत चतुष्पत्) वह सब जो उत्पन्न हुआ है, द्विपाद् और चतुष्पाद् दोनों प्रकारके प्राणी (अस्य अक्तुभिः चरन्ति) उसकी रश्मियोंके द्वारा गति करते हैं और उसकी

ज्वालाओंसे प्रेरित होते हैं। (उषसः चित्रः महान् प्रकेतः असि) तू है [यह है] हमारे अन्दरकी उषाका समृद्ध तथा महान् विचार-जागरण। शेष पूर्ववत्।

6

त्वमध्वर्युरुत होतासि पूर्व्यः प्रशास्ता पोता जनुषा पुरोहितः।
विश्वा विद्वाँ आर्त्विज्या धीर पुष्यस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव।।

(त्वम् अध्वर्युः असि) तू [यह] है वह अध्वर्यु जो यज्ञके प्रयाणका संचालक है, (उत) और (पूर्व्यः होता) वह प्रथम और सनातन जो देवोंका आवाहक है और उन्हें हवि देता है, (प्रशास्ता पोता) वह प्रशासक और पावक जिसका कार्य है प्रशासन और पवित्रीकरण। (जनुषा पुरोहितः) हमारे यज्ञका पुरोहित तू [वह] अपने जन्मसमयसे ही हमारे अग्रभागमें स्थित है। (विश्वा आर्त्विज्या विद्वान्) तू [वह] इस दिव्य पौरोहित्यके सब कार्योंको जानता है, क्योंकि तू [वह] (धीर पुष्यसि) हमारे अन्दर बढ़नेवाला चिंतक है। शेष पूर्ववत्।

7

यो विश्वतः सुप्रतीकः सदृङ्ङसि दूरे चित्सन्तळिदिवाति रोचसे।
रात्र्याश्चिदन्धो अति देव पश्यस्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव।।

(यः विश्वतः सुप्रतीकः) तुझ अग्निदेवके [उस अग्निदेवके] मुख हर तरफ हैं और तू [वह] पूर्णतया सब वस्तुओंके संमुख स्थित है। (सदृङ असि) तेरे [उसके] चक्षु है, और है अंतर्दृष्टि। (दूरे सन् चित् तळित् इव) जब हम तुझे [उसे] दूरसे देखते हैं तो भी तू [वह] हमारे निकट प्रतीत होता है, क्योंकि तू [वह] (अति रोचसे) इतनी तेजस्वितासे खाइयोंके पार चमकता है। (देव) हे अग्निदेव! तू [वह अग्निदेव] (रात्र्याः अन्धः चित् अति पश्यसि) हमारी रात्रिके अंधकारके परे भी देखता है, क्योंकि तेरी [उसकी] दृष्टि दिव्य है। शेष पूर्ववत्।

8

पूर्वो देवा भवतु सुन्वतो रथोऽस्माकं शंसो अभ्यस्तु दूढ्यः।
तदा जानीतोत पुष्यता वचोऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव।।

(देवाः) हे तुम देवो! (अस्माकं सुन्वतः रथः) हम यज्ञ करनेवालोंका रथ (पूर्वः भवतु) सदा संमुख रहे। (अस्माकं शंसः) हमारा स्पष्ट और ओजस्वी शब्द (दुः-ध्यः अभि अस्तु) उस सबको परास्त करे जो असत्यका

विचार करता है। (देवाः) हे देवो! तुम (तत् आ जानीत) हमारे लिए, हमारे अन्दर उस सत्यको जानो (उत) और (वचः पुष्यत) उस वाणीको बढ़ाओ जो उसको पा लेती है तथा उसे उच्चरित करती है। शेष पूर्ववत्।

9

वधैर्दुःशंसाँ अप दूढ्यो जहि दूरे वा ये अन्ति वा के चिदत्रिणः।
अथा यज्ञाय गृणते सुगं कृध्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! तू (वधैः) वध करनेवाले प्रहारोंसे, (दुःशंसान् दुः-ध्यः) उन शक्तियोंको जो बोलनेमें लड़खड़ाती हैं और विचारमें डग-मगाती हैं, (ये के चित् अत्रिणः) जो हमारी शक्ति और हमारे ज्ञानकी भक्षिका हैं, (अन्ति वा दूरे वा) जो हमपर निकटसे कूदती हैं या हमें दूरसे निशाना बनाती हैं, (अप जहि) हमारे मार्गसे दूर फेंक दे। (अथ) और फिर (यज्ञाय गृणते सुगं कृधि) यज्ञके [तेरा स्तवन करनेवाले यजमानके] मार्गको एक प्रशस्त और सुखद यात्रा बना दे। शेष पूर्ववत्।

10

यदयुक्था अरुषा रोहिता रथे वातजूता वृषभस्येव ते रवः।
आदिन्वसि वनिनो धूमकेतुनाऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥

(अग्ने) हे दिव्य संकल्प! (यत्) जब तू (रोहिता) अपने लाल घोड़ोंको जो (अरुषा) उज्ज्वल हैं और (वातजूता) तेरे आवेगके झंझावातसे खींचे जाते हैं, (रथे) अपने रथमें (अयुक्थाः) जोतता है तब (ते रवः वृषभस्य इव) तू वृषभकी न्याईं गर्जना करता है, (आत्) उसके बाद तू (वनिनः) जीवनके वनोंपर, उसके उन रमणीय वृक्षोंपर जो तेरे रास्तेका अवरोध करते हैं, (धूमकेतुना इन्वसि) अपने उस आवेगके धूएँसे टूट पड़ता है जिसमें विचार तथा दृष्टि है। शेष पूर्ववत्।

11

अध स्वनादुत बिभ्युः पतत्रिणो द्रप्सा यत्ते यवसादो व्यस्थिरन्।
सुगं तत्ते तावकेभ्यो रथेभ्योऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥

(अध) तब (स्वनात्) तेरे आगमनके शोरसे (पतत्रिणः उत) आकाशमें उड़नेवाले पक्षी भी (बिभ्युः) डर जाते हैं, (यत्) जब कि (ते यवस-अदः) चरागाहमें चरनेवाले तेरे पशु (द्रप्साः वि अस्थिरन्) वेगसे इतस्ततः दौड़ते हैं। (तत्) सो तू (तावकेभ्यः रथेभ्यः ते सुगम्) अपने रथोंके

लिये अपने राज्यकी ओर जानेवाला अपना मार्ग प्रशस्त बनाता है ताकि वे उसकी ओर आसानीसे दौड़ सकें। शेष पूर्ववत्।

12

अयं मित्रस्य वरुणस्य धायसेऽवयातां मरुतां हेळो अद्भुतः।
मृळा सु नो भूत्वेषां मनः पुनरग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ।।

(अयं) यह तेरा भयावह उत्पात,—(अवयाताम् मरुताम् अद्भुतः हेळः) क्या यह हमपर टूट पड़ते हुए प्राणके देवताओंका अद्भुत और अतिशय कोप नहीं है, जिससे कि यहाँ (वरुणस्य मित्रस्य धायसे) असीमकी पवित्रता और प्रेमीकी समस्वरता स्थापित हो ? (मृळ अग्ने) कृपा कर, हे प्रचण्ड अग्नि ! (एषां मनः) उनके मन (नः) हमारे प्रति (पुनः सु भूतु) फिरसे मधुर और हर्षप्रद हो जाएँ। शेष पूर्ववत्।

13

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ।।

(देवानां देवः असि) तू देवोंका देव है क्योंकि तू (अद्भुतः मित्रः) अद्भुत प्रेमी और मित्र है। (वसूनां वसुः असि) निधिके स्वामियों और घरके संस्थापकोंमें तू सबसे अधिक समृद्ध है, क्योंकि तू (अध्वरे चारुः) तीर्थयात्रा तथा यज्ञमें अति उज्ज्वल व रमणीय है। (तव सप्रथस्तमे शर्मन् स्याम) तेरे परमानन्दकी शान्ति बहुत विशाल और दूर-दूर तक विस्तृत है ; वही हमारा विश्राम-धाम हो। शेष पूर्ववत्।

14

तत्ते भद्रं यत्समिद्धः स्वे दमे सोमाहुतो जरसे मृळयत्तमः।
दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुषेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ।।

(तत् ते भद्रम्) वह है तेरा [उसका] सुख और आनन्द; क्योंकि (यत्) जब तू [यह संकल्पशक्ति-रूप अग्निदेव] (स्वे दमे) अपने दिव्य घरमें (समिद्धः) उच्च और पूर्ण ज्वालाके रूपमें प्रदीप्त होकर (जरसे) हमारे विचारोंसे पूजित होता है, तब तू [वह] (मृळयत्तमः) अत्यन्त दयामय और आनन्दप्रद होता है। (दाशुषे रत्नं द्रविणं च दधासि) तू [वह] अपनी मधुर सरसता लुटाता है और जो कुछ हमने तेरे [उसके] हाथोंमें दिया है उस सबके प्रतिफलके रूपमें हमें तू [वह] अपना ऐश्वर्य और सारतत्त्व प्रदान करता है।

15

यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशोऽनागास्त्वमदिते सर्वताता।
यं भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम॥

(सुद्रविण: अदिते) हे [उत्तम ऐश्वर्यसे सम्पन्न] अनन्त और अखण्ड सत्ता! (यस्मै त्वम् अनागास्त्वं सर्वताता ददाश:) अपने जिन कृपा-पात्रोंके लिए तू यज्ञके द्वारा आत्माकी निष्पाप विश्वमय अवस्था निर्मित या प्रदान करती है, (यम्) अपने जिन कृपापात्रोंको तू (ते भद्रेण शवसा) अपने सुखद और प्रकाशमय बलके द्वारा तथा (प्रजावता राधसा) अपने आनन्दके फल-दायक वैभवके द्वारा (चोदयासि) प्रेरणा और अंत:स्फुरणा प्रदान करती है; (स्याम) हमारी गणना भी उन्हीं कृपापात्रोंमें हो जाए।

16

स त्वमग्ने सौभगत्वस्य विद्वानस्माकमायु: प्र तिरेह देव।
(तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदिति: सिन्धु: पृथिवी उत द्यौ:)॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! (स त्वम्) वह तू (सौभगत्वस्य विद्वान्) परमानन्दका ज्ञाता है और (इह अस्माकम् आयु: प्र तिर) यहाँ हमारी आयु बढ़ानेवाला है तथा हमारी सत्ताकी अभिवृद्धि व प्रगति साधित करने-वाला है। (त्वम् देव) सचमुच तू देव है।......

II*

1

अप न: शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्।
अप न: शोशुचदघम्॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! (अघं न: अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे। (रयिम् आ शुशुग्धि) हमें आनन्दकी ज्वालासे देदीप्यमान कर। (अघं न: अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे।

2

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे।
अप. न: शोशुचदघम्॥

(सुक्षेत्रिया सुगातुया) सुखद क्षेत्रकी ओर ले जानेवाले पूर्णता-युक्त मार्गके लिए (च) और (वसूया) अमित ऐश्वर्य-निधिके लिए जब हम

* ऋ. 1.97

(यजामहे) यज्ञ करें, तव (अघं नः अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे।

3

प्र यद्भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः।
अप नः शोशुचदघम् ।।

(अघं नः अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे, (यत्) जिससे कि (एषां भन्दिष्ठः) इन सब अनेकानेक देवोंमेंसे सबसे अधिक आनन्दमय देव (प्र) हमारे अन्दर उत्पन्न हो और (अस्माकासः सूरयः प्र) क्रान्तदर्शी ऋषि, जो हमारे विचारके अन्दर पैठकर देखते हैं, वृद्धिको प्राप्त करें।

4

प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम्।
अप नः शोशुचदघम् ।।

(अग्ने) हे दिव्य ज्वाला! (अघं नः अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे, (यत्) जिससे कि (ते) तेरे (सूरयः) द्रष्टा (प्र) वृद्धिको प्राप्त करें (वयं ते प्र जायेमहि) हम तेरे होकर नव-जन्म प्राप्त करें।

5

प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः।
अप नः शोशुचदघम् ।।

(यत्) जब (सहस्वतः अग्नेः भानवः) तेरी शक्तिकी जाज्वल्यमान किरणें (विश्वतः प्र यन्ति) प्रचण्डतासे चारों ओर दौड़ती हैं तब (अघं नः अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे।

6

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि।
अप नः शोशुचदघम् ।।

(विश्वतोमुख) हे भगवन्, तेरे मुख सब तरफ हैं! (त्वं हि विश्वतः परिभूः असि) तू अपनी सत्तासे हमें सब तरफसे घेरे हुए है। (अघं नः अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे।

7

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय।
अप नः शोशुचदघम् ।।

(द्विषः विश्वतोमुख) तेरा मुख शत्रुका सामना करे, जिधर भी वह मुँह फेरे, (नावा इव नः अति पारय) हमें भयंकर समुद्रपरसे अपने जहाजसे पार ले जा। (अघं नः अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे।

8

स नः सिन्धुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये।
अप नः शोशुचदघम्॥

(नावया सिन्धुम् इव) जैसे जहाज समुद्रसे पार ले जाता है, वैसे ही (सः) वह तू अग्निदेव (नः स्वस्तये अति पर्ष) हमें वहन करके, भवसागरसे पार लगाकर अपने आनन्दमें पहुँचा दे। (अघं नः अप शोशुचत्) पापको जलाकर हमसे दूर कर दे।

अग्निदेवका एक वैदिक स्तोत्र

वैश्व दिव्य शक्ति एवं संकल्पका सूक्त[1]

1

वया इदग्ने अग्नयस्ते अन्ये त्वे विश्वे अमृता मादयन्ते।
वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनां स्थूणेव जनाँ उपमिद् ययन्थ ॥

(अग्ने) हे अग्नि! (अन्ये अग्नयः ते वयाः इत्) अन्य ज्वालाएँ तेरे तनेकी शाखाएँमात्र हैं। (त्वे विश्वे अमृताः मादयन्ते) सब देव तुझमें ही अपना हर्षोन्मादपूर्ण आनन्द प्राप्त करते हैं। (वैश्वानर) हे विश्वव्यापी देव! तू (क्षितीनां नाभिः असि) पृथिवी-लोकों और उनके निवासियोंकी नाभि है। तू (जनान्) सभी उत्पन्न मनुष्योंको (स्थूणा इव) एक स्तम्भकी तरह (ययन्थ) वशमें करता है और (उपमित्) उन्हें आश्रय देता है।

2

मूर्धा दिवो नाभिरग्निः पृथिव्या अथाभवदरती रोदस्योः।
तं त्वा देवासोऽजनयन्त देवं वैश्वानर ज्योतिरिदार्याय ॥

(अग्निः) दिव्यज्वालारूप अग्नि (दिवः मूर्धा) द्युलोकका मस्तक और (पृथिव्याः नाभिः) पृथिवीकी नाभि है (अथ) और वह (रोदस्योः अरतिः अभवत्) एक ऐसी शक्ति है जो द्युलोक और पृथिवीलोक दोनोंमें कार्यरत एवं गतिशील है। (वैश्वानर) हे वैश्वानर! (देवासः) देवोंने (तं त्वा देवम् अजनयन्त) उस तुझ देवको जन्म दिया जिससे कि तू (आर्याय ज्योतिः इत्) आर्यके लिए ज्योति बन सके।

3

आ सूर्ये न रश्मयो ध्रुवासो वैश्वानरे दधिरेऽग्ना वसूनि।
या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु या मानुषेष्वसि तस्य राजा ॥

(सूर्ये ध्रुवासः रश्मयः न) जैसे सूर्यमें स्थिर रश्मियाँ दृढ़तासे स्थित होती हैं उसी प्रकार (वसूनि) समस्त कोष (वैश्वानरे अग्ना) इस विश्व-

---

1. वैश्वानर अग्निके प्रति नोधा गौतमके एक सूक्त (ऋ. मंडल 1 सूक्त 59)से।

व्यापी देव और ज्वालारूप अग्निमें (आ दधिरे) स्थापित हैं। (तस्य राजा असि) तू उन सब ऐश्वर्योंका राजा है (या ओषधीषु पर्वतेषु अप्सु) जो पृथिवीकी ओषधियों, पर्वतों और जलोंमें हैं, [तस्य राजा असि] उन सब संपदाओंका भी राजा है (या मानुषेषु) जो मनुष्योंमें हैं।

4

बृहती इव सूनवे रोदसी गिरो होता मनुष्यो न दक्षः।
स्वर्वते सत्यशुष्माय पूर्वीर्वैश्वानराय नृतमाय यह्वीः।।

(रोदसी) द्युलोक और पृथिवीलोक ऐसे बढ़ते हैं (सूनवे बृहती इव) मानो पुत्रके लिए बृहत्तर लोक हों। वह (होता) हमारे यज्ञका पुरोहित है और (दक्षः मनुष्यः न गिरः) विवेकशील कुशलतासे संपन्न व्यक्तिकी तरह हमारी वाणियोंको गाता है। (नृतमाय वैश्वानराय) वह इस परम बलशाली देव वैश्वानरके लिए गाता है जो अपने साथ (स्वर्वते पूर्वीः यह्वीः) सूर्यलोकके प्रकाशको और उसकी अनेकों बलशाली धाराओंको लाता है क्योंकि (सत्यशुष्माय) उसका बल सत्यका बल है।

5

दिवश्चित्ते बृहतो जातवेदो वैश्वानर प्र रिरिचे महित्वम्।
राजा कृष्टीनामसि मानुषीणां युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ।।

(वैश्वानर) हे विश्वव्यापी देव! (जातवेदः) हे सब उत्पन्न वस्तुओंके ज्ञाता! (ते महित्वम्) तेरी अतिशय महिमा (बृहतः दिवः चित् प्र रिरिचे) महान् द्युलोकको आप्लावित कर उससे भी ऊपर चली जाती है। (कृष्टीनां मानुषीणां राजा असि) तू श्रम करनेवाले मानव प्राणियोंका राजा है। (युधा) युद्धके द्वारा तूने (देवेभ्यः वरिवः चकर्थ) देवोंके लिए परम कल्याणका निर्माण किया है।

7

वैश्वानरो महिम्ना विश्वकृष्टिर्भरद्वाजेषु यजतो विभावा।
शातवनेये शतिनीभिरग्निः पुरुणीथे जरते सूनृतावान्।।

(वैश्वानरः) यह है विश्वव्यापी देव जो (महिम्ना) अपनी महिमासे (भरत्-वाजेषु विश्वकृष्टिः) समस्त प्रजाओंमें ज्ञान, बल व कर्मकी प्राप्तिके लिए श्रम करता है। यह (यजतः विभावा) यज्ञका देदीप्यमान स्वामी (शतिनीभिः अग्निः) सैकड़ों ऐश्वर्योंसे युक्त ज्वाला है। (सूनृतावान्) यही है वह जिसके पास सत्यकी वाणी है।*

* ऋ. 1.59 के पहले पांच और 7वें मन्त्रका भावानुवाद। —अनुवादक

परिशिष्ट

आर्यभाषाके उद्गम

प्रास्ताविक

उन्नीसवीं शताब्दी जिन अनेकों आशाजनक प्रारंभोंकी साक्षी थी, उनमेंसे संभवतः संस्कृति और विज्ञानके जगत्‌में इतनी अधिक उत्सुकतासे किसीका स्वागत नहीं किया गया जितना तुलनात्मक भाषाशास्त्रके विजयी प्रारंभका। किन्तु शायद अपने परिणामोंमें इससे अधिक निराशाजनक भी कोई नहीं रहा। निःसंदेह भाषाशास्त्री अपने अनुशीलनकी दिशाको बड़ा महत्त्व देते हैं,—उसकी सब त्रुटियोंके होते हुए भी इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं,—और वे इसे विज्ञानका नाम देनेपर बल देते हैं, किन्तु वैज्ञानिकोंकी सम्मति इससे बिल्कुल भिन्न है। जर्मनीमें–जो विज्ञान और भाषाशास्त्र दोनोंकीही राजधानी है–'भाषाशास्त्र' यह शब्द निंदा वा अप्रतिष्ठाका सूचक पद बन गया है और भाषाशास्त्री इसका प्रतिवाद करनेकी स्थितिमें नहीं हैं। भौतिक विज्ञान अत्यंत युक्तियुक्त और सावधानतापूर्ण विधियोंसे चला है और उसने एक निर्विवाद परिणामसमूहको जन्म दिया है जिसने अपने विस्तार और दूरगामी परिणामोंसे जगत्‌में क्रांति उत्पन्न कर दी है और अपने विकासके युगको न्यायपूर्वक आश्चर्यजनक शताब्दीकी उपाधिका अधिकारी बना दिया है। तुलनात्मक भाषाशास्त्र अपने उद्‌गमोंसे कदाचित् ही एक कदम आगे बढ़ा हो, शेष सब तो आनुमानिक और चातुर्यपूर्ण विद्याका पुंज रहा है, जिसमें जितनी प्रतिभा है उतनी ही अनिश्चितता और अप्रामाणिकता भी। रनाँ जैसे एक महान् भाषाशास्त्रीको भी जिसने अपना जीवन-कार्य इतनी असीम आशाओंसे आरंभ किया था, आगे चलकर उन "क्षुद्र आनुमानिक विज्ञानों"के लिए विरोधसूचक खेद प्रकट करना पड़ा जिनमें उसने अपने जीवनकी समस्त शक्तियां लगा दी थीं। इस शताब्दीके शब्दशास्त्रविषयक अनुसंधानोंके आरंभमें,—जब संस्कृतभाषाका आविष्कार हो चुका था, जब मैक्समूलर अपने "पिता, पाटैर, पातैर, फाटॅर, फादर" इस घातक सूत्रके कारण हर्षसे फूला नहीं समाता था,—ऐसा लगता था कि भाषाविज्ञान प्रकट होने ही वाला है। किन्तु शताब्दीभरके परिणामस्वरूप प्रसिद्ध विचारक निश्चित रूपसे कह सकते हैं कि भाषाविज्ञानका विचार ही एक कोरी कपोल-कल्पना है। इसमें संदेह नहीं कि तुलनात्मक भाषाशास्त्रके विरोधी पक्षको अत्युक्तिसे स्थापित

किया गया है। यदि इसने भाषाविज्ञानकी खोज नहीं भी की तो भी इसने कमसे कम हमारे पूर्वजोंकी कुछ एक केवल कल्पनामूलक, निरंकुश और लगभग नियमरहित निरुक्तिओंको उखाड़ फेंका है! इसने प्रचलित भाषाओंके परस्पर-संबंधों और विज्ञान, इतिहास तथा उन प्रक्रियाओंके विषयमें हमें अधिक न्यायसंगत विचार प्रदान किये हैं, जिनके द्वारा पुरानी भाषाएँ ह्रासको प्राप्त होकर ऐसा मलवा बन गई हैं जिसमेंसे भाषाका एक नया रूप अपनेको गढ़ता है। सबसे बड़ी बात यह है कि इसने हमें यह दृढ़मूल विचार दिया है कि भाषाविषयक हमारे अनुसंधानोंका उद्देश्य होना चाहिये भाषाके नियमों और विधानोंकी खोज, न कि व्यक्तिगत निर्वचनोंके अंदर स्वच्छंद और निरंकुश उछल-कूद। मार्ग तैयार कर दिया गया है। हमारे मार्गकी बहुत-सी कठिनाइयोंको साफ कर दिया गया है। तथापि वैज्ञानिक भाषाशास्त्रका अस्तित्व अभी तक भी नहीं है। भाषाविज्ञान की खोजकी ओर कोई वास्तविक पहुँच और भी कम हुई है।

क्या इसका तात्पर्य यह है कि भाषाविज्ञानकी खोज ही असंभव है? कमसे कम भारतमें, जिसकी महान् वैज्ञानिक प्रणालियाँ सुदूर प्रागैतिहासिक कालतक जाती हैं, हम सुगमतासे यह विश्वास नहीं कर सकते कि प्रकृतिकी नियंत्रित व व्यवस्थित प्रक्रियाएँ ध्वनि और वाणीके सब व्यापारोंके मूलमें नहीं हैं। यूरोपीय भाषाशास्त्रको सत्यका मार्ग मिला ही नहीं, क्योंकि अपूर्ण, गौण और प्रायः भ्रामक सूत्रोंको पकड़ने और बढ़ा-चढ़ाकर दिखानेके अत्यधिक उत्साह और आतुर जल्दबाजीने इसको ऐसी पगडंडियोंमें ला घसीटा है जो किसी विश्रांति-स्थान पर नहीं पहुँचातीं; किन्तु फिर भी कहीं-न-कहीं मार्ग है अवश्य। यदि वह है तो उसे खोजा भी जा सकता है। आवश्यकता है केवल यथार्थ सूत्रकी और एक ऐसी मानसिक स्वतंत्रताकी भी जो पक्षपातोंके नीचे न दबकर और विद्वानोंके कट्टर सिद्धांतोंसे विचलित न होकर उस सूत्रका अनुसरण कर सके। सबसे बड़ी बात यह है कि यदि भाषाशास्त्रको तुच्छ आनुमानिक विज्ञानोंमें गिने जानेसे मुक्त होना है—जिनमें रत्नोंको भी उसका वर्गीकरण करनेको विवश होना पड़ा—तो उसे उतावलीभरे व्यापक सिद्धान्त बनाने, हलके और धृष्टतापूर्ण अनुमान करने, चतुराइओंके पीछे दौड़ने, कुतूहलपूर्ण एवं विद्वत्ताभरी परिकल्पनाको तुष्ट करनेकी आदत को दृढ़तापूर्वक छोड़ना पड़ेगा; क्योंकि ये सब शब्दजाल-पूर्ण पांडित्यके छद्मगर्त हैं, और इन्हें मानवजातिकी रद्दीकी टोकरीमें फेंकना पड़ेगा, इनकी गणना ऐसे आवश्यक खिलौनोंमें करनी होगी जिनको हमें शिशुगृहमेंसे निकलनेके पश्चात् उपयुक्त कबाड़खानेमें डाल देना चाहिए। आनु-

मानिक विज्ञानका अर्थ है मिथ्या विज्ञान, क्योंकि निश्चित, गंभीर और सिद्ध करने योग्य आधार और पद्धतियाँ, जो अनुमानोंसे मुक्त हों, विज्ञानकी मुख्य शर्त है। जहाँ साक्षी पर्याप्त न हो या परस्परविरुद्ध समाधान तुल्यरूपसे संभव हों, वहाँ विज्ञान खोजके प्रथम पगके रूपमें आनुमानिक प्राक्-कल्पनाओंको मान्यता दे देता है। किन्तु हमारे मानवीय अज्ञानको दी गई इस छूटका दुरुपयोग, ज्ञानकी सुनिश्चित उपलब्धियोंके रूपमें सारहीन अनुमानों को खड़ा कर देने की आदत भाषाशास्त्रका अभिशाप है। एक विज्ञानको जिसमें नौ-दशांश भाग अटकलपच्चू ही है, मानवीय प्रगति की इस अवस्थामें अपनी डींगें हांकने और अपनेको मानवजातिके मनपर लादनेकी चेष्टा करनेका कोई अधिकार नहीं। इसके लिए उचित मनोभाव है नम्रता, इसका मुख्य कार्य है सदा ही निश्चिततर आधारोंको और अपने अस्तित्वके अधिक न्यायसंगत औचित्य को ढूंढ़ना।

इस प्रस्तुत कृतिका लक्ष्य ऐसे ही दृढ़तर और निश्चिततर आधारकी खोज करना है। यह यत्न सफल हो सके—इसके लिए पहले-पहल यह आवश्यक है कि भूतकालमें जो भूलें की गई हैं उनका निरीक्षण करके उन्हें दूर किया जाए। भाषाशास्त्रियोंने संस्कृतभाषाकी महत्त्वपूर्ण खोजके पश्चात् जो पहली भूल की वह अपनी प्रारंभिक उथली खोजोंके महत्त्वको बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने की थी। प्रथम दृष्टिके उथले होनेकी संभावना रहती ही है, आरंभिक सर्वेक्षणसे निकाले प्रत्यक्ष प्रमाणोंको सुधारनेकी आवश्यकता होती ही है। तो यदि हम उनसे इतने चकाचौंध हो जाते या उनके प्रवाहमें इतने बह जाते हैं कि उन्हें अपने भावी ज्ञानकी असली कुंजी, उसका केंद्रीय आधार, उसका मूल आदर्शमंत्र बना लेते हैं, तो हम अपने लिए घोर निराशाओंको तैयार करते हैं। तुलनात्मक भाषाशास्त्रने, जो इस भूलका दोषी है, एक छोटेसे सूत्र का संकेत पकड़ लिया है और गलतीसे उसीको एक बड़ा या मुख्य संकेत समझ लिया है। जब मैक्समूलरने अपने आकर्षक अध्ययन-अनुशीलनमें जगत्के सम्मुख "पिता, पाटैर, पातैर, फाटॅर, फादर" इस महान् और घनिष्ठ संबंधका ढोल बजाया था, तब वह एक प्रकारसे नवीन विज्ञानका दिवाला पीटनेकी तैयारी कर रहा था। वह इसे पीछे विद्यमान अधिक सच्चे सूत्रों एवं अधिक व्यापक परिप्रेक्ष्योंसे परे ले जा रहा था। इस दुर्भाग्यपूर्ण सूत्रके संकुचित आधारपर अत्यन्त असाधारण और शानदार पर निःसार भवन खड़े किये गए। सर्वप्रथम, प्राचीन और नवीन भाषाओंके भाषाशास्त्रीय वर्गीकरणके आधारपर सभ्य मानवजातिको आर्य, सेमेटिक, द्राविड़ और तुरानी प्रजातिओंमें विस्तृत रूपसे विभक्त कर दिया गया।

अधिक बुद्धिसंगत और सावधानतापूर्वक किए गए विचारने हमें दिखा दिया है कि भाषाकी समानता रक्तकी समानता या मानववंश-संबंधी एकताका प्रमाण नहीं है। क्योंकि फ्रांसीसी अपभ्रष्ट और सानुनासिक लैटिन बोलते हैं इससे वे लैटिन जातिके नहीं बन जाते, और न ही बल्गेरियाके लोग रक्तकी दृष्टिसे इस कारण स्लैव बन जाते हैं कि उग्रो-फिनिश जातियोंको सभ्यता और भाषामें पूरी तरहसे स्लैव बना दिया गया है। एक अन्य प्रकारके वैज्ञानिक अनुसंधानोंने इस उपयोगी और सामयिक निषेधका समर्थन किया है। उदाहरणार्थ, भाषाशास्त्रियोंने भारतीय जातियोंको भाषागत भेदोंके बलपर उत्तरीय आर्यजाति और दाक्षिणात्य द्रविड़जातिमें विभक्त कर दिया है, किन्तु गंभीर निरीक्षण एक ही शारीरिक जातिरूप दर्शाता है जिसमें कन्याकुमारीसे लेकर अफ़गानिस्तान तक संपूर्ण भारतमें छोटे-मोटे भेद व्याप्त हैं। इसलिए भाषाको मानववंशके घटक तत्त्व के रूपमें स्वीकार नहीं किया जाता। हो सकता है कि भारतकी प्रजातियाँ विशुद्ध द्राविड़ हों, यदि सचमुच द्राविड़ जाति जैसी कोई सत्ता है या कभी रही है; अथवा हो सकता है कि वे सभी विशुद्ध आर्य हों, यदि सचमुच आर्य प्रजाति जैसी कोई सत्ता है या कभी थी; अथवा वे सभी एक मिश्रित प्रजाति हो सकती हैं जिनके स्वभावका प्रधान स्वर एक ही हो, किन्तु जो भी हो, भारतकी बोलियोंका संस्कृत और तामिल परिवार की भाषाओंमें विभाजन इस समस्यामें कुछ भी महत्त्वका नहीं। किन्तु आकर्षक व्यापक सिद्धान्तों और अत्यधिक लोकप्रिय भूलोंकी शक्ति इतनी अधिक है कि सारा संसार इस भारी भूलको लगातार दोहराता हुआ भारत-यूरोपीय प्रजातियोंकी चर्चा करता चला जाता है, आर्यजातिके साथ उनके संबंधका दावा करता या उसका खंडन करता रहता है और असत्यके इस आधारपर बहुत दूरगामी, राजनैतिक अथवा मिथ्या-वैज्ञानिक परिणामोंकी रचना करता चला जाता है।

किन्तु यदि भाषा मानव-वंशविज्ञानविषयक अनुसन्धानका युक्तियुक्त घटक नहीं है, तो भी इसे एकसमान सभ्यताओंके प्रमाणके रूपमें प्रस्तुत किया जा सकता है और प्राचीन सभ्यताओंके लिए उपयोगी और विश्वसनीय मार्गदर्शकके रूपमें इसका उपयोग किया जा सकता है। आर्यवंशोंके तितर-बितर होनेसे पूर्वकी प्राचीन आर्य-सभ्यताका चित्र खींचनेके लिए शब्दोंके अर्थोंके बलपर बहुत ही विशाल, पांडित्यपूर्ण और कष्टसाध्य यत्न किये गए हैं। वैदिक विद्वानोंने इस आनुमानिक भाषाशास्त्रके आधारपर और वेदोंकी एक शानदार एवं चातुर्यपूर्ण और आकर्षक किन्तु सर्वथा कल्पित और अविश्वसनीय व्याख्याके आधारपर भारतमें एक प्राचीन, अर्धजंगली

आर्यसभ्यताका उल्लेखनीय, सूक्ष्म और मोहक चित्र खींचा है। इन चकाचौंध करनेवाली रचनाओंको भला हम कितना महत्त्व दे सकते हैं ? कुछ भी नहीं, क्योंकि इनका कोई सुनिश्चित वैज्ञानिक आधार ही नहीं है। तीन संभावनाएँ हैं—वे रचनाएँ सत्य और अंतिम हो सकती हैं, वे आंशिक रूपमें सत्य हो सकती हैं जिनमें फिर भी गंभीर संशोधनकी आवश्यकता रहेगी, वे सर्वथा असत्य हो सकती हैं और संभव है कि इस विषयपर मानवीय ज्ञानके अंतिम परिणाममें उनका कोई चिह्न भी शेष न रहे। इन तीन संभावनाओंमेंसे किसी एकका निर्धारण करनेका हमारे पास कोई साधन नहीं। वेदके जिस दृढ़प्रतिष्ठित (कर्मकाण्डीय) अनुवादका इस समय इस कारण राज्य चला रहा है कि आलोचनात्मक दृष्टिसे और सूक्ष्मता (?) के साथ उसकी अभी परीक्षा ही नहीं की गई, उसपर निश्चय ही अविलंब प्रबल आक्रमण और शङ्का की जायगी। किंतु एक बातकी विश्वासपूर्वक आशा की जा सकती है कि चाहे कभी भारतपर उत्तर दिशासे सूर्य और अग्निके पुजारियों द्वारा आक्रमण किया गया हो, उसे उपनिवेश बनाया गया हो या उसे सभ्य बनाया गया हो, तो भी उस आक्रमणका जो चित्र भाषाशास्त्रके विद्वानोंने ऋग्वेदके आधारपर समृद्ध रूपसे खींचा है वह एक आधुनिक दंतकथा सिद्ध होगा, न कि प्राचीन इतिहास। और यदि मान भी लिया जाय कि प्राचीन कालमें भारतमें एक अर्धजंगली आर्य सभ्यता थी तो भी वैदिक भारतके आश्चर्यजनक रूपसे विस्तृत आधुनिक वर्णन भाषाशास्त्रीय मृगमरीचिका और मायाजाल ही सिद्ध होंगे। ठीक इसी प्रकार प्राचीन आर्य सभ्यताके अधिक विस्तृत प्रश्न को तबतक स्थगित रखना होगा जबतक हमारे पास अधिक प्रामाणिक सामग्री एकत्र न हो जाए। वर्तमान वाद सर्वथा भ्रामक है क्योंकि यह इस बातको मानकर चलता है कि समान शब्दोंका अंतर्निहित अर्थ है समान सभ्यता,—यह मान्यता अति और न्यूनता दोनों दोषोंकी अपराधिनी है। इसमें अतिशयोक्तिका दोष है; उदाहरणके रूपमें, यह युक्ति नहीं दी जा सकती कि क्योंकि रोमनिवासी व भारतीय किसी पात्रविशेषके लिए एक ही शब्दका प्रयोग करते हैं इसलिए उनके एक दूसरेसे पृथक् होनेसे पहले उनके पूर्वजोंके पास वह पात्र समान रूपसे विद्यमान था। हमें सबसे पहले दो प्रजातियोंके पूर्वजोंके संपर्कका इतिहास ज्ञात होना चाहिए; हमें इस बातका निश्चय होना चाहिये कि वर्तमान कालमें प्रचलित रोमन शब्द उस मौलिक लैटिन शब्दसे नहीं लिया गया जो भारतीयोंके पास नहीं था। हमें इस बातका निश्चय होना चाहिए कि रोमनिवासियोंने हमारे आर्य पूर्वजोंके साथ कभी किसी प्रकारका तादात्म्य, संबंध और संपर्क स्थापित किए बिना उस शब्दको

ग्रीक व केल्ट लोगोंसे संक्रमण द्वारा नहीं लिया था। इसी प्रकार अन्य अनेक संभावित समाधानोंके विरुद्ध हमें दृढ़रूपसे सुरक्षित रहना चाहिए जिनके विषयमें भाषाशास्त्र हमें कोई निषेधात्मक या विधेयात्मक आश्वासन नहीं दे सकता। भारतीय शब्द 'सुरंग' ग्रीक 'स्युरिंग्स (Surinx)' माना जाता है। इसके आधारपर हम यह युक्ति नहीं दे सकते कि ग्रीक और भारतीय अपनी जुदाईसे पूर्व सुरंग बनानेकी एक ही कलासे संपन्न थे अथवा यहाँ तक कि भारतीय, जिन्होंने ग्रीससे इस शब्दको उधार लिया,—मेसिडोनियाके इंजिनियरोंसे भूमिगत खुदाईके विषयमें ज्ञान प्राप्त करनेसे पहले इस विषयमें कभी कुछ भी नहीं जानते थे। टेलिस्कोप (Telescope) के लिए बंगाली शब्द दूरबीन है, जिसका उद्‌गम यूरोपीय नहीं। इससे हम यह परिणाम नहीं निकाल सकते कि यूरोपीयोंके संपर्कमें आनेसे पूर्व बंगालियोंने दूरबीनका आविष्कार स्वतंत्र रूपसे किया था। तथापि लुप्त संस्कृतियोंके आनुमानिक पुनरुत्थानके कार्योंमें भाषाशास्त्री जिन सिद्धांतोंसे परिचालित प्रतीत होते हैं उनके आधारपर जिन परिणामोंपर हम पहुँचेंगे वे ठीक यही हैं। यहाँ हमारे पास अपनी परिकल्पनाओंको सुधारनेके लिए ऐतिहासिक तथ्योंका ज्ञान है, किन्तु प्रागैतिहासिक युगोंके संबन्धमें भूलसे बचावके लिये इस प्रकारका कोई साधन नहीं। वहाँ तो ऐतिहासिक सामग्रीका सर्वथा अभाव है और हमें शब्दों और उनके भ्रामक संकेतोंकी दयापर छोड़ दिया जाता है। किन्तु भाषाओंके उलटफेरपर थोड़ासा भी विचार, विशेषकर भारतमें अंग्रेजीभाषाका हमारी साहित्यिक भाषाओंपर जो प्रभाव पड़ा उससे उत्पन्न भाषासंबंधी विचित्र तथ्योंका किञ्चित् अध्ययन, वह पहला धावा जिसके द्वारा अंग्रेजी शब्दोंने, बातचीत और पत्रव्यवहारमें, हमारे सामान्य देशी शब्दोंको भी अपने हितमें निकाल बाहर करनेका यत्न किया और वह प्रतिक्रिया जिसके द्वारा प्रदेशीय भाषाएँ यूरोपीयों द्वारा प्रचालित नयी धारणाओंको व्यक्त करनेके लिए अब नया संस्कृत शब्द ढूँढ़ रही हैं,—ये सब चीजें किसी भी विचारशील मनको, यह विश्वास दिलानेके लिए पर्याप्त होंगी कि इन भाषाशास्त्री संस्कृति-पुनरुद्धारकोंकी स्थापनाएँ कितनी अविवेकमय और कैसी अत्युक्तिपूर्ण और तर्कहीन हैं। उनके वे निष्कर्ष केवल अतिशयोक्तिके ही नहीं अपितु न्यूनताके भी दोषी हैं। वे इस सुस्पष्ट तथ्यकी सतत उपेक्षा करते हैं कि प्रागैतिहासिक और प्राक्-साहित्यिक कालोंमें प्रारंभिक भाषाओंके शब्दकोष एक शताब्दीसे दूसरी शताब्दीमें इतने परिवर्तित हो जाते होंगे कि हम उच्च कोटिकी प्राचीन और आधुनिक साहित्यिक भाषाओंसे लिए गये भाषासंबंधी विचारोंसे उसकी कल्पना भी

नहींके बराबर ही कर सकते हैं। मैं विश्वास करता हूँ कि यह मानव-विज्ञानका सुप्रतिष्ठित तथ्य है कि अनेक जंगली भाषाओंके शब्दकोष एक पीढ़ीसे दूसरी पीढ़ीमें बदल जाते हैं। इसलिए यह पूर्णतया संभव है कि सभ्यताके वे उपकरण और संस्कृतिके वे विचार जिनके लिए दो आर्यभाषाओंमें समान शब्द विद्यमान नहीं हैं, अपनी जुदाईसे पूर्व साझी संपत्ति रहे हों; क्योंकि संभव है कि उनमेंसे प्रत्येकने एक दूसरेसे अलग होनेके पश्चात् गढ़े हुए नये शब्दके प्रयोगके लिए प्रारंभिक साझे शब्दका त्याग कर दिया हो। भाषाका चमत्कार साझे शब्दोंके संरक्षणमें है न कि उनके लुप्त होनेमें।

इसलिए मैं नृवंशविज्ञानके सभी निष्कर्षोंको, — शब्दोंके आधारपर उनका प्रयोग करनेवाले मनुष्यों वा प्रजातियोंकी संस्कृति और सभ्यता-विषयक सभी परिकल्पनाओं व अनुमानोंको, चाहे वे परिकल्पनाएँ कितनी भी प्रलोभक क्यों न हो, चाहे वे अनुमान कितने ही आकर्षक, मनोरंजक और संभाव्य क्यों न हों जिन्हें अपने अध्ययनकी प्रक्रियामें निकालनेके लिए हम प्रलुब्ध होते हैं,—भाषाशास्त्रके क्षेत्रसे जैसा कि मैं उसे समझता हूँ, बहिष्कृत करता हूँ, और मेरा ऐसा करना उचित ही है। भाषाशास्त्रीका नृवंश-विज्ञानसे कोई संबंध नहीं। भाषाशास्त्रीका समाजशास्त्र, मानवविज्ञान और पुरातत्त्वविज्ञानसे भी कोई सरोकार नहीं। उसका एकमात्र प्रयोजन शब्दोंके इतिहाससे है, और साथ ही विचारकी प्रतिनिधि-भूत ध्वनियाँ जिन रूपोंको प्रकट करती हैं उनके साथ विचारोंके संबंधके इतिहाससे है; अथवा इससे ही होना चाहिये। अपने आपको कठोरतापूर्वक इस क्षेत्र तक ही सीमित करके, एक ऐसे आत्म-त्यागके द्वारा जिससे वह अपने कुछ नीरस और धूलिमिश्रित मार्गपर सब असंबद्ध विक्षेपों और हर्षोंका परित्याग कर दे, वह अपने असली कार्यपर एकाग्रता बढ़ा सकेगा और उन प्रलोभनोंसे बच सकेगा जो उसे महान् अन्वेषणोंसे दूर ले जा सकते हैं। वे अन्वेषण इस बुरी तरह खोजे जा रहे ज्ञानक्षेत्रमें मानवजातिकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

किन्तु भाषाओंके परस्पर घनिष्ठ सादृश्य, कमसे कम, भाषाशास्त्र के प्रयासोंका एक उपयुक्त क्षेत्र हैं। तथापि यहाँ भी मैं यह माननेको विवश हूँ कि यूरोपके विद्वानोंने अध्ययनके इस विषयको भाषाशास्त्र के उद्देश्योंमें प्रथम स्थान देनेमें एक बड़ी भूल की है। क्या हमें सचमुच पूरा निश्चय है कि हम जानते हैं कि दो भिन्न-भिन्न भाषाओंमें,—उदाहरणार्थ, इतनी भिन्न जैसी लैटिन और संस्कृत, संस्कृत और तामिल, तामिल और लैटिन हैं,—मूलकी समानता और विषमताका अर्थ क्या है? लैटिन, ग्रीक और संस्कृतको भगिनी आर्यभाषाएँ माना जाता है। तामिलको इनसे इतर

और द्राविड़ मूलकी मानकर पृथक् रखा जाता है। यदि हम इस बातकी जाँच करें कि यह भिन्न और प्रतिकूल व्यवहार किस आधारपर निर्भर है तो हम पाएँगे कि मूलकी समानता दो मुख्य कारणोंसे मानी जाती है, साधारण और परिचित शब्दोंका एकसरीखा समुदाय तथा व्याकरण-विषयक रूपों और प्रयोगोंकी काफी अधिक समानता। हम फिरसे उसी प्रारंभिक सूत्रपर वापिस आते हैं—पिता (pitā), पाटैर (patêr), पातैर (pater), फाटॅर (vater), फादर (father)। यह पूछा जा सकता है कि भाषासंबंधी बंधुत्वका निश्चय करनेके लिए और क्या कसौटी पाई जा सकती है? संभवत: कोई नहीं, किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि एक जरा-सा निष्पक्ष विचार हमें इसके लिये आधार प्रदान करेगा कि इस क्षुद्र आधारपर अत्यन्त विश्वासके साथ भाषाओंका वर्गीकरण करनेसे पहले हमें रुककर बहुत देर तक तथा गंभीरतासे विचार कर लेना चाहिये। यह स्वीकार किया जाता है कि समान शब्दोंके एक बड़े समूहको रखनामात्र बंधुत्वको स्थापित करनेके लिए पर्याप्त नहीं। यह संपर्क अथवा सहनिवाससे अधिक किसी चीजकी स्थापना नहीं कर सकता। तामिलके समृद्ध शब्दकोषमें संस्कृत शब्दोंका बड़ा भारी समुदाय है, किन्तु इस कारणसे यह संस्कृत-संबद्ध भाषा नहीं बन जाती। उभयनिष्ठ शब्द वे होने चाहियें जो साधारण और परिचित विचारों और पदार्थोंको प्रकट करनेवाले हों, जैसे, पारिवारिक संबंध, संख्याएँ, सर्वनाम, आकाशीय पदार्थ, 'होना', 'रखना'-संबंधी विचार इत्यादि,—वे शब्द जो मनुष्योंके, विशेषत: आदिम आदमियोंके मुखोंमें बहुत सामान्य रूपसे रहते हैं और इसलिए, क्या हम यूं कहें कि, जिनमें परिवर्तन की बहुत कम संभावना हो सकती है? पिताको संबोधित करते हुए संस्कृतभाषा 'पितर्'का प्रयोग करती है, ग्रीकभाषा पाटैर (patêr), लैटिन पातैर (pater) का, किन्तु तामिल कहती है 'अप्पा'। माताको संबोधित करते हुए संस्कृत 'मातर्'का प्रयोग करती है, ग्रीक मेटेर (mêter), लैटिन मातैर (māter) किन्तु तामिल अम्माका। 'सात' संख्याके लिए संस्कृत 'सप्तन्' या 'सप्त'का प्रयोग करती है, ग्रीक हेप्टा (hepta), लैटिन सेप्ता (septa) का, किन्तु तामिल एळु (eḷu) का। उत्तम पुरुषके लिए संस्कृत कहती है 'अहम्', ग्रीक एगो या एगौन (egô या egôn), लैटिन एगो (ego), किन्तु तामिल नान्का प्रयोग करती है। सूर्यके लिए संस्कृत कहती है सूर या सूर्य, ग्रीक हेलियोस (helios), लैटिन सौल (sol) किन्तु तामिल भाषा ञायिर् (ñāyir)। होनेके विचारके लिए संस्कृतमें शब्द है अस्,

अस्मि, ग्रीकमें आयनाई और आयमी (cinai और cimi), लैटिनमें ऐस्स और सुम (esse और sum) किन्तु तामिलमें इरु (iru)। इस प्रकार भेदका आधार आकर्षक स्पष्टताके साथ सामने आ जाता है। इस विषयमें कोई संदेह ही नहीं। संस्कृत, ग्रीक और लैटिन भाषासंबंधी एक परिवारके साथ संबंध रखती हैं, जिसे हम अपनी सुविधाके अनुसार 'आर्य' या भारोपीय (भारत-यूरोपीय) परिवारके नामसे कह सकते हैं और तामिलका संबंध दूसरे परिवारसे है जिसके लिए द्राविड़से बढ़कर सुविधा-जनक कोई शब्द नहीं मिल सकता।

यहाँ तक तो ठीक है। ऐसा प्रतीत होता है कि हम एक दृढ़ आधारपर खड़े हैं और हमारे पास ऐसा नियम है जिसे लगभग वैज्ञानिक परिशुद्धताके साथ प्रयोगमें लाया जा सकता है। किन्तु जब हम कुछ और आगे जाते हैं, तो यह उज्ज्वल आशा कुछ धूमिल हो जाती है, हमारी दृष्टिके क्षेत्रमें संदेहका कुहरा छाने लगता है। माता-पिता तो समान हैं पर अन्य पारि-वारिक संबंधी भी तो हैं! गृहकी पुत्रीके विषयमें जो प्रारंभमें दूध दोहनेवाली होती थी, आर्य-परिवारकी भगिनी-भाषाओंमें भेदभावका किंचित् आरंभ दिखाई देने लगता है। संस्कृतभाषी पिता उसे 'दुहितर्', हे दूध दुहनेवाली, इस पुराने रूढ़ ढंगसे पुकारता है; ग्रीक, जर्मन और अंग्रेज माता-पिता भी इसी रीतिका अनुसरण करते हुए उसे क्रमशः थुगाथैर (thugather), तोक्खतर (tochter), और डॉटर (daughter) इन शब्दोंसे संबोधित करते हैं, किन्तु लैटिनने अपने पशुपालकोंके-से विचारोंका परित्याग कर दिया है, उसे दुहिताका कोई ज्ञान नहीं और वह फिलिया (filia) शब्दका प्रयोग करती है जिसका दुग्ध-पात्रके साथ किसी प्रकारका भी कल्पनीय संबंध नहीं और सजातीय भाषाओंके पुत्री-विषयक भिन्न-भिन्न शब्दोंसे भी कोई संबंध नहीं। तब क्या लैटिन एक मिश्रित भाषा थी जिसने पुत्रीत्वके विचारके लिए अनार्य भाषा-भंडारमें से शब्द ग्रहण किया? किन्तु यह तो एक अकेला और नगण्य अंतर है। जब हम और आगे चलकर पुत्रवाचक शब्दपर आते हैं तो पाते हैं कि इन आर्य भाषाओंमें निराशा-जनक अंतर दिखाई देता है और वे एकता का आभास तक त्याग देती हैं। संस्कृत कहती है 'पुत्र', ग्रीक कहती है हुइऔस (huios), लैटिन कहती है फिलियुस (filius)। तीन भाषाएँ तीन शब्दोंका प्रयोग करती हैं, जिनमें परस्पर कोई भी संबंध नहीं। इससे हम वस्तुतः इस निष्कर्षपर नहीं पहुँच सकते कि पितृत्व और मातृत्वके विचारके संबंधमें तो ये भाषाएं आर्य भाषाएँ थीं, परंतु पुत्रत्व एक द्राविड़ विचार है जैसे

कि कई आधुनिक प्रामाणिक लेखकोंके अनुसार वास्तुकला, अद्वैतवाद और बहुतसे अन्य सभ्य विचार भी द्राविड़ हैं। क्योंकि लैटिनमें बच्चे या पुत्रके लिए एक साहित्यिक शब्द है. . .[1] जिसके साथ हम जर्मन सौन (sohn), इंग्लिश सन (son) और अधिक दूरस्थ रूपमें ग्रीक हुइऔस (huios) का संबन्ध जोड़ सकते हैं। तब इस भेदकी व्याख्या हम इस कल्पनाके आधारपर करते हैं कि इन भाषाओंमें मूलतः पुत्रके लिए एक समान शब्द था, बहुत संभवतः वह 'सूनु' था, जिसे इनमेंसे बहुतोंने, कम-से-कम भाषामें, छोड़ दिया। संस्कृतने इसका प्रयोग उत्कृष्ट साहित्यकी भाषाको सौंप दिया। ग्रीकने उसी धातुसे बना एक अन्य रूप अपना लिया। लैटिनने उसे बिलकुल खो दिया, और उसके स्थानपर फिलियुस (filius) शब्दको ला बिठाया, जैसे कि उसने दुहिताके स्थानपर फिलिया (filia) शब्दको ग्रहण कर लिया है। मालूम होता है कि अत्यंत सामान्य शब्दोंमें भी इस प्रकारकी तरलता प्रचलित रही है। ग्रीकने भ्राताके लिए प्रयुक्त मूल शब्द फ्राटौर (phrator) को खो दिया जिसे उसकी भगिनियोंने संभाल रखा है, और उसके स्थानपर वह आडेल्फोस (adelphos) का प्रयोग करने लगी है जिसके सदृश कोई शब्द अन्य आर्य भाषाओंमें नहीं है। संस्कृतने एककी संख्याके लिए सामान्य शब्द उनूस (unus), आएन (ein), वन (one) का परित्याग कर दिया है और इनके स्थानपर 'एक' शब्दका प्रयोग किया है जो अन्य किसी आर्य भाषामें नहीं पाया जाता। अन्य पुरुषके सर्वनामके विषयमें भी इन सब भाषाओंमें भेद है। चंद्रके लिए ग्रीकमें सेलेने (selene), लैटिनमें लुना (luna) और संस्कृतमें 'चंद्र'का प्रयोग होता है। किन्तु जब हम इन तथ्योंको स्वीकार करते हैं तो हमारे वैज्ञानिक आधारका बहुत ही आवश्यक भाग रिस-रिस कर बह जाता है और हमारा भवन धराशायी होने लगता है। क्योंकि हम इस घातक तथ्यपर वापिस आते हैं कि अत्यधिक सामान्य शब्दके विषयमें भी प्राचीन भाषाएँ अपने मूल शब्दकोषको खोने लगी थीं और एक दूसरीसे इतनी परे हटने लगी थीं कि यदि इस प्रक्रियाको प्राचीन साहित्य द्वारा न रोका जाता तो इनके परस्पर-संबंधका स्पष्ट प्रमाण सारेका सारा सहज ही लुप्त हो जाता। संयोगवश, प्राचीन और अविच्छिन्न संस्कृत साहित्यका अस्तित्व ही हमें आर्य भाषाओंकी मूलभूत एकताको स्थापित करनेके योग्य बनाता है। यदि संस्कृतके प्राचीन ग्रंथ विद्यमान न होते और व्यावहारिक

---

1. यहाँ शब्द मूल पाण्डुलिपिमें सुपाठ्य नहीं।

संस्कृतके साधारण शब्द ही बचे रहते तो इन संबंधोंके विषयमें किसको निश्चय हो सकता ? अथवा कौन विश्वासके साथ अपने साधारण घरेलू शब्दोंवाली बोलचालकी बंगालीको तेलगू या तामिलकी अपेक्षा अधिक निश्चित रूपसे लैटिनके साथ संबद्ध कर सकता ? तब हमें कैसे यह निश्चय हो सकता है कि आर्यभाषाओंके साथ स्वयं तामिलके विसंवादका कारण प्राचीन काल में उसका उनसे पृथक् हो जाना और प्राक्साहित्यिक युगोंमें उसके शब्दकोषका अत्यधिक परिवर्तन ही नहीं है ? इस अनुसंधानके पिछले भागमें मैं इस कल्पनाके लिए कुछ आधार प्रदान कर सकूँगा कि तामिलके संख्यावाचक शब्द प्राचीन आर्य शब्द हैं जिनका संस्कृतने परित्याग कर दिया है, किन्तु जिनका चिह्न वेदोंमें अब भी पाया जाता है अथवा जो विभिन्न आर्यभाषाओंमें बिखरे पड़े एवं अंतर्हित हैं और इसी प्रकार तामिल सर्वनाम भी प्रारंभिक आर्य नामधातु हैं जिनके चिह्न भाषाओंमें पाये जाते हैं। मैं यह दिखानेमें भी समर्थ होऊँगा कि विशुद्ध तामिल समझे जानेवाले बड़े शब्द-परिवार आर्य शब्द-परिवारके साथ सामूहिक रूपमें एकरूप हैं, यद्यपि एक-एक करके नहीं। किन्तु तब हम युक्तिपूर्वक इस निष्कर्षपर पहुँचनेपर विवश होते हैं कि समान विचारों और पदार्थोंके लिए समान शब्दकोशका अभाव आवश्यक रूपसे उद्गमके भिन्न-भिन्न होनेका प्रमाण नहीं है। व्याकरण-संबंधी रूपोंकी भिन्नता ? किन्तु क्या हमें इस बातका निश्चय है कि तामिल रूप अपने ही समान पुराने ऐसे आर्य रूप नहीं हैं जो तामिल बोलीकी प्राचीन तरलताके कारण अपभ्रंश-रूपको प्राप्त हो गए हैं परन्तु सुरक्षित हैं। उनमेंसे कई आर्य भाषाओंके समान हैं किन्तु संस्कृतके लिए वे अपरिचित हैं और इसलिए कइयोंने इससे यह निष्कर्ष भी निकाला है कि आर्यभाषाएँ मूल रूपमें अनार्य बोलियाँ थीं जिनपर विदेशी आक्रांताने भाषागत अधिकार कर लिया। यदि ऐसा हो तो भला हम अनिश्चयताकी किन दलदलोंमें नहीं फँस जाते ? वैज्ञानिक आधारकी हमारी छाया, भाषापरिवारोंका हमारा निश्चित वर्गीकरण शून्यताके परिवर्तनशील प्रकोष्ठोंमें विलुप्त हो गये हैं।

एक अधिक परिपक्व विचार भाषाशास्त्रियोंके द्वारा स्थिर किये गये सिद्धान्तपर जो भीषण अनर्थ ढाता है वह केवल इतना ही नहीं है। हमने तामिलके सामान्य शब्दोंमें और उन शब्दोंमें जो 'आर्य' बोलियोंमें समान रूपसे पाये जाते हैं, भारी विषमता पाई है। किन्तु इन विषमताओंको हमें कुछ अधिक गहराईसे देखना चाहिये। पिताके लिए तामिल शब्द 'अप्पा' है, पिता नहीं। संस्कृतमें इससे मिलता-जुलता कोई शब्द नहीं

है, किन्तु "अपत्यम्" (पुत्र), अप्त्यम् और अप्न (संतान)—इनमें हम अप्पा शब्दका एक रूप पाते हैं जिसे हम शब्द-विपर्यय कह सकते हैं। ये तीन शब्द निश्चित रूपसे एक संस्कृत धातु 'अप्'का निर्देश करते हैं जिसका अर्थ है उत्पन्न करना या सृजन करना, जिसके लिए और भी साक्ष्य प्रचुर मात्रामें पाया जा सकता है। हमें यह कल्पना करनेसे क्या चीज रोक सकती है कि पिताके अर्थमें अप्पा शब्द इस धातुसे बने (कर्तृवाचक) एक प्राचीन आर्य शब्दका तामिल रूप है, जो इसीसे बने (कर्मवाचक) अपत्य शब्दके सदृश है। तामिलमें माताके लिए 'अम्मा' शब्द है माता नहीं; किन्तु संस्कृतमें अम्मा कोई शब्द नहीं। संस्कृतमें माताके लिए सुप्रसिद्ध शब्द है 'अम्बा', तामिलके अम्माको अम्बाका पर्याय आर्य रूप समझनेसे हमें कौन रोक सकता है? यह अम्बा शब्द 'अम्ब्' उत्पन्न करना, इस धातु से बना है जिससे पिताके वाचक अम्ब तथा अम्बक, माताके वाचक अम्बा, अम्बिका और अम्बी तथा घोड़े या किसी भी जानवरके बच्चेका वाचक अम्बरीष —ये शब्द निकले हैं। संस्कृतका एक उत्कृष्ट कोटिका शब्द सोदर तामिलमें भाई के लिए सामान्य व्यावहारिक शब्द है और उत्तरकी उपभाषामें प्रयुक्त भाई और संस्कृतमें प्रचलित 'भ्राता'का स्थान लिए हुए है। 'अक्का' जो संस्कृतमें कई विभिन्न रूपोंमें प्रचलित है तामिलमें बड़ी बहनके लिए प्रयुक्त होनेवाला बातचीतका शब्द है। इन सब उदाहरणोंमें हम देखते हैं कि एक लुप्त वा उच्च साहित्यिक संस्कृत शब्द तामिलमें बोलचालका साधारण शब्द है, जैसे कि हम देखते हैं कि उच्च साहित्यिक शब्द 'सूनु' बोलचालकी जर्मनमें सौन (sohn) और अंग्रेजीमें सन (son) के रूपमें प्रकट हुआ है। अविभक्तके अर्थमें एक आर्य शब्द 'अदल्भ' जो निश्चय ही एक उच्च कोटिका साहित्यिक शब्द है पर अब लुप्त हो चुका है, बोलचालकी ग्रीकमें भ्राताके वाचक आडेल्फोस (adelphos) के रूपमें दिखाई देता है। इन तथा इस प्रकारके अन्य अनेकानेक उदाहरणोंसे जो इस कृतिके दूसरे खंडमें प्रकाशित होंगे, हम क्या परिणाम निकालें? क्या यह कि तामिल ग्रीक और जर्मनकी तरह एक आर्य उपभाषा है? निश्चय ही नहीं;—इसके लिए साक्ष्य पर्याप्त नहीं है; किन्तु यह कि किसी अनार्य भाषाके लिए यह संभव है कि वह अपने अत्यंत सामान्य और परिचित शब्दोंके स्थानपर आर्य शब्दोंको प्रचुरता और स्वतंत्रतासे ले ले और अपनी सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्तिको खो दे। किन्तु फिर हम कठोर तर्क द्वारा इस निष्कर्षपर पहुँचनेके लिए बाधित होते हैं कि जैसे सामान्य और घरेलू

शब्दोंके लिए एकसमान शब्दकोषका अभाव विभिन्न उद्गमका कोई निश्चित प्रमाण नहीं, ऐसे ही इन शब्दोंके लिए लगभग समान शब्दकोषका होना भी समान उद्भवका निश्चित प्रमाण नहीं। ये चीजें अधिक-से-अधिक एक घनिष्ठ संपर्क या पृथक् विकासको सिद्ध करती हैं, इससे अधिक कुछ भी सिद्ध नहीं करतीं और न अपने आपमें इससे अधिक कुछ सिद्ध कर ही सकती हैं। तब किस आधारपर हम भिन्न-भिन्न भाषापरिवारोंका भेद और वर्गीकरण करें? क्या हम विलकुल निश्चयात्मक रूपसे कह सकते हैं कि तामिल एक अनार्य भाषा है अथवा ग्रीक, लैटिन और जर्मन आर्य-भाषाएँ हैं? व्याकरण-संवन्धी रूपों और 'प्रयोगों' (?) के संकेतसे हम जिन भाषाओंकी तुलना कर सकते हैं उनके द्वारा उत्तराधिकारमें प्राप्त शब्दोंकी भिन्नता वा एकरूपतासे उत्पन्न सामान्य प्रभावसे क्या हम ऐसा कह सकते हैं? किन्तु इनमेंसे प्रथम प्रमाण वहुत ही तुच्छ और अनिश्चयात्मक है, दूसरा भी वहुत अधिक परीक्षणात्मक, अनिश्चित और प्रवंचनापूर्ण परख है। दोनों वैज्ञानिकताके ठीक विपरीत हैं; विचार करनेसे ज्ञात होगा कि दोनों हमें वहुत ही लंवी और अत्यंत मूलगामी भूलोंकी ओर ले जा सकते हैं। ऐसे सिद्धांतके आधारपर निष्कर्ष निकालनेकी अपेक्षा यह अच्छा है कि हम कोई भी निष्कर्ष निकालनेसे पृथक् रहें और एक अधिक समग्र और लाभदायक आरंभिक प्रयासकी ओर वढ़ें।

मैं यह निष्कर्ष निकालता हूँ कि भाषाविज्ञान-विषयक अनुसंधानके इतिहासमें हमने अभीतक इतना कच्चा और दुर्वल आधार तैयार किया है कि उसपर वैज्ञानिक नियमों और वैज्ञानिक वर्गीकरणोंका वड़ा भवन खड़ा करना उतावलीपूर्ण होगा। हम अभी उन मानव भाषाओंके, जो वोलचाल, अभिलेख वा साहित्यके रूपमें अवतक विद्यमान हैं, गंभीर और अनिश्चित वर्गीकरणपर नहीं पहुँच सकते। हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमारे विभाजन लोकप्रिय तो हैं किन्तु वैज्ञानिक नहीं, वे ऊपरी साम्योंपर आधारित हैं न कि विज्ञानके लिए उपयुक्त एकमात्र सही आधारपर, जो यह है कि भिन्न-भिन्न भाषा-जातियोंका गर्भावस्थासे लेकर अंतिम रूपतक जो विकास होता है उसका अध्ययन किया जाए, अथवा यदि आवश्यक सामग्रीके अभावके कारण यह संभव न हो तो, इससे विपरीत दिशामें अनुशीलन करते हुए उनके अंतिम रूपोंसे उनके गर्भ-रूपोंतक पहुँचकर और गहरे खोदकर भाषाके गुप्त मूल गर्भोंको खोज निकाला जाय। एक सच्चे वैज्ञानिकका भाषाशास्त्रके तुच्छ, आनुमानिक मिथ्या-विज्ञानपर आक्षेप न्यायसंगत ही है। इसे एक अधिक स्वस्थ पद्धति और अधिक महान्

आत्मानुशासनको अपनाकर, भड़कीली ऊपरी समानताओंको त्यागकर और अपेक्षाकृत अधिक सावधानतापूर्ण, जिज्ञासाभरी और धैर्यपूर्ण अनुसंधान-प्रणाली अपनाकर इस आक्षेपको दूर करना होगा। इसलिए कितना भी आकर्षक प्रलोभन क्यों न हो, उथले अध्ययनकर्ताको तथ्य कितने भी प्रबल क्यों न दिखाई दें, इस प्रस्तुत कृतिमें मैं भिन्न-भिन्न भाषाओंकी समानताओं या सम्बन्धोंके आधारपर, प्रारंभिक मानवीय सभ्यताओंके स्वरूप और इतिहासके सम्बन्धमें भाषाशास्त्रके साक्ष्यके आधारपर अनुमान करनेके समस्त प्रयत्नका परित्याग करता हूँ, अथवा अन्य जो कोई भी विषय कठोर रूपसे मेरे विषयकी चारदीवारीके भीतर नहीं आता उसका भी मैं परित्याग करता हूँ। मेरा विषय है मानवीय भाषाका उद्गम, वृद्धि एवं विकास, जैसा कि वह साधारणतया संस्कृतके नामसे प्रसिद्ध भाषा और तीन अन्य प्राचीन भाषाओंके भ्रूण-विज्ञानसे हमारे समक्ष प्रकट होता है। उन तीनमेंसे दो, लैटिन और ग्रीक, मर चुकी हैं और एक तामिल जीवित है। तीनों प्रत्यक्ष ही कम-से-कम इसके (संस्कृतके) सम्पर्कमें आ चुकी हैं। मैंने सुविधाके लिए अपनी रचनाको 'आर्यभाषाके उद्गम (The origins of Aryan Speech)' नाम दिया है। किन्तु मैं यह चाहूँगा कि यह बात स्पष्ट रूपसे समझ ली जाय कि इस परिचित गुणवाचक नामके प्रयोगसे मैं एक क्षणके लिए भी अपने इस सर्वेक्षणके अंतर्गत इन चार भाषाओंके परस्पर-सम्बन्ध अथवा इनके बोलनेवाले लोगोंके प्रजातिगत मूलके विषयमें अपनी कोई सम्मति नहीं प्रकट करना चाहता, नाहीं मैं संस्कृतभाषी लोगोंके नृकुल-सम्बन्धी उद्गमोंके विषयमें कोई सम्मति प्रकट करना चाहता हूँ। मैं 'संस्कृत' शब्दका भी प्रयोग दो कारणोंसे नहीं करना चाहता था, एक तो इसलिए कि यह केवल 'सुसंस्कृत या शुद्ध'का वाचक शब्द है जो स्त्रियों और साधारण लोगों द्वारा बोली जानेवाली भाषाओंसे भिन्न प्राचीन भारतीय साहित्यिक भाषाका द्योतक है और दूसरे इसलिए कि मेरा क्षेत्र उत्तरीय हिंदुओंकी उच्चकोटिकी भाषाकी अपेक्षा कुछ अधिक विस्तृत है। मैं अपने निष्कर्षोंका आधार संस्कृत-भाषाकी साक्षीपर रखता हूँ जिसमें मुझे ग्रीक, लैटिन और तामिल भाषाके उन भागोंकी सहायता प्राप्त होती है जो संस्कृत शब्द-परिवारोंके सजातीय हैं। और 'आर्यभाषाके उद्गम'से मेरा अभिप्राय विशेषतया मानवभाषाके उद्गमसे है, जैसा कि उसे उन लोगोंने प्रयुक्त और विकसित किया जिन्होंने इन शब्द-परिवारों, इनके तनों और प्ररोहोंका निर्माण किया। मैं आर्य शब्दका यहाँ जिस रूपमें प्रयोग कर रहा हूँ उसका तात्पर्य इससे अधिक कुछ नहीं।

ऐसी खोजवीनके समय यह स्पष्ट है कि एक प्रकारका भाषाविषयक भ्रूणविज्ञान प्रथम आवश्यक वस्तु है। दूसरे शब्दोंमें, जिस अनुपातमें हम आधुनिक और सभ्य मनुष्यों द्वारा प्रयोगमें लायी जानेवाली सुघटित मानवीय भाषाके प्रतीयमान तथ्योंसे अपनेको दूर रखेंगे, जिस अनुपातमें हम अधिक प्राचीन और आदिम भाषाओंकी रचनाके प्रथम धातुओं और आरंभिक रूपोंके समीप पहुँचेंगे, उसी अनुपातमें हम वस्तुतः फलप्रद खोजें करनेका अवसर प्राप्त करेंगे। जैसे कि रूपान्वित बाह्य मनुष्य, पशु और पौधोंके अध्ययनसे विकासके महान् सत्योंकी खोज नहीं हो सकती अथवा, यदि उनकी खोज हो भी जाय, तो उन सत्योंको स्थिर रूपसे निश्चित नहीं किया जा सकता, जैसे कि घड़े-घड़ाए जन्तुसे उसके अस्थिपंजर और अस्थि-पंजरसे भ्रूणकी ओर पीछेतक जानेसे ही इस महान् सत्यकी स्थापना हो सकी कि जड़ प्रकृतिमें भी यह महान् वैदान्तिक सूत्र लागू होता है कि विश्व-पुरुषकी इच्छासे एक बीजसे बहुतसे रूपोंके विकास द्वारा जगत् निर्मित होता है, एकं बीजं बहुधा यः करोति, ऐसी ही बात भाषाके सम्बन्धमें भी है। यदि मानवभाषाका उद्गम और एकता खोजकर स्थापित की जा सकती है, यदि यह दिखाया जा सकता है कि उसका विकास निश्चित नियमों और प्रक्रियाओं द्वारा शासित था तो उसके प्राचीनतम रूपोंतक पीछे जाकर ही मूलकी खोज करनी होगी और इसके प्रमाणोंको स्थापित करना होगा। आधुनिक भाषा अधिकांशमें एक निश्चित और लगभग कृत्रिम-सा रूप है, ठीक-ठीक जीवावशेष तो नहीं, किन्तु एक ऐसा जीव-संस्थान है जो गतिरोध और पाषाण-रूपकी ओर जा रहा है। इसके अध्ययनसे जो विचार हमें सूझते हैं, उनके विषयमें यह सहज ही कल्पना की जा सकती है कि वे हमें बिलकुल भटकानेवाले हैं। आधुनिक भाषामें शब्द एक निश्चित एवं रूढ़ प्रतीक है, प्रथावश उसके साथ हम जो अर्थ जोड़नेके लिए विवश हैं वह किसी भी ज्ञात उचित कारणसे उसका अर्थ होता नहीं। हम अंग्रेजीके 'वुल्फ' (wolf) शब्दसे एक विशेष प्रकारके पशुका अर्थ ग्रहण करते हैं। किन्तु इस अर्थके लिए हम क्यों इस ध्वनिका प्रयोग करते हैं, किसी अन्यका नहीं, इस विषयमें हम, इसके अतिरिक्त कि यह एक ऐतिहासिक विकासका नियमरहित तथ्यमात्र है, कुछ भी नहीं जानते और नाहीं सोचनेकी परवाह करते हैं। कोई भी अन्य ध्वनि इस प्रयोजनके लिए हमारे लिए समान रूपसे अच्छी होगी, बशर्ते कि हमारी रूढ़िबद्ध मनोवृत्तिको, जो हमारे वातावरणमें व्याप्त है, उसे अनुमति देनेके लिए प्रेरित किया जा सके। जब हम प्राचीन भाषाओंकी ओर पीछेतक

जाते हैं और, उदाहरणार्थ, यह देखते हैं कि भेड़ियेके लिए प्रयुक्त संस्कृत शब्द (वृक)का मूलार्थ "फाड़ना" है, केवल तभी हमें भाषाके विकासके कम-से-कम एक नियमकी झाँकी मिलती है। और फिर आधुनिक भाषामें हमें वाक्यके निश्चित अंग मिलते हैं—संज्ञा, विशेषण, क्रिया, क्रियाविशेषण; ये हमारे लिए पृथक्-पृथक् शब्द हैं, चाहे इनके रूप एकसमान भी हों। जब हम फिर अधिक प्राचीन भाषाओंकी ओर पीछेतक जाते हैं केवल तब ही हम इस आश्चर्यजनक और प्रकाशप्रद तथ्यकी झाँकी पाते हैं कि अत्यंत आधारभूत रूपोंमें एक अकेला एकमात्रिक शब्द संज्ञा, विशेषण, क्रिया और क्रियाविशेषण—इनका समान रूपसे काम देता था, और बहुत संभवतः मनुष्य भाषाके अपने प्राचीनतम प्रयोगमें इन भिन्न-भिन्न शब्दोंके बीच अपने मनमें बहुत ही कम भेद करता था अथवा किसी प्रकारका सचेतन भेद करता ही नहीं था। आधुनिक संस्कृतमें हम 'वृक' शब्दका प्रयोग 'भेड़िया' अर्थकी सूचक एक संज्ञाके रूपमें ही देखते हैं। वेदमें इसका अर्थ केवल 'फाड़ना' वा 'फाड़नेवाला' है, वहाँ इसका प्रयोग संज्ञा अथवा विशेषणके रूपमें बिना विशेष भेदके किया जाता है। संज्ञा-रूपमें जब इसका प्रयोग होता है तब भी इसमें विशेषण-जैसी बहुत कुछ स्वतंत्रता होती है और यह भेड़िया, राक्षस, शत्रु, विध्वंसक शक्ति अथवा किसी भी फाड़नेवाली वस्तुके लिए स्वतंत्र रूपसे प्रयुक्त किया जा सकता है। हम वेदमें यह पाते हैं कि यद्यपि वहाँ ई (e) और तेर (ter) से बननेवाले लैटिन क्रियाविशेषणके अनुरूप क्रियाविशेषणात्मक शब्द पाये जाते हैं तो भी स्वयं विशेषणका ही निरंतर एक विशुद्ध विशेषणके रूपमें और धातुरूप और उससे सूचित क्रियाके साथ संबद्ध रूपमें प्रयोग किया जाता है। यह प्रयोग क्रिया-विशेषणों और क्रियाविशेषणात्मक या उपसर्गात्मक पदावलियों या गौण क्रियाविशेषणात्मक खंडवाक्योंके आधुनिक प्रयोगसे मिलता-जुलता है। इससे भी अधिक विलक्षण बात हम यह पाते हैं कि संज्ञा और विशेषणपदोंको प्रायः क्रियाओंके रूपमें भी प्रयुक्त किया जाता है तथा उनके साथ द्वितीया विभक्तिमें कर्मका प्रयोग किया जाता है, जो धातुगत क्रियासंबंधी विचारपर आश्रित होता है। इसलिए हम यह खोज निकालनेके लिए प्रस्तुत हैं कि आर्यभाषाके अत्यंत सरल और सबसे प्राचीन रूपोंमें शब्दका प्रयोग बिलकुल तरल था। उदाहरणार्थ, 'चित्' जैसे शब्दका प्रयोग 'जानना', 'जाननेकी क्रिया', 'जानता है', 'जाननेवाला', 'ज्ञान' या 'ज्ञानपूर्वक',—इन अर्थोंमें समान रूपसे किया जा सकता था, और वक्ताको इस बातका कोई स्पष्ट विचार नहीं आता था कि वह ऐसे लचकीले शब्दका

किस विशेष भावमें व्यवहार कर रहा है। और फिर आधुनिक भाषाओंमें निश्चितताकी यह प्रवृत्ति,—शब्दोंका प्रयोग स्वयं विचारको जन्म देनेवाले जीवित तत्त्वोंके रूपमें नहीं अपितु केवल विचारोंके प्रतिरूपों और प्रतीकोंके रूपमें ही करनेकी यह प्रवृत्ति,—अनेक भिन्न-भिन्न अर्थोंके लिए एक ही शब्दके प्रयोगपर कठोर प्रतिबन्ध लगानेकी प्रवृत्तिको और साथ ही एक ही पदार्थ अथवा विचारकी अभिव्यक्तिके लिए अनेक भिन्न-भिन्न शब्दोंका प्रयोग न करनेकी प्रवृत्तिको जन्म देती है। जब हम श्रमिकों द्वारा अपनी इच्छासे और संगठित रूपमें कार्य बंद कर देनेके भावको सूचित करनेके लिए 'strike' (स्ट्राइक) इस शब्दको पा लेते हैं तो हम संतुष्ट हो जाते हैं। हम बड़ी उलझनमें पड़ जायेंगे यदि हमें इस शब्द, और इसी भावको प्रकट करनेवाले, समान रूपसे प्रचलित अन्य पन्द्रह शब्दोंमेंसे किसी एकका चुनाव करना पड़े। हम और भी अधिक कठिनाई अनुभव करेंगे यदि एक ही शब्दके अर्थ प्रहार, सूर्यकिरण, क्रोध, मृत्यु, जीवन, अंधकार, आश्रय, घर, भोजन और प्रार्थना—ये सब हो सकते हों। तथापि ठीक यही तथ्य—मैं फिर कहता हूँ कि यही अत्यंत ध्यानाकर्षक और प्रकाशप्रद तथ्य—हम भाषाके प्राचीन इतिहासमें पाते हैं। पीछेकी संस्कृतमें भी एक ही शब्दके प्रत्यक्षतः-असंबद्ध अर्थोंका आश्चर्यजनक भंडार देखनेमें आता है। किन्तु वैदिक संस्कृतमें तो यह आश्चर्यजनकसे कहीं अधिक कुछ है और आर्य सूक्तोंका बिलकुल ठीक-ठीक और निर्विवाद अर्थ निश्चित करनेके लिए किये गये आधुनिक विद्वानोंके किसी भी प्रयत्नके मार्गमें यह गंभीर बाधा उपस्थित करता है। इस कृतिमें मैं यह परिणाम निकालनेके लिए प्रमाण दूंगा कि और भी अधिक प्राचीन भाषामें यह स्वतंत्रता इससे कहीं अधिक थी, प्रत्येक शब्द अपवाद-रूपमें ही नहीं अपितु साधारण नियमके रूपमें अनेक भिन्न-भिन्न अर्थोंका द्योतक हो सकता था, और प्रत्येक पदार्थ या विचार अनेक शब्दोंसे और प्रायः ही, पृथक्-पृथक् धातुसे निष्पन्न पचासतक भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा प्रकट किया जा सकता था। हमारे विचारोंके अनुसार इस प्रकारकी अवस्था केवल नियमरहित गड़बड़झालेकी ही होगी जो भाषाके किसी नियम अथवा भाषाविज्ञानकी किसी भी संभावनाके विचारतकका खंडन कर डालेगी। किन्तु मैं यह दिखाऊँगा कि यह असाधारण स्वतंत्रता और नमनीयता मानव भाषाकी प्रारंभिक प्रवृत्तियोंके असली स्वरूपसे ही अनिवार्य रूपमें प्रकट हुई और ठीक उन्हीं नियमोंके परिणामके रूपमें प्रकट हुई जो इसके आदिकालीन विकासको शासित करते थे।

इस प्रकार आधुनिक भाषामें एक विकसित वाणीके कृत्रिम प्रयोगसे पीछेकी ओर जाकर और अपने अधिक प्राचीन पूर्वजों द्वारा प्रयुक्त आदिम भाषाके स्वाभाविक प्रयोगके समीप पहुँचकर हमें दो आवश्यक चीजें प्राप्त होती हैं। हम ध्वनि और उसके अर्थमें रूढ़िगत निश्चित संबंधके विचारसे मुक्त हो जाते हैं और यह देखते हैं कि एक विशेष ध्वनिसे एक विशेष पदार्थको इसलिए सूचित किया जाता है, कि किसी कारणसे यह ध्वनि उस पदार्थकी एक विशेष और उल्लेखनीय क्रिया या विशेषताको प्राचीनतर मानव मनके सम्मुख विशेष रूपसे प्रस्तुत करती थी। आजकलके कृत्रिम और जटिल प्रकृतिवाले मनुष्यके समान प्राचीन मानव अपने मनमें यह नहीं कहता था "देखो, यहाँ है एक हिंस्र मांसाहारी पशु जिसकी चार टाँगें हैं, जो कुत्तेकी जातिका है, जो झुंडमें शिकार करता है और मेरे मनमें जिसका संबंध विशेष रूपसे रूसदेश, शीत ऋतु, हिम और घासके मैदानके साथ है, आओ उसके लिए हम एक उपयुक्त नाम ढूँढ़ें।" उसके मनमें भेड़िएके विषयमें आजकी अपेक्षा बहुत कम विचार थे, वैज्ञानिक वर्गीकरणके विचारोंमें वह कतई व्यस्त नहीं था। भेड़िएके साथ अपने संपर्कके स्थूल तथ्यमें वह बहुत अधिक ग्रस्त था। इस मुख्य और सर्वाधिक आवश्यक तथ्यको चुनकर ही वह अपने साथीके संमुख, "यहाँ है एक भेड़िया" ऐसा न कहकर, केवल यह है "एक फाड़नेवाला", अयं वृकः, इन शब्दोंमें चिल्ला उठा। अब प्रश्न यह रहता है कि किसी अन्य शब्दकी अपेक्षा 'वृक' शब्द ही फाड़नेका भाव क्यों सूचित करता था। संस्कृत-भाषा हमें एक कदम पीछे ले जाती है, किन्तु अभी अंतिम कदमतक नहीं। यह कार्य वह हमें यह दिखाकर करती है कि बने-बनाए 'वृकः' शब्दसे हमारा कोई वास्ता नहीं, हमारा वास्ता है 'वृच्' शब्दसे, उस 'वृच्' धातुसे जिसके अनेक प्ररोहोंमेंसे 'वृक' केवल एक है। क्योंकि, दूसरा मोह, जिससे मुक्त होनेमें यह हमें सहायता देती है, यह है—एक विकसित शब्दका किसी विचारकी उस एक सुनिश्चित छायाके साथ आधुनिक संबंध जिसे प्रकट करनेके लिए हमने इसके पुनः-पुनः प्रयोगके द्वारा इसे प्रचलित किया है। 'डिलिमिटेशन (delimitation)' यह शब्द और वह जटिल अर्थ (सीमानिर्धारण) जिसे यह प्रकट करता है हमारे लिए एक साथ जुड़े हुए हैं। हमें यह स्मरण करनेकी आवश्यकता नहीं कि यह शब्द 'लाइम्स (limes)' से बनता है जिसका अर्थ सीमा है और एकमात्रिक 'लाइम् (lime)' शब्द, जो 'डिलिमिटेशन' का मेरुदण्ड है, अपने-आपमें भावके मूलभूत सारको हमारे सामने प्रकट नहीं करता। किन्तु मैं समझता हूँ यह दिखाया जा

सकता है कि वैदिक कालमें भी 'वृक' शब्दका प्रयोग करते हुए मनुष्योंके मनमें 'वृच्' धातुका अर्थ प्रमुख रूपमें रहता था और यह धातु ही उनके मनके लिए भाषाका कठोर एवं निश्चित महत्त्वपूर्ण भाग था। पूरा शब्द अभीतक तरल अवस्थामें था और वह अपने प्रयोगके लिए अपने मूल धातुके द्वारा जगाए गये सहकारी संस्कारोंपर निर्भर करता था। यदि ऐसा ही हो तो हम आंशिक रूपसे यह देख सकते हैं कि क्यों शब्द अपने अर्थमें तरल रहे। बोलनेवालेके मनमें धातुकी ध्वनि द्वारा जगाए गये विशेष विचारके अनुसार उनका अर्थ परिवर्तित होता था। हम यह भी देख सकते हैं कि क्यों स्वयं यह धातु भी न केवल अपने अर्थोंमें अपितु अपने प्रयोगमें भी तरल अवस्थामें था और क्यों बने-बनाए और विकसित शब्दमें भी, वेदमें पाई जानेवाली भाषाकी अपेक्षाकृत अर्वाचीन अवस्थामें भी, संज्ञारूप, विशेषणात्मक क्रियारूप और क्रियाविशेषणात्मक प्रयोगोंमें भेद अत्यंत अपूर्णतासे किया जाता था, वे बहुत ही कम कठोर और पृथक्-पृथक् होते थे, एक दूसरेसे बहुत ही अधिक मिले-जुले रहते थे। हम भाषाकी निर्धारक इकाईके रूपमें सदा धातुपर ही पहुँचते हैं। हमारे संमुख खोजका विशेष विषय यह है कि भाषाविज्ञानका आधार क्या है, इस विषयमें हम प्रगतिके एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थलपर आ पहुँचे हैं। हमें यह जाँच करनेकी आवश्यकता नहीं कि 'वृक'का अर्थ 'फाड़नेवाला' क्यों था! इसके स्थानपर हम यह जाँच करेंगे कि प्राचीन 'आर्य'भाषा-भाषी प्रजातियोंके लिए 'वृच्' ध्वनिका क्या अर्थ था और इसके अंदर हम जिस एक वा जिन अनेक विशेष अर्थोंको सचमुचमें निहित पाते हैं, वे अर्थ इसके क्यों होते थे। हमें यह पूछनेकी आवश्यकता नहीं कि डोलाब्रा (dolabra) का अर्थ लैटिनमें कुल्हाड़ा क्यों है, दल्मि (dalmi) का अर्थ संस्कृतमें इन्द्रका वज्र क्यों है, दलप (dalapa) और दल (dala) शस्त्रोंके लिए क्यों प्रयुक्त होते हैं या क्यों 'दलनम्' का अर्थ 'ध्वंस करना' है, अथवा ग्रीकमें गुफाओं और घाटियोंवाले स्थानको डेल्फी (delphi) नाम क्यों दिया गया है। किन्तु हम अपने-आपको उस निर्णायक मूलधातु 'दल्'के स्वरूपकी खोजतक ही सीमित रख सकते हैं जिसके परिणामस्वरूप ये सब भिन्न-भिन्न पर सजातीय प्रयोग उत्पन्न हुए हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि इन सब शब्दोंमें हम जो भेद देखते हैं उनका कोई महत्त्व नहीं किन्तु उनका महत्त्व गौण और अवान्तर है। वस्तुतः हम भाषाके उद्गमोंके इतिहासको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं, एक तो भ्रूणसंबंधी जिसके विषयमें अनुसंधानको प्रथम महत्त्व देकर

तत्काल आरंभ करना चाहिये, और दूसरा संरचनात्मक जो अपेक्षया कम महत्त्वपूर्ण है और इसलिए जिसे उत्तरकालीन और सहायक अनुसंधानके लिए रख छोड़ा जा सकता है। पहलेमें हम भाषाके धातुओंपर ध्यान-पूर्वक दृष्टि डालते हैं और यह जिज्ञासा करते हैं कि 'वृच्'का अर्थ 'फाड़ना' और 'दल्'का अर्थ 'विभक्त करना' अथवा 'कुचलना' कैसे हो गया। क्या ऐसा मनमाने ढंगसे हो गया अथवा प्रकृतिके किसी नियमकी क्रियासे? दूसरेमें हम उन विकारों व आगमोंपर ध्यान देते हैं जिनसे वे धातु बढ़ते-बढ़ते शब्दों, शब्दसमुदायों, शब्दपरिवारों और शब्दवंशोंके रूपमें परिणत हो जाते हैं और हम इस बातपर भी ध्यान देते हैं कि क्यों उन विकारों और आगमोंका अर्थ और शब्दपर वह प्रभाव पड़ा जिसे, हम देखते हैं कि, उन्होंने डाला है, क्यों 'अन' (ana) प्रत्यय 'दल्' धातुको एक विशेषण वा संज्ञा बना डालता है, और आब्र (ābra), भि (bhi), भ (bha), डेल्फोय (delphoi) दल्भाह् (dalbhāh), आन् (ग्रीक औन्, ôn) और अन (ana)—इन विविध प्रत्ययोंका मूलस्रोत और तात्पर्य क्या है।

प्राचीन भाषामें निर्मित शब्दकी अपेक्षा धातुका यह उच्चतर महत्त्व भाषाके उन अंतर्हित तथ्योंमेंसे एक है जिनकी उपेक्षा विज्ञानके रूपमें भाषा-शास्त्रकी वैज्ञानिक विफलताके मुख्य कारणोंमेंसे एक सिद्ध हुई है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुलनात्मक भाषाविज्ञानके प्रथम प्रवर्तकोंने एक घातक भूलकी जब निर्मित शब्दमें ही अत्यधिक तल्लीनतासे भ्रांत होकर उन्होंने पिता (pitā), पाटेर (patêr), पातेर (pater), फाटेर (vater), फादर (father)—इन सब शब्दोंके संबंधको अपने विज्ञानकी कुंजी या मूलमंत्र निर्धारित किया और इसके आधारपर तर्क कर वे सब प्रकारके युक्त या अयुक्त परिणाम निकालने लगे। सच्चा मूलमंत्र या सच्चा परस्पर-संबंध इस दूसरे सामंजस्यमें मिलता है—दल्भि (dalbhi), दलन (dalana), डोलाब्रा (dolabra), डोलोन (dolon)[1], डेल्फी (delphi), जो समान मातृ-धातु, समान शब्द-परिवारों, समान शब्दवंशों, संबद्ध शब्दजातियोंके विचारकी ओर, अथवा, जैसा कि हम उन्हें कहते हैं, भाषाओंके विचारकी ओर ले जाता है। और यदि इस बातको भी ध्यानमें रखा जाता कि इन सब भाषाओंमें 'दल्'का अर्थ बहाना या कपट भी है और इसके कुछ दूसरे एकसमान या सजातीय अर्थ भी हैं

---

1. डोलोस (dolos), धूर्तता; डोलोन (dolon), छुरा; डुलोस (doulos) दास।

और एक ही ध्वनिके इन विविध महत्त्वपूर्ण अर्थोंमें प्रयोगके कारणकी खोजके लिए कुछ यत्न किया जाता तो वास्तविक भाषाविज्ञानकी आधार-शिला रखी जा सकती थी। प्रासंगिक रूपसे हम संभवतः प्राचीन भाषाओंके वास्तविक संबंध और तथाकथित आर्यजातियोंकी एक-सी मनो-वृत्तिकी भी खोज कर लेते। हम कुल्हाड़ेके लिए लैटिनमें 'डोलाब्रा (dolabra)' शब्द पाते हैं। ग्रीक अथवा संस्कृतमें कुल्हाड़ेके लिए हमें इससे मिलता-जुलता कोई शब्द नहीं मिलता। इसके आधारपर यह तर्क करना कि आर्यपूर्वजोंने अपनी जुदाईसे पूर्व एक शस्त्रके रूपमें कुल्हाड़ेका आविष्कार नहीं किया था और नाहीं उसे अपनाया था, निरर्थक और तमसाच्छन्न अनिश्चितताओं और अविवेकपूर्ण अनुमानोंके क्षेत्रमें उतरनेके समान होगा। किन्तु जब हम इस बातको देख चुकते हैं कि लैटिनमें डोलाब्रा (dolabra), ग्रीकमें डोलोन (dolon), संस्कृतमें दल, दलप और दलिभ—ये सभी 'दल्', विभक्त करना इस धातुसे स्वतंत्रतापूर्वक विकसित विभिन्न रूप थे और इन सबका प्रयोग इसी प्रकारके शस्त्रके लिए होता था, तो हम एक फलप्रद और समुज्ज्वल निश्चयपर पहुँच जाते हैं। हम एकसमान या आदिकालीन मनोवृत्तिको काम करते हुए देखते हैं। हम यह देखते हैं कि कुछ ऐसी प्रक्रियाएँ हैं जो दीखनेमें तो स्वतंत्र और विशृंखल हैं पर वस्तुतः नियमबद्ध हैं, जिनके द्वारा शब्दोंका निर्माण हुआ था। हम यह भी देखते हैं कि बिलकुल समान, अभिन्न, निष्पन्न शब्दोंका संग्रह नहीं, अपितु किसी विशेष पदार्थ या विचारको प्रकट करनेके लिए एक धातुका चुनाव और उसी धातुकी अनेक संतानोंमेंसे किसी एकका चुनाव ही आर्य-भाषाओंके शब्दकोषके साझे तत्त्व और उन विशाल तथा स्वतंत्र भेद-प्रभेदोंका रहस्य था जिन्हें हम वहाँ वस्तुतः पाते हैं।

मैं इस कृतिमें जिस प्रकारका अनुसंधान करनेका विचार रखता हूँ उसका स्वरूप दिखानेके लिए मैं काफी कुछ कह चुका हूँ। हमारे संमुख जो समस्या है उसके असली स्वरूपसे ही, जिन प्रक्रियाओंसे भाषाका उद्भव और निर्माण हुआ उनसे ही, हमारे अनुसंधानका यह स्वरूप आवश्यक रूपमें उद्भूत होता है। भौतिक विज्ञानोंमें अध्ययनकी एक सरल और सजातीय सामग्री हमारे सामने होती है, क्योंकि शक्तियाँ या कार्यरत उपादान कितने भी जटिल क्यों न हों, वे सब एक प्रकृतिके होते हैं और नियमोंकी एक ही श्रेणीका अनुसरण करते हैं। सब उपादान भौतिक आकाशके स्पंदनसे विकसित रूप ही होते हैं, सब शक्तियाँ इन्हीं आकाशीय स्पंदनोंकी शक्तियाँ होती हैं जिन्होंने या तो अपनेको पदार्थोंके इन औपचारिक घटकोंके रूपमें

ग्रथित कर लिया होता है और जो उनमें क्रियारत होती है या फिर बाहरसे उनपर अब भी स्वतंत्रतापूर्वक कार्य कर रही होती हैं। किन्तु मानसिक विज्ञानोंमें हमारे संमुख विजातीय सामग्री और विजातीय शक्तियाँ वा शक्तियोंकी क्रियाएँ होती हैं। पहले हमें एक भौतिक सामग्री और माध्यमसे व्यवहार करना होता है, जिसकी प्रकृति और कार्यका अध्ययन अपने आपमें हमारे लिए काफी सुगम और अपनी क्रियामें पर्याप्त-नियमित होगा बशर्ते कि वहाँ वह दूसरा तत्त्व अर्थात् मानसिक साधन विद्यमान न हो जो अपने भौतिक माध्यम और सामग्रीमें तथा उसपर कार्य करता है। हम एक क्रिकेटकी गेंद को आकाशमें उड़ता देखते हैं। हम क्रिया और स्थिति-विज्ञानके उन तत्त्वोंको जानते हैं जो उसकी उड़ानके अंदर और ऊपर कार्य करते हैं और काफ़ी सुगमतासे हम न केवल यह बतला सकते हैं कि वह किस दिशामें उड़ेगी बल्कि यह भी कि वह कहाँ गिरेगी। हम एक पक्षीको हवामें उड़ता देखते हैं,—क्रिकेटकी गेंद-जैसे एक स्थूल पदार्थको उसी भौतिक माध्यममेंसे उड़ता देखते हैं; किन्तु न हम यह जानते हैं कि वह किस दिशामें उड़ेगा और न यह कि वह कहाँ उतरेगा। सामग्री वही है, एक दृश्य भौतिक पदार्थ, माध्यम वही है, भौतिक वायुमंडल, कुछ अंश तक शक्ति भी वही है जो जड़ प्रकृतिमें अंतर्निहित है, भौतिक प्राणशक्ति, जैसा कि हमारे दर्शनशास्त्रमें इसे कहा जाता है। किन्तु एक और अभौतिक शक्तिने इस भौतिक शक्तिको अधिकारमें कर रखा है, वह इसके अंदर और इसके ऊपर कार्य कर रही है और जहाँ तक स्थूल माध्यम अनुमति देता है वहाँ तक वह उसके द्वारा अपनेको चरितार्थ कर रही है। यह शक्ति मानसिक शक्ति है और इसकी उपस्थिति क्रिकेटकी गेंदमें पाई जानेवाली शुद्ध या व्यूहाणविक (molecular) प्राणशक्तिको पक्षीमें पाई जानेवाली मिश्रित या स्नायविक शक्तिमें बदलनेके लिए पर्याप्त है। किन्तु यदि हम अपने मानसिक प्रत्यक्षों को इतना विकसित कर सकें कि पक्षीके उड़नेके समय उसे अनुप्राणित करनेवाली प्राणिक शक्तिके बलको निर्णय द्वारा आंकने या गणना द्वारा मापनेमें समर्थ हों तो भी हम उसकी उड़ानकी दिशा वा उद्देश्यका निश्चय नहीं कर सकेंगे। कारण यह है कि उसमें केवल शक्तिका ही भेद नहीं है, अभिकरण या साधनका भी भेद है। वह साधन वा अभिकरण है निरे भौतिक पदार्थमें रहनेवाली शक्ति, मानसिक संकल्पकी शक्ति जो न केवल अंतर्निवास करती है अपितु कुछ अंशतक स्वतंत्र भी है। पक्षीकी उड़ानमें एक सोद्देश्य संकल्प होता है; यदि हम उस संकल्पको देख सकें तो हम यह निर्णय कर सकते हैं कि वह किस दिशामें उड़ेगा

और कहाँ उतरेगा, हाँ, इसमें यह शर्त सदा आवश्यक है कि वह अपने संकल्पमें परिवर्तन न कर ले। क्रिकेटकी गेंद भी एक मानसिक अभिकर्ता द्वारा एक उद्देश्यके साथ फेंकी जाती है। किन्तु वह अभिकर्ता गेंदसे बाहर होने और उसके अंदर न रहनेके कारण, जब वह गेंद एक बार किसी दिशामें विशेष बलके साथ प्रेरित कर दी जाती है तो वह उस दिशाको बदल नहीं सकती और नाहीं उस शक्तिका अतिक्रम कर सकती है, जब तक वह अपनी उड़ानमें आनेवाले किसी नये पदार्थ के द्वारा मोड़ न दी जाए या आगे धकेल न दी जाए। स्वयं वह स्वतंत्र नहीं है। पक्षी भी एक मानसिक अभिकर्ताके द्वारा, उद्देश्यके, साथ किसी विशेष दिशामें, अपनी उड़ानमें प्राणिक शक्तिके किसी विशेष बलके साथ प्रेरित किया जाता है। यदि उसे चलानेवाली मानसिक इच्छामें कोई परिवर्तन न हो तो उसकी उड़ानका क्रिकेटकी गेंदकी उड़ानकी तरह संभवतः अनुमान और निर्धारण किया जा सके। उसे रास्तेमें टकरानेवाले किसी पदार्थके द्वारा भी मोड़ा जा सकता है, उदाहरणार्थ मार्गके किसी वृक्ष या संकटके द्वारा अथवा मार्गसे बाहरके किसी आकर्षक पदार्थके द्वारा। किन्तु उसके अंदर एक मानसिक शक्ति निवास करती है और हमें कहना चाहिये कि वह यह चुननेमें स्वतंत्र है कि वह इधर-उधर मुड़ जाएगा या नहीं, वह अपने मार्गपर निरंतर चलता रहेगा या नहीं। किन्तु इस बातमें भी वह स्वतंत्र है कि वह बिना किन्हीं बाह्य कारणोंके अपने आरम्भिक उद्देश्यमें परिवर्तन कर ले, अपने अंदर उत्पन्न होनेवाली प्राणिक शक्तिकी मात्राको घटा या बढ़ा ले और उसे कर्ममें प्रयुक्त करे, उसे किसी ऐसी दिशामें और ऐसे लक्ष्यके लिए लगाए जो उसकी उड़ानके प्रारंभिक उद्देश्यसे बिलकुल विजातीय हो। हम उन भौतिक और प्राणिक शक्तियोंका, जिन्हें यह पक्षी काममें लाता है, अध्ययन कर सकते और उनका अनुमान कर सकते हैं। किन्तु हम पक्षीकी उड़ानका कोई विज्ञान तब तक नहीं बना सकते जब तक हम जड़ प्रकृति और उसकी शक्तिके पीछे नहीं जाते और इस सचेतन अभिकर्ताकी प्रकृतिका तथा उन नियमोंका (यदि वे कोई हों तो) अध्ययन नहीं कर लेते जो इसकी प्रतीयमान स्वतंत्रताको निर्धारित, निराकृत या मर्यादित करते हैं।

भाषाविज्ञान एक ऐसे ही मानसिक विज्ञानको बनानेका प्रयत्न है,—क्योंकि भाषाके ये दो पक्ष हैं; इसकी सामग्री भौतिक है अर्थात् वे ध्वनियाँ हैं जो वायुके स्पंदनों पर मानव जिह्वाकी क्रियासे बनती हैं; जो शक्ति इसका प्रयोग करती है वह प्राणिक है, मस्तिष्कको एक व्यूहाणविक प्राणक्रिया है जो वाणी-संबंधी अभिकरणोंका प्रयोग करती है और स्वयं मानसिक शक्तिसे

प्रयुक्त और आपरिवर्तित होती है, वह एक प्राणिक आवेग है जो संवेदनकी स्थूल सामग्रीमेंसे विचारकी स्पष्टता और सुनिश्चितताको प्रकट करने या बाहर लानेके लिए प्रयुक्त होता है। इसका प्रयोग करनेवाला अभिकर्ता एक मानसिक संकल्प है। जहाँ तक हम देख सकते हैं वह उस उद्देश्यके लिए शाब्दिक ध्वनियोंके संपूर्ण क्षेत्रके प्रयोगको परिवर्धित वा निर्धारित करनेमें स्वतंत्र है, किन्तु वह अपनी भौतिक सामग्रीकी सीमाओंके अंदर ही स्वतंत्र है न कि उनके बाहर। मेरा उद्देश्य इस समय सामान्य रूपसे मानव भाषाके उद्‌गमोंका नहीं, अपितु आर्यभाषाके उद्‌गमोंका अध्ययन करना है। हमारे सामने विचारार्थ प्रस्तुत किसी मानव भाषाके निर्माणका शासन करने-वाले नियमोंपर पहुँचनेके लिये, हमें पहले उस विधिकी परीक्षा करनी होगी जिससे अभिकर्ता द्वारा वाचिक ध्वनिके उपकरणोंका निर्धारण और प्रयोग किया गया है, दूसरे हमें उस विधिकी भी परीक्षा करनी होगी जिसके द्वारा प्रकट किये जानेवाले किसी विशेष विचार तथा उसे प्रकट करनेवाली विशेष-ध्वनि या ध्वनियोंके संबंधको निर्धारित किया गया है। भाषामें ये दो तत्त्व सदा ही अवश्य विद्यमान होते हैं, एक तो भाषाकी संरचना, उसके बीज, उसके मूल धातु, उसका निर्माण और विकास, और दूसरा उसकी संरचनाके उपयोग का मनोविज्ञान।

आर्यभाषाओंमें से केवल संस्कृत ही एक ऐसी भाषा है जिसकी वर्तमान संरचना आर्य संरचनाके इस मौलिक नमूनेको अब तक सुरक्षित रखे हुई है। केवल इस प्राचीन भाषामें ही हम, पूर्ण रूप से सभी आदिकालीन रूपोंमें तो नहीं पर इसके प्रारंभिक आवश्यक भागोंमें, एवं रचनाके नियमोंमें इस भाषा-संस्थानके ढांचों, अवयवों और आंतड़ियोंको देखते हैं। तो फिर संस्कृत-भाषाके इस अध्ययनसे ही, विशेष रूपसे अन्य आर्यभाषाओंमें से अधिक नियमित और समृद्ध रचनावाली भाषाओंसे हम जो प्रकाश पा सकते हैं उसकी सहायतासे ही, हमें भाषाके मूल स्रोतोंकी खोज करनी होगी। जो संरचना हम संस्कृतमें पाते हैं वह असाधारण प्रारंभिक सादगीसे युक्त है, साथ ही वह निर्माणकी असाधारण रूपसे गणितसंबंधी और वैज्ञानिक नियमिततासे भी संपन्न है। हमें संस्कृतमें चार विवृत ध्वनियां या शुद्ध स्वर मिलते हैं, अ, इ, उ, ऋ, और उनके दीर्घ रूप भी मिलते हैं, आ, ई, ऊ, ॠ (यहाँ हमें एक विरले स्वर ऌका भी उल्लेख करना होगा पर क्रियात्मक प्रयोजनोंके लिए हम इसे छोड़ सकते हैं)। इन स्वरोंकी परिपूर्ति होती है दो अन्य विवृत ध्वनियोंसे, उन दो ध्वनियोंको वैयाकरण अशुद्ध स्वर वा 'इ' और 'उ'के विकार मानते हैं, उनका ऐसा मानना बहुत संभवतः ठीक है। वे स्वर हैं 'ए' और 'ओ',

इनमेंसे प्रत्येकका और आगे विकार होकर 'ऐ' और 'औ' बनते हैं। फिर हम संवृत ध्वनियों या व्यंजनोंके पांच समरूप वर्ग पाते हैं,—कण्ठ्य (क्, ख्, ग्; घ्, ङ्), तालव्य (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्), मूर्धन्य (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) जो अंग्रेजी दन्त्य वर्णोंके समान हैं; शुद्ध दन्त्य (त्, थ्, द्, ध्, न्,) जो केल्टिक तथा यूरोपीय दन्त्य अक्षरोंसे मिलते-जुलते हैं, जिन्हें हम आयरिश, फ्रेंच, स्पैनिश या इटालियनमें पाते हैं, और ओष्ठ्य (प्, फ्, ब्, भ्, म्)। इनमेंसे प्रत्येक वर्गमें एक कठोर ध्वनि (अघोष वर्ण क्, च्, ट्, त्, प्) भी विद्यमान है जिसकी अपनी एक महाप्राण ध्वनि है (ख्, छ्, ठ्, थ्, फ्) और इनसे मिलती-जुलती ध्वनियाँ (ग्, ज्, ड्, द्, ब्) भी हैं जिनके साथ उनकी महाप्राण ध्वनियाँ (घ्, झ्, ढ्, ध्, भ्) हैं और साथमें एक वर्ग अनुनासिकोंका भी है (ङ, ञ्., ण्, न्, म्), किन्तु इन अनुनासिक अक्षरोंमें पिछले तीन की ही पृथक् सत्ता और महत्ता है, शेष तो सामान्य अनुनासिक ध्वनि (म्, न्)के विकाररूप हैं जो अपने वर्गके दूसरे व्यंजनोंके साथ संयुक्त रूपमें ही पाये जाते हैं और संयोगके द्वारा ही जन्म लेते हैं। मूर्धन्य-वर्ग भी एक विलक्षण वर्ग है, मूर्धन्य वर्णोंका दन्त्य अक्षरोंके साथ ध्वनि और प्रयोगमें इतना घनिष्ठ संबंध है कि उन्हें मौलिक पृथक् वर्गकी अपेक्षा लगभग दन्त्याक्षरोंका कुछ परिवर्तित रूप ही माना जा सकता है। अन्तमें हम इन साधारण स्वरों और व्यंजनोंके अतिरिक्त चार तरल वर्णों (य्, र्, ल् व्) से बना एक वर्ग पाते हैं जिन्हें स्पष्टतः ही अंतस्थ वर्ण माना जाता है, य् इ का अंतस्थ रूप है, व् उ का, र् ऋ का, ल्, लृ का,—र् और ल् का यह अंतस्थ स्वरूप ही इस बातका कारण है कि लैटिन छंदःशास्त्रमें उन्हें सदा व्यंजनका पूरा महत्त्व नहीं दिया जाता। उदाहरणार्थ, उनका अंतस्थ स्वरूप ही इस बातका भी कारण है कि वोलुअरिस (volueris) में यू (u) को विकल्पसे ह्रस्व और दीर्घ माना जाता है। साथ ही हम तीन ऊष्म अक्षर श्, ष्, स् भी पाते हैं जिनमेंसे श तालव्य, ष् मूर्धन्य और स् दन्त्य है। इसके बाद हम पाते हैं शुद्ध महाप्राण ह्। मूर्धन्य-वर्ग और परिवर्तनशील अनुनासिकोंके संभावित अपवादको छोड़कर मैं समझता हूं कि इसमें कदाचित् ही संदेह हो सकता है कि संस्कृत वर्णमाला आर्योंकी भाषाके आदिकालीन वाचिक यंत्रका प्रतिनिधित्व करती है। इसका नियमित, सम-मित और प्रणालीबद्ध स्वरूप प्रत्यक्ष ही है और वह हमें इसमें किसी वैज्ञानिक बुद्धिकी सृष्टिको देखनेके लिए प्रलोभित कर सकता है; यदि हम यह न जानते हों कि प्रकृतिमें, उसकी विशुद्ध भौतिक क्रियाके एक विशेष अंशमें, ठीक ऐसी ही नियमितता, सममितता और निश्चितता है और

मन, कमसे कम अपनी प्राचीनतर बौद्धिकभाव-रहित क्रियामें जब मनुष्य संवेदन, आवेग और उतावले बोधसे अधिक परिचालित होता है, अनियमितता एवं मनमौजके तत्त्वको ही लानेकी ओर झुकाव रखता है, न कि किसी महान् प्रणाली और सममितताकी ओर। पूर्ण और निरपेक्ष रूपसे तो नहीं, परंतु भाषासंबंधी उपलब्ध तथ्यों और कालोंकी सीमाके भीतर हम यह भी कह सकते हैं कि सममितता और अचेतन वैज्ञानिक नियमितता जितनी ही अधिक होगी, भाषाकी अवस्था उतनी ही अधिक प्राचीन होगी। भाषाकी उन्नत अवस्थाओंमें निरंतर बढ़ता हुआ वर्णलोप, तरलता, मनमाना परिवर्तन एवं उपयोगी ध्वनियोंका विलोप देखनेमें आता है; साथ ही यह भी दिखाई देता है कि एक ही ध्वनि कभी अस्थायी रूपमें और कभी स्थायी रूपमें छोटे-छोटे और अनावश्यक परिवर्तनोंमेंसे गुजरती हुई पृथक्-पृथक् अक्षरोंकी महत्ताको प्रतिष्ठित करती है। इस प्रकारका परिवर्तन, जो स्थायी होनेमें सफल नहीं होता, वेदमें देखा जा सकता है, जहाँ कोमल मूर्धन्य ड् तरल मूर्धन्य ळ् में आपरिवर्तित हो जाता है। यह ध्वनि पीछेकी संस्कृतमें लुप्त हो गई है किन्तु तामिल और मराठीमें इसने अपनेको स्थिर रखा है। ऐसा है वह सरल उपकरण जिसके द्वारा संस्कृतभाषाकी भव्य और अभिव्यंजक सुस्वरताएँ निर्मित हुई हैं।

प्राचीनतर आर्यों द्वारा शब्दोंके निर्माणके लिए इस उपकरण (अक्षरमाला) का प्रयोग समान रूपसे सममित, प्रणालीवद्ध और वाचिक अभिव्यक्तिके भौतिक तथ्योंसे घनिष्ठतया संवद्ध रहा है। इन अक्षरोंका प्रयोग अनेक बीजध्वनियोंके रूपमें किया गया है। इनसे आदिम धातु बनते हैं। वे चार स्वरोंके अथवा कभी-कभी उनके विकारसे बने संयुक्त स्वरोंके एक-एक व्यंजनके साथ सरल संयोगसे बनाये जाते हैं। इस प्रक्रियामें दो पराश्रित अनुनासिकों ङ और ञ् और मूर्धन्य अनुनासिकको छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार द् को आधारभूत ध्वनिके रूपमें लेकर प्राचीन आर्यलोग अपने लिए धातु-ध्वनियोंको बनानेमें समर्थ हुए और उनका उन्होंने धातु-गत विचारोंको प्रकट करनेके लिए संज्ञाओं, विशेषणों, क्रियाओं या क्रियाविशेषणोंके रूपमें विना किसी भेदके प्रयोग किया, यथा द, दा, दि, दी, दु, दू, दृ, दृका। इनमेंसे सबके सब धातु पृथक् शब्दोंके रूपमें नहीं टिक पाये। किन्तु जो टिके रहे वे अपने पीछे प्रायः शक्तिशाली संतानोंको छोड़ गये, जो अपने जनकके अस्तित्वकी साक्षी अपने अंदर सुरक्षित रखे हुए हैं। विशेषकर लघु अ से बने धातु विना एक भी अपवादके प्रयोगमें अप्रचलित हो गए। इसके अतिरिक्त, आर्य यदि चाहते तो दे दै, दो दौ—इन आपरि-

वर्तित धातुभूत ध्वनियोंको भी बना सकते थे। स्वरात्मक आधारोंको भी धातु-ध्वनियों और धात्वीय शब्दोंके रूपमें प्रयुक्त किया गया क्योंकि भाषाकी प्रकृति इसकी अनुमति देती थी। किन्तु स्पष्टतः ही, भाषाका यह सारतत्त्व यद्यपि आदिम जंगली लोगोंके लिए पर्याप्त हो सकता था फिर भी यह मानव भाषाकी अपने आपको विस्तृत करनेकी प्रवृत्तिको तृप्त करनेके लिए अपने क्षेत्रमें बहुत सीमित हैं। इसलिए हम देखते हैं कि आदिम धातुमें कोई एक व्यंजन-ध्वनि और जोड़कर इससे द्वितीय कोटिकी धातु-ध्वनियों और धातु-शब्दोंका एक वर्ग विकसित हो जाता है। वह जोड़ी गई व्यंजन-ध्वनि पहलेसे विद्यमान धातु-गत विचारमें एक आवश्यक अथवा स्वाभाविक आपरिवर्तन कर देती है। इस प्रकार, अब लुप्त हो चुके आदिम 'द' धातुके आधारपर यह संभव था कि चार कण्ठ्य, लघु, द्वितीयस्थानीय धातु, दक्, दख्, दग्, दघ् और साथ ही चार दीर्घ धातु, दाक्, दाख्, दाग्, दाघ् बन जाएँ जिन्हें या तो पृथक् शब्द माना जा सकता है या लघु धातुके दीर्घ रूप। इसी प्रकार आठ तालव्य, आठ मूर्धन्य जो अपने दो सानुनासिक रूपों, दण्, दाण्के साथ दस बन जाते हैं, दस दन्त्योष्ठ्य, छः ऊष्म और दो महाप्राण द्वितीयस्थानीय धातु भी बन सके। यह भी संभव था कि इनमेंसे किसी भी रूपको सानुनासिक बना दिया जाय, उदाहरणार्थ, दङ्क्, दङ्ख्, दङ्ग्, दङ्घ्को प्रचलित कर दिया जाय। यह कल्पना अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होती कि ये सब धातु आर्योंकी भाषाके अतिप्राचीन रूपोंमें विद्यमान थे। किन्तु हमारे प्रथम साहित्यिक अभिलेखोंका समय आने तक इनमेंसे बहुतसे नष्ट हो गए, कुछ अपने पीछे थोड़ी या अधिक संतति छोड़ गए, दूसरे अपने निर्बल वंशजोंके साथ ही नष्ट हो गए। यदि हम आदिम आधारभूत धातु 'म' का एकाकी उदाहरण लें तो हम पाते हैं कि 'म' तो स्वयं मर चुका है किंतु वह अपने म, मा, मन्, मतः, मतम्,— इन नामिक रूपोंमें विद्यमान है। 'मक्' केवल अपने सानुनासिक रूप 'मङ्क्' और अपने वंशजों 'मकर', 'मकुर', 'मकुल' इत्यादिमें और अपनी तृतीय-स्थानीय रचनाओं अर्थात् मक्क् और मक्ष्में ही बच रहा है। 'मख्' अपने रूपों मख्, मङ्ख्में एक धात्वीय शब्दके रूपमें अभीतक बचा हुआ है। 'मग्' और 'मघ्' अपने वंशजों और सानुनासिक रूपों 'मङ्ग्' और 'मङ्घ्'के रूपमें ही विद्यमान हैं। 'मच्' अभी भी जीवित है, परंतु अपने सानुनासिक रूप 'मञ्च्' को छोड़कर निःसंतान है। 'मछ्' अपनी संतति सहित मर चुका है; मज् अपने वंशजों और सानुनासिक रूप 'मञ्ज्' के रूपमें ही जीवित है; 'मझ्' बिलकुल लुप्त हो चुका है। दीर्घ रूपोंमें हम

'मा' और 'माक्ष्' को पृथक् धातुओं और शब्दोंके रूपमें तथा 'माक्', 'माख्', 'माघ्', 'माच्' और 'माछ्'को उनके महत्त्वपूर्ण अंगोंके रूपमें पाते हैं। परन्तु ऐसा प्रतीत होगा कि ये सब धातु दीर्घ रूपवाले किसी पृथक् धातुसे नहीं बने अपितु अधिकतर लघु धातुको दीर्घ करने से बने हैं। अन्तमें तीसरे दर्जेके धातु कम नियमित रूपमें किन्तु फिर भी कुछ स्वतंत्रताके साथ बनाये गये हैं। वे पहले या दूसरे वर्गके धातुकी बीजध्वनिमें अंतस्थ अक्षरको जोड़कर बनाये गये हैं और इस प्रकार वे हमें 'ध्यै', 'ध्वन्', 'सृ', 'ह्लाद्' जैसे धातु प्रदान करते हैं। अथवा, जहाँ किन्हीं अन्य व्यंजनोंका मेल संभव था वहाँ वे उन्हें मिलाकर बनाये गये हैं और इस प्रकार वे हमें 'स्तु', 'श्चु', 'ह्लाद्' आदि जैसे धातु देते हैं। या फिर वे दूसरे वर्गके धातुके अंतिम अक्षरमें अन्य व्यंजनके योगसे बनाये गये हैं और इस प्रकार वे हमें 'वल्ल्', 'मज्ज्' इत्यादि रूप प्रदान करते हैं। ये शुद्ध धातुरूप हैं। परन्तु स्वरको गुण या वृद्धि करके, उदाहरणार्थ, स्वर 'ऋ' को अर् और 'ॠ' को 'आर्' में बदलकर, एक प्रकारके अवैध, तीसरे दर्जेके धातु बनाए जाते हैं, हमें वैकल्पिक रूप 'ऋक्' और 'अर्च्' वा 'अर्क्' प्राप्त होते हैं। इसी तरह 'वृष्' और 'चृ' का स्थान 'चर्ष्' और 'चर्' ले लेते हैं, वे 'चृष्' और 'चॄ' अब मर चुके हैं। 'मृज्' और 'मर्ज्' इत्यादि रूप भी इसी प्रकार बनते हैं। साथ ही हम व्यंजनके परिवर्तनोंकी कुछ एक प्राचीन प्रवृत्तियाँ भी पाते हैं। च्, छ्, ज्, झ्—इन तालव्य वर्णोंको त्यागकर इनके स्थान पर क् और ग् करनेकी आरंभिक प्रवृत्ति पाई जाती है। यह प्रवृत्ति लैटिनमें पूर्ण रूपसे चरितार्थ हुई किन्तु संस्कृतमें आधी पूरी होकर बीचमें ही रोक दी गई। गुण करनेका सिद्धांत भाषाके भौतिक निर्माण और उसके मनोवैज्ञानिक विकासके अध्ययनमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, विशेषकर इसलिए कि यह संरचनाकी स्पष्टतामें, जो अन्यथा स्फटिक-सम उज्ज्वल थी, और निर्माणकी पूर्ण यांत्रिक नियमिततामें संशय और संभ्रमका प्रारंभिक तत्त्व ला घुसाता है। गुणनामक स्वर या आपरिवर्तन, या तो 'इ'के स्थानपर 'ए', 'उ' के स्थानपर 'ओ' करनेसे निष्पन्न होता है, जिससे हमें 'वी' से विभक्ति-रूप 'वेओ' ('वेः'), 'जनु'से विभक्तिरूप 'जनोः' मिलता है; अथवा वह गुणनामक स्वर या आपरिवर्तन विशुद्ध अर्ध-स्वरकी ध्वनि 'इ'के स्थान पर शुद्ध अंतस्थ य्, 'उ' के स्थानपर व्, ऋ के स्थानपर 'र्' अथवा कुछ अशुद्ध रूपमें रा करके अपना कार्य करता है जिससे कि हमें 'वि'से धातुजन्य रूप 'व्यन्तः', 'शू'से अश्वः, 'वृ' या 'वृह्' से संज्ञापद 'व्रह' मिलते हैं, अथवा यह गुणरूपी आपरिवर्तन स्वरसहित अंतस्थ ध्वनि अर्थात्

इ के स्थानपर 'अय्', उ के स्थानपर 'अव्', ऋके स्थानपर 'अर्', लृ के स्थान पर 'अल्' करके अपना कार्य करता है जिससे हमें 'वि' से संज्ञा 'वयस्', 'श्रु' से 'श्रवस्' और 'सृ' से 'सरस्', 'क्लृप्' से 'कल्प'—ये शब्द प्राप्त होते हैं। लघु रूप स्वरध्वनि अ, इ, उ, ऋ, लृ को सरल ढंगसे गुण करनेसे बने हैं। इनके अतिरिक्त, स्वरका एक दीर्घ विकार या वृद्धि, अर्थात् दीर्घ करनेके नियमका विस्तार, भी हम पाते हैं जो हमें दीर्घ रूप प्रदान करता है। इस नियमसे हमें इ से ऐ अथवा 'आय्', उ से औ अथवा 'आव्' ऋ से 'आर्', लृ से 'आल्' प्राप्त होता है जब कि अ की कोई वास्तविक वृद्धि नहीं होती, केवल आ के रूपमें उसे दीर्घ हो जाता है। ध्वनि-विकासके सरल स्वरूपसे यह जो प्रारम्भिक विचलन होता है उससे उत्पन्न होनेवाली मुख्य अव्यवस्था यह है कि एक नियमित द्वितीय कोटिके धातु और गुण करनेसे बने अनियमित धातुके बीच प्रायः ही अनिश्चितता रहती है। उदाहरणार्थ, हम एक नियमित धातु 'अर्' पाते हैं जो आदिम धातु अ से निकलता है और एक अवैध धातु 'अर्' पाते हैं जो आदिम धातु 'ऋ' से निकलता है। हमारे सामने 'कल' और 'काल' दो रूप हैं जिन्हें यदि उनकी संरचनाके आधारपर ही परखा जाए तो वे या तो क्लृ से निकल सकते हैं या कल् से। हमारे पास 'अयुस्' और 'आयुस्' शब्द हैं, उन्हें भी यदि इसी प्रकार केवल संरचनासे परखा जाए तो, या तो वे 'अ' और 'आ' इन धातु-रूपोंसे निकल सकते हैं, या 'उ' और 'इ' इन धातु-रूपोंसे। संस्कृतमें व्यंजनसंबधी मुख्य आपरिवर्तन संरचनात्मक हैं और वे समान व्यंजनोंको आत्मसात् करनेकी क्रियासे साधित होते हैं। एक कठोर ध्वनि कोमल ध्वनिके साथ मिलने पर कोमल हो जाती है, एक कोमल ध्वनि कठोर ध्वनिके साथ मेल होनेसे कठोर बन जाती है। महाप्राण अक्षर किन्हीं विशेष व्यंजनोंके संयोगमें आनेपर अपने अनुरूप अल्पप्राण ध्वनिमें बदल जाते हैं और बदलेमें अपने साथी वर्णको भी बदल देते हैं, जैसे, 'लभ्' धातुसे 'लप्स्यते' और 'लब्धुम्' बनते हैं जो लभ्-स्यते और लभ्-तुम्के स्थानापन्न रूप हैं, व्यूह् से व्यूढ बनता है जो व्यूह्तका स्थान ले लेता है। पारस्परिक आपरिवर्तनकी ये कुछ एक सूक्ष्म, पर आसानीसे पहचानमें आनेवाली प्रवृत्तियाँ अपने आपमें कई छोटे-मोटे और गौण संदेहोंको हमारे सामने लाती हैं। संस्कृतमें, इन प्रवृत्तियोंके पीछे चलनेकी इस प्रवृत्तिसे परे वस्तुतः अपभ्रंश-जनक एकमात्र प्रवृत्ति यह है कि, तालव्य वर्णोंके परिवारके लोपका आवेग निरुद्ध हो गया है। यह प्रवृत्ति इतनी दूर चली गई है कि 'केतु' जैसे रूपोंको भारतीय वैयाकरण बिलकुल गलत ढंगसे 'चित्' धातुसे निकला

मान सकते हैं न कि 'कित्' से, जो इसका स्वाभाविक जनक है। परन्तु, वस्तुतः, एकमात्र सच्चे तालव्य आपरिवर्तन वे हैं जो संधिमें होते हैं, जो किसी शब्दके अन्तमें अक्षरोंके किन्हीं विशेष संयोगोंमें च् के स्थान पर क् और ज्के स्थानपर ग् कर देते हैं, यथा 'लज्न'के स्थानपर 'लग्न', 'वच्तृ'के स्थानपर 'वक्तृ', 'वच्व' के स्थानपर 'वक्व', 'वच्' धातुसे संज्ञापद 'वाक्य', लिट् लकार (परोक्ष भूत) के रूप 'चिकाय' और 'चिक्ये'। इन विकार-जन्य संयोगोंके साथ-साथ हमें कई नियमित रूप भी मिलते हैं, जैसे, यज्ञ, वाच्य, चिचाय और चिच्ये। यहाँ तक कि यह भी संदेहास्पद है कि क्या 'चिकाय' और 'चिक्ये'—ये रूप अधिक ठीक तौरपर 'कि' धातुसे नहीं बने हैं, इसकी अपेक्षा कि ये उस जनक धातु 'चि' के वास्तविक वंशज हों, जिसके घोंसलेमें इन्होंने आश्रय पाया है।

विभिन्नताके इन तत्त्वोंको दृष्टिमें ला चुकनेपर हम इस स्थितिमें पहुँच गये हैं कि भाषाके पुष्पित होनेकी दूसरी अवस्थाका अनुसंधान करें, धातुकी अवस्थासे उस अवस्था तक जाएँ जिसमें हम एक स्वाभाविक संक्रमण द्वारा भाषाके संरचनात्मक विकास तक जा पहुँचते हैं। अवतक हमने एक ऐसी भाषाको पाया है जो सादेसे सादे और अधिकसे अधिक नियमित तत्त्वोंसे बनी है, बीज-ध्वनियाँ, आठ स्वर और उनके विकार वा परिवर्तित रूप जो संख्यामें चार हैं; व्यंजनों और अनुनासिकोंके पांच वर्ग; तरल अक्षरों या अंतस्थोंका एक चतुष्टय; तीन ऊष्मवर्ण; इनमेंसे प्रत्येक पर आधारित एक महाप्राण; इन सबके प्रथम विकास, प्राथमिक और जनक धातु; उदाहरणार्थ, बीज-ध्वनि व् से प्राथमिक धातुसमूह व, वा, वि, वी, वृ, वॄ और संभवतः वु, वू, वे, वै, वो, वौ; प्रत्येक प्राथमिक धातुके चारों ओर उसका द्वितीयस्थानीय धातुओंका परिवार, यथा, प्राथमिक 'व' धातुके चारों ओर उसका परिवार अर्थात् वक्, वख्, वग्, वघ्, वच्, वछ्, वज्, वझ्, वट्, वड्, वढ्, वण्, वत्, वथ्, वद्, वध्, वन्, वप्, वफ्, वब्, वभ्, वम् और संभवतः वय्, वर्, वल्, वव्, वश्, वष्, वस्, वह्,—इस वर्गके आठ या इससे अधिक परिवारोंके मिलनेसे एक धातु-गोत्र बनता है, तृतीय-स्थानीय आश्रित धातुओं, जैसे, वञ्च्, वङ्ग्, वल्ग्, वल्ग्, वंश्, वंक्, व्रज् इत्यादिकी एक परिवर्तनशील संख्या भी इस गोत्रके अंतर्गत है। इस प्रकारके चालीस गोत्र प्राथमिक भाषाका संपूर्ण क्षेत्र होंगे। जिस प्रकार मानव समाजके प्राथमिक संविधानमें प्रत्येक मनुष्य एक साथ ही नाना कार्य करता है उसी प्रकार भाषाके प्राथमिक स्वरूपमें प्रत्येक शब्द संज्ञा, क्रिया, विशेषण व क्रियाविशेषण—इन सबके विभिन्न कार्योंको एक साथ पूरा करेगा, वाच्यका परिवर्तन, हाव-भाव

का प्रयोग और नैसर्गिक प्रवृत्तिका तीव्र वेग—ये सब शब्दोंके सूक्ष्म भेद-प्रभेदोंमें पाई जानेवाली सुकुमारता और सुस्पष्टताके अभावको पूरा करते हैं। यह स्पष्ट है कि इस प्रकारकी भाषा एक छोटेसे क्षेत्रमें सीमित होती हुई भी एक बड़ी सादगी से एवं निर्माणकी यांत्रिक नियमिततासे संपन्न होगी, अपने लघु क्षेत्रमें प्रकृतिकी स्वचालित प्रणालियों द्वारा एक पूर्ण ढंगसे बनी होगी और मानव-जातिकी प्रथम भौतिक और संवेगात्मक आवश्यकताओंको वाणीका रूप देनेके लिए पर्याप्त होगी। किन्तु बुद्धिकी बढ़ती हुई मांगें उसे, समय आनेपर, उसके नये विकास और रूपोंके अधिक जटिल प्रस्फुटनके लिए बाध्य कर देंगी। ऐसे विकासमें प्रथम उपकरण, अत्यावश्यकता, महत्त्व और कालकी दृष्टिसे प्रथम साधन होगा—क्रिया, कर्त्ता और कर्ममें अधिक औपचारिक रूपसे भेद करनेका आवेग, और इसलिए संज्ञाके भाव और क्रियाके भावमें एक प्रकारका औपचारिक भेद स्थापित करनेका आवेग, चाहे वह प्रारंभमें कितना ही अस्पष्ट क्यों न हो। संभवतः इसके साथ-साथ उसी समय दूसरा आवेग भी होगा अर्थात् क्रियाकी विभिन्न दिशाओं और अर्थसंबंधी छायाओंमें संरचनात्मक दृष्टिसे भेद करनेका आवेग,—क्योंकि संभव है कि एक परिवारके भिन्न-भिन्न धातुरूपोंका प्रयोग पहलेसे ही इस उद्देश्यसे किया जाता हो—और साथ ही आधुनिक भाषामें कालसूचक रूपों, वाच्यों और क्रियाभावों (लोट्, लिङ् आदि लकारों) को स्थापित करनेका आवेग। तीसरा आवेग होगा—नानाविध विभेदक शब्दोंमें, जैसे कि लिंग और वचनमें और क्रियाके साथ स्वयं कर्त्ता और कर्मके नाना संबंधोंमें औपचारिक भेद करना, कारकरूपों और एकवचन, द्विवचन और बहुवचनके रूपोंको स्थापित करना। प्रतीत होता है कि विशेषण और क्रियाविशेषणके लिए विशेष रूपोंका सविस्तार निर्माण संरचनात्मक विकासके कार्योंमें पीछेका कार्य रहा होगा, इनमें से क्रियाविशेषणके रूपोंका विस्तार तो वस्तुतः सबसे पीछेका कार्य रहा होगा, क्योंकि प्राचीन मनोवृत्तिमें इन भेदोंकी आवश्यकता सबसे कम महत्त्वपूर्ण थी।

जब हम इस बातकी परीक्षा करते हैं कि प्राचीन आर्यभाषा-भाषियोंने इन आवश्यकताओंकी पूर्तिका, भाषावृक्षके इस नवीन और समृद्ध विकासका प्रबंध कैसे किया तो हम पाते हैं कि उनमें प्रकृति अपनी प्रथम क्रियाओंके सिद्धान्तके प्रति पूर्णतया सत्यनिष्ठ थी, और संस्कृतभाषाकी समस्त शक्तिशाली संरचना उसकी मौलिक प्रवृत्तिको जरा-सा ही विस्तृत करके बनाई गई थी। यह विस्तार अ, इ, उ और ऋ—इन स्वरों तथा इनके दीर्घ रूपों और विकारोंको परसर्ग-रूप (enclitic) या आश्रयभूत ध्वनियोंके रूपमें

प्रयुक्त करनेकी सरल, आवश्यक व अनिवार्य युक्तिके द्वारा पाला, पोसा और संभव बनाया गया था, इन ध्वनियोंको आगे चलकर कभी धातुओंके उपसर्गोंके रूपमें प्रयुक्त किया जाने लगा, किन्तु आरंभमें उनका प्रयोग केवल अनुबद्ध ध्वनियों (अनुबंधों)के रूपमें ही किया जाता था। जिस प्रकार आर्योंने प्राथमिक धातुध्वनियोंमें व्यंजन-ध्वनियाँ जोड़कर धातु बनाए थे, उदाहरणार्थ, व में द् और ल् जोड़कर उन्होंने वद् और वल् धातु बनाए थे, उसी प्रकार अब वे इस उपर्युक्त युक्तिकी सहायतासे संरचनात्मक ध्वनियाँ बनानेके लिए अग्रसर हुए। इनकी रचना उन्होंने विकसित धातुमें कोई-सी वैसी ही शुद्ध या अन्योंसे मिश्रित व्यंजनध्वनि जोड़कर की और उसमें परसर्गीय ध्वनिको या तो संबंधयोजक आश्रय या निर्माणकारी आश्रयके रूपमें या दोनों रूपोंमें प्रयुक्त किया; या फिर केवल परसर्गीय ध्वनिको एक सारभूत अनुबंधके रूपमें जोड़कर इनकी रचना की गई। इस प्रकार वद् धातुको लेकर उसमें त् व्यंजन जोड़कर वे इससे अपनी इच्छानुसार ये सब रूप बना सकते थे,—वदत्, वदित्, वदुत्, वदृत् या वदत, वदित, वदुत, वदृत, या वदति, वदिति, वदुति, वदृति या वदतु, वदितु, वदुतु, वदृतु, या फिर वदत्रि, वदित्रि, वदुत्रि, वदृत्रि; अथवा वे केवल परसर्गीय ध्वनिका प्रयोग करके वद, वदि, वदु, वदृ इन रूपोंको बना सकते थे या संयुक्त ध्वनियों,—त्र्, त्य्, त्व्, त्म्, त्न् का प्रयोग कर वदत्र, वदत्य, वदत्व, वदत्म, वदत्न—ऐसे रूप उत्पन्न कर सकते थे। सच पूछो तो हम इन सब संभावनाओंको किसी एक ही शब्दके दृष्टान्तमें वस्तुतः प्रयुक्त हुआ नहीं पाते और नाहीं पानेकी आशा कर सकते हैं। बुद्धिकी बौद्धिक समृद्धि और यथार्थताके विकासके साथ मनकी संकल्प-क्रियामें भी तदनुरूप विकास होगा और मनकी यांत्रिक प्रक्रियाओंको पदच्युत करके उनके स्थानपर मनकी अधिक स्पष्ट और सचेतन रूपसे वरणात्मक प्रक्रियाएँ प्रतिष्ठापित हो जाएँगी। तो भी हम आर्योंके शब्द-राष्ट्रके धातुरूपी गोत्रों और परिवारोंके संपूर्ण क्षेत्रमें व्यवहारतः इन सभी रूपोंको बंटा हुआ अवश्य पाते हैं। हम एकमात्र परसर्गके जोड़नेसे बने सरल नामपदोंको प्रायः सर्वत्र ही समृद्ध रूपमें बंटा हुआ देखते हैं। प्राचीनतर आर्यभाषामें रूपोंकी समृद्धता परवर्ती साहित्यकी अपेक्षा कहीं अधिक है, उदाहरणार्थ, 'सन्' धातुसे हम वैदिक भाषामें सन्, सनि, सनु (जो संकुचित होकर स्नु बन गया है) पाते हैं किन्तु पीछेकी संस्कृतमें ये सब रूप लुप्त हो गये हैं। साथ ही हम वेदमें चरथ व चरुथ, रह व राह-जैसे रूपभेद पाते हैं, परन्तु परवर्ती संस्कृतमें चरथको त्याग दिया गया है, रह और राहको सुरक्षित रखा गया है, किन्तु उनके अर्थोंमें

कठोरतासे भेद किया गया है। हम बहुतसे संज्ञापदोंको अकारान्त संज्ञाके रूपमें, कुछको इकारान्त और कइओंको उकारान्त संज्ञाके रूपमें देखते हैं। हम पाते हैं कि सादे कठोर व्यंजनको महाप्राणकी अपेक्षा अधिक पसंद किया जाता है और फ् और भ् की अपेक्षा कोमल प् संरचनात्मक संज्ञामें अधिक बहुलतासे पाया जाता है किन्तु फ् और भ् ये दोनों भी पाये जाते हैं, व् की अपेक्षा प् अधिक बहुलतासे पाया जाता है, परंतु ब् भी आता है। हम देखते हैं कि कुछ व्यंजनोंको दूसरोंकी अपेक्षा अधिक पसंद किया जाता है, विशेषतया क्, त्, न्, स् को अपने आपमें या और व्यंजनोंके साथ संयुक्त रूपमें। हम कुछ अनुबद्ध रूपोंको, जैसे अस्, इन्, अन्, अत्, त्रि, वत्, वन् को संज्ञाओं और क्रियाओंके नियमित प्रत्ययोंका विधिबद्ध रूप दिया गया पाते हैं। हम द्विविध अनुबंध देखते हैं, 'जित्व'—इस सादे शब्दके साथ-साथ हम जित्वर, जित्वन् आदि शब्द भी बना सकते हैं। संस्कृत-भाषाकी वर्तमान अवस्थाके पीछे हम सर्वत्र निर्माणका एक विस्तृत, स्वतंत्र और नैसर्गिक श्रम देखते या उसका अनुमान करते हैं, जिसके बाद वर्जन और वरणकी संकीर्णकारी प्रक्रिया आई। किन्तु संज्ञाकी संरचनाका संपूर्ण आधार एवं साधन सदा वही एक आदितत्त्व ही है और बना रहता है। उस तत्त्वका प्रयोग सरल या विषम रूपमें, मूलभूत स्वरों और व्यंजनोंमें कुछ परिवर्तन करके या कोई परिवर्तन किये बिना ही किया जाता है।

क्रियाके विभिन्न रूपोंमें, कारककी रचनामें हम सदा एक ही सिद्धान्त पाते हैं। धातु मि, सि, ति इत्यादि और म्, य्, ह्, त, व जैसे प्रत्ययोंके योगसे क्रियारूप बनाता है (मि, सि आदि ऐसे रूप हैं जो प्रातिपदिकके रूपोंकी संरचनाके लिए भी प्रयुक्त होते हैं)। ये प्रत्यय या तो अकेले प्रयुक्त होते हैं अथवा अ, इ, या विरले ही उ—इन परसर्गोंके सहारेके साथ। ये परसर्ग ह्रस्व, दीर्घ या आपरिवर्तित हो सकते हैं; इनसे हमें वच्मि, वद्नान्, वक्षि, वदसि, वदासि, वदत्, वदति, वदाति ऐसे रूप प्राप्त होते हैं। क्रियारूपोंमें अन्य युक्तियोंका प्रयोग किया जाता है, जैसे कि सादे स्वर-रूपी परसर्गकी अपेक्षा न्, ना, नु या नि जैसे अनुबंध जोड़ना अथवा बढ़ा देना, कालसंबंधी अर्थके निश्चयमें सहायता करनेके लिए धातु के शुरूमें संलग्न (परसर्गीय) अ या आगमको जोड़ना, धातुके सारभागका नाना प्रकारसे द्वित्व करना इत्यादि। हम एक महत्त्वपूर्ण तथ्य देखते हैं कि यहाँ भी वैदिक संस्कृत अपने रूपभेदोंमें कहीं अधिक समृद्ध और स्वतंत्र है। संस्कृत अभी तक अधिक संकुचित, कठोर और चयनकारी है जब कि वैदिक संस्कृत भवति, भवः, भवते इन जैसे वैकल्पिक रूपोंका भी प्रयोग करती है। संस्कृत

भवतिको छोड़कर और सभी रूपोंको त्याग देती है। कारकोंके रूप क्रियारूपोंसे अपने सिद्धान्तमें या अपने आपमें भी भिन्न नहीं, केवल इस बातमें भिन्न हैं कि क्रियारूपोंके शुरूमें आगम या उपांग जोड़े जाते हैं; अस्, अम्, आस्, ओस्, आम्—ये सब तिङ-विभक्तियाँ (क्रिया-प्रत्यय) भी हैं और सुप्-विभक्तियाँ (प्रातिपदिकोंके प्रत्यय) भी। किन्तु सारतः समस्त भाषा, अपने रूपों और विभक्तियोंके समेत, मनुष्यमें प्रकृतिद्वारा प्रयुक्त की गई ध्वनिनिर्माणकी एक ही समृद्ध युक्तिका, एक ही निश्चित सिद्धान्तका अवश्यंभावी परिणाम है। इस युक्ति या सिद्धान्तको प्रकृति आश्चर्यजनक-रूपसे-अल्प भेदोंके साथ, विस्मयजनक रूपसे निश्चित, अटल और लगभग निष्ठुर नियमितताके साथ, पर साथ ही रचनाकी एक स्वतंत्र और यहाँ तक कि निरर्थक आदिकालीन प्रचुरताके साथ प्रयोगमें लाती है। आर्योंकी भाषाका यह विभक्तिमय स्वरूप स्वयं कोई आकस्मिक घटना नहीं, अपितु ध्वनिप्रक्रियाके प्रथम बीज-चयनका लगभग स्थूल रूपसे अनिवार्य परिणाम है, वैयक्तिक सत्ताके नियमके उस मूल, प्रत्यक्षतः-तुच्छ चुनावका अटल परिणाम है जो प्रकृतिकी समस्त, अनन्ततया-विविध नियमितताओंका आधार है। पहलेसे चुने हुए सिद्धान्तके प्रति निष्ठाका यदि एक बार पालन किया जाय तो शेष सब प्रयुक्त किये जानेवाले ध्वनि-उपकरणके असली स्वभावसे और उसकी आवश्यकताओंसे आपसे आप निकल आता है। इसलिए, भाषाके बाह्य रूपमें हम एक ऐसे नियमित प्राकृतिक नियमकी क्रिया देखते हैं जो लगभग ठीक उसी प्रकारसे कार्य करता है, जिस प्रकार प्रकृति भौतिक जगत्में एक वनस्पति अथवा एक पशुजाति और उसकी उपजाति बनानेका कार्य करती है।

भाषाके उद्भव और विकासका शासन करनेवाले नियमोंका बोध प्राप्त करनेमें हम एक कदम आगे बढ़ आये हैं। किन्तु वह कदम तब तक कुछ नहीं है या नहींके बराबर है जबतक हम एक विशेष अर्थका विशेष ध्वनिके साथ संबंध निर्धारित करनेमें एक इसी प्रकारकी नियमितताका, मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे एक निश्चित प्रक्रियाके इसी प्रकारके शासनका पता नहीं लगा पाते। किसी मनमाने या बौद्धिक चुनावने नहीं, अपितु एक स्वाभाविक चुनावने सरल या संरचनात्मक ध्वनियोंके विकास और व्यवस्थाका उनके अपने समुदायों और परिवारोंके रूपमें निर्धारण किया है। क्या यह एक मनमाना या बौद्धिक चुनाव है अथवा स्वाभाविक चुनावका एक नियम है जिसने उनके अर्थोंका निर्धारण किया है? यदि पिछला तथ्य ठीक हो और वह ठीक होना ही चाहिये, यदि भाषाका विज्ञान संभव

हों तो अर्थध्वनियोंकी इस विशिष्ट व्यवस्थाके होते हुए कुछ सत्य अनिवार्य रूपसे प्रकट होते हैं। उदाहरणार्थ, प्रथम: बीजध्वनि 'व्' के अंदर कोई ऐसा तत्त्व अंतर्निहित होना चाहिये जिसने इसे आरंभमें भाषाकी प्रथम स्वाभाविक अवस्थामें मनुष्यके मनमें आदिम भाषाकी प्राथमिक धातुओं व, वा, वि, वी, वु, वू, वृ, वॄ के वास्तविक अर्थोंके साथ संबद्ध किया। द्वितीय: इन क्रियाओंके अर्थोंमें जो भेद हैं उनका निर्धारण मूलत: परिवर्तनशील या स्वरात्मक तत्त्व अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ के अंदर निहित किसी स्वाभाविक अर्थसूचक प्रवृत्तिके द्वारा होना चाहिये। तीसरा: 'व्' पर आश्रित द्वितीयस्थानीय धातुओं—व, वच्, वज्, वञ्, वम्, वल्, वप्, वह्, वष्, वस् इत्यादिके अर्थोंमें एक सर्वसामान्य तत्त्व होना चाहिये, और जहाँतक वे अर्थ प्रारंभमें भिन्न थे वहाँ तक वे एक भेदजनक तत्त्व अर्थात् क्रमश: च्, ज्, ञ्, म्, ल्, प्, ह्, ष्, स् इन व्यंजनरूपी अनुबंधोंके परिणामस्वरूप ही भिन्न हुए होंगे। अन्तमें, भाषाकी संरचनात्मक अवस्थामें यद्यपि सचेतन चुनावकी वर्धमान शक्तिके परिणामस्वरूप विशेष शब्दोंके लिए विशेष अर्थोंके चुनावके क्षेत्रमें कुछ और निर्णायक तत्त्वोंने भी प्रवेश किया होगा, तो भी यह नहीं हो सकता कि मूलतत्त्व पूर्णतया निष्क्रिय हो गया हो। और वदन, वदत्र, वद इत्यादि जैसे रूप अपने अर्थके विकासमें प्रमुख रूपसे अपने सारभूत और साझे ध्वनितत्त्वके द्वारा शासित हुए होंगे, और कुछ अंशमें ही अपने परिवर्तनशील तथा गौणतत्त्वके द्वारा। संस्कृतभाषाकी परीक्षा द्वारा मैं यह दिखानेका यत्न करूँगा कि आर्योंकी भाषाके विषयमें ये सब नियम वस्तुत: सत्य हैं और इनका सत्य भाषाके तथ्यों द्वारा संदेहकी लेशमात्र भी छायाके बिना प्रमाणित होता है अथवा बहुधा स्थापित भी होता है।

परिशिष्ट 2[1]

1

वेद-रहस्य

वेद-संहिता भारतवर्षके धर्म, सभ्यता और अध्यात्म-ज्ञानका सनातन स्रोत है। किंतु इस स्रोतका मूल अगम्य पर्वत-गुहामें विलीन है। इसकी पहली धारा भी अति प्राचीन घनकंटकमय अरण्यमें पुष्पित वृक्ष-लता-गुल्मके विचित्र आवरणसे आवृत है। वेद रहस्यमय हैं। उनकी भाषा, कथन-शैली, विचार-धारा आदि अन्य युगकी सृष्टि हैं, अन्य प्रकारके मनुष्योंकी बुद्धिकी उपज हैं। एक ओर तो वे अति सरल हैं, मानो निर्मल वेगवती पर्वतीय नदीके प्रवाह हों, दूसरी ओर यह विचार-प्रणाली हमें इतनी जटिल लगती है, इस भाषाका अर्थ इतना संदिग्ध है कि मूल विचार तथा पंक्ति-पंक्तिमें व्यवहृत सामान्य शब्दके विषयमें भी प्राचीन कालसे तर्क-वितर्क और मतभेद होता आ रहा है। परम पंडित सायणाचार्यकी टीका पढ़नेपर मनमें यह धारणा बनती है कि वेदोंका कभी कोई संगत अर्थ नहीं रहा, अथवा यदि कुछ था तो वह वेदोंके परवर्ती ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी रचनाके बहुत पहले ही सर्वग्रासी कालके अतल विस्मृति-सागरमें निमग्न हो गया।

सायण वेदोंका अर्थ करते समय बड़ी भारी धाँधलीमें जा फँसे हैं, मानो इस घोर अंधकारके, मिथ्या प्रकाशके पीछे खड़ा कोई बार-बार फिसला जाता हो, गर्त्तमें, पंकमें, गंदे जलमें जा गिरता हो, परेशान हो रहा हो, फिर भी छोड़ न पा रहा हो। वेद आर्यधर्मके असली ग्रंथ हैं, इनका अर्थ करना ही पड़ता है, किंतु इनमें इतनी पहेलियां हैं, इतने रहस्यमय नानाविध निगूढ़ विचारोंसे विजड़ित संश्लेषण हैं कि हजारों स्थलोंका अर्थ किया ही नहीं जा सकता, जैसे-तैसे, जहाँ अर्थ हो भी जाता है वहाँ भी प्रायः संदेहकी छाया आ पड़ती है। इस संकटसे बहुत बार निराश हो सायणने ऋषियोंकी वाणीमें ऐसी व्याकारण-विरोधी भाषाका, ऐसी कुटिल, जटिल और भग्न वाक्यरचनाका तथा इतने विक्षिप्त असंगत विचारोंका आरोप किया है कि

---

1. इसमें श्रीअरविन्दकी वेदविषयक मूल बंगला रचनाओंका अविकल अनुवाद दिया गया है।—अनुवादक

उनकी टीका पढ़नेके बाद इस भाषा और विचारको आर्य न कह बर्बर या पागलका प्रलाप कहनेकी प्रवृत्ति होती है। सायणका कोई दोष नहीं। प्राचीन निरुक्तकार यास्कने भी वैसी ही धांधली मचायी है और यास्कके पूर्ववर्ती अनेक ब्राह्मणकारोंने भी वेदका सरल अर्थ न पानेके कारण कल्पनाकी सहायतासे, गाथा-सर्जक शक्ति (mythopœic faculty) का आश्रय ले दुरूह ऋचाओंकी व्याख्या करनेकी विफल चेष्टा की है।

इतिहासकारोंने इसी प्रणालीका अनुसरण कर, नानाविध कल्पित इतिहासका आडंबर खड़ा कर वेदके परिष्कृत सरल अर्थको विकृत और जटिल बना डाला है। एक ही उदाहरणसे इस अर्थविकृतिका रूप और मात्रा समझमें आ जायगी। पंचम मंडलके द्वितीय सूक्तमें अग्निकी निष्पेषित या आच्छन्न (गुंठित) अवस्था और तुरत उसके बृहत् प्रकाशकी बात कही गयी है—

कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्त्ति न ददाति पित्रे।....
कमेतं त्वं युवते कुमारं पेषी बिभर्षि महिषी जजान।
पूर्वीर्हि गर्भः शरदो ववर्धाऽपश्यं जातं यदसूत माता। ऋ. 5. 2. 1-2

इसका अर्थ है: "युवती माता कुमारको ढककर गुहामें अर्थात् गुप्त स्थानमें, अपने जठरमें वहन करती है, पिताको देना नहीं चाहती। हे युवती, वह कुमार कौन है जिसे तुम संपिष्ट हो अर्थात् अपनी संकुचित अवस्थामें, अपने भीतर वहन करती हो? माता जब संकुचित अवस्था छोड़ महती बनती है तब वह कुमारको जन्म देती है। गर्भस्थ शिशु लगातार कई वर्षोंतक बढ़ता रहा, जब माताने उसे जन्म दिया तब मैं उसे देख सका।" वेदकी भाषा सर्वत्र ही थोड़ी सघन, संहत, सारयुक्त है, थोड़े शब्दोंमें अधिक अर्थ प्रकट करना चाहती है, फिर भी अर्थकी सरलता, विचारोंके सामंजस्यमें कोई क्षति नहीं होती। ऐतिहासिकगण इस सूक्तके इस सरल अर्थको नहीं समझ सके, जब माता 'पेषी' होती है तब कुमार 'समुब्ध' होता है, माताकी संपिष्ट अर्थात् संकुचित अवस्थामें कुमारकी भी निष्पिष्ट अर्थात् ढकी हुई अवस्था होती है, ऋषिकी भाषा और विचार-संबंधी इस सामंजस्यको वे न तो देख सके और न हृदयंगम ही कर सके। उन्होंने 'पेषी' को पिशाची समझा, सोचा किसी पिशाचिनीने अग्निका तेज हरण किया है, 'महिषी' का अर्थ राजाकी महिषी समझा, 'कुमारं समुब्धम्' से किसी ब्राह्मण-कुमारको रथके पहियेसे निष्पेषित हो मरा हुआ समझा। इस अर्थके सहारे एक अच्छी-खासी आख्यायिकाकी भी सृष्टि हो गयी।

फलतः सीधी ऋक्का अर्थ दुरूह बन गया, कुमार कौन है, जननी कौन है, पिशाचिनी कौन है, अग्निकी कहानी है या ब्राह्मणकुमारकी, कौन किसे किस विषयमें कह रहा है कुछ समझमें नहीं आता, सब घपला हो गया है। सर्वत्र ऐसा ही अत्याचार दिखायी देता है, अनुचित कल्पनाके उपद्रवसे वेदका प्रांजल पर गभीर अर्थ विकृत और विकलांग हो गया है, अन्यत्र जहाँ भाषा और विचार कुछ जटिल हैं, टीकाकारकी कृपासे दुर्बोधताने भीषण अस्पृश्य मूर्ति धारण कर ली है।

अलग-अलग ऋक् अथवा उपमा ही क्यों, वेदके यथार्थ मर्मके विषयमें अति प्राचीन कालमें भी बहुत अधिक मतभेद था। ग्रीस देशके यूहेमेर (Euhemeros)के मतानुसार ग्रीक जातिके देवता चिरस्मरणीय वीर और राजा थे, कालक्रमसे अन्य प्रकारके कुसंस्कारने तथा कवियोंकी उद्दाम कल्पनाने उन्हें देवता बना स्वर्गमें सिंहासनारूढ़ कर दिया। प्राचीन भारतमें भी यूहेमेर-मतावलम्बियोंका अभाव नहीं था। दृष्टांतस्वरूप, वे कहते, असलमें अश्वि-द्वय (अश्विनौ) न देवता है न नक्षत्र, वरन् थे दो विख्यात राजा, हमारी तरह ही रक्त-मांसके मनुष्य, हो सकता है मृत्युके बाद देव-पद पा गये हों। दूसरोंके मतानुसार यह सब solar myth है अर्थात् सूर्य, चन्द्र, आकाश, तारे, वृष्टि इत्यादि बाह्य प्रकृतिकी क्रीड़ाको कवि-कल्पित नाम-रूपोंसे सजा मनुष्याकृतिसंपन्न देवता बना दिया गया है। वृत्र मेघ है, बल भी मेघ है, और जितने दस्यु, दानव, दैत्य हैं वे सब आकाशके मेघमात्र हैं, वृष्टिके देवता इन्द्र इन सब सूर्यकिरणोंको रोकनेवाले जलवर्षण-विमुख कृपण जलधरोंको विद्ध कर वृष्टि प्रदान करते तथा उससे पंचनदकी सप्त नदियोंके अबाध स्रोतका सृजन कर भूमिको उर्वर, आर्यको धनी और ऐश्वर्यशाली बना देते हैं। अथवा, इन्द्र, मित्र, अर्यमा, भग, वरुण, विष्णु आदि सबके सब सूर्यके नाम-रूपमात्र हैं; मित्र दिनके देवता हैं, वरुण रात्रिके; जो ऋभुगण मनके बलसे इन्द्रके अश्व, अश्विनीकुमारोंके रथका निर्माण करते हैं, वे भी और कुछ नहीं, सूर्यकी ही किरणें हैं। दूसरी ओर असंख्य कट्टर वैदिक लोग भी थे जो कर्मकांडी थे। उनका कहना था कि देवता मनुष्याकृति देवता भी हैं और प्राकृतिक शक्तिके सर्वव्यापी शक्तिधर भी, अग्नि एक साथ ही विग्रहवान् देवता और वेदीकी आग हैं, पार्थिव अग्नि, वडवानल और विद्युत् इन तीन मूर्तियोंमें प्रकटित हैं। सरस्वती नदी भी है और देवी भी, इत्यादि। इनका दृढ़ विश्वास था कि देवतागण स्तव-स्तुतिसे संतुष्ट हो परलोकमें स्वर्ग, इहलोकमें बल, पुत्र, गाय घोड़ा, अन्न और वस्त्र देते हैं, शत्रुका संहार करते हैं, स्तोताके बेअदब

निंदक समालोचकका मस्तक वज्राघातसे चूर-चूर कर देते हैं और इस तरहके शुभ मित्र-कार्य संपन्न करनेके लिये सर्वदा तत्पर रहते हैं। प्राचीन भारतमें यह मत ही प्रबल था।

तथापि ऐसे विचारशील लोगोंका अभाव नहीं था जो वेदके वेदत्वमें, ऋषिके प्रकृत ऋषित्वमें आस्था रखते थे, ऋक्-संहिताके आध्यात्मिक अर्थको खोज निकालते थे, वेदमें वेदांतका मूल तत्त्व खोजते थे। उनके मतानुसार ऋषिगण देवताके सम्मुख जिस ज्योतिके दानके लिये प्रार्थना करते थे वह भौतिक सूर्यकी नहीं वरन् ज्ञानसूर्यकी, गायत्री-मन्त्रोक्त सूर्यकी ज्योति थी जिसके दर्शन विश्वामित्रने किये थे। यह ज्योति वही 'तत्सवितुर्वरेण्यं देवस्य भर्गः' थी, वे देवता वही 'यो नो धियः प्रचोदयात्' थे जो हमारे सभी विचारोंको सत्य-तत्त्वकी ओर प्रेरित करते हैं। ऋषि तमसे डरते थे—रात्रिके नहीं बल्कि अज्ञानके घोर तिमिरसे। इन्द्र जीवात्मा अथवा प्राण हैं; वृत्र न मेघ है न कविकल्पित असुर जो हमारे पुरुषार्थको घोर अज्ञानके अंधकारसे आवृत कर रोक रखता है, वरन् जिसमें देवगण पहले निहित और लुप्त रहते, पीछे देववाक्यजनित उज्ज्वल ज्ञानालोकसे निस्तारित और प्रकटित होते हैं वही है वृत्र। सायणाचार्यने इन लोगोंको "आत्मविद्" नामसे अभिहित कर बीच-बीचमें इनकी वेद-व्याख्याका उल्लेख किया है।

इस आत्मवित्-कृत व्याख्याके दृष्टांतरूप रहूगण पुत्र गौतम ऋषिके मरुत्स्तोत्रका उल्लेख किया जा सकता है। उस सूक्तमें गौतम मरुद्गणका आवाहन कर उनसे "ज्योति" की भिक्षा मांगते हैं—

> यूयं तत् सत्यशवस आविष्कर्त महित्वना। विध्यता विद्युता रक्षः॥
> गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्। ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि॥
> ऋ. 1. 86. 9-10

कर्मकांडियोंके मतसे इन दोनों ऋचाओंकी व्याख्यामें ज्योतिको भौतिक सूर्यकी ही ज्योति समझना होगा। "जिस राक्षसने सूर्यके आलोकको अंधकारसे ढक दिया है उस राक्षसका विनाश कर मरुद्गण सूर्यकी ज्योतिको पुनः दृष्टिगोचर करें।" आत्म-विद्के मतसे दूसरे प्रकारसे अर्थ करना उचित है, जैसे, "तुम सत्यके बलसे बली हो, तुम्हारी महिमासे वह परमतत्त्व प्रकाशित हो, अपने विद्युत्-सम आलोकसे राक्षसको विद्ध करो। हृद्-गुहामें प्रतिष्ठित अंधकारको छिपा दो अर्थात् वह अंधकार सत्यके आलोककी बाढ़में निमग्न, अदृश्य हो जाय। पुरुषार्थके समस्त भक्षकोंको अपसारित कर, हम जो ज्योति चाहते हैं उसे प्रकट करो।" यहाँ मरुद्गण मेघहंता वायु नहीं,

पंचप्राण हैं। तम है हृदयगत भाव-रूप अंधकार, पुरुषार्थके भक्षक हैं षड् रिपु, ज्योतिः है परमतत्त्वके साक्षात्कार-स्वरूप ज्ञानका आलोक। इस व्याख्यासे वेदमें अध्यात्मतत्त्व, वेदांतका मूल सिद्धांत, राजयोगकी प्राणायाम-प्रणाली—सब एक साथ मिल गये।

यह तो हुई वेदसंबंधी स्वदेशी धांधली। उन्नीसवीं शताब्दीमें पाश्चात्य पंडितोंके कमर कसकर अखाड़ेमें उतर आनेसे इस क्षेत्रमें घोरतर विदेशी धांधली मची है। उस जलप्लावनकी विपुल तरंगमें हम आज भी डूबते-उतराते बह रहे हैं। पाश्चात्य पंडितोंने प्राचीन निरुक्तकार तथा ऐतिहासिकोंकी पुरानी नींवपर ही अपने चमचमाते नवीन कल्पना-मंदिरका निर्माण किया है। वे यास्कके निरुक्तको उतना नहीं मानते, बर्लिन और पेट्रोगार्डमें नवीन मनोनीत निरुक्त तैयार कर उसीकी सहायतासे वेदकी व्याख्या करते हैं। उन्होंने प्राचीन भारतवर्षीय टीकाकारोंकी 'सौर गाथा' (solar myth) की विचित्र नवीन मूर्ति गढ़, प्राचीन रंगपर नवीन रंग चढ़ा, इस देशके शिक्षित संप्रदायकी आंखें चौंधिया दी हैं। इस यूरोपीय मतके अनुसार भी वेदोक्त देवतागण बाह्य प्रकृतिकी नानाविध क्रीड़ाके रूपकमात्र हैं। आर्य लोग सूर्य, चंद्र, तारे, नक्षत्र, उषा, रात्रि, वायु, आंधी, झील, नदी, समुद्र, पर्वत, वृक्ष इत्यादि दृश्य वस्तुओंकी पूजा करते थे। इन सबको देख आश्चर्यसे अभिभूत बर्बर जाति कविप्रदत्त रूपकके बहाने इन्हीं सबकी विचित्र गतिका स्तवगान करती थी। फिर उन्हींके अंदर नाना देवताओंकी चैतन्यपूर्ण क्रिया समझ उन शक्ति-धरोंके साथ मित्रता स्थापित करती तथा उनसे युद्धमें विजय, धन-दौलत, दीर्घ जीवन, आरोग्य और संततिकी कामना करती थी, रातके अंधकारसे अत्यंत भयभीत हो यज्ञ-यागद्वारा सूर्यकी पुन-रुपलब्धि करती थी। उन्हें भूतका भी आतंक था, भूतको भगानेके लिये वे देवताओंसे कातर प्रार्थना करते थे। यज्ञसे स्वर्ग-प्राप्तिकी आशा और प्रबल इच्छा इत्यादि प्रागैतिहासिक बर्बर जातिके उपयुक्त एक धारणा और कुसंस्कार है।

युद्धमें विजयलाभ, पर युद्ध किसके साथ? वे कहते हैं कि पंचनदनिवासी आर्यजातिका युद्ध वास्तवमें भारतवासी द्राविड़ जातिके साथ था और पड़ोसियोंके बीच जैसे युद्ध-विग्रह सदा होता रहता है वैसे आर्य-आर्यमें आपसी कलह था। जिस तरह प्राचीन ऐतिहासिक वेदकी अलग-अलग ऋचाओं अथवा सूक्तोंको आधार बना नाना प्रकारका इतिहास तैयार करते थे इनकी भी ठीक वही प्रणाली है। अतः विचित्र अतिप्राकृतिक घटनाओंसे भरी विचित्र कहानी न गढ़, जैसे जार (जरपुत्र) वृष ऋषिके सारथ्यमें रथके

चक्केसे ब्राह्मणकुमारके निष्पेषण, मंत्रद्वारा पुनर्जीवन-दान, पिशाची द्वारा अग्नि-तेज-हरण आदि-आदिकी अद्भुत कल्पना न कर, ये आर्य तृत्सुराज सुदासके साथ मिश्रजातीय दस राजाओंके युद्ध, एक ओर वशिष्ठ और दूसरी ओर विश्वामित्रका पौरोहित्य, पर्वतगुहानिवासी द्राविड़ जातिद्वारा आर्योंके गोधनका हरण तथा नदी-प्रवाहका बंधन, देवशुनी सरमाकी उपमाके बहाने द्राविड़ोंके निकट आर्योंका दूत या राजदूतीका प्रेरण आदि सत्य या मिथ्या संभव घटनाओंको ले प्राचीन भारतका इतिहास लिखनेकी चेष्टा करते हैं। इस प्राकृतिक क्रीड़ाके परस्परविरोधी रूपकमें और इस इतिहास-संबंधी रूपकमें मेल बैठानेकी चेष्टा करते हुए पाश्चात्य पंडितमंडलीने वेदके विषयमें जो अपूर्व गोलमाल किया है वह वर्णनातीत है। परंतु उनका कहना है कि आखिर हम करें क्या, प्राचीन बर्बर कवियोंके मनमें ही गोलमाल था, इसी कारण इस तरह जोड़-तोड़ करना पड़ा है, किंतु हमारी व्याख्या बिल्कुल ठीक, विशुद्ध और निर्भ्रान्त है। जो हो, फलस्वरूप प्राच्य पंडितोंकी व्याख्यासे जिस तरह वेदका अर्थ असंगत, गड़बड़, दुरूह और जटिल हो गया है वैसे ही पाश्चात्योंकी व्याख्यासे भी। सभी बदला फिर भी सब वही है। टेम्स, सेन (sein) और नेवा (Neva) नदीके सैकड़ों वज्रधरोंने हमारे मस्तकपर नवीन पांडित्यकी स्वर्गीय सप्त नदियोंको बरसाया है सही, परंतु उनमेंसे कोई भी वृत्रकृत अंधकारको नहीं हटा सका। हम जिस तिमिरमें थे उसी तिमिरमें हैं।

II

ऋग्वेद

(भूमिका)

"आर्य" पत्रिकामें "वेद-रहस्य"[1]में वेदसंबंधी जो नवीन मत प्रकाशित हो रहा है उसी मतके अनुसार है यह अनुवाद। उस मतके अनुसार वेदका यथार्थ अर्थ आध्यात्मिक है; किंतु गुह्य और गोपनीय होनेके कारण अनेक उपमाओं, सांकेतिक शब्दों, बाह्य यज्ञ-अनुष्ठानोंके उपयुक्त वाक्योंद्वारा वह अर्थ आवृत है। आवरण साधारण मनुष्योंके लिये अभेद्य था, पर दीक्षित वैदिक लोगोंके लिये झीना और सत्यके सब अङ्गोंकी प्रकाशक वस्तुमात्र था। उपमा इत्यादिके पीछे इस अर्थको खोजना होगा। देवताओंके "गुप्त नामों" तथा उनकी अपनी-अपनी क्रियाओं, "गो", "अश्व", "सोमरस" इत्यादि सांकेतिक शब्दोंके अर्थों, दैत्योंके कर्मों और गूढ़ अर्थों, वेदके रूपकों, गाथाओं (myths) इत्यादिका तात्पर्य जान लेनेपर वेदका अर्थ मोटे तौरपर समझमें आ जाता है। निस्संदेह, उसके गूढ़ अर्थकी वास्तविक और सूक्ष्म उपलब्धि विशेष ज्ञान और साधनाका फल है, बिना साधनाके केवल वेदाध्ययनसे वह नहीं होती।

इस सकल वेदतत्त्वको अपने पाठकोंके सम्मुख रखनेकी इच्छा है। अभी तो वेदकी केवल मुख्य बात ही संक्षेपमें बतायेंगे। यह है: जगत् ब्रह्ममय है, पर ब्रह्मतत्त्व मनके लिये अज्ञेय है। अगस्त्य ऋषिने कहा है: तत् अद्भुतम्, अर्थात् सबसे ऊपर और सबसे अतीत, कालातीत है वह। आज या कल कब कौन उसे जान सका है? और सबकी चेतनामें उसका संचार होता है, किंतु मन यदि नजदीक जाकर निरीक्षण करनेकी चेष्टा करता है तो तत् अदृश्य हो जाता है। केनोपनिषद्के रूपकका भी यही अर्थ है, इन्द्र ब्रह्मकी ओर सवेग गति करते हैं, निकट जाते ही ब्रह्म अदृश्य हो जाता है। फिर भी तत् "देव"-रूपमें ज्ञेय है।

---

1. सन् 1914 से 1919 तक प्रकाशित "आर्य"पत्रिकामें श्रीअरविन्दने "वेद-रहस्य" शीर्षकसे जो लेखमाला लिखी थी यहाँ उसीकी तरफ संकेत है।

"देव" भी "अद्भुत" हैं किंतु त्रिधातुके अंदर प्रकाशित हैं—अर्थात् देव सन्मय, चित्-शक्तिमय, आनंदमय हैं। आनंदतत्त्वमें देवको प्राप्त किया जा सकता है। देव नाना रूपोंमें, विविध नामोंसे जगत्में व्याप्त हैं और उसे धारण किये हुए हैं। ये नाम-रूप हैं वेदके सब देवता।

वेदमें कहा गया है कि दृश्य जगत्के ऊपर और नीचे दो समुद्र हैं। नीचे अप्रकेत "हृद्य" वा हृत्समुद्र है, जिसे अंगरेजीमें अवचेतन (subconscient) कहते हैं,—ऊपर सत्-समुद्र है जिसे अंगरेजीमें अतिचेतन (superconscient) कहते हैं। दोनोंको ही गुहा या गुह्यतत्त्व कहा जाता है। ब्रह्मणस्पति अप्रकेतसे वाक्द्वारा व्यक्तको प्रकट करते हैं, रुद्र प्राणतत्त्वमें प्रविष्ट हो रुद्र-शक्तिद्वारा विकास करते हैं, जोर लगाकर ऊपरकी ओर उठाते हैं, भीषण ताड़नाद्वारा गन्तव्य पथपर चलाते हैं, विष्णु व्यापक शक्तिद्वारा धारण कर इस नित्यगतिके सत्-समुद्र या जीवनकी सप्त नदियोंके गंतव्य स्थलको अवकाश देते हैं। अन्य सभी देवता हैं इस गतिके कार्यकर्त्ता, सहाय और साधन।

सूर्य सत्य-ज्योतिके देवता हैं, सविता—सृजन करते हैं, व्यक्त करते हैं; पूषा—पोषण करते हैं, "सूर्य"—अनृत और अज्ञानकी रात्रिमेंसे सत्य और ज्ञानालोकको जन्म देते हैं। अग्नि चित्-शक्तिका "तपः" हैं, जगत्का निर्माण करते हैं, जगत्की वस्तुओंमें विद्यमान हैं। वे भूतत्त्वमें हैं अग्नि, प्राणतत्त्वमें कामना और भोगप्रेरणा, जो पाते हैं भक्षण करते हैं, मनस्तत्त्वमें हैं चिन्तनमयी प्रेरणा और इच्छाशक्ति और मनोतीत तत्त्वमें ज्ञानमयी क्रियाशक्तिके अधीश्वर।

प्रथम मण्डल

सूक्त 1

मूल और व्याख्या

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥1॥

मैं अग्निकी उपासना करता हूँ जो यज्ञके देव, पुरोहित, ऋत्विक्, होता एवं आनंद-ऐश्वर्यका विधान करनेमें श्रेष्ठ हैं।

ईळे—भजामि, प्रार्थये, कामये। उपासना करता हूँ।

पुरोहितम्—जो यज्ञमें पुरः, सामने स्थापित हैं; यजमानके प्रतिनिधि और यज्ञके संपादक।

ऋत्विजम्—जो ऋतुके अनुसार अर्थात् काल, देश, निमित्तके अनुसार यज्ञका संपादन करे।

होतारम्—जो देवताका आह्वान करके होम-निष्पादन करे।

रत्नधाः—सायणने रत्नका अर्थ रमणीय धन किया है। आनंदमय ऐश्वर्य कहना यथार्थ अर्थ होगा। धा का अर्थ है जो धारण करता है या विधान करता है अथवा जो दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः ईड्यो नूतनैः उत। स देवाँ एह वक्षति ।।2।।

जो अग्नि-देव प्राचीन ऋषियोंके भजनीय थे वे नवीन ऋषियोंके भी (उत) भजनीय हैं। क्योंकि वे देवताओंको इस स्थानपर ले आते हैं।

मंत्रके अंतिम चरणद्वारा अग्नि-देवके भजनीय होनेका कारण निर्दिष्ट किया गया है। 'सः' शब्द उसीका आभास देता है।

एह वक्षति—इह आवहति। अग्नि अपने रथपर देवताओंको ले आते हैं।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषम् एव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम् ।।3।।

रयिम्—रत्नका जो अर्थ है वही रयिः, राधः, रायः इत्यादिका भी। फिर भी "रत्न" शब्दमें "आनंद" अर्थ अधिक प्रस्फुटित है।

अश्नवत्—अश्नुयात्। प्राप्त हो या भोग करे।

'पोषम्' प्रभृति रयि के विशेषण हैं। पोषम् अर्थात् जो पुष्ट होता है, वृद्धिको प्राप्त होता है।

यशसम्—सायणने यशका अर्थ कभी तो कीर्ति किया है और कभी अन्न। असली अर्थ प्रतीत होता है सफलता, लक्ष्य-स्थानकी प्राप्ति इत्यादि। दीप्ति अर्थ भी संगत है, किंतु यहाँ वह लागू नहीं होता।

अग्ने यं यज्ञम् अध्वरं विश्वतः परिभूः असि। स इद् देवेषु गच्छति ।।4।।

जिस अध्वर यज्ञको चारों ओरसे व्यापे हुए तुम प्रादुर्भूत होते हो वही यज्ञ देवताओंतक पहुँचता है।

अध्वरम्—'ध्वृ' धातुका अर्थ है हिंसा करना। सायणने 'अध्वर'का अर्थ अहिंसित यज्ञ किया है; किंतु 'अध्वर' शब्द स्वयं यज्ञवाचक हो गया है। "अहिंसित"के वाचक शब्दका ऐसा अर्थ-परिवर्तन संभव नहीं। "अध्वन्" का अर्थ है पथ, अतः अध्वरका अर्थ 'पथगामी' अथवा 'पथस्वरूप' ही होगा। यज्ञ था देवधाम जानेका पथ और यज्ञ देवधामके पथिकके रूपमें सर्वत्र विख्यात है। यही है संगत अर्थ। 'अध्वर' शब्द भी 'अध्वन्' की तरह 'अध्' धातुसे बना है। इसका प्रमाण यह है कि 'अध्वा' और 'अध्वर' दोनों ही आकाशके अर्थमें व्यवहृत थे।

परिभूः—परितो जातः (चारों ओर प्रादुर्भूत)।
देवेषु—सप्तमीके द्वारा लक्ष्यस्थान निर्दिष्ट है।
इत्—एव (ही)।

अनुवाद

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ॥1॥

जो देवता होकर हमारे यज्ञके पुरोहित, ऋत्विक् और होता बनते हैं तथा अशेष आनन्दका विधान करते हैं, उन्हीं तपोदेव अग्निकी मैं उपासना करता हूँ ॥1॥

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः ईड्यो नूतनैः उत। स देवाँ एह वक्षति ॥2॥

प्राचीन ऋषियोंकी तरह आधुनिक साधकोंके लिये भी ये तपोदेवता उपास्य हैं। वे ही देवताओंको इस मर्त्यलोकमें ले आते हैं ॥2॥

अग्निना रयिमश्नवत् पोषम् एव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम् ॥3॥

तपः-अग्निद्वारा ही मनुष्य दिव्य ऐश्वर्य प्राप्त करता है। वही ऐश्वर्य अग्निबलसे दिन-दिन वर्द्धित, अग्निबलसे विजयस्थलकी ओर अग्रसर तथा अग्निबलसे ही प्रचुर-वीरशक्तिसंपन्न होता है ॥3॥

अग्ने यं यज्ञम् अध्वरं विश्वतः परिभूः असि। स इद् देवेषु गच्छति ॥4॥

हे तपः-अग्नि, जिस देवपथगामी यज्ञके सब ओर तुम्हारी सत्ता अनुभूत होती है, वह आत्मप्रयासरूपी यज्ञ ही देवताओंके निकट पहुंचकर सिद्ध होता है ॥4॥

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरागमत् ॥5॥

जो तपः-अग्नि होता, सत्यमय हैं, जिनकी कर्मशक्ति सत्यदृष्टिमें स्थापित है, नानाविध ज्योतिर्मय श्रौत ज्ञानमें जो श्रेष्ठ हैं, वही देववृंदको साथ ले यज्ञमें उतर आवें ॥5॥

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत् तत् सत्यमङ्गिरः ॥6॥

हे तपः-अग्नि, जो तुम्हें देता है तुम तो उसके श्रेयकी सृष्टि करोगे ही, यही है तुम्हारी सत्य सत्ताका लक्षण ॥6॥

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि ॥7॥

हे अग्नि, प्रतिदिन, अहर्निश हम बुद्धिके विचारद्वारा आत्मसमर्पणको उपहारस्वरूप वहन करते हुए तुम्हारे निकट आते हैं ।।7।।

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् । वर्द्धमानं स्वे दमे ।।8।।

जो समस्त देवोन्मुख प्रयासके नियामक, सत्यके दीप्तिमय रक्षक हैं, जो अपने धाममें सर्वदा वर्द्धित होते हैं, उन्हींके निकट हम आते हैं ।।8।।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ।।9।।

जिस तरह पिताका सामीप्य संतानके लिये सुलभ है उसी तरह तुम भी हमारे लिये सुलभ होओ। दृढ़संगी बन कल्याणगति साधित करो ।।9।।

आध्यात्मिक अर्थ

विश्व-यज्ञ

विश्वजीवन बृहत्-यज्ञस्वरूप है। उस यज्ञके देवता हैं स्वयं भगवान् और प्रकृति है यज्ञदात्री। भगवान् हैं शिव और प्रकृति उमा। उमा अपने अंतरमें शिव-रूपको धारण करनेपर भी प्रत्यक्षमें शिवरूपविरहित हैं, प्रत्यक्षमें शिव-रूपको पानेके लिये लालायित। यही लालसा है विश्व-जीवनका निगूढ़ अर्थ।

किन्तु किस उपायसे मनोरथ सफल हो? पुरुषोत्तमतक पहुंच पानेका कौनसा पथ प्रकृतिके लिये निर्दिष्ट है? अपने स्वरूपको या पुरुषोत्तमके स्वरूपको पानेका क्या उपाय है? आंखोंपर अज्ञानका आवरण, चरणोंमें स्थूलके सहस्र बंधन। स्थूल सत्ताने मानो अनंत सत्को भी सान्तमें बांध लिया है, मानो स्वयं भी बन्दी हो गयी है, स्वयंरचित इस कारागारकी खोयी चाबी अब और हाथ नहीं लग रही। जड़-प्राणशक्तिके अवश संचारसे अनंत, उन्मुक्त चित्शक्ति मानो विमूढ़, विलीन, अभिभूत, अचेतन हो गयी है। अनंत आनंद तुच्छ सुख-दुःखके अधीन प्राकृत चैतन्य बन छद्मवेशमें घूमते-घूमते मानो अपने स्वरूपको ही भूल गया है, अब उसे खोज ही नहीं पाता, खोजते-खोजते दुःखके और भी असीम पंकमें निमज्जित हो जाता है। सत्य मानो अनृतकी द्वैधमयी तरंगमें डूब गया है। मानसातीत विज्ञानतत्त्व अनंत सत्यका आधारस्थल है। विज्ञानतत्त्वकी क्रिया पार्थिव चैतन्यके लिये या तो

निषिद्ध है या विरल, मानो परदेके पीछेसे क्षणिक विद्युत्का उन्मेषमात्र हो। सत्य और अनृतके बीच दोलायमान, भीरु, खंज, विमूढ़ मानसतत्त्व घूम-फिरकर सत्यको खोजता रहता है, राक्षसी प्रयाससे सत्यका आभास पा भी सकता है, किन्तु सत्यके पूर्ण, प्रकृत, ज्योतिर्मय, अनंत रूपको नहीं पाता। जैसे ज्ञानमें वैसे ही कर्ममें भी वही विरोध, वही अभाव, वही विफलता। सहज सत्य-कर्मके हास्यमय देवनृत्यके बजाय होती है प्राकृत इच्छाशक्तिकी शृंखलाबद्ध चेष्टा जो सत्य-असत्य, पाप-पुण्य, विष-अमृत, कर्म-अकर्म-विकर्मके जटिल पाशमें छटपटाया करती है। वासनाहीन, वैफल्यहीन, आनंदमय, प्रेममय, ऐक्यरसमें मत्त भागवती क्रियाशक्ति मुक्त, अकुंठित, अस्खलित होती है, उसका सहज-स्वाभाविक विश्वमय संचरण प्राकृत इच्छाशक्तिके लिये असंभव है। सांत-के अनृत जालमें पड़ी हुई इस पार्थिव प्रकृतिके लिये उस अनंत सत्, उस अनंत चित्-शक्ति, उस अनंत आनंद-चैतन्यको प्राप्त करनेकी भला क्या आशा है, उपाय ही क्या है?

यज्ञ ही है उपाय। यज्ञका अर्थ है आत्मसमर्पण, आत्मबलिदान। जो कुछ तुम हो, जो कुछ तुम्हारा है, जो कुछ भविष्यमें निज चेष्टासे या देव-कृपासे बन सकते हो, जो कुछ कर्मप्रवाहमें अर्जित या संचित कर सको, सब उसी अमृतमयको लक्ष्य कर हवि-रूपमें तपः-अग्निमें डाल दो। क्षुद्र सर्वस्वका दान करनेसे अनंत सर्वस्व प्राप्त करोगे। यज्ञमें योग निहित है। योगसे आनन्त्य, अमरत्व और भागवत आनन्दकी प्राप्ति विहित है। यही है प्रकृति-के उद्धारका पथ।

जगती-देवी इस रहस्यको जानती हैं। अतएव इस विपुल आशासे वे अनिद्रित, अशांत, दिन-रात, वर्षपर वर्ष, युगपर युग यज्ञ ही कर रही हैं। उनके सभी कर्म, सभी प्रयास हैं उसी विश्वयज्ञके अंगमात्र। जो कुछ भी वे उत्पादित कर सकी हैं उसीकी बलि चढ़ा रही हैं। वे जानती हैं कि सबमें वही लीलामय अकुंठित मनसे रसास्वादन कर रहे हैं, यज्ञ-रूपमें सब प्रयत्न, सब तप ग्रहण कर रहे हैं। वही विश्वयज्ञको धीरे-धीरे, घुमा-फिराकर टेढ़े-मेढ़े उत्थानमें, पतनमें, ज्ञानमें, अज्ञानमें, जीवनमें, मृत्युमें निर्दिष्ट पथसे निर्दिष्ट गन्तव्य धामकी ओर सर्वदा अग्रसर कराते हैं। उन्हींके भरोसे प्रकृतिदेवी निर्भीक, अकुंठित, विचारहीन हैं। वे सर्वत्र ही, सर्वदा ही भागवती प्रेरणा समझ सृजन और हनन, उत्पादन और विनाश, ज्ञान और अज्ञान, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, कच्चा-पक्का, कुत्सित-सुन्दर, पवित्र-अपवित्र, जो हाथमें पाती हैं सब उसी बृहत् चिरंतन होमकुण्डमें निक्षिप्त करती हैं। स्थूल है सूक्ष्म यज्ञकी हवि, जीव है यज्ञका बद्ध पशु। यज्ञके मन-प्राण-

देह-रूप त्रिवन्धन-युक्त यूपकाष्ठमें जीवको बांध प्रकृतिदेवी उसे अहरह बलि दे रही हैं। मनका बंधन है अज्ञान, प्राणका वन्धन दुःख, वासना और विरोध, देहका बंधन मृत्यु।

प्रकृतिका उपाय तो निर्दिष्ट हुआ किन्तु इस बद्ध जीवका क्या उपाय होगा? उपाय है यज्ञ, आत्मदान, आत्मवलि। पर प्रकृतिके अधीन न हो, प्रकृतिद्वारा प्रदत्त न हो स्वयं उठ खड़े हो, यजमान वन सर्वस्व दे देना होगा। यही विश्वका निगूढ़ रहस्य है कि पुरुष ही जैसे यज्ञका देवता है, वैसे पुरुष ही यज्ञकी वस्तु भी। जीव भी पुरुष है। पुरुषने अपने मन, प्राण और शरीरको बलि-रूपमें, यज्ञके प्रधान उपायके रूपमें प्रकृतिके हाथ समर्पित कर दिया है। उनके इस आत्मदानमें यह गुप्त उद्देश्य निहित है कि एक दिन चैतन्य प्राप्त कर, प्रकृतिको अपने हाथमें ले, प्रकृतिको यज्ञकी सहधर्मिणी वना वे स्वयं यज्ञ संपन्न करेंगे। इसी गुप्त कामनाको पूरी करनेके लिये हुई है नरकी सृष्टि। नर-मूर्त्तिमें वे वही लीला करना चाहते हैं। आत्मस्वरूप, अमरत्व, अनंत आनन्दका विचित्र आस्वादन, अनंत ज्ञान, अनंत शक्ति, अनंत प्रेमका भोग नरदेहमें, नर-चैतन्यमें करना होगा। यह सब आनंद तो पुरुषके अपने अंदर है ही, पुरुष अपने अंदर सनातन रूपसे सनातन भोग कर रहे हैं। किन्तु मानवकी सृष्टि कर वे वहुमें एकत्व, सान्तमें अनन्त, बाह्यमें आंतरिकता, इन्द्रियमें अतीन्द्रिय, पार्थिवमें अमरलोकत्व, इस विपरीत रसको ग्रहण करनेमें तत्पर हैं। हमारे अंदर मनके ऊपर, बुद्धिके उस पार, गुप्त सत्यमय विज्ञानतत्त्वमें वैठ, फिर हमारे ही अन्दर हृदयके नीचे चित्तका जो गुप्त स्तर है, जहाँ हृदयगुहा है, जहाँ अंतर्निहित गुह्य चैतन्यका समुद्र है, हृदय, मन, प्राण, देह और बुद्धि जिस समुद्रकी छोटी-छोटी तरंगे हैं, वहीं वैठ वे पुरुष प्रकृतिके अंध प्रयास, अंध अन्वेषण, द्वंद्व-प्रतिघातद्वारा ऐक्य-स्थापनकी चेष्टाका रसास्वादन करते हैं। ऊपर सज्ञान भोग है, नीचे अज्ञानपूर्ण भोग, इस प्रकार दोनों एकसंग चल रहे हैं। किन्तु चिरकाल तक इसी अवस्थामें मग्न रहनेसे उनकी निगूढ़ प्रत्याशा, उनका चरम उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। इसी लिए प्रत्येक मनुष्यके जागरणका दिन विहित है। अंतरस्थ देवता एक दिन अवश, पुण्यहीन, प्राकृत आत्मबलि त्यागकर सज्ञान, समंत्र यज्ञ-संपादन करना आरम्भ करेंगे। यही सज्ञान, समंत्र यज्ञ वेदोक्त "कर्म" है। उसका उद्देश्य द्विविध है, विश्वमय बहुत्वमें पूर्णता-लाभ जिसे वेदमें विश्वदेव्य और वैश्वानरत्व कहा गया है, और एकात्मक परम-देवसत्तामें अमरत्व-लाभ। ये वेदोक्त देवतागण अर्वाचीन, साधारण लोगोंके हेय इन्द्र, अग्नि, वरुण-नामक क्षुद्र देवता नहीं, ये हैं भगवान्‌की ज्योतिर्मयी,

शक्तिसंपन्न नाना मूर्त्तियाँ। और यह अमरत्व पुराणोक्त तुच्छ स्वर्ग नहीं, हैं वैदिक ऋषियोंका अभिलषित स्वः, अनंत लोकका आधार, वेदोक्त अमरत्व, सच्चिदानंदमय अनंत सत्ता और चैतन्य।

प्रथम मण्डल

सूक्त 17

मूल और अनुवाद

इन्द्रावरुणयोरहं सम्राजोरव आ वृणे। ता नो मृळात ईदृशे ॥1॥

हे इन्द्र, हे वरुण, तुम्हीं सम्राट् हो, तुम देवोंको ही हम रक्षक-रूपमें वरण करते हैं,—ऐसे तुम इस अवस्थामें हमारे ऊपर उदित होओ ॥1॥

गन्तारा हि स्थोऽवसे हवं विप्रस्य मावतः। धर्तारा चर्षणीनाम् ॥2॥

कारण, जो ज्ञानी शक्ति धारण कर पाते हैं, उन्हींके यज्ञस्थलमें तुम देव रक्षा करनेके लिये उपस्थित होते हो। तुम ही सब कार्योंके धारणकर्त्ता हो ॥2॥

अनुकामं तर्पयेथामिन्द्रावरुण राय आ। तां वां नेदिष्ठमीमहे ॥3॥

आधारके आनंद-प्राचुर्यमें यथाकामना आत्मतृप्ति अनुभव करो, हे इन्द्र और वरुण, हम तुम्हारे अत्यंत निकट सहवास चाहते हैं ॥3॥

युवाकु हि शचीनां युवाकु सुमतीनाम्। भूयाम वाजदाव्नाम् ॥4॥

जो शक्तियाँ एवं जो सुबुद्धियाँ आंतरिक ऋद्धि बढ़ाती हैं, उन्हीं सबके प्रबल आधिपत्यमें हम मानो प्रतिष्ठित रहें ॥4॥

इन्द्रः सहस्रादाव्नां वरुणः शंस्यानाम्। क्रतुर्भवत्युक्थ्यः ॥5॥

जो-जो शक्तिदायक हैं उनके इन्द्र, और जो-जो प्रशस्त और महत् हैं उनके ही वरुण स्पृहणीय प्रभु हों ॥5॥

तयोरिदवसा वयं सनेम नि च धीमहि। स्यादुत प्ररेचनम् ॥6॥

इन दोनोंके रक्षणसे हम स्थिर सुखके साथ निरापद रहते एवं गभीर ध्यानमें समर्थ होते हैं। हमारी पूर्ण शुद्धि हो ॥6॥

इन्द्रावरुण वामहं हुवे चित्राय राधसे। अस्मान्त्सु जिग्युषस्कृतम् ॥7॥

हे इन्द्र, हे वरुण, हम तुमसे चित्र-विचित्र आनंद प्राप्त करनेके लिये यज्ञ करते हैं, हमें सर्वदा विजयी बनाओ ॥7॥

इन्द्रावरुण नू नु वां सिषासन्तीषु धीष्वा। अस्मभ्यं शर्म यच्छतम् ।।8।।

हे इन्द्र, हे वरुण, हमारी बुद्धिकी सभी वृत्तियाँ हमारी वश्यता स्वीकार करें, उन सभी वृत्तियोंमें अधिष्ठित हो हमें शान्ति प्रदान करो ।।8।।

प्र वामश्नोतु सुष्टुतिरिन्द्रावरुण यां हुवे। यामृधाथे सधस्तुतिम् ।।9।।

हे इन्द्र, हे वरुण, यह जो सुन्दर स्तव हम तुम्हें यज्ञरूपमें अर्पित करते हैं, वह तुम्हारा भोग्य हो, उस साधनाके लिये तुम ही स्तव-वाक्यको पुष्ट और सिद्धियुक्त बना रहे हो ।।9।।

व्याख्या

प्राचीन ऋषि जब आध्यात्मिक युद्धमें अंतर-शत्रुका प्रबल आक्रमण होनेपर देवताओंकी सहायता पानेके लिये प्रार्थना करते, साधनापथपर किञ्चित् अग्रसर होनेपर अपूर्णताका अनुभवकर पूर्णताकी प्रतिष्ठाकी, मनमें वाजः अथवा शक्तिकी स्थायी घनीभूत अवस्थाकी कामना करते अथवा अन्तर-प्रकाश और आनंदकी परिपूर्णतामें उसीकी प्रतिष्ठा करनेमें योगदान देने या उसकी रक्षा करनेके लिये देवताओंका आह्वान करते, तब हम देखते हैं कि वे प्रायः युग्म-रूपमें अमरगणके सम्मुख एक वाक्य, एक स्तवद्वारा पुकारकर अपना मनोभाव प्रकट करते थे। अश्वि-युगल (अश्विनौ), इन्द्र और वायु, मित्र और वरुण ऐसे संयोगोंके उदाहरण हैं। इस स्तवमें इन्द्र और वायु नहीं हैं, मित्र और वरुण भी नहीं। इन्द्र और वरुणका इस प्रकारका संयोग कर कण्ववंशज मेधातिथि आनंद, महत्त्वसिद्धि और शान्तिके लिये प्रार्थना कर रहे हैं। इस समय उनके मनका भाव उच्च, विशाल और गंभीर है। वे चाहते हैं मुक्त और महत् कर्म, चाहते हैं प्रबल तेजस्वी भाव, किन्तु वह बल प्रतिष्ठित होगा स्थायी, गम्भीर और विशुद्ध ज्ञानपर, वह तेज शान्तिके दो विशाल पक्षोंपर आरूढ़ हो कर्मरूपी आकाशमें विचरण करेगा। आनंदके अनंत सागरमें निमग्न होनेपर भी, आनंदकी चित्र-विचित्र तरंगोंपर आंदोलित होनेपर भी वे चाहते हैं वही स्थैर्य, महिमा और चिरप्रतिष्ठाका अनुभव। उस सागरमें डूब आत्म-ज्ञान खोनेको, उन तरंगोंपर लुलितदेह गोता खानेको वे अनिच्छुक हैं। उस महाकांक्षाकी प्राप्ति करानेके योग्य सहायता देनेवाले देवता हैं इन्द्र और वरुण—राजा इन्द्र, सम्राट् वरुण। समस्त मानसिक

वृत्तियों, अस्तित्व और कार्यकारित्वके, मानसिक तेज और तपःके दाता इन्द्र ही हैं, वृत्रोंके आक्रमणसे उसकी रक्षा वे ही करते हैं। चित्त और चरित्रके जितने भी महत् और उदार भाव हैं, जिनके अभावमें मन और कर्ममें उद्धतता, संकीर्णता, दुर्बलता या शिथिलताका आना अवश्यंभावी है, उनकी स्थापना और रक्षा वरुण करते हैं। अतएव इस सूक्तके प्रारम्भमें ऋषि मेधातिथि इन दोनोंकी सहायता और मित्रताका वरण करते हैं। **इन्द्रावरुणयोरहमव आ वृणे।** 'सम्राजोः', क्योंकि वे ही सम्राट् हैं। अतएव ईदृशे, इस अवस्था-में (मनकी जिस अवस्थाका वर्णन किया है उसमें) या इस अवसरपर वे अपने लिये और सबके लिये उनकी प्रसन्नताकी प्रार्थना करते हैं—**ता नो मृळात ईदृशे।** जिस अवस्थामें देह, प्राण, मन तथा विज्ञानांशकी सभी वृत्तियाँ और चेष्टाएँ अपने स्थानमें समारूढ़ और आवृत रहती हैं, किसीका भी जीवपर आधिपत्य, विद्रोह अथवा यथेच्छाचार नहीं होता, सभी अपने-अपने देवताकी पराप्रकृतिकी वश्यता स्वीकार कर अपना-अपना कर्म भगवन्निर्दिष्ट समयपर और परिमाणमें आनंदके साथ करनेमें अभ्यस्त होती हैं, जिस अवस्थामें ग़भीर शान्ति तथा साथ ही तेजस्विनी, सीमारहित, प्रचण्ड कर्म-शक्ति होती है, जिस अवस्थामें जीव स्वराज्यका स्वराट् एवं अपने आधारभूत आन्तरिक राज्यका यथार्थ सम्राट् होता है और उसीके आदेशसे या उसीके आनंदके लिये सभी वृत्तियाँ सुचारु रूपसे परस्पर सहायता करती हुई कर्म करती हैं अथवा उसकी इच्छा होनेपर गंभीर तमोरहित नैष्कर्म्यमें मग्न हो अतल शान्तिके अनिर्वचनीय आनंदका आस्वादन करती हैं, उसी अवस्थाको प्रथम युगके वैदान्तिक स्वराज्य वा साम्राज्य कहा करते थे। इन्द्र और वरुण उसी अवस्थाके विशेष अधिष्ठाता हैं, सम्राट् हैं। इन्द्र सम्राट् बन अन्य सभी वृत्तियोंको चालित करते हैं, वरुण सम्राट् बन अन्य सभी वृत्तियोंपर शासन करते और उन्हें महिमान्वित करते हैं।

इन महिमान्वित देवता-द्वयकी संपूर्ण सहायता प्राप्त करनेके अधिकारी सभी नहीं होते। जो ज्ञानी हैं, धैर्य-प्रतिष्ठित हैं वे ही हैं अधिकारी। 'विप्र' होना होगा, 'मावान्' बनना होगा। विप्रका अर्थ ब्राह्मण नहीं। 'वि' धातुका अर्थ है प्रकाश, 'विप्' धातुका अर्थ है प्रकाशकी क्रीड़ा, कंपन या पूर्ण उच्छ्वास। जिसके मनमें ज्ञानका उदय हुआ है, जिसके मनका द्वार ज्ञानकी तेजस्वी क्रीड़ाके लिये मुक्त है, वही है विप्र। 'मा' धातुका अर्थ है धारण करना। जननी गर्भमें संतान धारण करती है, इसीलिये वह 'माता' नामसे अभिहित है। आकाश समस्त भूतके, समस्त जीवके जन्म, क्रीड़ा और मृत्युको अपने गर्भमें धारण कर स्थिर, अविचलित बना रहता है, इसलिये

वह समस्त कर्मके प्रतिष्ठापक, प्राणस्वरूप वायुदेवता मातरिश्वाके नामसे विख्यात हैं। आकाशकी तरह ही जिसमें धैर्य और धारण-शक्ति है, जब प्रचण्ड बवण्डर दिङ्मण्डलको आलोड़ित कर प्रचण्ड हुंकारके साथ वृक्ष, पशु, गृहतकको उड़ाता हुआ रुद्र-भयंकर रासलीलाका नृत्य-अभिनय करता है तब आकाश उस क्रीड़ाको जिस प्रकार सहन करता है, चुपचाप आत्मसुखमें मग्न रहता है, उसी तरह जो प्रचण्ड, विशाल आनन्दको, प्रचण्ड-रुद्र कर्मस्रोतको, यहाँतक कि शरीर या प्राणकी असह्य यंत्रणाको भी, अपने आधारमें उस क्रीड़ाके लिये उन्मुक्त क्षेत्र प्रदान कर, अविचलित और आत्मसुखमें प्रफुल्ल रहता हुआ, साक्षी-रूपसे धारण करनेमें समर्थ होता है वही है 'मावान्'। जिस समय ऐसे मावान् विप्र, ऐसे धीर ज्ञानी अपने आधारको वेदी बना यज्ञके लिये देवताओंका आवाहन करते हैं, उस समय इन्द्र और वरुणकी वहाँ अबाध गति होती है, वे स्वेच्छासे भी उपस्थित होते हैं, यज्ञकी रक्षा करते हैं, उसके समस्त अभीप्सित कर्मके आश्रय और अवलंब बन (धर्त्तारा चर्षणीनाम्) विपुल आनंद, शक्ति और ज्ञानका प्रकाश प्रदान करते हैं।

प्रथम मण्डल

सूक्त 75

जुषस्व सप्रथस्तमं वचो देवप्सरस्तमम्। हव्या जुह्वान आसनि ॥1॥

मैं जिसे व्यक्त करता हूँ वह अतिशय विस्तृत और बृहत् है एवं देवताके भोगकी सामग्री है, उसे तुम प्रेमसहित आत्मसात् करो। जितना भी हव्य प्रदान करो, सब अपने ही मुंहमें अर्पण करो ॥1॥

अथा ते अङ्गिरस्तमाग्ने वेधस्तम प्रियम्। वोचेम ब्रह्म सानसि ॥2॥

हे तपः-देव! हे शक्तिधारियोंमें श्रेष्ठ तथा उत्तम विधाता! मैं हृदयका जो मंत्र व्यक्त करता हूँ वह तुम्हें प्रिय हो और मेरी अभिलषित वस्तुओंके विजयी भोक्ता बनो ॥2॥

कस्ते जामिर्जनानामग्ने को दाश्वध्वरः। को ह कस्मिन्नसि श्रितः ॥3॥

हे तपः-देव अग्नि! जगत्में कौन तुम्हारा साथी और भाई है? तुम्हें देवगामी सख्य देनेमें कौन समर्थ है? तुम ही कौन हो? किसके अन्तरमें अग्निदेवका आश्रय है? ॥3॥

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः। सखा सखिभ्य ईड्यः ॥4॥

हे अग्नि। तुम ही सब प्राणियोंके भ्राता हो, तुम ही जगत्के प्रिय बन्धु हो, तुम ही सखा और अपने सखाओंके काम्य हो ॥4॥

यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ ऋतं बृहत्। अग्ने यक्षि स्वं दमम् ॥5॥

मित्र और वरुणके लिये, देवताओंके लिये, बृहत् सत्यके लिये यज्ञ करो। हे अग्नि! वह सत्य तुम्हारा अपना ही घर है, उसी लक्ष्य-स्थलपर यज्ञको प्रतिष्ठित करो ॥5॥

तृतीय मण्डल

सूक्त 46

मूल और अनुवाद

युध्मस्य ते वृषभस्य स्वराज उग्रस्य यूनः स्थविरस्य घृष्वेः।
अजूर्यतो वज्रिणो वीर्याणीन्द्र श्रुतस्य महतो महानि ॥1॥

जो देवता पुरुष, योद्धा, ओजस्वी, स्वराट् हैं, जो देवता नित्ययुवा, स्थिर-शक्ति, प्रखर, दीप्तिस्वरूप और अक्षय, अति महान् हैं, वही हैं श्रुतिधर, वज्रधर इन्द्र, अति महान् हैं उनके समस्त वीरकर्म ॥1॥

महाँ असि महिष वृष्ण्येभिर्धनस्पृदुग्र सहमानो अन्यान्।
एको विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान् ॥2॥

हे विराट्! हे ओजस्वी! तुम महान् हो, अपनी विस्तार-शक्तिके कर्मद्वारा तुम अन्य सबपर जोर-जबर्दस्ती कर उनसे हमारा अभिलषित धन छीन लो। तुम एक हो, समस्त जगत्में जो कुछ दृष्ट हो रहा है उस सबके राजा हो, मनुष्यको युद्धकी प्रेरणा दो, उसके जेय स्थिर-धाममें उसे स्थापित करो ॥2॥

प्र मात्राभी रिरिचे रोचमानः प्र देवेभिर्विश्वतो अप्रतीतः।
प्र मज्मना दिव इन्द्रः पृथिव्याः प्रोरोर्महो अन्तरिक्षादृजीषी ॥3॥

इन्द्र दीप्ति-रूपमें प्रकट होकर जगत्की समस्त मात्राका अतिक्रमण कर जाते हैं, देवताओंको भी सब ओरसे अनंतभावसे अतिक्रम कर सबके लिये अगम्य हो जाते हैं।...साथ ही, ऋजुगामी ये शक्तिधर इन्द्र अपनी ओज-स्विता से मनोजगत्, विस्तृत भूलोक एवं महान् प्राणजगत्को भी अतिक्रम कर जाते हैं ॥3॥

उरुं गभीरं जनुषाभ्युग्रं विश्वव्यचसमवतं मतीनाम्।
इन्द्रं सोमासः प्रदिवि सुतासः समुद्रं न स्रवत आ विशन्ति ।।4।।

इस विस्तृत और गभीर, इस जन्मतः उग्र और तेजस्वी, इस सर्वविकास-कारी और सर्वविचारधारक इन्द्र-रूप समुद्रमें जगत्के सभी मद्यकर रसप्रवाह मनोलोककी ओर अभिव्यक्त होकर स्रोतस्विनी नदियोंकी तरह प्रवेश करते हैं ।।4।।

यं सोममिन्द्र पृथिवीद्यावा गर्भं न माता बिभृतस्त्वाया।
तं ते हिन्वन्ति तमु ते मृजन्त्यध्वर्यवो वृषभ पातवा उ ।।5।।

हे शक्तिधारी, जिस तरह माता अजात शिशुको धारण करती है उसी तरह इस आनंद-मदिराको मनोलोक और भूलोक तुम्हारी ही कामनासे धारण करते हैं। हे वर्षक इन्द्र! अध्वरका अध्वर्यु तुम्हारे ही लिये, तुम्हारे ही पानके लिये उस आनंदप्रवाहको दौड़ाता है, तुम्हारे लिये ही उस आनंदको परिशुद्ध करता है ।।5।।

ऋ. 9.1.1

मूल और अनुवाद

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया। इन्द्राय पातवे सुतः ।।1।।

स्वादिष्ठ, मादकतम धारामें, पवित्र स्रोतमें बहो, हे सोमदेव, इन्द्रके पानार्थ तुम अभिषुत हो ।।1।।

परिशिष्ट 3[1]

ऋग्वेदकी पहली ऋचा

प्रथम मण्डल

प्रथम सूक्त

विश्वामित्रके पुत्र मधुच्छन्दस्‌का गायत्री-छन्दमें लिखा अग्नि-सूक्त। इसका पहला मन्त्र देवभाषामें इस प्रकार है :—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम् ॥1॥

इसका अर्थ है :—"मैं अग्निकी उपासना करता हूँ जो परमेश्वरके सम्मुख स्थित है, सत्यका द्रष्टा देव है, योद्धा है, आनन्दका शक्तिशाली विधाता है।"

इस प्रकार ऋग्वेद अग्निके आवाहनसे, विशुद्ध, शक्तिमान् और तेजोमय परमेश्वरकी उपासनासे आरम्भ होता है। "अग्नि (जो अग्रणी, सर्वप्रधान और शक्तिशाली है)", ऋषि आह्वान करता हुआ कहता है, "उसीकी मैं उपासना करता हूँ।" अन्य सब देवोंसे पहले अग्निकी ही क्यों? क्योंकि वही यज्ञ अर्थात् पदार्थोंके दिव्य स्वामीके सम्मुख स्थित है; क्योंकि वही एक ऐसा देव है जिसकी जाज्वल्यमान आँखें सत्य (सत्यम्) अर्थात् विज्ञान (विज्ञानम्)को सीधे देख सकती हैं, जो सत्य, जो विज्ञान ऋषिका अपना विशेष लक्ष्य और काम्य है और जिसपर संपूर्ण वेद प्रतिष्ठित है; क्योंकि वही एक ऐसा योद्धा है जो अज्ञान और सीमाके उन सब कुटिल आकर्षणोंके साथ (अस्मज्जुहुराणम् एनः) जो योगीके मार्गमें निरन्तर रोड़े अटकाते हैं, युद्धकर उन्हें दूर हटा देता है; क्योंकि सत्ताके गुप्त उच्चतर गोलार्द्ध (अव्यक्त, परार्द्ध)से प्रवाहित होनेवाले तपस्, विशुद्ध भागवत अतिचेतन शक्तिके माध्यमके रूपमें वह, अन्य किसीसे भी अधिक, दिव्य आनन्दका प्रस्फुटन और विधान करता है। यह है मन्त्रका तात्पर्य।

---

1. इसमें समाविष्ट, प्रकीर्ण वेदविषयक लेख मूल अंग्रेजीसे अनूदित किये गये हैं। अंग्रेजी और हिन्दीमें ये पहली बार श्रीअरविन्दकी वेदविषयक कृतिके शताब्दी-संस्करणमें पुस्तकाकार प्रकाशित हो रहे हैं।—अनुवादक

यह यज्ञ कौन है और यह अग्नि ही कौन है? यज्ञ जगत्‌का प्रभु, विराट् चैतन्यमय प्राज्ञ (मूर्तिमती प्रज्ञा) है जो अपने जगत्‌का स्वामी और नियन्ता है, यज्ञ है परमेश्वर। अग्नि भी चैतन्यमय प्राज्ञ है जो उस 'पुरुष'से ही, उसका कार्य करने और उसकी शक्तिका प्रतिनिधित्व करनेके लिए, निर्गत एवं सृष्ट हुआ है; अग्नि एक देव है। स्थूल इन्द्रिय न ईश्वरको देखती है न देवोंको, न यज्ञको, न अग्निको; वह तो देखती है केवल (पञ्च) भूतों और उनकी रूप-रचनाओंको, दृश्य भौतिक पदार्थोंको और उनकी या उनके अन्दर होनेवाली क्रियाओंको। वह अग्नितत्त्वको नहीं, आगको देखती है; वह परमेश्वरको नहीं देखती, वह पृथ्वीको हरा-भरा तथा सूर्यको आकाशमें देदीप्यमान देखती है और सरसराती हवाको अनुभव करती और वहते जलों को देखती है। इसी प्रकार वह मनुष्यके शरीर या आकारको देखती है न कि स्वयं पुरुषको; वह दृष्टि या हाव-भावको देखती है पर दृष्टि या हाव-भावके पीछे स्थित विचारसे सचेतन नहीं होती। तथापि शरीरके अन्दर पुरुषका अस्तित्व तो है ही और दृष्टि या हाव-भावके अन्दर विचार रहता ही है। इसी प्रकार आगमें अग्नितत्त्व और जगत्‌में ईश्वर हैं ही। वे आगके वाहर तथा उसके अन्दर और जगत्‌के वाहर तथा उसके अन्दर भी रहते हैं।

आगमें या जगत्‌में वे किस प्रकार रहते हैं?—जैसे 'पुरुष' अपने शरीर-में और विचार दृष्टि या हाव-भावमें रहता है। शरीर 'स्वयं पुरुष' नहीं है और हाव-भाव 'स्वयं विचार' नहीं है; शरीर है अभिव्यक्तिगत (अभि-व्यक्तिमें आया हुआ) पुरुष और हाव-भाव है अभिव्यक्तिगत विचार। इसी-प्रकार आग 'स्वयं अग्नि' नहीं वल्कि अभिव्यक्तिगत अग्नि है और जगत् 'स्वयं ईश्वर' नहीं वरन् अभिव्यक्तिगत ईश्वर है। 'पुरुष' केवल अपने शरीरसे ही अभिव्यक्तिको नहीं प्राप्त होता, वल्कि अपने कर्म और चेष्टासे भी, और इनके द्वारा वह शरीरकी अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण रूपमें अभि-व्यक्त होता है। विचार केवल दृष्टि और हाव-भावसे ही व्यक्त नहीं होता, वल्कि वह इससे कहीं अधिक पूर्ण रूपमें कार्य और वाणी द्वारा भी प्रकट होता है। इसी प्रकार 'अग्नि' केवल आगके द्वारा ही प्रकट नहीं होता, अपितु जगत्‌में ताप, दीप्ति और शक्तिके तत्त्वकी सूक्ष्म और स्थूल-भौतिक जो भी क्रियाएँ होती हैं उन सवके द्वारा भी वह और भी अधिक पूर्ण रूप-में व्यक्त होता है। परमेश्वर केवल इस जड़भौतिक जगत्‌के द्वारा ही व्यक्त नहीं होता बल्कि जड़भौतिक आकारोंको आश्रय देने एवं अनुप्राणित करनेवाली चेतनाकी क्रियाकी सभी गतिविधियों और समस्वरताओंके द्वारा भी कहीं अधिक पूर्ण रूपमें प्रकट होता है।

तो यज्ञ अपने आपमें क्या है और अग्नि ही अपने-आपमें क्या है? यज्ञ है सत्, चित् और आनन्द; वह है चित् और आनन्दसे युक्त सत्, क्योंकि चित् और आनन्द सत्में अपरिहार्य हैं। जब वह अपनी सत्ता, चैतन्य और आनन्दमें गुणको छिपाए रखता है तो वह **निर्गुण सत्** कहलाता है, अर्थात् वह एक ऐसी निर्व्यक्तिक सत्ता होता है जिसमें चित् और आनन्द या तो उसके अपने अन्दर सिमटे हुए एवं निष्क्रिय होते हैं,—वे (क्रियासे) **निवृत्त** होते हैं और वह भी **निवृत्त** होता है,—या फिर वे उसकी निर्गुण (निर्व्यक्तिक) सत्तामें एक निर्लिप्त क्रियाके रूपमें कार्यरत होते हैं, अर्थात् वे क्रियामें **प्रवृत्त** होते हैं, वह क्रियासे **निवृत्त** होता है। तब उसे 'यज्ञ' नामसे नहीं पुकारना चाहिए, क्योंकि तब वह अपने-आपको क्रियाका **द्रष्टा** अनुभव करता है न कि उसका **स्वामी**। परन्तु जब वह अपनी सत्तामें गुणको अभिव्यक्त करता है तो वह **सगुण** सत्, सव्यक्तिक सत्ता कहलाता है। तब भी संभव है कि वह (क्रियासे) **निवृत्त** हो, अर्थात् अपने सक्रिय चैतन्य और आनन्दके साथ उसका इसके सिवाय कोई संबन्ध न हो कि वह उनकी निर्लिप्त क्रियाका साक्षिमात्र रहे। पर वह अपनी शक्ति द्वारा उनकी क्रियामें प्रवेश कर अपने विश्वको अधिकृत और अनुप्राणित भी कर सकता है (**प्रविश्य, अधिष्ठित**) अर्थात् वह भी **प्रवृत्त** हो और वे (चित् और आनन्द) भी। तभी वह अपनेको **ईश्वरके** रूपमें जानता है और यथार्थ रूपमें यज्ञ कहलाता है। केवल वह ही यज्ञ नहीं कहलाता बल्कि समस्त कार्य भी यज्ञ कहलाता है, और योग भी, जिसके द्वारा ही किसी कार्यकी प्रक्रिया साध्य हो सकती है, यज्ञके नामसे पुकारा जाता है। क्रियाप्रधान भौतिक यज्ञ तो यज्ञका केवल एक रूप है। जब मनुष्य फिरसे भौतिकता-प्रधान होने लगा तब यज्ञके इस रूपने पहले तो प्राथमिक और फिर अद्वितीय महत्त्व ग्रहण कर लिया और तब मनुष्योंमेंसे उस मनुष्यके लिए यह समस्त कर्म एवं समस्त यज्ञका प्रतिनिधित्व करता था। पर ईश्वर हमारे समस्त कर्मोंका स्वामी है; उसीके लिए हैं वे सब कर्म, उसीकी सेवामें वे अर्पित हैं, जाने या अनजाने (**अविधिपूर्वकम्**) हम अपने कर्मोंको सदा उन्हींके स्रष्टाके प्रति अर्पित कर रहे हैं। अतएव प्रत्येक कर्म उसके प्रति आहुति ही है और जगत् हमारे जीवनव्यापी यज्ञ-सत्रकी वेदी। इस विश्वव्याप्त कर्मकाण्डमें वेदके मन्त्र यथोचित कर्म (**ऋतम्**)के शिक्षक हैं और इसी कारण वेद उसका वर्णन 'यज्ञ'-के नामसे करता है, किसी अन्य नामसे नहीं।

यह यज्ञ (-रूप परमेश्वर), जो सगुण सत् है, अपने आप (अर्थात् अपनी सत्ता, सत्के द्वारा) कर्म नहीं करता, बल्कि वह अपने अन्दर, अपनी सत्ता,

सत्‌में अपनी चित्-शक्ति, अपनी चेतनाके द्वारा कार्य करता है। क्योंकि वह चित्‌की किसी प्रक्रिया द्वारा अपने अन्दर वस्तुओंसे सचेतन होता है इसीलिए वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, आविर्भूत होती हैं अर्थात् उसकी सर्व-धारक अव्यक्त सत्तामेंसे उसकी व्यक्त आत्म-सत्तामें प्रकाशित होती हैं। चित् और शक्ति एक ही वस्तु हैं और यद्यपि सुविधाके लिए **'चित्‌की शक्ति'**की बात करते हैं, तो भी इस प्रयोगका अर्थ वास्तवमें **'चित्‌की शक्ति'** नहीं बल्कि 'चित्' जो कि शक्ति है (शक्तिरूप चित्) ऐसा समझना चाहिए। 'चित्'-मात्र ही शक्ति है और समस्त शक्ति अपने अन्दर चित्‌को छिपाए है। जब शक्तिरूप चित् कार्य करना आरम्भ करती है तो वह अपने आपको क्रियाशील शक्ति, **तपस्**के रूपमें प्रकट करती है और उसे समस्त क्रियाका आधार बनाती है। वास्तवमें, क्योंकि समस्त शक्ति अन्तरतः चित् ही है, अतः समस्त शक्ति बाह्यतः प्रकाशसे युक्त होती है; पर प्रकाश नाना-प्रकारके हैं, क्योंकि चित्‌की अभिव्यक्तियाँ नाना प्रकारकी हैं। सात रश्मियों-ने इस दृश्यमान जगत्‌को उस सनातन ज्योतिमेंसे बाहर प्रक्षिप्त किया है, जो परम सत्ताके सूर्यकी भांति अपने अंतिम विलोप, **तमस्**, से परे स्थित है, **आदित्यात् तमसः परस्तात्**, और अपने अन्तःस्वरूपमें स्थित इन सात रश्मियों द्वारा अन्तर्लोक अभिव्यक्त होता है तथा अपने बाह्य स्वरूपमें स्थित इन सात रश्मियों द्वारा बाह्य प्रपञ्चात्मक जगत् अभिव्यक्त होता है। सत्, चित्, आनन्द, विज्ञान, मनस्, प्राण, अन्न ज्योतिर्मय ब्रह्मकी सप्तविध अन्तःसत्ता हैं। प्रकाश, अग्नि, विद्युत्, ज्योति, तेजस्, दोषा, छाया उसकी सप्तविध बाह्य सत्ता हैं। अग्नि तपस्‌के वाहनका स्वामी है। तपस्‌का यह वाहन क्या है जिसका प्रभु है अग्नि? यह है आग्नेय ज्योति। अग्नि है तपस्‌की ज्योति, उसका वाहन और आधार। प्रभुका परिचय उसके राज्यके नामसे होता है। सामर्थ्य, ताप, भास्वरता, पवित्रता, ज्ञानपर प्रभुत्व और तटस्थता उसके गुण हैं। वह यज्ञ है जो तपस्‌की ज्योतिके प्रभुके रूपमें अभिव्यक्त है, जिसके द्वारा चैतन्य, विचार, वेदन किंवा कर्मकी समस्त सक्रिय शक्ति इस जगत्‌में अभिव्यक्त होती है जिसे यज्ञने अपनी सत्तामेंसे ही निर्मित किया है। यही कारण है कि उसे यज्ञके सम्मुख स्थित (पुरोहित) कहा गया है। अग्नि या उससे परिपूरित विद्युत् या सूर्य ज्योतिकी वह जाज्वल्यमान प्रभा है जिसमें योगी दिव्य दृष्टि द्वारा परमेश्वरको देखते हैं। वह उस जागतिक व्यापारका कारण है जिसमें यज्ञ अपनी सत्ताको एक साथ प्रकाशित एवं गोपित करता है।

अग्नि एक देवता है—वह देवों अर्थात् दीप्यमान सत्ताओं, प्रकाशके

अधिपतियों, विश्वक्रीड़ाके महान् खिलाड़ियों, लीलाके निम्नतर स्वामियोंमें से एक है। वह उन देवों...मेंसे एक है जिन देवोंका महेश्वर या सर्व-शक्तिमान् प्रभु है यज्ञ। वह अग्नि है और है बन्धनरहित या फिर वह अपनेको केवल लीलामें ही बांधता है। वह स्वभावसे ही शुद्ध है और जिन अपवित्र वस्तुओंका वह भक्षण करता है उनके स्पर्शसे वह न तो प्रभावित होता है न कलुषित ही। वह शुभ-अशुभकी क्रीड़ाका रस लेता है और अशुभको शुभकी ओर ले जाता और उठाता है या फिर उसे शुभ बननेके लिए बाध्य कर देता है। वह पवित्र करनेके लिए ही जलाता है। वह रक्षा करनेके लिए ही नष्ट करता है। जब साधकका शरीर तपस्की ऊष्मा-से जल उठता है तो उस समय यह अग्नि ही उसके अन्दर गरज रहा होता है, मलिनता और विघ्न-बाधाओंको ग्रस और जला रहा होता है। वह भयानक, शक्तिशाली, आनन्दमय, निर्दय और प्रेममय देव है, उन सबका दयालु और रौद्र सहायक है जो उसकी मित्रताकी शरण लेते हैं।

अग्निमें ज्ञान उसके जन्मके साथ ही उत्पन्न हुआ था—इसीलिए उसे **जातवेदस्** कहा जाता है।

विवेचन

1. अग्निम्

अग्नि एक देवता है, बुद्धिप्रधान मनके अत्यन्त भास्वर और शक्तिशाली प्रभुओंमेंसे एक। वैदिक मनोविज्ञान (अध्यात्मविज्ञान)के अनुसार मनुष्य सात तत्त्वोंसे संघटित है जिनके खोलों (कोशों)में आत्मा अन्तर्निहित है। वे हैं **अन्न**, स्थूल जड़तत्त्व, **प्राण**, प्राणिक शक्ति, **मनस्**, बौद्धिक मन, **विज्ञानम्**, 'विज्ञान'मय आदर्श मन, **आनन्द**, शुद्ध या तात्त्विक सुख, **चित्**, शुद्ध या तात्त्विक चैतन्य, **सत्**, शुद्ध या तात्त्विक सत्ता। हमारे विकासकी वर्तमान अवस्थामें साधारण मानवने अपने नित्य व्यवहारके लिए **अन्न**, **प्राण** और **मन**-का विकास किया है, और सुविकसित मनुष्य सामर्थ्यपूर्वक **विज्ञान**का प्रयोग करनेमें सक्षम होते हैं, पर वह विज्ञान तब अपने निजधाममें (**स्वे दमे**) किंवा अपने स्वरूपमें स्थित होकर कार्य नहीं करता, बल्कि वह मनमें स्थित होकर तर्कशक्ति, बुद्धिके रूपमें कार्य करता है। असाधारण मनुष्य विज्ञान द्वारा वास्तविक मन और बुद्धिकी क्रियामें सहायता पहुंचानेमें समर्थ होते हैं पर वह विज्ञान तब निःसन्देह बुद्धिप्रधान मनमें क्रियारत होता है और अतएव अपने

वास्तविक क्षेत्रसे वाहर रहकर ही कार्य करता है, पर करता है अपनी विज्ञान-मय चेतनाके रूपमें ही। यह मानसिक और विज्ञानमय क्रियाका संयोग है जिससे चेतनाकी उस अवस्थाका निर्माण होता है जिसे प्रतिभा, **प्रतिभानम्**, कहते हैं, अर्थात् मनमें उच्चतर विचार-क्रियाकी प्रतिच्छाया या उसके प्रति प्रकाशपूर्ण उत्तर। योगी इससे भी परे साक्षात् विज्ञान तक जा पहुंचता है अथवा यदि वह याज्ञवल्क्यकी भांति एक महत्तम ऋषि हुआ तो, आनन्द-तक भी। साधारण समयोंमें कोई भी जाग्रत् अवस्थामें आनन्दसे परे नहीं जाता, वस्तुतः चित् और सत् केवल सुषुप्तिमें ही उपलब्ध हो सकते हैं, क्योंकि अब तक केवल पहले पांच कोश ही इतने पर्याप्त रूपमें विकसित हुए हैं कि (साधारण मानवको) प्रत्यक्ष हो सकें; हां, सत्ययुगके मनुष्योंकी बात दूसरी है और उन्हें भी अन्य दो कोश पूर्णतया गोचर नहीं होते। **विज्ञानसे अन्नतक अपरार्द्ध** या सत्ताका निम्नतर भाग है जहाँ विद्यापर अविद्याका आधिपत्य है, आनन्दसे सत् तक परार्द्ध या उच्चतर अर्द्ध है जिसमें अविद्यापर विद्याका प्रभुत्व है और वहाँ अज्ञान, पीड़ा या सीमाका नाम नहीं।

मनुष्यमें, जैसा कि वह इस समय विकसित है, बुद्धिप्रधान मन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक शक्ति है और बुद्धिप्रधान मनको इसकी उच्चतम शुद्धता एवं क्षमता तक विकसित करनेके उद्देश्यसे ही वेदके सूक्त लिखे गए हैं। इस मनमें क्रमिक रूपसे ये तत्त्व विद्यमान हैं (1) **सूक्ष्म अन्न**, स्थूल अन्नका परिष्कृत सूक्ष्म रूप जिससे मनःकोष या सूक्ष्म देहका भौतिक भाग बनता है; (2) **सूक्ष्म प्राण**, मनोगत प्राण-शक्ति जो नाड़ियोंमें या सूक्ष्म देहके नाड़ीमण्डलमें कार्य करती है और जो कामनाका करण है; (3) **चित्त** या ग्रहणशील चेतना जो तामसिक प्रतिक्रिया द्वारा वाहर और भीतरसे सभी संस्कार ग्रहण करती है, पर जो तामसिक होनेके कारण उन्हें सात्त्विक चेतना या बुद्धि-चैतन्यके प्रति, जिसे हम ज्ञान कहते हैं, प्रत्यक्ष नहीं होने देती। परिणामस्वरूप, ध्यानपूर्वक देखी या न देखी प्रत्येक वस्तुकी स्मृति हम चित्त द्वारा अपने अन्दर संजोए हैं, पर वह ज्ञान तमसाच्छन्न पड़ा होनेके कारण हमारे जीवनके लिए निरर्थक है; (4) **हृदय** (**हृत्**), या चित्तपर पड़े संस्कारोंके प्रति राजसिक प्रतिक्रिया जिसे हम वेदन या भावावेश कहते हैं, अथवा जव यह हमारे अभ्यासका अंग वन जाती है तो इसे स्वभाव कहते हैं; (5) **मनस्** या सक्रिय, सुनियत, इन्द्रियबोधात्मक चेतना जो सब प्रकारके संस्कारोंको एक सात्त्विक प्रतिक्रियाके द्वारा—जिसे बोधशक्ति या विचार कहते हैं और जो मनुष्योंकी तरह पशुओंमें भी पाई जाती है—प्रत्यक्ष बोध

या प्रत्ययमें बदल देती है; (6) बुद्धि या तार्किक, कल्पना-कुशल और बौद्धिकतः स्मृतिसहायक शक्ति, जो निरीक्षण और संधारण करती है, तुलना, तर्क-वितर्क, समववोध, संयोजन और सर्जन करती है, इन व्यापारोंके संमिश्रण को ही हम वुद्धि कहते हैं; (7) मानस आनन्द, या सत्ताका विशुद्ध आनन्द जो अपवित्र मन, देह और प्राण द्वारा अपवित्र रूपमें अर्थात् नाना प्रकारकी व्यथा-वेदनासे मिश्रित रूपमें प्रकट होता है, पर जो अहैतुक (निःस्वार्थ) होनेके कारण अपने-आपमें शुद्ध है; (8) मानस तपस्, या शुद्ध संकल्पशक्ति जो अशुद्ध मन, देह और प्राण द्वारा अशुद्ध रूपमें, अर्थात् दुर्वलता, जड़ निष्क्रियता एवं अज्ञान या भ्रान्तिसे मिश्रित रूपमें, ज्ञान, वेदन, और कर्मके संपादन के लिए क्रिया करती है, पर वह अपने-आपमें शुद्ध ही है क्योंकि वह अहैतुक, निःस्वार्थ होती है, किसी ऐसे परोक्ष प्रयोजन या अभिरुचिसे शून्य होती है जो विचार, कार्य और भावावेगके सत्यमें हस्तक्षेप कर सके; (9) अहैतुक सत्, या सत्ताकी शुद्ध उपलब्धि जो अशुद्ध करणोंके द्वारा अहंकार और भेदकी शक्तिके रूपमें क्रिया करती है, पर अपने-आपमें वह शुद्ध ही है और है भेदमें अभेदके प्रति सचेतन, क्योंकि वह अहैतुक है, अभिव्यक्तिमें किसी विशेष नाम या रूपके प्रति आसक्त नहीं; और अन्तमें, (10) मनमें अवस्थित आत्मा। यह आत्मा सत् और असत् है, भावात्मक और-अभावात्मक, सत् ब्रह्म और शून्यं ब्रह्म; भावात्मक और अभावात्मक दोनों सः या वासुदेव तथा सत् या परब्रह्ममें अन्तर्निहित हैं, और सः एवं तत् दोनों एक ही हैं। पुनश्च, वुद्धि कई शक्तियोंमें विभक्त है—(1) मेधा जो इन्द्रियानुभवके द्वारा प्रदत्त ज्ञानका प्रयोगमात्र करती है और मनस्, चित्त, हृत् तथा प्राणके समान ही अधीन, अनीश, है, इन्द्रियानुभव पर आश्रित है; (2) तर्कशक्ति या यथार्थ वुद्धि, (स्मृति या धी जिसे प्रज्ञा भी कहते हैं), जो इन्द्रियानुभवसे श्रेष्ठतर है और उच्चतर ज्ञानकी विभक्त ज्योतिमें इसका प्रतिषेध करती है, और (3) प्रत्यक्ष ज्ञान, सत्य, या सत्त्व जो अपने आपमें उच्च ज्ञानकी वही ज्योति है। इन सव शक्तियोंके अपने-अपने देवता हैं, एक या अनेक; प्रत्येक देवताके अपने गण या अधीनस्थ मन्त्री हैं। इन शक्तियोंका प्रयोक्ता जीव हंस कहलाता है, हंस अर्थात् वह जो ऊपरकी ओर उड़ता या विकसित होता है; जव वह निम्न शक्तियोंको त्याग देता है और मनमें सच्चिदानन्दकी ओर उठ जाता है, केवल सत्, चित् और आनन्दका ही प्रयोग करता है तथा सद् आत्मा या वासुदेवमें प्रतिष्ठित रहता है तव वह परब्रह्म कहलाता है, अर्थात् वह जो क्रमविकासकी उस अवस्थामें पराकाष्ठा तक पहुंच गया या विकसित हो चुका है। वेदका आधारभूत ज्ञान यही है,

जिसका विलोप, निरुक्तकी विकृतिके साथ मिलकर, उसके अर्थकी वर्तमान अव्यवस्था एवं हीनताका कारण बना है।

चन्द्र स्मृति या प्रज्ञाका देवता है; सूर्य सत्यका; इन्द्र मेधा और मनस्-का; वायु सूक्ष्म प्राणका; मित्र, वरुण, अर्यमा और भग भावप्रधान मन या स्वभाव-के चार अधिपति हैं; बृहस्पति सहैतुक चित् या ज्ञानके तपका देवता है; ब्रह्म सहैतुक सत्का; अग्नि सहैतुक तपस्का इत्यादि। यह एक संकेतमात्र है। देवोंके विविध गुण-कर्म-स्वभाव और शक्तियाँ तो स्वयं वेदकी परीक्षासे उत्तमतया प्रकट होती हैं। देवता प्रभु या यज्ञके लिए, ईशके लिए अर्थात् आधार या अभिव्यक्तिके सप्तविध माध्यमके स्वामीके लिए पूर्णताके साथ कार्य करनेका यत्न करते हैं; दैत्य, जो देवोंकी तरह ही भगवान्की संतानें हैं, इस पूर्व कार्य-व्यापारको उलट देनेकी चेष्टा करते हैं। उनका कार्य है—जो कुछ स्थापित हो चुका है उसे उलट-पलट देना जिससे मनुष्यको नीचे ढकेला जा सके, या फिर जो कुछ अपने-आपमें अच्छा और सामंजस्यमय था पर था अपूर्ण उसे तोड़कर मनुष्यको और ऊंचा उठनेका अवसर प्रदान करना; और चाहे जो हो, पूर्णतासे ओछी किसी भी वस्तुसे उसे सन्तुष्ट न रहने देना और उसे निरन्तर अनन्तकी ओर परिचालित करना, या तो उत्तमगति द्वारा वासुदेवकी ओर प्रेरित करना या, यदि वह उसे प्राप्त नहीं करना चाहता तो उसे अधमगतिसे प्रकृतिकी ओर धकेल देना। वैदिक आर्य देवोंकी सहा-यतासे दैत्यों या दस्युओं को अभिभूत करनेका यत्न करते थे; तदनन्तर स्वयं देवोंको भी अभिभूत (अतिक्रान्त) करना होता था जिससे मनुष्य अपने लक्ष्य पर पहुंच सके।

भौतिक शक्तियोंके क्षेत्रमें अग्नि है तेजस्का अधिपति, वैदिक प्रकृति-विज्ञानके विदित पांच तत्त्वोंमेंसे तीसरा और मध्यगत भौतिक तत्त्व। स्वयं तेजस् सात प्रकारका है, (1) छाया या अभावात्मक प्रकाश जो अन्न-कोषका तत्त्व है; (2) दोषा या सान्ध्य प्रकाश, जो प्राणकोषका आधार है और छायाके द्वारा विकृत तेजस् है; (3) वास्तविक तेजस् या सरल विशदता एवं उज्ज्वलता, शुष्क प्रकाश, जो मनःकोषका आधार है; (4) ज्योति, या सौर प्रकाश, वह प्रोज्ज्वल प्रभा जो विज्ञानकोषका आधार है; (5) अग्नि या आग्नेय प्रकाश, जो चित्कोषका आधार है; (6) विद्युत् या वैद्युत प्रकाश, जो आनन्दकोषका आधार है और (7) प्रकाश, जो सत्कोषका आधार है। सातोंमेंसे प्रत्येककी अपनी अनुरूप शक्ति है; क्योंकि शक्ति तात्त्विक सद्वस्तु है और प्रकाश तो शक्तिका एक विशिष्ट सहचारी तत्त्वमात्र है। इन सबमें अग्नि जगत्में सबसे महान् है, विद्युत्से भी महान्—यद्यपि

वैद्युत शक्तिका देव है स्वयं विष्णु जो आनन्दका अधिपति है, उपनिषदोंका वैद्युत मानव (वैद्युतो मानवः) है। विज्ञानमें, सूर्य एवं विष्णु अग्निसे अधिक महान् हैं, किन्तु यहाँ वह और विष्णु दोनों अग्निकी प्रभुत्वपूर्ण शक्तिके अधीन और इन्द्रकी तुष्टिके लिए कार्य करते हैं,—उपनिषदोंमें विष्णु इन्द्रसे छोटा, उपेन्द्र है। भौतिकीकी भाषामें अनुवाद करें तो इसका अर्थ यह हुआ कि अग्नि ताप और शीतका नियन्ता होनेके कारण प्रकाश और तापके समस्त दृग्विषयके पीछे स्थित आधारभूत सक्रिय शक्ति है; सूर्य तो केवल प्रकाश और तापका एक भण्डार है; सूर्यकी अपनी विलक्षण देदीप्यमान प्रभा तेजस्का केवल एक रूप है और जिसे हम आतप (धूप) कहते हैं वह सत्कोषके आधारभूत प्रकाश या सारभूत ज्योतिकी स्थितिशील शक्तिसे, वैद्युत ऊर्जा या वैद्युतम् से तथा अग्निके उस तेजस्से बना है जो सूर्यकी प्रकृतिके द्वारा किंचित् परिवर्तित हो गया है और प्रकाशके अन्य सब रूपोंका निर्धारण करता है। प्रकाश और वैद्युतम् केवल तभी सक्रिय बन सकते हैं जब वे अग्निमें प्रवेश कर जाते हैं और उसकी सत्ताकी अवस्थाओंके अधीन कार्य करते हैं; सूर्यको शक्ति देनेवाला है स्वयं अग्नि, वही ज्योतिको रचता है, वही तेजस्को रचता है, और वही, अभावात्मक रूपमें, छायाको रचता है। ठीक हो या गलत, यही है वेदकी भौतिकी। इसे मनोविज्ञानकी भाषामें अनूदित किया जाय तो इसका अभिप्राय यह होगा कि बुद्धिप्रधान मनमें, जो इस समय सत्तापर प्रभुत्व रखता है, न तो ज्ञानका पूर्ण विकास किया जा सकता है न आनन्दका, यद्यपि यह बुद्धिप्रधान मन तत्त्वतः मनसे उत्कृष्ट है; यहाँ तक कि सोम अर्थात् तार्किक बुद्धि भी वास्तवमें शासन नहीं कर सकती; बल्कि सोमसे परिपूर्ण इन्द्र ही, अर्थात् इन्द्रियोंपर आधारित और बुद्धिके द्वारा सम्पुष्ट मेधा ही, परमोच्च शासिका है और इसीकी तुष्टिके लिए सोम, सूर्य, अग्नि और यहाँ तक कि सर्वोच्च विष्णु कार्य करते हैं। जिस तर्कबुद्धिपर मनुष्य गर्व करता है वह तो मनसे विज्ञानकी ओर होनेवाले विकासमें एक कड़ीमात्र है। और इसे या तो इन्द्रियोंकी या आदर्श संबोधकी सेवा करनी होगी; यदि वह अपने लिए ही काम करे तो वह केवल अज्ञेयवाद, दार्शनिक संदेह और ज्ञानमात्रके अवरोधकी ओर ही ले जाती है। ऐसा बिल्कुल नहीं सोचना चाहिए कि वेद इन (देवोंके) नामोंका प्रयोग केवल मनोवैज्ञानिक और भौतिक शक्तियोंके मानवीकृत भावोंके अर्थमें ही करता है; वह तो इन देवोंको मनोवैज्ञानिक और भौतिक क्रियाओंके पीछे स्थित सच्ची सत्ताएँ मानता है, क्योंकि कोई भी शक्ति अपना संचालन आप नहीं कर सकती, बल्कि सभी शक्तियोंको किसी चेतन केन्द्र या किन्हीं

H. II-21

चेतन केन्द्रोंकी आवश्यकता पड़ती है, जिस (जिन) से या जिस (जिन)के द्वारा वे क्रियामें प्रवृत्त होती हैं। एक सन्देह स्वभावतः ही उत्पन्न होगा, कैसे वह परमोच्च प्रभु विष्णु वेदोंका **उपेन्द्र** हो सकता है? उत्तर यह है कि विकासकी किसी विशेष अवस्थामें जो भी शक्ति सर्वाधिक महत्त्वकी होती है उसे **विष्णु-विराट्** उसकी विशेष देखभालके लिए अपने हाथमें ले लेते हैं। हम देख चुके हैं कि आनन्द अब समुन्नत विकासमें सबसे उच्च तत्त्व है। अतएव अब विष्णु प्रमुख रूपसे आनन्दका अधिपति है और जब वह जड़ जगत्में उतरता है तो वह सूर्यमें एक परमोच्च वैद्युत शक्तिके रूपमें स्थित होता है। यह वैद्युत शक्ति अग्निमें अन्तर्निगूढ़ है और उसमें से विकसित होती है, यह आनन्दका भौतिक प्रतिरूप है और इसके बिना संसारमें कोई क्रिया आरम्भ नहीं हो सकती। विष्णु अवर (कोटिका) नहीं है, हां केवल सेवा करनेके बहाने वह अपने को दूसरे के अधीन कर देता है, जब कि वास्तवमें सेवाके द्वारा वह शासन करता है। पर उपेन्द्रत्व विष्णुकी अभिव्यक्तिका उच्चतम स्तर, परमधाम नहीं है, सच पूछो तो वह यहाँ उसके निम्नतम **धाम** का विशेष व्यापार है। उपेन्द्रत्व विष्णुत्व नहीं वरन् उसका केवल एक अन्यतम कार्यमात्र है।

अतएव अग्नि **तेजस्**का, विशेषतया आग्नेय **तेजस्**का स्वामी है और मनमें सहैतुक **तपस्**का कारण है। आधुनिक मनोविज्ञानकी भाषामें, यह सहैतुक **तपस्** है क्रियारत **संकल्प,**—कामना नहीं, बल्कि कामनाका आलिंगन करके उसका अतिक्रमण कर जानेवाला **संकल्प**। यह पसंदगी, इच्छा या मनोरथ भी नहीं। वैदिक विचार-पद्धतिमें **संकल्प** तत्त्वतः ज्ञान ही है जो शक्तिका रूप धारण कर लेता है। अतएव अग्नि विशुद्ध रूपमें मानसिक शक्ति है जो सब प्रकारकी एकाग्रताके लिए आवश्यक है। एक बार जब हम इस वैदिक परिकल्पनाको हृदयंगम कर लेते हैं तो हम अग्निका अपरिमित महत्त्व अनुभव करते हैं और जिस सूक्तका हम अब अध्ययन कर रहे हैं उसे समझने योग्य स्थितिमें होते हैं।

अग्निम्

'अग्नि' शब्द 'अग्' धातुसे संज्ञावाची 'नि' प्रत्यय लगानेसे बना है। 'अग्' धातु स्वयं "होना" अर्थवाली एक मूल धातु 'अ'से बना है जिसके चिह्न अनेक भाषाओंमें पाये जाते हैं। 'ग्' शक्तिके भावको सूचित करता है और इसलिए 'अग्'का अर्थ है शक्तिके साथ प्रधान रूपमें अस्तित्व रखना—तेजस्वी, बलशाली, श्रेष्ठ होना और अग्निका अर्थ है शक्तिमान्, परम महान्,

तेजोमय, प्रबल, दीप्तिमान्। यूनानी शब्द agathos (ऑगॉथोस्, जिसका अर्थ है उत्तम, और मूलतः जिसका अर्थ बलशाली, श्रेष्ठ वीर था), agan, ऑगॉन् अर्थात् अत्यधिक मात्रामें, ago, आगो अर्थात् मैं नेतृत्व करता हूँ, लैटिन शब्द ago, age, aglaos, आगो, आगे, आग्लाओस् अर्थात् दीप्तिमान्, व्यक्तिवाचक नाम Agis, Agamemnon, आगिस, आगामेम्नोन् तथा संस्कृत शब्द 'अग्र' और 'अगस्ति'—इन सभीमें हम यही 'अग्' धातु पाते हैं। यह अपने बंधु धातु 'अज्'से परस्पर परिवर्तनीय है, जिस (अज्) से यूनानी शब्द ago (आगो) के कुछ अर्थ निकलते हैं। प्रतीत होता है कि इसका अर्थ 'प्रेम करना' भी रहा होगा जो अर्थ 'आलिङ्गन'के विचारसे निकला होगा, तुल० यूनानी agape (आगापे), पर इस अर्थमें प्राचीन संस्कृत 'अंग्' धातुका प्रयोग पसन्द करती थी। अग्, अंग् इन दो धातुओंमें संबन्धके लिए इन शब्दोंकी तुलना कीजिए—अंगति, जिसका अर्थ है अग्नि, अंगिरः जो अग्निका एक नाम है, अंगारः, जलता हुआ अंगारा।

ईळे

इस शब्दमें जो धातु है उसके दो रूप हैं इळ् और ईळ्, जैसे सरल संस्कृत धातुओंके होते हैं। मूल धातु था इळ् जिसके अर्थ हैं प्रेम करना, आलिंगन करना, चाटुकारी या प्रशंसा करना, स्तुति करना, मूर्धन्य 'ळ्' बाद का रूप है,—एक उपभाषागत विशेषता है जो द्वापर-युगकी कुछ एक प्रभुत्वपूर्ण जातियोंसे सम्बद्ध है। इस विशेषताने कुछ काल तक अपने को प्रतिष्ठित रखा पर अपना अधिकार जमाए नहीं रख सकी और या तो 'ळ' फिरसे 'ल'में बदल गया या और भी बदलकर कोमल मूर्धन्य 'ड' बन गया जिसके साथ इसका परिवर्तन किया जा सकता था[1]। अतएव ठीक इसी अर्थमें हमें 'ईळ्' धातुका 'ईड्' रूप भी मिलता है। इस धातुमें बड़े की आराधनाका भाव निश्चित रूपसे अन्तर्निहित हो ऐसी बात नहीं, प्रधान भाव हैं प्रेम, प्रशंसा और कामना। यहाँ (इस मन्त्रमें) इसका अर्थ "प्रशंसा" या पूजा करना नहीं, बल्कि "कामना" या "उत्कण्ठा" वा "अभीप्सा" करना है।

पुरोहितम्

यहाँ दो पद हैं, एक नहीं। वेदकी परवर्ती कर्मकाण्डीय व्याख्यामें इस समस्त पदका "पुरोहित" यह जो अर्थ किया गया है वह इस सूक्तमें कतई

1. डलयोरभेदः अर्थात् 'ड' और 'ल'में कोई भेद नहीं, इन्हें परस्पर बदला जा सकता है।—अनुवादक

नहीं है। 'पुरः' शब्द मूलतः 'पुर्'का षष्ठयन्त रूप था जिसका प्रयोग क्रिया-विशेषणकी भांति होता था। पुर्का अर्थ था द्वार, कपाट, सम्मुख भाग, दीवार, बादमें इसका अर्थ हो गया घर या नगर; तुल० यूनानी pule (प्युॅले, द्वार), pulos (प्युॅलोस्, प्राकार-वेष्टित नगर या किला), polis (पोलिस्, नगर); इस प्रकार 'पुरः'का अर्थ है सामने। हितम् 'हि' धातुसे बना कृदन्त विशेषण है, 'हि'का अर्थ है झोंक देना, फेंक देना, रोपना, रखना। यह धातु ग्रीकमें cheo (खेओ) इस रूपमें दिखाई देता है जिसका अर्थ है 'मैं डालता हूँ' (haya, हया), अतएव पुरोहितम्का अर्थ है सामने स्थापित या रोपित (सामने रखा या रोपा हुआ)।

यज्ञस्य

यज्ञ शब्दका वेदमें सर्वोच्च महत्त्व है। कर्मकाण्डीय व्याख्यामें यज्ञका अर्थ सदा याज्ञिक क्रियाकलाप ही समझा जाता है और किसी अन्य अर्थकी परिकल्पनाको स्वीकार ही नहीं किया जाता। यदि इस आधिभौतिक व्याख्याको स्वीकार कर लिया जाय तो यह समझमें ही नहीं आ सकता कि कैसे वेद सम्पूर्ण भारतीय आध्यात्मिकता एवं दिव्य ज्ञानका उद्‌गम है। वास्तवमें यज्ञ स्वयं परम प्रभु विष्णुका नाम है; इसका अर्थ धर्म या योग भी है और आगे चलकर एक विशेष अर्थकी पसंदगीके कारण यह याज्ञिक कर्मके अर्थको सूचित करने लगा, क्योंकि द्वापर-युगके उत्तर भागमें याज्ञिक क्रियाकलाप एकमात्र धर्म एवं योग बन गया जिसने अन्य सबको अपने अधिकारमें कर लिया और अधिकाधिक उनका स्थान लेने लगा। अतः निरुक्तके द्वारा इस महत्त्वपूर्ण शब्दका ठीक अर्थ फिरसे खोज निकालना आवश्यक है, और ऐसा करनेके लिए निरुक्तका सिद्धान्त संक्षेपमें प्रतिपादित करना अनिवार्य है।

संस्कृतभाषा देवभाषा है या वह मूल भाषा है जिसे वर्तमान मन्वन्तरके आरम्भमें उत्तर मेरुके निवासी बोलते थे; पर अपने विशुद्ध रूपमें यह द्वापर या कलियुगकी संस्कृत नहीं है, यह सत्ययुगकी भाषा है जो वाक् और अर्थके सच्चे और पूर्व सम्बन्ध पर प्रतिष्ठित है। इसके प्रत्येक स्वर एवं व्यंजनमें एक विशेष एवं अविच्छेद्य शक्ति है जो वस्तुओंकी निज प्रकृतिके कारण ही अपना अस्तित्व रखती है न कि विकास या मानवीय चुनावके कारण, ये मूलभूत ध्वनियाँ हैं जो तान्त्रिक बीज-मन्त्रोंके आधार हैं और स्वयं मन्त्रका प्रभाव निर्मित करती हैं। मूलभाषामें प्रत्येक स्वर और प्रत्येक व्यंजनके कुछ एक प्राथमिक अर्थ थे जो इस मूलभूत शक्तिसे उद्‌भूत होते थे तथा

अपनेसे निकले दूसरे अर्थोंके आधार थे।] स्वयं स्वर स्वरों एवं व्यञ्जनोंके साथ मिलकर और उनके साथ मिले बिना भी अनेक प्राथमिक धातु बनाते थे जिनसे अन्य व्यंजनोंके संयोगसे, द्वितीय श्रेणीके धातु विकसित हुए। सभी शब्द इन धातुओंसे बनाए गए, सरल शब्द इनमें पुनः शुद्ध या मिश्रित स्वर-एवं-व्यंजन-रूप प्रत्यय लगाकर धातुमें कुछ परिवर्तन करके या बिना किए, बनाए जाते थे तथा अधिक जटिल शब्द संयोजनके सिद्धान्तके अनुसार। यह भाषा अर्थ और ध्वनिमें अधिकाधिक विकृत होकर त्रेता, द्वापर और कलियुगकी परवर्ती संस्कृत बन जाती है, कभी-कभी कुछ शुद्ध होकर फिर बिगड़ जाती है और कभी फिर अशंतः शुद्ध हो जाती है। परिणामतः यह अपने मूल रूप और रचनाके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्धको पूर्ण रूपसे कभी नहीं खोती। अन्य प्रत्येक भाषा, चाहे वह इससे कितनी ही दूर पड़ गई हो, एक अपभ्रंश ही है जो मूल भाषामें घिसाई, ह्रास एवं विकार होकर उसके प्राकृतमें या प्राकृतकी प्राकृतमें और इसी प्रकार और भी आगे अशुद्धता-की बढ़ती हुई अवस्थाओं तक बदल जानेसे बना है। भारतीय भाषाकी उत्कृष्ट शुद्धता ही वह कारण है जिससे इसे संस्कृत नामसे पुकारा जाता है और इसे कोई स्थानीय नाम नहीं दिया गया, इसका आधार सार्वभौम और सनातन है; और आदि भाषाके रूपमें संस्कृतवाणीकी पुनर्गवेषणा ही सदा पहले तो मानवको सच्चे रूपमें समझनेके लिए और दूसरे, स्वयं संस्कृतको भी नये सिरेसे शुद्ध करनेके लिए भूमि तैयार करती है।

यह विशेष धातु 'यज्' जिससे 'यज्ञ' शब्द बना है 'य्' व्यंजनके आधारपर बनी द्वितीयस्थानीय (यौगिक) धातु है, 'य्'के गुण (अर्थकी विशेषताएँ) हैं क्रिया, गति, रचना और सम्पर्कमें प्रयुक्त की गई सामर्थ्य और मृदुता। 'य्'से बनी प्राथमिक धातुएं है य, यि और यु और दीर्घीकृत रूप हैं या, यी, और यू—क्योंकि मूल देवभाषा केवल तीन शुद्ध स्वर मानती थी, शेष या तो किंचित् परिवर्तित या मिश्रित स्वर हैं। यज्की प्राथमिक धातु है 'य' जिसका मूल अर्थ है शान्त-स्थिरभावसे गति करना, शान्तिसे और बल तथा स्थिरताके साथ कार्य करना या काममें लगना, स्थिर मनोयोगके द्वारा (ज्ञान या किसी वस्तु या व्यक्तिको) अधिकृत करना, भद्रताके साथ या प्रीतिपूर्वक और प्रभावकारी रूपसे किसीके संपर्कमें आना या किसीके संपर्कमें लाना, स्पष्टताके साथ आकार देना या अभिव्यक्त करना इत्यादि। इनमें से पहला भाव दीर्घीकृत रूप 'या' में, 'यक्ष्'में और यम् आदि धातुओंके एक अन्यतम अर्थमें दिखाई देता है, पर इसका रंग घिस चुका है; दूसरा भाव 'यत्' और 'यश्'में; तीसरा यज्, यम् और यन्त्में; चौथा यज् और याच्में

जो मूलतः 'यच्' (देना)का प्रेरणार्थक है, यह 'यच्' धातु अब 'यम्'के कुछ एक तिङन्त रूपोंको छोड़कर लुप्त हो चुका है, पांचवां 'यम्'के एक अन्यतम अर्थ (दिखाना)में इत्यादि। यच्कें अतिरिक्त अन्य लुप्त धातु भी हैं—(१) 'यल्' जिसका अर्थ है खोजना, प्रेम करना, कामना करना (ग्रीक iallo, याल्लो), (२) यश्, इसका अर्थ भी यल्के अर्थसे मिलता-जुलता है। इससे हमें 'यशः' शब्द प्राप्त होता है जो आरम्भमें एक विशेषण था जिसका अर्थ था कमनीय, मोहक। यह एक संज्ञा भी था जिसका अर्थ कभी तो प्रेम या खोजका विषय होता था और कभी सौन्दर्य, महत्त्वाकांक्षा, कीर्ति इत्यादि, या स्वयं प्रेम भी, एवं अनुग्रह व पक्षपात। मूल भाषामें, जैसी कि वह आज भी देखी जा सकती है, जिस विधिका अनुसरण किया जाता था उसका यह एक संक्षिप्त उदाहरण है, हां, उस भाषाके अर्थोंके विभेद और छायाएं तो मिल-मिला गई हैं और शब्दोंके रंग मिट गए हैं।

'यज्' धातुमें 'ज्' व्यंजनकी भावशक्ति अर्थका निर्णय करती है। उसका तात्त्विक स्वभाव है क्षिप्रता, निर्णायकता, तीव्र भास्वरता और आतुरता। अतएव इसमें पौनःपुन्य और आतिशय्यकी, वारंवार और अतिशय मात्रामें करनेकी, यङ् प्रत्ययकी शक्ति है। इसका अर्थ है स्वभाववश और उत्कट रूपसे प्रेम करना, अतएव पूजा एवं उपासना करना। इसका अर्थ है मुक्त-भावसे, सम्पूर्ण या सतत रूपसे देना; अर्थकी इन्हीं छायाओंसे यज्ञका अर्थ आता है। इसका अर्थ है पूर्ण रूपसे प्रभुत्व स्थापित करना, स्वभाववश, प्रभुत्व-स्थापनकी क्रियाकी सतत आवृत्तिके साथ प्रभुत्व प्राप्त करना, 'यत्' धातुका अर्थ है यत्न, पर यह नहीं हो सकता कि 'यज्'का अर्थ कभी यत्न रहा हो, यह अत्यन्त निर्णयात्मक एवं विजयशील है और अवश्य ही इसका अर्थ होना चाहिए—प्रभुत्वकी उपलब्धि, इस उपलब्धिके परिणामका क्रिया-मय भाव। अतएव इसका अर्थ है राज्य करना, शासन करना, व्यवस्था करना, उपलब्ध करना। यही कारण है कि यज्ञ है विष्णु, इस अर्थमें कि वह सर्वशक्तिमान् शासक है, मनुष्यके कार्य, तन और मनका स्वामी है, परमेश्वर है जो मनुष्यमें स्थित उच्चतर शक्ति-स्तरसे, परार्द्ध या सच्चि-दानन्दके स्तरसे शासन करता है।

'यज्ञ' शब्द 'यज्' धातुसे 'न' प्रत्यय लगानेसे बना है जो एक कार्यवाचक नामिक (संज्ञा बनानेवाला) प्रत्यय है। यह विशेषणात्मक या संज्ञावाचक हो सकता है। यह कर्त्ता, करण, करनेकी विधि या कार्यके फलके भोक्ता-को सूचित कर सकता है। अतएव 'यज्ञः' का अर्थ हो गया—वह जो राज्य करता है, शासक या प्रभु; प्रेम और आराधना करनेवाला, साथ ही प्रेमका

विषय भी, प्रभुत्व-प्राप्तिका साधन और अतएव योग,—योगकी प्रक्रियाएं न कि उसकी उपलब्धियाँ; प्रभुत्वकी रीति और अतएव धर्म, अर्थात् कार्य या आत्मशासनका नियम; आराधना या पूजाकी क्रिया, यद्यपि यह अर्थ सामान्यतया 'यजुः'के लिए रखा गया था जिसका अभिप्राय है देना, अर्पण या उत्सर्ग करना। विष्णुके नामके रूपमें, प्रधानतया, यज्ञका अर्थ था 'प्रभु' जो संचालित और प्रेरित करता है तथा शासन करता है; परन्तु प्रेमी और प्रियतम, दाता और समस्त कर्मोंके लक्ष्य, कर्ममात्रके विधि-विधान और पूजा-पाठका विचार भी पूजकके संस्कारोंमें यज्ञके अन्दर आ घुसा और कभी-कभी तो यह प्रमुख हो उठता था।

विष्णुपुराण हमें बताता है कि सत्ययुगमें विष्णु यज्ञके रूपमें अवतरित होते हैं, त्रेतामें विजेता और राजा तथा द्वापरमें व्यास, संकलनकार, संहिताकार, शास्त्रकारके रूपमें। उसका अर्थ यह नहीं कि वे याज्ञिक कर्मके रूपमें अवतरित होते हैं। सत्ययुग मानव पूर्णताका युग है जिसमें सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था स्थापित होती है, पूर्ण या चतुष्पाद् धर्मका युग है जिसका पालन योगकी पूर्ण और सार्वभौम उपलब्धिपर या परमेश्वरके साथ सीधे संबन्ध पर निर्भर करता है और फिर योगकी उपलब्धि या परमेश्वरके साथ अपरोक्ष संबन्ध इसपर निर्भर है कि मानवावतीर्ण विष्णु पूजापात्र, प्रभु और धर्म एवं योगके केन्द्रके रूपमें सतत उपस्थित रहें। चतुष्पाद् धर्म है ब्राह्मण (ब्राह्मणत्व), क्षत्र (क्षत्रियत्व) वैश्यत्व और शूद्रत्व—इन चारों धर्मोंका पूर्ण सामंजस्य। इसी कारण सत्ययुगमें पृथक् वर्ग अस्तित्व नहीं रखते। त्रेता में ब्राह्मण्यका ह्रास होने लगता है, पर वह क्षत्र (क्षत्रियत्व)की सहायता करनेके लिए एक गौण शक्तिके रूपमें बना ही रहता है। उस समय क्षत्र ही मानवजाति पर शासन करता है। मनुष्यजाति तव पहलेकी तरह अन्तर्निष्ठ ब्रह्मज्ञानसे सहजतया धारित वीर्य या तपस्के द्वारा रक्षित नहीं होती, बल्कि वह एक ऐसे वीर्य या तपस् द्वारा रक्षित होती है जो कुछ कठिनाई से ही ब्रह्मज्ञानको पोषित करता है और उसे ध्वस्त होनेसे बचाता है। तब विष्णु क्षत्रिय अर्थात् वीर्य और तपस्के विग्रहधारी केन्द्रके रूपमें अवतीर्ण होते हैं। द्वापरमें ब्राह्मण्य और अधिक ह्रासको प्राप्त होकर कोरे ज्ञान या बौद्धिकतामें परिणत हो जाता है; क्षत्र वैश्यत्वको आश्रय देनेवाली एक अधीनस्थ शक्ति बन जाता है और वैश्यत्वको अपने प्रभुत्वका अवसर प्राप्त होता है। वैश्यके मुख्य गुण हैं—(1) कौशलम्, व्यवस्था और प्रणाली, और इसीलिए द्वापर संहिता-निर्माण, कर्मकाण्ड और शास्त्रका युग है, जो ह्रासोन्मुख आन्तरिक आध्यात्मिकताको बनाए रखनेके लिए बाह्य उपकरण

हैं; (2) **दानम्**, और अतएव अतिथि-सेवा, तर्पण, यज्ञ और दक्षिणा अन्य धर्मोंको निगलने लगते हैं—यह **यज्ञिय युग** है, यज्ञ का युग, (3) **भोग**, और इसीलिए वेदका उपयोग इहलोक और परलोकमें भोग-सम्पादनके लिए किया जाता है; **भोगैश्वर्यगति प्रति**। इसमें विष्णु बुद्धि और अभ्यासकी अर्थात् बौद्धिक ज्ञान पर आधारित नित्य अनुष्ठानकी सहायतासे धर्मके ज्ञान और आचरणको सुरक्षित रखनेके लिए स्मृतिकार, कर्मकाण्डी और शास्त्रकार-के रूपमें अवतरित होते हैं। कलिमें शूद्रके धर्म प्रेम और सेवाके सिवाय सब कुछ छिन्न-भिन्न हो जाता है, इस शूद्र-धर्मके द्वारा ही मानवताका धारण एवं रक्षण और समय-समय पर पवित्रीकरण भी होता है; क्योंकि ज्ञान (ज्ञानम्) छिन्न-भिन्न हो जाता है और उसका स्थान सांसारिक, व्यावहारिक बुद्धि ले लेती है, वीर्य (वीर्यम्) छिन्न-भिन्न हो जाता है और उसका स्थान ले लेते हैं ऐसे आलस्यपूर्ण यान्त्रिक साधन जिनसे सव कार्य निर्जीव ढंगसे, कमसे कम कष्टके साथ कराए जा सकें, दान, यज्ञ और शास्त्र छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और उनके स्थानपर नपी-तुली उदारता, कोरा कर्मकाण्ड और तामसिक सामाजिक रूढ़ियां एवं शिष्टाचार प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इन निर्जीव रूपोंको छिन्न-भिन्न करनेके लिए अवतार प्रेमको उतार लाते हैं जिससे जगत्को नवयौवन प्रदान किया जा सके और एक नई व्यवस्था एवं नया सत्ययुग जन्म ले सके, जब कि परमेश्वर पुनः यज्ञके रूपमें अर्थात् ज्ञान, बल, सुखोपभोग और प्रेमरूपी **चतुष्पाद् धर्मकी** पूर्ण अभिव्यक्तिसे संपन्न परम विष्णुके रूपमें अवतीर्ण होंगे।

यह कहा गया है कि हमारे विकासकी वर्तमान अवस्थामें विष्णु प्रमुख-रूपसे आनन्दके अधिपति हैं पर वे **सन्मय** एवं **तपोमय ब्रह्म** भी हैं। सन्मय ब्रह्मके रूपमें ही वे यज्ञ हैं—ऐसे सत् हैं जो चित् या तपस् और आनन्दको अपने अन्दर रखे हैं। यह स्मरण रखना होगा कि जहाँ अपरार्द्धमें हम ब्रह्मको विचार, वेदन, कार्य आदि द्वारा अपनी दृष्टिमें लाते हैं, वहाँ परार्द्ध में हम उसे विचार, वेदन और कार्यसे ऊँचे एक सारभूत साक्षात् अनुभव द्वारा दृष्टिगत करते हैं। आनन्द (आनन्द-ब्रह्म)में हम तात्त्विक आह्लाद अनुभव करते हैं; चित् (चिद्-ब्रह्म)में तात्त्विक शक्ति, प्रज्ञा और संकल्प, सत् (सद्-ब्रह्म)में तात्त्विक सत्य या सत्-त्व। अतएव सत्को **महासत्यम्** और **महाब्रह्म** कहा जाता है, अर्थात् वह अभिव्यक्तिगत उच्च-तम सत्य जिसमेंसे प्रत्येक वस्तु निःसृत होती है। यह महासत्य (**महासत्यम्**) उस साधारण सत्य या कारण (**सत्यम्, कारणम्**)से भिन्न है जिसे बाह्यतः **महत्** कहा जाता है और अन्तरतः **विज्ञानम्**, जो

सात भूमिकाओंमेंसे चौथी है। इस **महासत्यम्** द्वारा ही यज्ञरूप विष्णु सत्ययुगमें धर्म और योगको धारण करते हैं। वे अभिव्यक्तिमें सद्ब्रह्म हैं। जब हम **'ऋत्विजम्'** शब्दका विवेचन करेंगें तो हम देखेंगे कि किस अर्थमें अग्नि परमेश्वरके पहले स्थित है।

देवम्

देवताको—'देव' शब्द द्वितीय-स्थानीय (यौगिक) धातु 'दिव्' से बना है जिसका अर्थ है चमकना, दमकना, स्पंदित होना, क्रीड़ा करना। 'द्' व्यंजनके गुण हैं शक्ति, भारी उग्रता, घनता, सघन प्रवेश, सघन गति। इस व्यंजनके आधारपर हमें ये धातु मिलते हैं—दा (काटना), दि (स्पंदित होना) और दु (पीड़ा पहुंचाना) और दि से हमें द्यु और दिव् या दीव् धातु प्राप्त होते हैं जिनका अर्थ है जगमगाते हुए स्पंदित होना, चमकना, टिमटिमाना या क्रीड़ा करना। देव वे हैं जो प्रकाशकी क्रीड़ा करते हैं,—उनका निज धाम विज्ञान (**विज्ञानम्**), **महर्लोक**, **कारण-जगत्** में है, जहाँ अन्न (**जड़तत्त्व**) ज्योतिर्मय है और सभी वस्तुएं अपनी स्वभावसिद्ध दीप्तिसे, **स्वेन धाम्ना**, प्रकाशमान हैं, और जहाँ जीवन व्यवस्थित लीला है। अतएव जब भागवत पुराण स्वर्गमें देवताओंके जीवनको देखनेकी शक्तिकी चर्चा करता है तो वह उस विशेष सिद्धिको **देवक्रीडानुदर्शनम्** (देवताओंके खेल देखना)का नाम देता है, क्योंकि उनके लिए समस्त जीवन लीला ही है। परन्तु हमारे लिए देवता नीचेके स्वर्लोक अर्थात् चन्द्र-लोकमें निवास करते हैं जिसका शिखर है कैलास और आधार स्वर्ग जिसके ठीक ऊपर है पितृ-लोक। तथापि वहाँ भी वे अपना ज्योतिर्मय एवं लीलामय स्वरूप और अपनी उन प्रकाशमान देहों तथा स्वयं-सत् आनन्दके लोकोंको सुरक्षित रखते हैं जो मृत्यु और चितासे मुक्त हैं।

ऋत्विजम्

वेदकी यज्ञानुष्ठान-परक व्याख्यामें इस शब्दको ऋत्विक् अर्थात् यज्ञके पुरोहितके अर्वाचीन अर्थमें लिया जाता है, और इसकी व्याख्या इसे 'ऋतु-इज्' इस प्रकार विभक्त करके की जाती है, जिससे इसका अर्थ बनता है, 'वह जो ऋतुके अनुसार यज्ञ करता है'। वास्तवमें ऋत्विज् एक बहुत ही पुराना शब्द है जो प्राचीन संस्कृतमें सन्धिके अर्वाचीन नियमोंकी रचनासे पहले ही समासके रूपमें बन चुका था। यह ऋत् (सत्य) और विज्

(आनन्दोन्माद या आनन्दोन्मत्त) इन दो शब्दोंसे बना है। इसका अर्थ है 'वह जो सत्य (सत्यम्)के आनन्दोन्मादसे युक्त है'।

ऋत् एक भाववाचक संज्ञा (नामपद) है। यह 'ऋ' धातुसे बना है जिसका मूल अर्थ था स्पन्दन करना, हिलना, झपटना, सीधे जाना; और इन अर्थोंसे निकले इसके अन्य अर्थ हैं—पहुंचना, अधिगत करना, या फिर आक्रमण करना, चोट या आघात पहुंचाना, या सीधा होना, उठना या उठाना; चमकना, सोचना, सत्यको उपलब्ध करना इत्यादि। 'सीधे जाना' इस अर्थ-से यौगिक धातु ऋज् और तज्जन्य विशेषण ऋजु (सीधा, सरल) बने हैं, तुल० लैटिन rego, rectus (रेगो, रेक्टुस्); इसी प्रकार उससे ये शब्द भी बने हैं—**ऋत्** अर्थात् सीधा, यथातथ, सच्चा; **ऋतम्**, सत्य, याथातथ्य, प्रतिष्ठित विधि-विधान या आचार; (**'सत्यम्'** शब्दका प्रयोग परब्रह्मके लिए होता है, इस अर्थमें कि वे सत्य या महाकारण,—सत्यम्, महाकारणम्—हैं), ऋतु, नियम, सुनिश्चित व्यवस्था, सुनिश्चित काल या ऋतु; ऋषि, विचारक, सत्यका साक्षात् द्रष्टा, तुल० लैटिन reor (रेओर, मैं विचार करता हूं), ratio (रातियो, विधि, क्रमव्यवस्था, तर्क, स्थापना इत्यादि)। विलुप्त शब्द ऋत्का अर्थ था अपरोक्षता, सत्य, विधान, नियम, विचार, सत्यम्।

'विज्' शब्द 'विज्' धातुसे बनी संज्ञा या विशेषण है। इस धातुके अर्थ हैं—हिलना, क्षुब्ध या उत्तेजित होना, कांपना, आनन्दोन्मत्त या हर्षोत्फुल्ल होना, हर्षोल्लास, परमाह्लाद या हर्ष-विभोर शक्तिसे परिपूर्ण होना। तुल० लैटिन vigeo और vigor (विजेओ और वीगोर) जिससे अंग्रेजीका vigour (विगर अर्थात् बल, उत्साह) शब्द आता है। अतएव **ऋत्विज्** वह है जो सत्य (सत्यम्) की पूर्ण समृद्धिसे आनन्दविभोर है। यह दिखाया जा चुका है कि अग्नि **तपस्** या शक्ति का देवता है जो बुद्धिके स्तरपर निःस्वार्थ भावसे कार्यरत है, उच्चतर देवोंमेंसे एक है जो निम्न स्तरपर अवर देवता इन्द्रकी सेवार्थ कार्य कर रहा है। वह सीधे **चित्**से उद्भूत होता है। यह चित् जब सक्रिय होती है तो **महातपस्** या चिच्छक्तिके नामसे पुकारी जाती है, **महातपस्** या चिच्छक्तिका अभिप्राय है सद्-ब्रह्म, यज्ञ या विष्णुमें विद्यमान तात्त्विक प्रज्ञाकी शक्ति। शक्ति निश्चल सद् आत्मामें क्षोभ या आनन्दोन्मत्त स्पन्दन के द्वारा सर्जन आरम्भ करती है और यह आनन्दोन्मत्त स्पन्दन या **विज्** (**वेगः**) एक गति, शक्ति, ताप (**तपः**). या अग्निके रूपमें निर्गत होता है जो (गति आदि) जीवन एवं अस्तित्वका आधार है। चिच्छक्ति (शक्ति, देवी, काली, प्रकृति) से उत्पन्न यह **तपस्** अपनेको अभिव्यक्त कर रहे **सत्** या **महासत्य** (महासत्यम्) की आनन्दोन्मत्त गतिसे

परिपूर्ण है। इस कारण अग्निको **ऋत्विज्**, अर्थात् सत्य (सत्यम्) से आनन्दोन्मत्त हो स्पन्दन करता हुआ, कहा गया है। इसी कारण उसे **जातवेदाः** भी कहा जाता है, अर्थात् वह जिससे उच्चतर ज्ञान उत्पन्न होता है, क्योंकि वह वेद या सत्य (सत्यम्)को अपने अन्दर धारण किए है और उसे प्रकट करता है; **तपस्** चित् (चैतन्य) की समस्त एकाग्रताका (पतञ्जलि-प्रोक्त संयमका) आधार है। चित् (चैतन्य) की अपने विषय पर एकाग्रता या **संयम** (ज्ञानयोग एवं अध्यात्मयोग) के द्वारा ही सत्य और वेद योगीके सम्मुख साक्षात् स्वतः-व्यक्त एवं प्रकाशित हो जाते हैं। **संयम** (एकाग्रता)के विना कोई भी योग संभव नहीं, किसी प्रकारकी कोई भी फलप्रद क्रिया संभव नहीं। जब ब्रह्माने सृष्टि-क्रियाकी ओर अपना मन मोड़ा, तो कारणसमुद्र (**महाकारणम्** या **सद्ब्रह्मन्**) की धाराओंपर "**तपस्**, **तपस्**"का घोष ही सुनाई दिया। अतः **ऋत्विज्**के रूपमें योगीके लिए अग्निका अपरिमित महत्त्व हमारे सामने सुप्रकट हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्यों वह यज्ञका पुरोहित है (**पुरोहितं यज्ञस्य**), क्योंकि **तपस्** ही सत्यसे पहले स्थित होता है; पहले हम इस सत्यपर पहुँचते हैं और उसके बाद ही 'सत्' को प्राप्त कर सकते हैं। चिच्छक्ति ही हमें सत् की ओर ले जाती है,—देवी, शक्ति या काली ही हमें ब्रह्म, वासुदेव तक पहुँचाती है, इसीलिए अग्नि जो मनमें **तपस्** के लिए उस शक्तिका एक विशेष अभिकरण है, हमारे और यज्ञके बीच एक विशेष मध्यस्थ है। जैसा कि हम देख चुके हैं, यज्ञ विष्णु, वासुदेव या ब्रह्म ही हैं जो बुद्धिके स्तरपर सच्चिदानन्द या परार्द्धमें स्थित है। औसत मनुष्य अभी जहाँ तक पहुँचा है वह बस अग्नि द्वारा यज्ञ-रूप विष्णु की प्राप्ति ही है। यही कारण है कि अग्नि ऋषियोंके लिए इतना महान् देव था। निरे यज्ञकर्त्ताओं और कर्मकाण्डियोंके लिए तो वह केवल इस रूपमें महान् था कि वह उनके समस्त क्रियाकलापके लिए अनिवार्य आगका देवता है, पर योगीके लिए उसका महत्त्व कहीं अधिक महान् है, उतना महान् जितना प्रकाशके अधिपति सूर्य और अमृतके अधिपति सोमका। वेदमें जिन प्रणालियोंपर प्रकाश डाला गया है और जिनमें वह सहायता भी पहुँचाता है उनके अत्यन्त अनिवार्य सहायकों में अग्नि भी एक था।

होतारम्

यह एक और शब्द है जिसका वेदमें अधिक महत्त्व है। वेदकी सभी उपलब्ध व्याख्याओंमें "होता"का अर्थ 'आहुति देने वाला पुरोहित' किया जाता है, "हविः"का अर्थ 'आहुति' और 'हु' का 'आहुति डालना'। इन शब्दोंके अर्थोंके विषयमें यह विचार, जो वेदके सभी महत्त्वपूर्ण शब्दोंके साथ जोड़े गए याज्ञिक अर्थोंके कई सहस्राब्दियों तक प्रभुत्व रहनेके कारण उत्पन्न हुआ है, इतना रूढ़ हो चुका है कि इनका कोई दूसरा अर्थ असम्भव ही समझा जायगा। पर मूल वेदमें 'होता'का अर्थ 'यज्ञका पुरोहित' नहीं था नाहीं हविःका अर्थ 'आहुति'। अग्निको रूपकालंकारके द्वारा यज्ञका पुरोहित कहा जा सकता है यद्यपि इस अलंकारमें कोई वहुत अधिक संस्कृतानुरूप यथार्थता नहीं होगी, पर किसी भी तरह वह 'आहुति डालनेवाला' नहीं हो सकता। वह हविका भक्षण करता है, हवि देता या डालता नहीं। अतएव 'होता'का कोई अन्य अर्थ अवश्य होना चाहिए जो तथ्य और साधारण वुद्धिका उल्लंघन किए विना अग्निके लिए प्रयुक्त हो सके।

'ह्रा' और 'हिं' धातुओंके समान 'ह्' धातु भी 'ह्' व्यंजनपर आधारित है, जिसके मूल गुण (अर्थ) हैं—उग्रता, प्रचण्ड क्रिया, तीव्रता, जोर-जोरसे श्वास लेना, और अतः ललकारना, आह्वान आदि। 'ह्', 'ह्रा' और 'हिं' के समान इस धातु 'हु'का भी अर्थ, मूलरूपमें, प्रहार करना या पटक देना, आक्रमण करना, वध करना था, 'उ' स्वरने इन अर्थोंमें व्यापकताका भाव जोड़ दिया जो इसमें सहज ही युद्धका विचार ले आया। अतएव हम देखते हैं कि इस धातुका अर्थ था आक्रमंण करना, युद्ध करना जैसे कि 'आहवः' (युद्ध) में; वुलाना, चिल्लाना, आह्वान देना, जैसे कि 'ह्वे' (मूलतः 'हवे') इत्यादि में; फेंकना, उखाड़ फेंकना, नष्ट करना, निक्षिप्त करना, डालना, आहुति देना। इस अन्तिम अभिप्रायसे ही इसका अधिक आधुनिक अर्थ निकला। धातुका अर्थ बदलकर युद्धसे यज्ञ हो जानेका समानान्तर दृष्टान्त है यूनानी शब्द mache 'माखे' (युद्ध) जो निश्चय ही संस्कृतका यज्ञवाची 'मखः' शब्द ही है। यह स्मरण रखना होगा कि प्राचीन आर्योंके लिए योगका अभिप्राय था देवों और दैत्योंके वीच युद्ध, देव योद्धा होते थे जो मनुष्यके लिए दैत्योंसे लड़ते थे और योगकी क्रिया या उसके प्रभावशाली अभ्यासोंसे वलवान् और विजयी वनते थे। दैत्य थे दस्यु या यज्ञ और योगके शत्रु। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ेंगे यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती जायगी। जीवन एवं योगके विषयमें (योग जीवनका उदात्तीकरण ही है) यह दृष्टि कि वह देवों और दैत्योंके बीच एक संघर्ष है वेद, पुराण एवं तन्त्रके और

हिन्दुधर्मकी प्रत्येक क्रियात्मक प्रणालीके अत्यन्त आधारभूत विचारोंमेंसे एक है। अग्नि सर्वोत्कृष्ट योद्धा है जिससे दैत्योंको डरना ही होगा क्योंकि वह एक ऐसे अहैतुक तपस्से परिपूर्ण है जिसके विरुद्ध कोई बुरी शक्ति विजयी नहीं हो सकती यदि यजमान या योगी उसे ठीक प्रकारसे प्रयोगमें लाए और प्रश्रय दे। अहैतुक तपस् उन सभी शक्तियोंको नष्ट कर डालता है। वह एक अति प्रबल, प्रभावक्षम और युद्धशील शक्ति है जिसे यदि एक बार अपने अन्दर पुकार लाया जाय तो वह हमें पूर्ण सिद्धिके लिए और अपनी प्रकृति एवं अपनी परिस्थितियोंपर एक लगभग सर्वशक्तिशाली प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिए तैयार कर देती है। जब तपस् अशुद्ध, अपवित्र होता है तब भी वह 'तमस्'-रूपी शत्रुसे युद्ध करता है, और जब वह शुद्ध होता है, अग्निकी साक्षात् क्रिया होता है तो वह वीर्य लाता है, ज्ञान लाता है, आनन्द लाता है और लाता है मुक्ति। अतएव 'होतारम्'का अर्थ है योद्धा, दैत्योंका संहारक, जातवेदस् अग्नि; हविस् और हवम्का अर्थ है युद्ध या प्रचण्ड क्रियामें निरत बल, ये 'हु' (युद्ध करना) धातुसे बने हैं।

रत्नधातमम्

यह 'रत्नधा' शब्दका अतिशयबोधक (आतिशायनिक) रूप है, 'रत्नधा' का अर्थ है हर्षप्रद, आनन्दका विधाता। हमारे सामने 'रत्' धातु है जो प्राथमिक धातु 'र'से निकलता है। 'र', 'रि', 'रु' ये तीन धातु स्वयं अपने मूल 'र'के प्रभेद हैं जिसका तात्त्विक अर्थ है सतत सकम्प स्पन्दन। 'र'का तात्त्विक अर्थ है स्पन्दित होना, हिलना, सब ओर कांपना; 'अ' स्वर, तात्त्विक रूपसे, निरपेक्षता एवं विशालता तथा सीमारहितता का भाव सूचित करता है जब कि इसके विपरीत 'इ' स्वर संबन्धका तथा एक नियत बिन्दुकी ओर दिशा-दानका भाव बतलाता है। इस मूल भावसे 'क्रीड़ा करना' और चमकना ये तज्जन्य अर्थ निकलते हैं; जैसे कि रत्नम्, रत्न (मणि), रतिः, रम्, रञ्ज्, रजतम् (चांदी), रजः (धूलि), रजनी, रात्रि (रात) इत्यादिमें देखनेमें आते हैं। 'क्रीड़ा करना' इस पहले अर्थसे ये भाव निकलते हैं—प्रसन्न या आनन्दित करना, प्रेम करना, आराधना करना इत्यादि, जैसे रामा, रामः, राध्, रज्, रजः (रजोगुण) इत्यादि में हैं। 'रत्' धातुसे बने 'रत्न' शब्दके प्राचीन संस्कृतमें दो अर्थ-समूह थे, आनन्द, सुख, क्रीड़ा, मैथुन संसर्ग, आनन्दकी वस्तु, गृहिणी इत्यादि; और प्रभा, ज्योति, द्युति, दीप्ति, भास्वर वस्तु, रत्न—जो आधुनिक अर्थ है। प्रथम दृष्टिमें ऐसा प्रतीत होगा कि द्युति, दीप्तिका अर्थ 'अग्नि'के लिए अधिक उपयुक्त है, और यह मनका

अन्धकार मिटानेवाले योद्धापर भी ठीक घटेगा, पर सूक्तका केन्द्रीय विचार प्रकाश-का-अधिपति-रूप अग्नि नहीं,—वह तो सूर्य है,—बल्कि शक्ति (तपस्)का अधिपति-रूप अग्नि है, जो वह उद्गम है जिसमेंसे आनन्द उद्भूत होता है। परार्द्धके तीन तत्त्व हैं सत्, चित् और आनन्द। सत्में चित् रहती है और उसीसे उद्भूत भी होती है। उद्भूत होते ही वह चिच्छक्ति-रूप तपःशक्तिको उत्पन्न करती है, जो सम्पूर्ण विश्वमें क्रीड़ा करती है, यह क्रीड़ा (रत्न) है चित्में आनन्द और यह चित्से उद्भूत होता है। अतएव समस्त तपस् आनन्द उत्पन्न करता है, और शुद्ध सहैतुक तपस् शुद्ध सहैतुक आनन्द उत्पन्न करता है। वह आनन्द विश्वव्यापी एवं स्वयं-सत् है और, अपने स्वभावसे ही, दुःखके किसी प्रकारके भी मिश्रण से कलुषित नहीं हो सकता। अतएव वह सर्वाधिक सुनिश्चित, विशाल और तीव्र है। इसी कारण अग्नि अत्यन्त हर्षदायक और आनन्दका महान् विधायक है। 'धा' धातुका अर्थ है स्थापित करना, उत्पन्न करना, देना, विधान या व्यवस्था करना; इस मन्त्रमें 'धा' प्राचीन आर्यभाषाका एक संज्ञावाची शब्द है जो 'कर्तृ'कारकका अर्थ प्रकट करता है और बहुधा विशेषणके रूपमें प्रयुक्त होता है।

मधुच्छन्दा की ऋचाएँ[1]

ऋ. 1. 1. 1-5

अनुवाद और टिप्पणियाँ

अग्निमीळे पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥1॥

ऋचा १—**ईळे,** ईड्—स्तुति करना, याज्ञिक अर्थमें। किन्तु 'ईड्'के अङ्गभूत धातु 'ई' का अर्थ है खोजना, किसी वस्तु की ओर जाना, प्राप्त करना, कामना करना, उपासना करना, प्रार्थना या याचना करना (द्रष्टव्य—स मातरमन्नमैट्ट)। इनमें से पहले कुछ अर्थ लुप्त हो गए हैं और केवल "कामना करना", "प्रार्थना या याचना करना", ये अर्थ ही पीछेकी संस्कृतमें बच रहे हैं। पर दूसरे अर्थ भी अवश्य रहे होंगे, क्योंकि इच्छा करने एवं याचना करनेका भाव किसी भी धातुका प्राथमिक अर्थ कभी नहीं होता, बल्कि वह "जाना, खोजना, पहुँचना" इन स्थूल अर्थोंसे लाक्षणिक रूपमें निकला अर्थ होता है। अतः हम 'ईडे'का अर्थ या तो "खोज करता हूँ", "कामना करता हूँ", "उपासना करता हूँ" ऐसा कर सकते हैं या फिर "प्रार्थना करता हूँ"।

पुरोहितम्। सायंण—"पुरोहित", या फिर "आहवनीय अग्निके रूपमें यज्ञमें सम्मुख रखा हुआ अग्नि"। वेदोक्त पुरोहित यज्ञमें एक प्रतिनिधिरूप शक्ति है जो चेतना और कर्मके सम्मुख स्थित रहकर यज्ञका परिचालन करती है। "सम्मुख रखने"का जो विचार सूक्तोंमें इतने सामान्य रूपसे पाया जाता है उसका सदा यही भाव होता है। साधारणतया यह स्थान यज्ञके नेता अग्निका होता है।

देवम्। सायण—**दानादिगुणयुक्तम्,** दान आदि गुणोंसे युक्त। 'देव' शब्दके साथ सायणका व्यवहार विचित्र है। कभी-कभी वे इसका अर्थ केवल "देवता" करते हैं, कभी वे इसे धात्वर्थके अनुसार दान, देवन (प्रकाशित होना) आदि कुछ अर्थ प्रदान करते हैं, किन्हीं और स्थलोंमें वे इसका अर्थ

---

1. पुरानी रचनाओंसे।

'पुरोहित' करते हैं। वेदमें ऐसा एक भी स्थल नहीं जहाँ इसका साधारण अर्थ "देवता", "दिव्य सत्ता" एक स्पष्ट, पर्याप्त और सर्वोत्तम भाव न प्रदान करता हो। निःसन्देह, वैदिक कवियोंने इसका धात्वनुसारी अर्थ कभी दृष्टिसे ओझल नहीं किया : देव दीप्यमान सत्ताएँ हैं, प्रकाशके अधिपति हैं, जैसे कि दस्यु अन्धकारमय या काली सत्ताएँ हैं, अन्धकार के पुत्र हैं।

ऋत्विजम्। इसका बाह्य या कर्मकाण्डीय अर्थ है "वह जो ठीक ऋतुमें यज्ञ करता है।" किन्तु, जैसा कि हम देखेंगे, वेदमें 'ऋतु'का अर्थ है सत्यका विधान, उसका व्यवस्थित नियम, काल एवं परिस्थिति। अग्नि वह प्रतिनिधिरूप पुरोहित है जो 'ऋत' के नियम, विधान तथा कालके अनुसार यज्ञ करता है।

होतारम्। सायण—"क्योंकि वह मन्त्रका उच्चारण करता है" और इस अर्थ की पुष्टिमें वे यह उद्धरण देते हैं 'अहं होता स्तौमि' (मैं 'होता' स्तुति करता हूँ), परन्तु कभी-कभी वे इसका अर्थ करते हैं 'आह्वाता' (आह्वान करनेवाला) और कभी 'होमनिष्पादकः' (यज्ञका निष्पादन करनेवाला) और किन्हीं स्थलोंमें वे हमारे सामने दो विकल्प रख देते हैं। निःसन्देह, 'होता' हविसे संबद्ध पुरोहित है जो हवि देता है; यह शब्द 'हु आहुति देना' धातुसे बना है न कि 'हू (ह्वे) बुलाना' इस धातुसे। सूक्त हविका सहचारी तत्त्व होता था, अतः आह्वान या स्तवन भी 'होता'के हिस्से में पड़ सकता था; किन्तु ऋग्वेदकी प्रणालीमें मन्त्रपाठीका वास्तविक नाम है ब्रह्मा। अग्नि होता (होतृ) है और बृहस्पति ब्रह्मा।

रत्नधातमम्। सायण—यागफलरूपाणां रत्नानामतिशयेन धारयितारं पोषयितारं वा अर्थात् यज्ञके फलरूप रत्नोंके अत्यधिक धारक या पोषक। 'धा' धातुका अर्थ है धारण और पोषण करना (तुलनीय, धात्री अर्थात् दाई)। किन्तु अन्य स्थलोंमें सायण रत्नका अर्थ 'रमणीयं धनम्', 'रमणीय धन' करते हैं। इससे पता चलता है इसका शाब्दिक अर्थ उन्होंने "आनन्ददायक" माना और फिर इसका अर्थ बना डाला 'धन', जैसे वे द्युम्नका शाब्दिक अर्थ करते हैं चमकीला और फिर इसका अनुवाद कर डालते हैं "धन"। हमें उनका अनुसरण करनेकी आवश्यकता नहीं। 'रत्नम्' का अर्थ है आनन्द (तुलनीय, रम्—रतिः, रण्—रण्व, राध्, रञ्ज् इत्यादि), जिस प्रकार 'द्युम्नम्'का अर्थ है "प्रकाश"। धा का अर्थ है धारण करना या फिर स्थापित करना।

अनुवाद :

याज्ञिक

मैं यज्ञके पुरोहित अग्निकी[1] स्तुति करता हूँ, देव[2], ऋत्विक्, अत्यधिक धनको धारण करनेवाले होता की।

आध्यात्मिक

मैं भगवत्सङ्कल्प-रूप अग्निको प्राप्त करनेकी अभीप्सा करता हूँ, उस पुरोहितको जो हमारे यज्ञके अग्रणीके रूपमें स्थापित है, दिव्य होताको जो सत्य के नियम-क्रमके अनुसार यज्ञ करता है और आनन्दका पूर्णतया विधान करता है।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति ।।2।।

ऋचा 2—ऋषिः, यह शब्द 'ऋष्' गति करना धातुसे बना है। इसका शाब्दिक अर्थ है "खोज या अभीप्सा करनेवाला, प्राप्त करनेवाला", अतएव "जाननेवाला" भी। इह देवान्—मर्त्य जीवन और मर्त्य सत्ताके अन्दर दिव्य शक्तियोंको। वक्षति=वह्+स+ति। ऐसा प्रतीत होता है कि इस शब्द में 'स' प्रत्ययका अर्थ या तो 'पुनः-पुनः', 'निरन्तर' रहा है, "वह निरन्तर या नित्य नियमसे वहन करता है", या फिर इसका अर्थ रहा है "अतिशय", वह पूर्णतया वहन करता है, अथवा इच्छा-कामना, "वह वहन करनेकी इच्छा करता या इरादा रखता है।" इस पिछले अर्थके कारण 'स' प्रत्ययका प्रयोग भविष्यकालके लिए भी होता है। तुलनीय, नी—नेष्यामि, ग्रीक—ल्युओ (luo, I loose, मैं ढीला छोड़ता हूँ), luso—ल्युसो, मैं ढीला छोड़ूंगा, और अंग्रेजीका प्रयोग 'I will go' भी तुलनीय है, जहाँ इच्छार्थक "will" (इच्छा करना, इरादा रखना) शब्द साधारण भविष्यका वाचक हो गया है।

अनुवाद :

भगवत्सङ्कल्पाग्नि जैसे प्राचीन ऋषियोंके लिए वैसे ही नयोंके लिए भी स्पृहणीय है, क्योंकि वही यहाँ देवोंको लाता है।

---

1. या, अग्निकी जिसे सामने रखा हुआ है।
2. या, दानशील।

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे ।
यशसं वीरवत्तमम् ।।3।।

ऋचा 3—अश्नवत् । सायण—प्राप्नोति । परन्तु 'अश्' धातुका यह विशेष रूप एक प्रकारका अर्द्ध-आज्ञार्थक भाव प्रदान करता है अथवा कार्यके नियम या घटनाके विधानका भाव द्योतित करता है। अतः इसका भावार्थ है "वह अवश्य प्राप्त करेगा।" 'अश्' धातुके अर्थ हैं—उपलब्ध होना, रखना, प्राप्त करना, उपभोग करना। ग्रीक—एखो (echo) = I have, मैं रखता हूँ।

यशसम् । सायण—दानादिना यशोयुक्तम्, दान आदिके कारण यशसे युक्त, अतएव "प्रसिद्ध"; किन्तु "प्रसिद्ध और मनुष्योंसे अतिशय पूर्ण धन"—कहनेका यह ढंग अनर्गल प्रतीत होता है। 'यश्' धातुका शाब्दिक अर्थ है—गति करना, प्रयास करना, प्राप्त करना। यहाँ यशस् का अर्थ है—सफलता, यश। 'यश्' धातुके एक और अर्थ "चमकना"से 'यशस्'का अर्थ "दीप्ति" भी है। 'यश्' धातु अपने अर्थमें 'या', 'यत्', 'यस्' धातुओंसे संवद्ध है। वेदमें हमें 'रयि' (धन या आनन्द) का वर्णन प्रायः "विस्तारशील, व्यापक, मार्गकी वाधाओंको चूर-चूर कर देनेवाला" इन शब्दोंमें किया गया मिलता है। अतः 'यशसं रयिम्'का अर्थ "सफलता प्राप्त करने-वाला आनन्द" या "विजय-शील ऐश्वर्य" ऐसा करना अनुपयुक्त नहीं, न इसमें कोई जोर-जवरदस्ती ही है।

वीरवत्तमम् । सायण—अतिशयेन पुत्रभृत्यादि-वीरपुरुषोपेतम्, पुत्र, भृत्य आदि वीर पुरुषोंसे अतिशय युक्त। 'वीर' शब्दको 'पुत्र'के अर्थ में लेना, जैसा कि सायण करते हैं, नितान्त अयुक्तियुक्त है। इसका अर्थ है "मनुष्य, वीर पुरुष, नानाविध वल-सामर्थ्य" और प्रायः ही यह 'नृ' शब्दके समानार्थकके रूपमें प्रयुक्त हुआ है। 'नृ' शब्दका प्रयोग ऋग्वेदमें भृत्योंके लिए कभी नहीं हुआ।

रयिम् । यह शब्द दो प्रकारका है। एक 'रयि' शब्द 'रि गति करना' धातुसे बनता है और दूसरा 'रि प्राप्त करना, आनन्द लेना' इस धातुसे। इनमेंसे पिछलेका अर्थ है "आनन्दोपभोग" या "उपभोगकी गई वस्तुएँ", "आनन्द, समृद्धि, ऐश्वर्य"। पहले अर्थमें 'रयि' शब्द उपनिषद्में मिलता है जहाँ 'रयि' (गति या जड़प्रकृति)को 'प्राण'के विपरीत तत्त्वके रूपमें प्रस्तुत किया गया है।

अनुवाद :

याज्ञिक

अग्निके द्वारा मनुष्य धन प्राप्त करता है जो प्रतिदिन बढ़ता है, जो प्रसिद्ध और मनुष्योंसे अत्यधिक पूर्ण होता है।

आध्यात्मिक

भगवत्सङ्कल्पके द्वारा व्यक्ति एक ऐसे आनन्दका उपभोग करेगा जो प्रतिदिन बढ़ता जायगा और जो विजयशील तथा वीरशक्तियोंसे अतिशय पूर्ण होगा।

> अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
> स इद् देवेषु गच्छति ।।4।।

ऋचा 4—अध्वरम्। सायण—हिंसारहितम्, क्योंकि वह राक्षसोंके द्वारा नष्ट नहीं किया जाता, निषेधार्थक अ+ध्वर ('ध्वृ' हिंसा करना)। किन्तु 'अध्वर' शव्द अकेला यज्ञके अर्थमें प्रयुक्त किया जाता है और यह बिल्कुल असंभव है कि "हिंसारहित" अर्थवाला शब्द अकेला प्रयोग किया हुआ यज्ञ का वाचक बन गया हो। इसे यज्ञके किसी मूलभूत गुणको अवश्य प्रकट करना चाहिए, नहीं तो यह इस प्रकार अकेला ही यज्ञके अर्थमें प्रयुक्त नहीं हो सकता था। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि जव इस मन्त्रकी भाँति वर्णनीय विषय यह होता है कि यज्ञ अपने पथ पर देवोंकी ओर यात्रा या गति करता है तव 'अध्वर' शव्द यज्ञके लिए वरावर ही प्रयुक्त होता है। अतएव मैं 'अध्वर'को 'अध्' गति करना, इस धातुसे बना हुआ मानता हूँ और इसे मार्गवाचक 'अध्वन्' शव्दसे संवद्ध समझता हूँ। इसका अर्थ है गति या यात्रा करनेवाला यज्ञ, जो आत्मा या उसकी भेंटोंकी देवोंकी ओर तीर्थयात्रा समझा जाता है।

अनुवाद :

याज्ञिक

हे अग्नि, वह अक्षत (अहिंसित) यज्ञ जिसे तुम सब ओरसे घेरे रहते हो—वही देवोंकी ओर जाता है।

आध्यात्मिक

हे भगवत्सङ्कल्पाग्ने! पथ पर यात्रा करनेवाले जिस भी यज्ञको तुम अपनी सत्तासे सब ओरसे व्यापे रहते हो वही निःसन्देह देवों तक पहुंचता है।

अग्नि र्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।
देवो देवेभिरागमत् ।।5।।

ऋचा 5—**कविक्रतुः**। सायणने यहाँ 'कवि' शब्दको 'क्रान्त'के अर्थमें लिया है और 'क्रतु'को ज्ञान या कर्मके अर्थमें। तब इसका अर्थ होता है वह पुरोहित ('होता') जिसका कर्म या ज्ञान गति करता है। परन्तु 'कवि' शब्दको उसके स्वाभाविक और अपरिवर्तनीय अर्थसे भिन्न किसी अर्थमें लेने-का तनिक भी कारण नहीं। 'कवि'का अर्थ है द्रष्टा, जिसे दिव्य या अति-मानसिक ज्ञान हो। 'क्रतु' शब्द 'कृ' धातुसे या, अधिक ठीक रूपमें, एक प्राचीन धातु 'क्र'से बना है जिसके अर्थ हैं विभक्त करना, बनाना, रूप देना, कार्य करना। "विभक्त करना" इस अर्थसे 'विवेकशील मन', सायणके अनुसार 'प्रज्ञा' अर्थ निकलता है; तुलनीय ग्रीक क्रिटोस अर्थात् न्यायाधीश इत्यादि, और तमिलके 'करुथि' शब्दका, जिसका अर्थ मन है, आशय भी यही है। किन्तु 'करना' इस अर्थसे 'क्रतु' शब्दका अभिप्राय होता है (1) कर्म (2) कर्मकी शक्ति, सामर्थ्य, तुलनीय ग्रीक क्रटोस, सामर्थ्य (3) मनका संकल्प या उसकी कार्यशक्ति। इस अन्तिम अर्थके लिए ईशोप-निषद्के 'क्रतो कृतं स्मर' इस वाक्यसे तुलना करो जिसमें 'क्रतो कृतम्' इन शब्दोंका सह-विन्यास यह दर्शाता है कि यहाँ मनकी वह शक्ति अभिप्रेत है जो कर्म या कार्यका परिचालन या निर्देशन करती है। अग्नि भागवत द्रष्टृ-संकल्प है जो पूर्ण अतिमानसिक ज्ञानके साथ कार्य करता है।

सत्यः। इसपर सायणकी व्याख्या है "अपने फलोंमें सच्चा"। परन्तु "द्रष्टृ-संकल्प" और "अन्तःश्रुत ज्ञान (श्रवः)" इन शब्दोंका सह-विन्यास, अधिक सही रूपमें, "अपनी सत्तामें सच्चा" और अतएव "ज्ञान (श्रवः)में एवं संकल्प (क्रतु)में सच्चा" इस अर्थको ही सूचित करता है। श्रवः है अतिमानसिक ज्ञान जिसे "ऋतम्" कहते हैं और जो उपनिषदोंमें 'विज्ञान'के नाम से वर्णित है। 'कविक्रतुः'का अर्थ है उस ज्ञानसे परिपूर्ण संकल्पसे अर्थात् विज्ञानमय संकल्प या दिव्य 'ज्ञान'से सम्पन्न। 'सत्यः'का अर्थ है "अपने सारतत्त्वमें विज्ञानमय"।

चित्रश्रवस्तमः। सायण—'अत्यन्त विविध प्रकारके यशसे युक्त',—यह देवताके लिए एक नीरस और निरर्थक विशेषण है। 'श्रवः' शब्द 'श्रुति'-की तरह अन्तःप्रेरित सूक्तको द्योतित करनेके लिए प्रयुक्त होता है; अतः अवश्य ही इसे 'अन्तःप्रेरित ज्ञान' इस अर्थको देनेमें समर्थ होना चाहिए। अतिमानसिक ज्ञान दो प्रकारका होता है, दृष्टि और श्रुति, अर्थात् सत्यका साक्षात्कार और अन्तःश्रवण। किन्तु 'श्रवः' शब्द सामान्यतया अतिमान-सिक क्षमताओंके द्वारा प्राप्त ज्ञानको सूचित करनेके लिए प्रयुक्त होता है।

अनुवाद :

याज्ञिक

अग्नि जो पुरोहित है, जो ज्ञान (या कर्म) को गतिशील करता है, अपने फलमें सच्चा है, अत्यन्त विविध यशसे युक्त है, वह देवता देवताओंके साथ आये।

आध्यात्मिक

भगवत्सङ्कल्पाग्नि जो हमारी हविका वाहक पुरोहित है, अपनी सत्तामें सच्चा और द्रष्टाके संकल्पसे युक्त है, अन्तःप्रेरित ज्ञानकी समृद्धतम विविधता-से संपन्न है,—ऐसा वह देव दिव्य शक्तियोंके साथ हमारे पास आये।

III

वामदेव के अग्नि-सूक्त

भूमिका

ऋग्वेदकी व्याख्या संभवतः सबसे कठिन और विवादास्पद प्रश्न है जिसके साथ आजके विद्वानोंको निपटना है। यह कठिनाई एवं विवाद वर्तमान समीक्षाकी उपज नहीं; यह अत्यन्त प्राचीन युगसे विभिन्न रूपोंमें विद्यमान रहा है। इस अनिश्चितताका कारण क्या है? निःसन्देह कुछ अंश में इसका कारण यह है कि वेद की भाषा इतने पुराने ढंगकी है कि इसके अनेक शब्द तभी लुप्त हो चुके थे जब प्राचीन भारतीय विद्वानोंने वेद-विषयक परम्परागत ज्ञानको व्यवस्थित करनेका यत्न किया और विशेषकर यह कि संस्कृतके पुराने शब्दोंके अनेकों विभिन्न अर्थ हो सकते हैं। परन्तु एक और कठिनाई एवं समस्या भी है जो अधिक महत्त्वपूर्ण है। वेदके सूक्त रूपकों और प्रतीकोंसे भरे पड़े हैं,—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता,—और प्रश्न यह है कि ये प्रतीक किस वस्तुको द्योतित करते हैं, इनका धार्मिक या अन्य अर्थ क्या है? क्या ये केवल गाथात्मक रूपक हैं जिनके पीछे कोई गहरा अर्थ नहीं? क्या ये पुरानी प्रकृति-पूजाके काव्यमय रूपक हैं जो पौराणिक, ज्यौतिषिक और प्रकृतिवादीय हैं या भौतिक दृग्विषयोंके एक ऐसे कार्यके प्रतीक हैं जिसे देवताओंका कार्य कहकर वर्णित किया जाता है? अथवा इनका कोई अन्य अधिक गुप्त अर्थ है? यदि यह प्रश्न किसी असंदिग्ध निश्चितताके साथ हल किया जा सके तो भाषाकी कठिनाई कोई बड़ी बाधा नहीं होगी; कुछ सूक्त और मन्त्र अस्पष्ट रह सकते हैं किन्तु प्राचीन सूक्तोंका सामान्य अभिप्राय, तात्पर्य और आशय स्पष्ट किया जा सकता है। परन्तु वेदकी अनूठी विशेषता यह है कि इनमेंसे कोई भी समाधान—कम-से-कम, जिस रूपमें अब तक इन्हें व्यवहारमें लाया गया है उस रूपमें,—स्थिर और सन्तोषजनक परिणाम नहीं देता। सूक्त अव्यवस्थित, बेतुके और असम्बद्ध ही रहते हैं, और विद्वानोंको इस निर्मूल कल्पनाकी शरण लेनी पड़ती है कि यह असम्बद्धता मूलग्रन्थका जन्मजात स्वभाव है और यह इसके केन्द्रीय अर्थके सम्बन्धमें उनके अज्ञानसे उत्पन्न

नहीं होती। परन्तु जब तक हम इस विचार-विन्दुसे आगे नहीं जा सकते तब तक सन्देह और विवाद बने ही रहेंगे।

कुछ वर्ष हुए मैंने एक लेखमाला[1] लिखी थी जिसमें मैंने वेद के स्वरूप के अस्पष्ट होनेका कारण सुझाया था। मेरा सुझाव इस केन्द्रीय विचारपर अवलम्बित था कि ये सूक्त धार्मिक संस्कृतिकी एक ऐसी अवस्थामें लिखे गए थे जो यूनान तथा अन्य प्राचीन देशोंके एक ऐसे ही कालके अनुरूप थी। मेरा कथन यह नहीं है कि ये समकालीन थे या पूजापद्धति और विचारमें अभिन्न थे। किन्तु जिस काल या अवस्थामें ये लिखे गए थे उसमें प्रचलित धर्मका रूप द्विविध था, जनसाधारणके लिए, संसारी मनुष्योंके लिए तो इसका रूप बाह्य था और दीक्षितोंके लिए आन्तरिक, यह काल गुह्य विद्याओंका प्रारम्भिक काल था। वैदिक ऋषि गुह्यवेत्ता थे जो अपना अन्तर्ज्ञान दीक्षितोंके लिए ही सुरक्षित रखते थे; जनसाधारणसे वे उसे कुछ ऐसे संकेतोंकी वर्णमालाके प्रयोगके द्वारा छुपाए रखते थे जो दीक्षाके बिना सहजतया समझमें नहीं आते थे पर जब एक वार चिह्न पता लग जाता तो वे पूर्णतया स्पष्ट और सुव्यवस्थित लगते थे। ये प्रतीक यज्ञके विचार और रूपोंके चारों ओर केन्द्रित थे; क्योंकि यज्ञ प्रचलित पूजापद्धतिकी सार्वभौम और केन्द्रीय संस्था था। सूक्त इस यज्ञ-संस्था को केन्द्र बनाकर लिखे गए थे और जनसाधारण इन्हें प्रकृतिके देवों, इन्द्र, अग्नि, सूर्य-सविता, वरुण, मित्र और भग, अश्विनौ, ऋभु, मरुत्, रुद्र, विष्णु, सरस्वतीकी स्तुतिमें लिखे गए ऐसे यज्ञ-स्तोत्र समझते थे जिनका उद्देश्य 'यज्ञके द्वारा देवताओंको इस बातके लिए प्रेरित करना था कि वे अपने उपहार—गाय, घोड़े, सोना तथा चरवाहा-जातिके और प्रकारके धन, शत्रुओंपर विजय, यात्रामें सुरक्षा, पुत्र, नौकर-चाकर, ऐश्वर्य और प्रत्येक प्रकारका सांसारिक सौभाग्य हमें प्रदान करें। किन्तु आदिम और जड़वादीय प्रकृतिवादके इस पर्देके पीछे एक और गुप्त पूजा-पद्धति भी छुपी थी। जब एक बार हम वैदिक प्रतीकोंके अर्थमें पैठ जाते तो वह पद्धति स्वयं प्रकट हो जाती थी। यदि प्रतीकोंका अर्थ एक वार पकड़में आ जाए और ठीक-ठीक पढ़ लिया जाय तो संपूर्ण ऋग्वेद स्पष्ट, तर्कसंगत, सूक्ष्मताके साथ बनी हुई किन्तु फिर भी सीधी-सादी सुन्दर रचना बन जायगा।

1. लेखमालासे यहाँ 'वेद-रहस्य (पूर्वार्द्ध)' के पहले तेईस अध्याय अभिप्रेत हैं जो पहले-पहल Arya (आर्य) में अगस्त 1914 से जुलाई 1916 तक धारावाहिक लेखमालाके रूपमें प्रकाशित हुए थे।—अनुवादक

मेरे सिद्धान्तके अनुसार इन गुह्य परिभाषाओंमें बाह्य यज्ञ आत्मदान और देवताओंके साथ अन्तःसम्पर्कके आन्तरिक यज्ञको सूचित करता है। ये देवता बाहरी तौरपर भौतिक प्रकृतिकी शक्तियाँ हैं और आन्तरिक तौरपर चैत्य प्रकृतिकी। इस प्रकार अग्नि बाहरी तौरपर अग्निरूपी भौतिक तत्त्व है, पर आन्तरिक तौरपर वह भगवन्मुखी चैत्य ज्वाला किंवा शक्ति, संकल्प एवं तपस्‌का अधिष्ठातृदेव है। सूर्य बाह्यतः सौर प्रकाश है, अन्तरतः प्रकाशप्रद सत्योद्भासक ज्ञानका देवता है, सोम बाह्यतः चन्द्रमा और सोम-मधु या अमृतमय सोम-वनस्पति है, अन्तरतः आध्यात्मिक हर्षोल्लास, आनन्द का देवता है। इस आन्तरिक वैदिक उपासना-विधिका प्रधान चैत्य विचार सत्य, दिव्य नियम और बृहत् सत्ताका, सत्यम्, ऋतम्, बृहत्‌का विचार था। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक भौतिक, प्राणिक, मानसिक सत्ताके प्रतीक थे, पर यह सत्य एक महत्तर द्युलोकमें, त्रिविध अनन्तताके उस आधारमें प्रतिष्ठित था जिसका वैदिक ऋचाओंमें वस्तुतः ही प्रकट रूपसे उल्लेख किया गया है। और अतएव इस सत्यसे एक आध्यात्मिक एवं अतिमानसिक प्रकाशकी अवस्था अभिप्रेत थी। पृथ्वी और अन्तरिक्षके परे स्वर् या सूर्यलोक तक पहुँचना अर्थात् इस प्रकाशके स्थान, देवोंके घर, सत्यके आधार और धाम तक पहुँचना प्राचीन पितरोंकी, पूर्वे पितरः, और वैदिक धर्मके प्रतिष्ठापक सात अंगिरस् ऋषियोंकी उपलब्धि थी। सौर देवता, अनन्तताके पुत्र, आदित्य सत्यमें उत्पन्न हुए थे और सत्य ही उनका घर था। पर वे नीचेके स्तरोंमें अवतरित हुए और प्रत्येक स्तरमें उनके अपने उपयुक्त व्यापार थे, उनकी मानसिक, प्राणिक और भौतिक वैश्व गतियाँ थीं। वे मनुष्यके अन्दर सत्यके संरक्षक और संवर्धक थे और सत्यके द्वारा, ऋतस्य पन्थाः, उसे आनन्द और अमृतत्वकी ओर ले जाते थे। मनुष्यके अन्दर उनका आह्वान करना और उन्हें बढ़ाना होता था, उनकी क्रियाको उसके अन्दर गठित करना, उन्हें उसके अन्दर लाना या उत्पन्न करना होता था, देववीति, विस्तारित करना होता था; देवताति, जिससे मनुष्य उनकी विश्वमयतामें उनके साथ एक हो जाय, वैश्वदेव्य।

यज्ञका निरूपण एक साथ ही आत्मदान और पूजा, युद्ध और यात्राके रूपमें किया जाता था। यह एक युद्धका केन्द्र था जिसमें एक पक्षमें तो होते थे देवता जिनकी सहायता आर्य लोग करते थे और विरोधी पक्षमें होते थे दानव या विनाशक, दस्यु, वृत्र, पणि, राक्षस जो आगे चलकर दैत्य और असुर कहलाने लगे, अर्थात् यह सत्य या प्रकाश की शक्तियों और असत्य, विभाजन एवं अन्धकारकी शक्तियोंके बीच युद्धका केन्द्र था। यह

एक यात्रा थी इस कारण कि यज्ञ पृथ्वीसे द्युलोक-स्थित देवोंकी ओर यात्रा करता था, पर इस कारण भी कि यह उस मार्गको तैयार करता था जिसके द्वारा स्वयं मनुष्य सत्यके धामकी यात्रा करता था। यह यात्रा जिसका दस्यु, चोर, लुटेरे, विदारक (वृक) और वृत्र विरोध करते थे स्वयं एक युद्ध थी। इस यज्ञमें आहुति-प्रदान एक अन्तर्दान था। बाह्य यज्ञकी सभी आहुतियाँ, गाय और उसका दूध, अश्व और सोम सत्यके अधिपति देवोंके प्रति आन्तरिक शक्तियों और अनुभूतियोंके समर्पणके प्रतीक थे। देवताओंके उपहार अर्थात् बाह्य यज्ञके फल भी आन्तरिक दिव्य उपहारोंके प्रतीक थे, गौएं दिव्य प्रकाशका प्रतीक थीं जिसे सूर्यकी गौएं (या गोयूथ) कहकर संकेतित किया जाता था, घोड़ा था सामर्थ्य और शक्तिका प्रतीक, पुत्र था अन्तःस्थ देवता या दिव्य मानवका प्रतीक जो यज्ञके द्वारा जन्म लेता था, और इसी प्रकार फलोंकी सम्पूर्ण सूची ही प्रतीकात्मक थी। यह प्रतीकात्मक दोहरापन वैदिक शब्दोंके द्विविध अर्थके कारण सुगमतया साधित हो जाता था; उदाहरणार्थ, 'गो' शब्दके गाय और किरण दोनों अर्थ हैं; उषा और सूर्यकी गौएं, द्युलोककी bocs Helio (वोस हेलियो) सूर्य-देवताकी, सत्य-दर्शनके अधिपतिकी किरणें हैं, जैसे यूनानी गाथाविज्ञानमें सूर्यका देवता अपोलो काव्य और भविष्यवाणी का प्रभु भी है। घृतका अर्थ है शुद्ध किया हुआ मक्खन (घी), पर इसका अर्थ उज्ज्वल वस्तु भी है; सोमका अर्थ है सोम नामक पौधेका आसव, पर इसका अर्थ आनन्द, मधु, माधुर्य भी है। यह एक रूपकात्मक विचार है, रूपकके अन्य सव अंगोपांग इस केन्द्रीय विचारके सहायक हैं। यह प्रतीकात्मक या सांकेतिक पद्धति मुझे पूर्णतया सरल प्रतीत होती है, जो न तो अप्रासंगिक एवं दुरूह है और न प्राचीन मानव प्रजातियोंकी मानसिक स्थितिके लिए अस्वाभाविक।

किन्तु इस सिद्धान्तके विरुद्ध कुछ अनुभव-निरपेक्ष आपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं। पाश्चात्य विद्वानोंकी ओरसे व्यक्ति इसका विरोध करनेके लिए प्रेरित हो सकता है। यह आक्षेप किया जा सकता है कि इस सब गुह्यी-करणकी आवश्यकता ही नहीं, वेदमें इसका कोई भी चिह्न नहीं, हाँ यदि हम स्वयं आदिम गाथा-विज्ञानके अन्दर इसे पढ़ना पसन्द करें तो दूसरी बात है, धर्मके या वैदिक धर्मके इतिहाससे इसका समर्थन नहीं होता। यह संस्कृतिकी एक ऐसी सूक्ष्मता है जो प्राचीन एवं बर्बर मनके लिए असम्भव थी। इनमेंसे कोई भी आक्षेप सचमुचमें ठहर नहीं सकता। मिश्र, यूनान तथा अन्य देशोंमें गुह्य रहस्य बहुत ही प्राचीन कालसे प्रतिष्ठित थे और वे ठीक इसी प्रतीकात्मक सिद्धान्तके आधार पर अग्रसर होते थे जिसके

अनुसार वाह्यगाथा, धार्मिक अनुष्ठान और पूजा-द्रव्य आन्तरिक जीवन या ज्ञानके रहस्योंके प्रतीक थे। अतः यह युक्ति नहीं दी जा सकती कि प्राचीन युगोंमें यह मानसिक स्थिति थी ही नहीं या संभव नहीं थी अथवा मिश्र और यूनानकी अपेक्षा उपनिषदोंके देश भारतमें कुछ अधिक असाध्य या असंभाव्य थी। प्राचीन धर्मका इतिहास यह अवश्य दिखाता है कि भौतिक प्रकृति-देवताओंका चैत्यशक्तियोंके प्रतिनिधियोंमें परिवर्तन हुआ, वरंच उनके भौतिक व्यापारोंमें चैत्य व्यापार आकर जुड़ गए ; किन्तु कुछ दृष्टान्तोंमें भौतिक व्यापारोंने अपना स्थान कम वाह्य व्यापार (या अर्थ)को दे दिया। मैं उदाहरण दे चुका हूँ कि वादके युगोंमें हेलिओस (Helios) का स्थान अपोलोने ले लिया; ठीक इसी प्रकार वैदिक धर्ममें सूर्य निःसन्देह आन्तरिक प्रकाशका देवता वन जाता है। प्रसिद्ध गायत्री-मन्त्र और इसका गुह्य अर्थ इस वातको सिद्ध करनेके लिए विद्यमान हैं ही, और इसके साथ ही हैं उपनिषदोंके मन्त्र भी जिनमें उपनिषदें वैदिक ऋचाओं या वैदिक प्रतीकोंकी साक्षीका निरन्तर आश्रय लेती एवं उनकी ओर हमारा ध्यान खींचती हैं। उन ऋचाओं एवं प्रतीकोंको वे मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक अर्थमें लेती हैं, उदाहरणके लिए देखिये ईश उपनिषद्के अन्तिम चार मन्त्र। हर्मिज और एथिना उच्चकोटिके गाथा-विज्ञानमें चैत्य व्यापारोंके द्योतक हैं, पर मूल रूपमें वे प्राकृतिक देवता थे, एथिना वहुत संभवतः उषा-देवी थी। मैं दावेके साथ कहता हूँ कि वेदमें उषा अपने आरम्भमें ही हमें इस परिवर्तनको दर्शाती है, सुरा-देवता डायोनिसियस रहस्योंके साथ घनिष्ठतया संवद्ध था; उसे वेदोंके सुरा-देवता सोमके सदृश ही कार्य सौंपा गया था।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह दर्शानेवाला कोई तथ्य है कि वेदमें सचमुच ही देवताओंके व्यापारोंकी ऐसी द्विविधता थी। अब, पहली वात तो यह है कि वेदोंकी तथाकथित शुद्धभौतिकवादी प्रकृति-पूजासे उपनिषदोंके असाधारण मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक ज्ञानकी ओर यह संक्रमण कैसे संपन्न हुआ, उन उपनिषदोंके जिनकी सूक्ष्मता और उदात्तताको प्राचीन युगमें कोई नहीं लांघ सका? इसकी तीन संभव व्याख्याएं हो सकती हैं। पहली, यह आकस्मिक आध्यात्मिकता वाहरसे लाई गई हो सकती है; कुछ विद्वान् जल्दवाजीमें यह सुझाते हैं कि यह तथाकथित उच्च-आध्यात्मिक आर्येतर दाक्षिणात्य संस्कृतिसे ली गई; पर यह एक पूर्वधारणा है, एक निराधार प्राक्कल्पना है जिसके लिए कोई भी प्रमाण नहीं प्रस्तुत किया गया। एक हवाई अनुमानकी भांति यह भी किसी आधार पर स्थित नहीं। दूसरी व्याख्या यह हो सकती है कि यह आध्यात्मिकता किसी ऐसे परिवर्तनके द्वारा,

जिसका निर्देश मैं कर चुका हूँ, अन्दरसे ही विकसित हुई, पर इसका विकास सबसे अर्वाचीन वैदिक सूक्तोंको छोड़कर अन्य सबकी रचनाके बाद ही हुआ होगा। किन्तु फिर भी इसका विकास वैदिक सूक्तोंके आधार पर ही साधित हुआ ; उपनिषदें दावा करती हैं कि वे वैदिक ज्ञानसे, वेदान्तसे ही विकसित हुई हैं, वे वारंवार वेदमन्त्रोंकी साक्षी देकर उनकी ओर ध्यान खींचती हैं, वेदको ज्ञानका ग्रन्थ मानती हैं। जिन लोगोंने वैदान्तिक ज्ञान दिया उन्हें सर्वत्र वेदकी शिक्षा देनेवालेके रूपमें प्रस्तुत किया जाता है। तो फिर क्यों हमें आग्रहपूर्वक यह मानना चाहिए कि यह विकास अधिकतर वैदिक मन्त्रोंकी रचनाके पश्चात् ही हुआ? क्योंकि तीसरी संभावना यह है कि सारी भूमि वैदिक रहस्यवादियोंने पहले ही सचेतन रूपसे तैयार कर रखी थी। मैं यह नहीं कहता कि आन्तरिक वैदिक ज्ञान ब्रह्मवादसे अभिन्न था। उसकी परिभाषाएँ भिन्न थीं, उसका सारतत्त्व अत्यधिक विकसित किया गया, उसमेंसे बहुत कुछ लुप्त हो गया या त्याग दिया गया, उसमें बहुत कुछ बढ़ा दिया गया, पुराने विचारोंको छोड़ दिया गया, नई व्याख्याएं की गईं, प्रतीकात्मक तत्त्व न्यूनतम कर दिया गया और उसका स्थान स्पष्ट और खुले दार्शनिक पद-समुदायों एवं विचारोंने ले लिया। निश्चय ही, वैदिक मन्त्र ब्राह्मण-ग्रन्थोंके कालमें ही अस्पष्ट और दुर्बोध्य बन चुके थे। किन्तु फिर भी आधारका काम आरम्भसे सम्पन्न हुआ हो सकता है। निःसन्देह, अन्तमें यह एक तथ्यका प्रश्न है, किन्तु इस समय मेरा दावा केवल यही है कि मेरी स्थापनामें कोई स्वतःसिद्ध असम्भवता नहीं है; वरंच मेरे सुझावके पक्षमें बहुत काफी संभाव्यता या कमसे कम एक प्रबल संभावना विद्यमान है। मैं अपनी युक्ति इस प्रकार प्रस्तुत करूंगा। पीछेके सूक्तोंमें निःसन्देह ब्रह्मवादका आरम्भ विद्यमान है; इसका आरंभ कैसे हुआ, क्या प्राचीनतम मन्त्रोंमें इसका कोई मूल-स्रोत नहीं था? यह निश्चित ही है कि वरुण और सरस्वती जैसे कुछ एक देवता भौतिक व्यापारकी तरह आध्यात्मिक व्यापार भी रखते थे। मैं इससे भी आगे बढ़कर यह कहता हूँ कि यह दोहरा कार्य वेदमें अन्य देवोंके सम्बन्धमें भी सर्वत्र पाया जा सकता है, उदाहरणार्थ, अग्नि और यहाँ तक कि मरुतोंके लिए भी। तब क्यों न इन लीकों पर खोजको निरन्तर जारी रखते हुए यह देखा जाय कि यह कहां तक जायगी? कम-से-कम विचार करनेके लिए एक प्रत्यक्ष आधार तो है ही और शुरू करनेके लिए मैं इससे अधिक की मांग भी नहीं करता। सूक्तोंके असली मन्त्रोंकी परीक्षा ही यह दिखा सकती है कि यह खोज कहाँ तक उचित ठहरेगी या अत्यधिक महत्त्वके परिणाम उत्पन्न करेगी।

दूसरा सहजात आक्षेप कट्टरपंथी परम्पराकी ओरसे आता है। इस आक्षेपका अर्थ यह है कि सायणके प्रमाण और प्राचीन कोषकार यास्कके परे क्यों जाना चाहिए, उस सायणके जो वेदसे कम-से-कम दो-तीन हजार साल बादके युगका है। और फिर, वेदको प्रचलित रूपमें कर्मकांड, याज्ञिक क्रियाकलापका ग्रन्थ माना जाता है और केवल वेदान्तको ही ज्ञानकाण्ड, ज्ञानका ग्रन्थ। परले सिरेके रूढ़िवादी दृष्टिकोणसे यह आपत्तिकी जाती है कि तर्क, आलोचना-शक्ति एवं ऐतिहासिक युक्तिका इस प्रश्नसे कोई सम्बन्ध नहीं; वेद ऐसी परीक्षाओंसे परे हैं, अपने रूप और सारतत्त्वमें सनातन हैं, इनका अर्थ-निर्णय करते हुए इनकी व्याख्या परम्परागत प्रमाणके द्वारा ही करनी चाहिए। यह एक ऐसी मनोवृत्ति है जिसके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं; मैं इस विषयके सत्यकी खोज कर रहा हूँ और परम्पराके विरुद्ध किसी सत्यकी खोज करनेके मेरे अधिकारको अस्वीकार करके मुझे खोज करनेसे रोका नहीं जा सकता। किन्तु यदि अधिक सन्तुलित रूपमें यह युक्ति दी जाय कि जब एक अविच्छिन्न और सुसंगत प्राचीन परम्परा विद्यमान है तब उससे पीछे हटनेमें कोई औचित्य नहीं, तो हमारा स्पष्ट उत्तर यह है कि ऐसी कोई चीज है ही नहीं। सायण एक सतत अनिश्चितताके बीच विचरण करते हैं, विविध संभावनाएं प्रस्तुत करते हैं, अपनी व्याख्याओंमें डांवाडोल होते रहते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि कर्मकाण्डीय एवं बाह्य अर्थके प्रति सामान्यतया निष्ठावान् रहते हुए भी कभी-कभी व्याख्याके नानाविध प्राचीन सम्प्रदायोंमें भेद दर्शाते तथा उन्हें उद्धृत करते हैं, जिनमेंसे एक आध्यात्मिक एवं दार्शनिक भी है, और उपनिषदोंके भावको वेदमें पाते हैं। यहां तक कि कभी-कभी वे इस आध्यात्मिक सम्प्रदायके निर्देशोंका अनुसरण करनेके लिए अपनेको बाध्य अनुभव करते हैं, यद्यपि ऐसा होता है बहुत विरले ही। और यदि हम प्राचीनतम कालतक पीछे जायं तो हम देखते हैं कि ब्राह्मण-ग्रन्थ वेदकी गुह्य याज्ञिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, उपनिषदें ऋग्वेदको कर्मकाण्डका नहीं बल्कि आध्यात्मिक ज्ञानका ग्रन्थ समझती हैं। अतः ऋग्वेदका मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक तात्पर्य निश्चित करनेके प्रयत्नमें ऐसी कोई भी बात नहीं जो विलक्षण रूपसे नयी या क्रान्तिकारी हो।

अब रहा यह अन्तिम आक्षेप कि वेदकी व्याख्या अत्यन्त असाधारण कौशलके प्रयोगका क्षेत्र रही है। प्रत्येक प्रयत्न अतीव भिन्न परिणामोंपर पहुंचता रहा है और मेरा केवल एक और अधिक बड़ा कौशल है। यदि ऐसा है तो मैं अच्छे लोगोंकी संगतिमें हूँ। सायणकी व्याख्याएँ ऐसी कौशलपूर्ण युक्तियोंसे भरी पड़ी हैं जिनमें अत्यधिक जोर-ज़बरदस्ती, खींचतान और

क्लिष्ट कल्पना है। वे प्रायः ही हलके भावसे व्याकरण, वाक्यरचना, अन्वय, संगतिका बलपूर्वक उल्लङ्घन करती हैं, इस विचारके बल पर कि ऋषि लोग इन चीजोंसे किसी प्रकार भी नियन्त्रित नहीं थे। यास्कका निरुक्त व्युत्पत्ति-सम्बन्धी तथा अन्य कुशल कल्पनाओंसे भरा पड़ा है जिनमेंसे कुछ अत्यन्त आश्चर्यजनक ढंगकी हैं। यूरोपके विद्वानोंने चतुरतापूर्वक अनुमानों तथा निगमनोंकी पद्धतिसे एक नया ही अनुवाद कर डाला है और आर्योंके आक्रमण तथा आर्यों और द्रविड़ोंके संघर्षका यथार्थ या काल्पनिक इतिहास तैयार कर दिया है, पर वेद-व्याख्याके दीर्घ इतिहासमें पहले कभी किसीका इस आक्रमण एवं संघर्षपर संदेह तक नहीं गया। स्वामी दयानन्दके भाष्य पर भी ऐसा ही दोष लगाया गया है। तथापि इस पद्धतिकी विश्व-व्यापकता इसे सच्चा सिद्ध नहीं कर देती और मुझे इस बहानेकी शरण लेनेकी कोई आवश्यकता भी नहीं क्योंकि यह कोई उचित युक्ति नहीं है। यदि मेरी या और किसीकी व्याख्या मूल मन्त्रोंमें खींचतान करके, स्वैर या काल्पनिक अनुवाद या विदेशसे आयातित अर्थके द्वारा प्राप्त होती है तो उसका कोई वास्तविक मूल्य नहीं हो सकता। वर्तमान ग्रन्थका, जो मुझे आशा है कि ग्रन्थमालाका पहला भाग होगा, उद्देश्य है मेरी पद्धतिको वस्तुतः क्रियात्मक रूपमें दिखाना और आधार तथा उचित हेतु दिखलाकर उपर्युक्त आक्षेपको दूर करना।

मेरे मतमें वेदकी प्रामाणिक व्याख्याके लिए तीन प्रक्रियाएं आवश्यक हैं। सर्वप्रथम, मूलमन्त्रोंका सीधा-सादा शब्दशः अनुवाद होना चाहिए जो वास्तविक शब्दोंके द्वारा एकदम सुझाए गए सीधे-सादे और सरल अर्थ के साथ दृढ़तापूर्वक संबद्ध हो, भले ही उसका परिणाम कुछ भी क्यों न हो। फिर, इस परिणामको लेकर यह देखना होगा कि इसका यथार्थ अर्थ और तात्पर्य क्या है। वह अर्थ अपने आपमें संगत एवं सुसंबद्ध होना चाहिए, उसे यह दिखाना चाहिए कि प्रत्येक सूक्त अपने आपमें एक अखण्ड सूक्त है जो एक विचारसे दूसरे विचारकी ओर बढ़ता है, अपने-आपमें क्रमबद्ध है, जैसे कि मानव मनकी किसी भी साहित्यिक कृतिको क्रमबद्ध होना ही चाहिए जो पागलोंके द्वारा नहीं लिखी गई या केवल असंबद्ध प्रलापोंकी शृंखला ही नहीं है। यह कल्पना करना संभव नहीं कि इन ऋषियों ने जो सुयोग्य छन्दोवित् थे, महती शक्ति और गतिसे युक्त शैलीके धनी थे, विचारोंकी किसी ऐसी शृंखलाके बिना ही रचनाकी जो समस्त उपयुक्त साहित्यिक कृतिका लक्षण है। और यदि हम उन्हें ईश्वरके द्वारा अनुप्रेरित तथा ब्रह्म या सनातन भगवान्‌के प्रतिनिधि मानते हैं तो यह कल्पना करनेका कोई

आधार नहीं कि दिव्य प्रज्ञा अपनी वाणीमें मानव मनकी अपेक्षा अधिक असंबद्ध है, वरन् उसे अपनी समग्रतामें अधिक प्रकाशपूर्ण और तृप्तिकारक होना चाहिए। अन्तिम प्रक्रिया यह है कि यदि मूल ग्रन्थके किसी भागकी प्रतीकात्मक व्याख्या की जाय तो वह स्वयं वेदके संकेत और भाषासे ही सीधे और स्पष्ट रूपमें उद्भूत होनी चाहिए न कि उसके अन्दर बाहरसे लादी जानी चाहिए।

इनमेंसे प्रत्येक बातपर कुछ शब्द कहना उपयोगी होगा। पहला नियम जिसका मैं अनुसरण करता हूँ यह है—ऋचाके उस अधिकसे अधिक सरल और सीधे अर्थको पानेका यत्न करना जो उसका खुला एवं प्रकट अर्थ हो, खींचतान न करना, तोड़ना-मरोड़ना नहीं और नाहीं ज़टिलता पैदा करना। वैदिक शैली अति संक्षिप्त पर स्वाभाविक है, इसमें ओजस्वी संक्षेप और कुछ अध्याहार पाए जाते हैं, किन्तु फिर भी वह तत्त्वतः सरल है और अपने लक्ष्य पर सीधे ढंगसे ही जाती है। जहां यह अस्पष्ट प्रतीत होती है वहां उसका कारण यह होता है कि हम शब्दोंका अर्थ नहीं जानते या विचारका मूल सूत्र हमारे हाथ नहीं आता। यदि दो एक स्थलों पर इसमें खींचतान की गई प्रतीत हो भी तथापि यह कोई कारण नहीं कि हम सम्पूर्ण वेदको ताक-पर रख दें अथवा इन स्थलोंमें भी अर्थ पर पहुंचनेके प्रयत्नमें इसमें और भी बुरी तरहसे खींचतान करें। जहाँ किसी शब्दका अर्थ निश्चित करना होता है, वहाँ कठिनाई या तो इसलिए आती है कि सच्चे अर्थका सूत्र हमारे पास नहीं होता या फिर इसलिए कि संस्कृतभाषामें उसके अनेक अर्थ हो सकते हैं। इनमेंसे दूसरी अवस्थामें मैं कुछ निश्चित सिद्धान्तोंका अनुसरण करता हूँ। प्रथम, यदि वह शब्द वेदके उन नियत शब्दोंमेंसे है जो उसके धार्मिक सिद्धान्तसे घनिष्ठतया संबद्ध हैं, तो सबसे पहले मुझे उसका एक अभिन्न अर्थ ढूंढ़ना होगा जो जहाँ कहीं भी वह आए वहाँ ठीक लग सके। मुझे इस बातकी स्वाधीनता नहीं कि मैं शुरूसे ही अपनी खुशी या मनमौज या फिर तात्कालिक उपयुक्तताकी भावनाके अनुसार उसका अर्थ बदलता चला जाऊँ। यदि मैं गूढ़ ईसाई धर्म-विज्ञानकी किसी पुस्तककी व्याख्या करूं तो मुझे इस बातकी छूट नहीं कि उसमें जो 'ग्रेस' (grace) शब्द निरन्तर और पुनः-पुनः आता है उसका अर्थ स्वच्छन्दतापूर्वक करूं, कभी तो 'दिव्य अनुग्रह का अन्तःप्रवाह' यह अर्थ करूं और कभी 'तीन प्रकारकी ग्रेसमें-से एक', कभी 'सौन्दर्यकी मोहकता', कभी 'परीक्षामें दिए गए कृपांक', कभी कभी 'एक लड़कीका नाम'। यदि एक स्थल पर वह स्पष्टतया यह या वह अर्थ रखता है और उसका दूसरा कोई अर्थ नहीं हो सकता, यदि उसका

साधारण अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है तब निःसंदेह दूसरी बात है; पर जहाँ सामान्य अर्थ प्रकरणमें ठीक बैठ जाय वहाँ मुझे इन दूसरे अर्थोंमेंसे कोई भी नहीं लगाना चाहिए। दूसरी बातोंमें मुझे बहुत अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है, पर यह स्वतन्त्रता विकृत होकर निरंकुशतामें नहीं बदल जानी चाहिए। इस प्रकार हमें बताया जाता है कि, 'ऋतम्' शब्दके अर्थ हो सकते हैं, सत्य, यज्ञ, जल, गति तथा दूसरी बहुत-सी वस्तुएं। सायण स्वच्छन्दतापूर्वक और बिना किसी स्पष्ट नियम या कारणके इनमेंसे किसी भी अर्थके अनुसार व्याख्या कर देते हैं और कभी-कभी तो वे हमारे सामने कोई विकल्प भी नहीं रखते; न केवल वे विभिन्न सूक्तोंमें उसकी भिन्न-भिन्न प्रकारसे व्याख्या करते हैं, बल्कि एक ही सूक्तमें या यहाँ तक कि एक पंक्तिमें भी तीन विभिन्न अर्थोंमें व्याख्या करते हैं। मैं इसे सर्वथा अनुचित समझता हूँ। 'ऋतम्' वेदका एक स्थिर पारिभाषिक शब्द है और इसको मुझे सदा एक सुसंगत अर्थमें ही लेना चाहिए। यदि उस स्थिर परिभाषाके रूपमें मैं इसका अर्थ 'सत्य' समझता हूँ, तो मुझे सदा इसका यही अर्थ करना चाहिए, जब तक ऐसा न हो कि किसी विशेष स्थलमें इसका स्पष्ट अर्थ "जल", "यज्ञ" या "गया हुआ मनुष्य" ही हो तथा वहाँ इसका अर्थ 'सत्य' हो ही न सकता हो। 'ऋतस्य पन्थाः' जैसी हृदयग्राही पदावलीका अनुवाद एक स्थल पर "सत्यका मार्ग" करना, दूसरे पर "यज्ञका मार्ग", एक अन्यपर "जलका मार्ग" और फिर किसी और स्थल पर यह अर्थ करना कि "उस व्यक्तिका मार्ग जो चला गया है"—यह निरा स्वेच्छाचार है। और यदि हम ऐसी पद्धतिका अनुसरण करें तो वेदका हमारी व्यक्तिगत मौजके अर्थके सिवा कोई अर्थ नहीं हो सकता। फिर इसी प्रकार हमारे सामने 'देव' शब्द है, जिसका अर्थ निःसन्देह सौमेंसे निन्यानवे स्थानोंमें 'प्रकाशमय सत्ताओं-मेंसे एक' अर्थात् 'देवता' होता है। यद्यपि यह 'ऋतम्'के समान अनिवार्य महत्त्वपूर्ण शब्द नहीं है तथापि जहाँ 'देवता' शब्द इसका एक अच्छा और पर्याप्त अर्थ देता हो वहाँ मुझे इसको पुरोहित या बुद्धिमान् मनुष्यके अर्थमें या किसी और अर्थमें नहीं लेना चाहिए, जब तक यह न दिखाया जा सके कि यह ऋषियोंकी वाणीमें निःसन्देह एक और अर्थ रख सकता है। दूसरी ओर, 'अरि' जैसे शब्दका अर्थ कभी तो 'योद्धा', 'अपने पक्षका वीर पुरुष' होता है, कभी शत्रु-पक्षका योद्धा, आक्रामक एवं शत्रु और कभी-कभी यह शब्द विशेषण होता है और 'अर्य' या यहाँ तक कि 'आर्य' शब्दके लगभग समान अर्थवाला प्रतीत होता है। पर ध्यान देनेकी बात है कि ये सभी अर्थ परस्पर अच्छी तरह संबद्ध हैं। दयानन्द व्याख्या करनेमें और भी

अधिक स्वतन्त्रताका आग्रह करते हैं जिससे कि वह प्रकरणके अनुकूल बैठ सके। वे कहते हैं सैन्धवका अर्थ है घोड़ा या खनिज लवण; जहाँ खानेका प्रसंग हो वहाँ हमें इसका अर्थ नमक करना चाहिए, जहाँ सवारी करनेका प्रसंग हो वहाँ घोड़ा। यह बात तो सर्वथा स्पष्ट है; पर वेदमें सारा प्रश्न यह है कि प्रकरणका अभिप्राय क्या है, उसकी संबन्धकी कड़ियाँ क्या हैं? प्रकरणका क्या अर्थ होना चाहिए इस विषयमें अपनी व्यक्तिगत भावना के अनुसार यदि हम अर्थ करें तब तो हम चोर-रेतकी नींव पर इमारत बना रहे हैं। एकमात्र सुरक्षित नियम यह है कि उस अर्थको निर्धारित किया जाय जो वेदमें सामान्यतया प्रचलित हो और उससे भिन्न अर्थोंको केवल वहीं स्वीकार किया जाय जहाँ प्रकरणसे वे स्वतः स्पष्ट हों। जहाँ साधारण अर्थसे एक अच्छा भावार्थ निकलता हो वहाँ मुझे इसे स्वीकार करना चाहिए; यदि यह वह अर्थ न हो जो मैं चाहता हूँ कि इसका होना चाहिए या यह वेद-विषयक मेरे सिद्धान्तके अनुकूल न हो तो इस बातकी कुछ परवा नहीं। पर उस अर्थको कैसे निर्धारित किया जाय? स्पष्टतः ही, अर्थका निर्धारण हम केवल इस प्रकार कर सकते हैं कि जिन स्थलोंमें कोई विशेष शब्द आता है उन सबकी पूरी-की-पूरी या शेष-बची-हुई साक्षी उस अर्थके पक्षमें हो और फिर वह अर्थ वेदके सामान्य आशयके साथ मेल भी खाता हो। यदि मैं यह दिखा दूँ कि सभी संदर्भोंमें 'ऋत' शब्दका अर्थ 'सत्य' हो सकता है, बहुतसे स्थलोंमें—पर किसी भी तरह सभी स्थलों में नहीं—इसका अर्थ यज्ञ भी हो सकता है और केवल थोड़ेसे स्थलोंमें जल, 'गति' तो शायद ही किसी स्थलमें संभव हो, और 'सत्य' यह अर्थ वेदके सामान्य तात्पर्यके साथ ठीक भी बैठता है, तो मैं समझूंगा कि इसे इस अर्थमें ही लेनेके लिए एक अकाट्य स्थापना मैंने कर दी है। अनेक शब्दोंके सम्बन्ध में ऐसा किया जा सकता है, दूसरोंके विषयमें हमें संभव अर्थोंका तुलन-फल निकालना होगा। तब बाकी रहे वे शब्द जिनका अर्थ, स्पष्ट कहें तो, हमें मालूम नहीं। यहाँ हमें व्युत्पत्ति-शास्त्रके सूत्रका प्रयोग करना होगा और तब हम जिस अर्थ या जिन संभव अर्थोंपर पहुंचें उन्हें उन स्थलोंमें जहाँ वह शब्द आया है, लगाकर परखें, जहाँ आवश्यक हो वहाँ केवल पृथक्-पृथक् ऋचाओंको ही नहीं वरन् आसपासके प्रकरणको तथा वेदके सामान्य भावको भी विचारमें लावें। कुछ ही स्थलोंमें कोई शब्द इतना विरला और अस्पष्ट होता है कि उसे केवल एक सर्वथा आनुमानिक अर्थ ही दिया जा सकता है।

जब हमें मूल मन्त्रका अनुवाद प्राप्त हो जाय तब हमें यह देखना होगा

कि उसका तात्पर्य क्या है। यहाँ जो हमें करना होगा वह यह है—पहले हम स्वयं मन्त्रमें प्रकाशित विचारोंके परस्पर-सम्वन्धोंको देखें, उसके बाद उससे पहले और पिछले मन्त्रोंमें आये विचारोंके साथ तथा सूक्तके सामान्य आशयके साथ उसका कोई सम्वन्ध हो तो उसे भी देखें, तत्पश्चात् समानान्तर स्थलों, विचारों और सूक्तोंको और अन्तमें वेदके विचारोंकी योजनामें प्रकृत संपूर्ण सूक्तका स्थान भी देखें। इस प्रकार ऋ० IV.7 में हम एक पंक्ति देखते हैं—**अग्ने कदा त आनुषग् भुवद् देवस्य चेतनम्**, और इसका अनुवाद मैं यूँ करता हूँ, "हे अग्ने, कब तुम देवका (दीप्तिमान् या ज्योतिर्मय एकमेव-का) (ज्ञान या चेतनाके प्रति) निरन्तर जागरण होगा?" परन्तु जो प्रश्न मुझे करना होगा वह यह है, "क्या इसका अर्थ है वेदी पर स्थूल अग्निका सतत प्रज्वलन तथा भौतिक यज्ञका व्यवस्थित क्रम, अथवा क्या इसका अर्थ है मनुष्यमें दिव्य अग्निका सतत विकासोन्मुख ज्ञानके प्रति या ज्ञानकी व्यव-स्थित सचेतन क्रियाके प्रति जागरण?" विचार करने पर मैं देखता हूँ कि अगली, तीसरी ऋचामें अग्निका वर्णन उसे सत्यका (या यज्ञका?) स्वामी, पूर्णज्ञानी, **ऋतावानं विचेतसम्**, कहकर किया गया है, चौथीमें उसे प्रत्येक प्राणी-के लिए चमकता हुआ अन्तर्दर्शन या ज्ञान या अन्तर्बोध कहकर, **केतुं भृगवाणं विशे-विशे**, छठीमें गुहामें निहित, पूर्ण ज्ञानी, उज्ज्वलवर्ण सत्ता कहकर, **चित्रं गुहा-हितं सुवेदम्**। सातवीं और आठवींमें उसका वर्णन यों किया गया है कि जब देवता सत्यके धाममें आनन्द लेते हैं तो वह यज्ञके लिए सत्यसे युक्त होकर आता है, वह दूत है, **ऋतस्य धामन् रणयन्त देवाः. . .वेरध्वराय सदमिदृतावा, दूत ईयसे**। यह सब अग्निको वेदी पर स्थूल ज्वालाके रूपमें ही नहीं बल्कि दिव्य ज्ञानकी एक ऐसी ज्वालाके रूपमें लेनेके लिए प्रचुर प्रमाण है जो यज्ञका परिचालन तथा मनुष्य और देवताओंके बीच मध्यस्थका कार्य करती है। इस विषयके प्रमाणका तुलन-फल भी, निर्विवाद रूपमें न सही, इस पक्षमें है कि इसे (अग्निको) बाह्य प्रतीकोंके परदेके पीछे अन्तर्यज्ञका संकेत करनेवाला मानना चाहिए, क्योंकि यदि भौतिक फलोंके लिए भौतिक यज्ञका ही प्रश्न हो तो दिव्य ज्ञानपर इतना अधिक बल देना ही क्यों चाहिए? मैं देखता हूँ कि वह पुरोहित, ऋषि, दूत, हवियोंका भोक्ता, द्रुत यात्री और योद्धा है। कैसे ये दोनों विचार जो वेदमें एकके बाद एक आते हैं और गुंथे हुए भी हैं, एक दूसरेके साथ संबद्ध हैं? क्या यह भौतिक पवित्र ज्वाला है जो ये सब चीजें हैं या यह आन्तर पवित्र ज्वाला है? इसे अस्थायी तौरपर अन्तंज्वालाके रूपमें लेनेके लिए भी पर्याप्त प्रमाण हैं; पर पूर्ण निश्चयके लिए मैं इस एक ऋचा पर ही निर्भर नहीं कर सकता। मुझे

अन्य सूक्तोंमें इन विचारोंके विकासपर भी ध्यान देना होगा, जो सूक्त अग्निको अर्पित हैं या जिनमें उसका उल्लेख है उन सबका अध्ययन करना होगा और यह देखना होगा कि क्या ऐसे स्थल हैं जिनमें वह निःसन्देह अन्तर्ज्वाला ही है और वे उसके संपूर्ण रूप पर क्या प्रकाश डालते हैं। केवल तभी मैं वैदिक अग्निके तात्पर्यका निश्चित रूपसे निर्णय करनेकी स्थितिमें हूंगा।

यह उदाहरण दिखा देगा कि तीसरे प्रश्न, वैदिक प्रतीकोंकी व्याख्याके विषयमें मैं किस पद्धतिका अनुसरण करता हूँ। सूक्तोंमें अनेकानेक रूपक और प्रतीक हैं इसमें तो कोई सन्देह हो ही नहीं सकता। चौथे मण्डलके इस सातवें सूक्तमें आये उदाहरण यह दिखानेके लिए अपने आपमें पर्याप्त हैं कि वे कितना बड़ा भाग लेते हैं। ऋषिगण उनका जो अर्थ लगाते थे उसके संबन्धमें किसी तत्कालीन साक्षीके अभावमें हमें उनका अर्थ स्वयं वेदमें ही ढूंढ़ना होगा। स्पष्टतः ही जहाँ हम नहीं जानते वहाँ हम प्राक्कल्पनाके बिना काम नहीं चला सकते, और मेरी प्राक्कल्पना यह है कि बाह्य भौतिक रूप आन्तर आध्यात्मिक अर्थका एक महत्त्वपूर्ण प्रतीक है। परन्तु इस या किसी भी प्राक्कल्पनाका कोई वास्तविक मूल्य नहीं हो सकता यदि वह बाहरसे लायी जाय, यदि वह स्वयं वेदके शब्दों एवं संकेतोंसे ही न सुझाई जाय। ब्राह्मणग्रन्थ कौशलपूर्ण व्याख्याओंसे अतीव परिपूर्ण हैं; वे मूल पाठके अन्दर यों ही अटकलपच्चू बहुत ही अधिक, बहुत ही अधिक अर्थोंको पढ़ते चले जाते हैं। उपनिषदें अधिक अच्छा प्रकाश देती हैं और हम अधिक अर्वाचीन ग्रन्थसे तथा यहाँ तक कि सायण और यास्कसे भी संकेत पा सकते हैं; किन्तु साथ ही इस अतिशय प्राचीन धर्मग्रन्थमें परवर्ती मनके विचारोंको अक्षरशः पढ़ना संकटपूर्ण भी होगा। वेदकी व्याख्या करनेके लिए हमें वेदसे ही आरम्भ करना और वेद पर ही निर्भर करना होगा। सबसे पहले हमें यह देखना होगा कि क्या वहाँ कोई सीधे-सादे और स्पष्ट मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक विचार हैं, यदि हैं तो वे क्या हैं और वे हमें क्या सूत्र प्रदान करते हैं, दूसरे, क्या भौतिक प्रतीकोंके मनोवैज्ञानिक अर्थोंके कोई संकेत वहाँ हैं और बाह्य भौतिक पक्ष आन्तर मनोवैज्ञानिक पक्षके साथ कैसे सम्बद्ध है। उदाहरणार्थ, ज्वालारूप अग्निको द्रष्टा और ज्ञाता क्यों कहा गया है? क्यों नदियोंको ज्ञानसे युक्त जल कहा गया है? क्यों उन्हें मन तक आरोहण करती या उस तक पहुँचती कहा गया है? और इसी प्रकारके अन्य अनेकों प्रश्न हैं। इनका उत्तर भी फिर स्वयं वैदिक सूक्तोंके सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययनके द्वारा पाना होगा। इस ग्रन्थमें मैं अर्थके स्वाभाविक विकासके द्वारा अग्रसर होता हूँ। मैं प्रत्येक सूक्तको लेता हूँ, उसके प्रथम अर्थपर

पहुँचता हूँ, मैं देखता हूँ कि क्या वहाँ कोई मनोवैज्ञानिक संकेत हैं और यदि हैं तो उनके भावका बल क्या है तथा वे आपसमें किस प्रकार गुंथे हुए हैं और आसपासके अन्य विचारोंके साथ उनका क्या संबन्ध है। मैं इस प्रकार सूक्तसे सूक्तकी ओर बढ़ता हूँ, उन्हें उनके अभिन्न या सदृश विचारों, रूपकों, वर्णन-शैलियोंके द्वारा एक दूसरेके साथ जोड़ता चलता हूँ। इस रीतिसे वेदकी स्पष्ट और संबद्ध व्याख्यापर पहुँचना संभव हो सकता है।

इस पद्धतिमें यह माना गया है कि ऋग्वेदके सूक्त एक अखण्ड कृति हैं जो विभिन्न ऋषियोंके द्वारा रची गई है, रची गई है एक सारतः अभिन्न एवं सदा समान ज्ञानके और रूपकों तथा प्रतीकोंकी एक ही प्रणालीके आधारपर। यह, मैं समझता हूँ, वेदके उपरितलपर भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इसका एकमात्र प्रत्यक्ष अपवाद हैं कुछ विशेष सूक्त जो दसवें मण्डलमें हैं और परवर्ती विकाससे संबद्ध प्रतीत होते हैं, उनमेंसे प्रायः कुछ विशुद्ध रूपसे कर्मकाण्डीय हैं और अन्य कुछ एक प्रतीककी दृष्टिसे मूल ऋक्समूहकी अपेक्षा अधिक जटिल एवं विकसित हैं, कुछ और सूक्त दार्शनिक विचारोंको कमसे कम प्रतीक की सहायतासे स्पष्ट रूपमें घोषित करते हैं,—वे प्रथम वाणियां हैं जो उपनिषदोंके आगमनकी घोषणा करती हैं। कुछ सूक्त अतीव पुरातन ढंगके हैं, अन्य अधिक स्पष्ट और अपेक्षाकृत आधुनिक ढंगके। पर अधिकांशमें हम सर्वत्र एक ही सारतत्त्वको पाते हैं, समान रूपकों, विचारों, स्थायी पारिभाषिक शब्दों, समान पदावलियों और अभिव्यञ्जनाओंको देखते हैं। अन्यथा समस्या का समाधान नहीं हो सकेगा; जैसी कि वस्तुस्थिति है, वेद स्वयं वेदकी कुंजी प्रदान करता है।

आरम्भके लिए मैंने जो सूक्त चुने हैं वे वामदेवके पन्द्रह अग्नि-सूक्त हैं। मैं उन्हें उस क्रमसे लेता हूँ जो मेरे अनुकूल पड़ता है, क्योंकि आरम्भके कुछ सूक्त प्रतीकसे अत्यधिक परिपूर्ण हैं और अतएव हमारे लिए अस्पष्ट और गहन हैं। सरलसे कठिन की ओर बढ़ना अधिक अच्छा है, क्योंकि इस प्रकार ही हम उस प्रारम्भिक सूत्रको अधिक अच्छी तरहसे पायेंगे जो हमें प्राचीनतर सूक्तोंकी अस्पष्टताको पार करनेमें सहायता पहुंचा सकता है।

अग्नि, अग्निका अधिपति देव, भौतिक रूपमें यज्ञिय ज्वालाका देवता है, अरणियों, पौधों और जलोंमें पाया जानेवाला अग्नि है, विद्युत् है, सूर्यकी अग्नि है, ताप और प्रकाश, तपस् और तेजस्-रूपी आग्नेय तत्त्व है, वह चाहे कहीं भी प्राप्त हो। प्रश्न यह है कि क्या वह चैत्यलोकमें वही

तत्त्व भी है। यदि हां तो वह वही मनोवैज्ञानिक तत्त्व होना चाहिए जिसे पीछेके परिभाषा-शास्त्रमें तपस् कहा गया है। वैदिक अग्निके दो विशेष गुण हैं, ज्ञान और देदीप्यमान शक्ति, प्रकाश और आग्नेय शक्ति। इससे यह सूचित होता है कि वह विश्वव्यापी देवाधिदेवकी शक्ति है, ज्ञानसे अनुप्राणित सचेतन शक्ति या संकल्प है—यही है तपस्का स्वरूप,—जो विश्वको व्यापे है और इसके सब क्रिया-व्यापारोंके पीछे स्थित है। अतएव अग्नि अपने व्यापारोंके चैत्य और आध्यात्मिक अर्थमें उस संकल्पकी अग्नि ही होगा जो अपने अन्तर्निहित और सहजात ज्ञानके कार्य करता है। वह द्रष्टा, **कविः**, है, विचारका परम प्रेरक, **प्रथमो मनोता**, और वाणी एवं ईश्वरीय शब्दका भी प्रेरक है, **उपवक्ता जनानाम्**, हृदयस्थ शक्ति है जो कार्य करती है, **हृदिस्पृशं क्रतुम्**, क्रिया और गतिका प्रेरक है, यज्ञ-कार्यमें मनुष्य का दिव्य मार्गदर्शक है। वह यज्ञका **पुरोहित** है, **होता (होतृ)** है जो देवोंको पुकारता और ले आता है और उन्हें हवि देता है, वह **ऋत्विक्** है जो ठीक विधि-व्यवस्थाके साथ तथा ठीक ऋतुमें यज्ञ करता है, वह **पोता (पोतृ)** नामका पुरोहित है जो पवित्र करता है, वह **पुरोहित** है जो यजमानके प्रतिनिधिके रूपमें आगे स्थापित होता है, वह यज्ञका परिचालक, **अध्वर्यु**, है; वह इन सब पवित्र अधिकारोंको अपनेमें संयुक्त किए है। यह प्रत्यक्ष ही है कि ये सब व्यापार मनुष्यमें अवस्थित उस दिव्य संकल्प या चेतन शक्तिसे सम्बन्ध रखते हैं जो अन्तर्यज्ञमें जाग उठती है। इस अग्निने सब लोकोंको रचा है, यह सर्जक शक्ति, जातवेदस् अग्नि, सब जन्मों अर्थात् जात (उत्पन्न) पदार्थोंको, उस सबको, जो इन लोकोंमें है, जानता है। वह एक दूत है जो पृथ्वीको जानता है, द्युलोककी विकट ढलानपर, **आरोधनं दिवः**, चढ़ना जानता है, सत्यके धामका मार्ग जानता है; वह मनुष्य और ईश्वरके बीच मध्यस्थता करता है। ये चीजें भौतिक आगके देवतापर कठिनाईसे ही लागू होती हैं; पर यदि हम अग्नि-देवताके दिव्य स्वरूप और व्यापारोंपर अधिक विशालतासे दृष्टिपात करें तो ये उसके लिए आश्चर्यजनक रूपसे उपयुक्त हैं। वह पृथ्वीका देवता अर्थात् पार्थिव सत्ताकी शक्ति है, **अवमः**, पर वह कामनाके अन्दर प्राणिक इच्छा-शक्ति प्रतीत होता है, जो अपने धूमके द्वारा भक्षण करता और जलाता है, और फिर वह मानसिक शक्ति भी है। मनुष्य उसे तारोंसे युक्त द्युलोकके समान देखते हैं, **द्यामिव स्तृभिः**, द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी उसके अंश हैं। फिर वह 'स्वर्' का देवता भी है, सौर देवताओंमें से एक वह अपनेको सूर्यके रूपमें अभिव्यक्त करता है, वह सत्यमें उत्पन्न हुआ (**ऋतजात**) है; सत्य का स्वामी है, सत्य और अमरत्व का

रक्षक है, चमकीली गायोंको प्राप्त करने और उनकी रक्षा करनेवाला है, नित्य यौवन (सदायुवा) है और इन गुह्य पशुओंके यौवनको फिरसे नया करता है। वह अनन्तके अन्दर तीन रूपोंमें फैला हुआ है। ये सब कार्य-व्यापार भौतिक अग्निके देवताके (विषयमें) नहीं कहे जा सकते; पर ये सब मनुष्य और विश्वमें विद्यमान चेतन दिव्य संकल्पके उपयुक्त गुण हैं। वह युद्धका अश्व है एवं अति वेगशाली अश्व है, और फिर वह श्वेत अश्व भी प्रदान करता है; वह पुत्र है और मनुष्यके लिए पुत्रको उत्पन्न करता है। वह योद्धा है और मनुष्यके लिए उसके युद्धके वीरोंको लाता है। वह दस्यु और राक्षसको अपनी ज्वालासे विनष्ट कर देता है; वह वृत्रका वध करनेवाला है। क्या यहाँ हमें केवल निष्ठुर एवं अनम्य द्रविड़ोंके या यज्ञका विरोध करनेवाले राक्षसोंके वधकर्ताको ही देखना है? वह सैंकड़ों प्रकारसे उत्पन्न होता है; पौधोंसे, अरणिसे, जलोंसे। उसकी जनक हैं दो अरणियां, किन्तु फिर उसके जनक द्यौ और पृथ्वी भी हैं, और यह (अरणि) एक ऐसा शब्द है जो अपने अन्दर दोनों अर्थोंको मिलाता प्रतीत होता है। तो क्या दो अरणियां द्यौ और पृथ्वीके प्रतीक नहीं हैं; इस बातके प्रतीक नहीं हैं कि अग्नि मर्त्योंके लिए भौतिक सत्ता (पृथिवी) पर दिव्यतर मानसिक सत्ता (द्यौ) की क्रियासे उत्पन्न होता है। दस बहिनें उसकी माताएँ हैं—टीकाकार कहता है कि ये दस अंगुलियाँ हैं; हां, पर वेद इनका वर्णन यों करता है कि ये दस विचार या विचार-शक्तियाँ, दश धियः, हैं। सात नदियां, द्युलोककी शक्तिशाली नदियां, ज्ञानसे संपन्न जलधाराएं, स्वर्‌की जलधाराएँ भी उसकी माताएँ हैं। इस प्रतीकात्मक वर्णनका तात्पर्य क्या है, क्या हम वस्तुतः इसकी यों व्याख्या कर सकते हैं कि यह केवल और एकमात्र प्राकृतिक दृग्विषयोंका, अग्निरूपी भौतिक तत्त्वका या उसके कार्योंका रूपकात्मक वर्णन है? यदि इस बातको तुच्छ-से-तुच्छ रूप एवं शब्दोंमें रखा जाय तो यह कह सकते हैं कि कमसे कम यहाँ तो अग्निके एक अधिक गंभीर मनोवैज्ञानिक व्यापारकी प्रबल संभावना है। ये हैं हल करने योग्य मुख्य बातें। तो अब हम यह देखें कि अग्निका बाह्य स्वरूप ऋचाओंमें किस प्रकार विकसित होता है; अपने मनोंको खुले रखते हुए हम इस बातकी परीक्षा करें कि अग्निके विषयमें यह परिकल्पना कि वह वैदिक रहस्योंके अन्तर्गत देवताओंमेंसे एक है, टिक सकती है या नहीं। और इसका अर्थ यह है कि क्या वेद कर्मकाण्डीय सूक्तोंकी अर्द्धबर्बर पुस्तक है, आदिम प्रकृति-पूजाकी पुस्तक है या ऋषियों और गुह्यवेत्ताओंका धर्मग्रन्थ।

इस परीक्षाके लिए हम ऋग्वेदके चौथे मण्डलका 7वाँ सूक्त लेते हैं।
छन्दः—जगती, 2-6 अनुष्टुप्, 7-11 त्रिष्टुप्:

अयमिह प्रथमो धायि धातृभि होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥१॥

आलोचनात्मक टिप्पणियां

धातृभिः—सायण 'धातृ' शब्दकी यों व्याख्या करते हैं, वह जो यज्ञके लिए कार्य करता है, अतएव पुरोहित, किन्तु अधिक स्वाभाविक रूपमें, 'धातारः'का अर्थ यहाँ देवता, वस्तुओंके स्रष्टा और विधाता होगा, यद्यपि इसे 'यज्ञिय कार्यकी व्यवस्था करनेवाले'के अर्थमें लेना भी संभव है। 'धायि धातृभिः' इन शब्दोंको एक साथ पास-पास रखना कदाचित् सर्वथा अर्थहीन नहीं हो सकता। देवता वे हैं जो सृष्टिके क्रमको स्थापित या व्यवस्थित करते हैं, प्रत्येक पदार्थको उसके अपने स्थान पर, उसके अपने नियम तथा कार्य-व्यापारके अनुसार स्थापित या व्यवस्थित करते हैं। उन्होंने अग्निको यहाँ, इह, स्थापित किया है। 'यहाँ'का अर्थ हो सकता है—यज्ञमें, पर अधिक व्यापक रूपमें इसका अर्थ होगा—यहाँ पृथ्वीपर।

होता—'होता' शब्दको सायण कभी-कभी "देवोंका आह्वान करनेवाला" इस अर्थमें लेते हैं और कभी "होम करनेवाला या अग्निमें आहुति देनेवाला" के अर्थमें। वास्तवमें इसमें दोनों ही अर्थ हैं। अग्नि 'होता'के रूपमें देवताओंको मन्त्रके द्वारा यज्ञमें बुलाता है और उनके आनेपर उन्हें आहुति देता है।

अध्वरेषु—'अध्वर' शब्दकी व्याख्या निरुक्तमें यह की गई है कि इसका शाब्दिक अर्थ है—अहिंस्रः, "अहिंसक (हिंसा न करनेवाला)", अ+ध्वर ('ध्वृ हिंसायां' धातुसे), और इस प्रकार इसका अर्थ हुआ अहिंसित यज्ञ, और इसलिए केवल 'यज्ञ'। निश्चय ही, यह यज्ञकी विशेषता बतानेवाले विशेषण-के रूपमें प्रयुक्त होता है, अध्वरो यज्ञः। अतः इसे किसी ऐसे गुणका वाचक अवश्य होना चाहिए जो यज्ञमें इतने स्वाभाविक रूपसे विद्यमान हो कि वह अकेला अपने-आपमें उस—'यज्ञ'—अर्थको प्रकट करनेमें समर्थ हो। पर "अहिंसक (अध्वर)" शब्द अकेला अपने-आपमें यज्ञका वाचक कैसे बन सकता है? मेरा सुझाव यह है कि जैसे 'असुर'में 'अ'को निषेधार्थक मानना भूल है और यह (असुसे नहीं) 'असु क्षेपणे (असु फेंकना)' इस धातुसे बना है और इसका अर्थ है प्रबल, बलशाली, शक्तिमान्, उसी प्रकार 'अध्वर' मार्ग और यात्राके वाचक 'अध्वन्' शब्दसे बना है। इसका अभिप्राय है यात्रारूपी यज्ञ,

एक ऐसा यज्ञ जो पृथ्वीसे द्युलोककी ओर यात्रा करता है और इस यात्रामें अग्नि उसे देवोंके मार्गसे ले चलता है। यदि हम 'अध्वर' शब्दको 'ध्वृ' धातुसे ही बनायें तो यह अधिक अच्छा होगा कि हम 'ध्वृ'[1]का साधारण अर्थ लेकर अध्वरका अर्थ करें अकुटिल, सीधा-सरल और तब भी इसका अर्थ होगा यज्ञ जो ऋजु मार्गके द्वारा सीधे, बिना विचलित हुए, देवोंकी ओर जाता है, पन्थाः अनृक्षरः, ऋजुना पथा (ऋ० 1.41.4-5), अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थाः (ऋ० 10.85.23)।

ईड्यः—सायणने इसका अर्थ किया है: ऋत्विजोंके द्वारा "जिसकी प्रशंसा या स्तुति की जाती है"। किन्तु तब इसका अर्थ होना चाहिए "स्तुति-के योग्य"। आरम्भमें ईळ्, ईड्का अर्थ रहा होगा गति करना, पास जाना; पीछे इसका अर्थ हो गया प्रार्थना करना, याचना या कामना करना, याचामहे। मैं इसे "काम्य" या "उपास्य"के अर्थमें लेता हूँ।

वनेषु—वेदमें वनका अर्थ होता है वृक्ष, जंगल, पर साथ ही लट्ठ और इमारती लकड़ी भी। **चित्रम्**—कभी सायण 'चित्रम्'का अर्थ करते हैं, पूज्ये, चायनीयम् पूज्यम्, और कभी विचित्र, नानाविध या अद्भुत। यहां उन्होंने अर्थ किया है "विविध रूपसे सुन्दर"। मैं इसे वेदके सभी सन्दर्भोंमें, जैसे कि 'इन्द्र चित्रभानो'में, 'नानाविध प्रकाश या सौन्दर्य'के इस अन्तिम अर्थमें ही लेता हूँ। मैं ऐसा कोई भी कारण नहीं देख पाता कि कहीं भी इसे पूजनीयके अर्थमें लिया जाए।

विभ्वम्—सायणः—प्रभु, स्वामी। परन्तु ऋग्वेदमें 'विभु'का अर्थ निश्चय ही यह है: "व्यापक रूपसे होनेवाला" या "सत्तामें व्यापक" या "व्यापक, प्रचुर, समृद्ध"। मुझे ऐसा कोई स्थल नहीं मिला जहां इसका अर्थ आवश्यक रूपसे 'प्रभु' ही होना चाहिए। 'प्रभु' तो इसका एक ऐसा अर्थ है जो आगे चलकर अभिजात साहित्यमें हो गया। 'विभ्व'का अर्थ अवश्यमेव वही होना चाहिए जो विभुका है।

अनुवाद :

"देखो, यहाँ पर विधाताने स्थापित कर दिया है होता को (आहुतिके पुरोहितको), उस 'होता'को जो परम है, यज्ञ करनेमें सर्वाधिक शक्तिशाली

---

1. पाणिनीय धातुपाठमें 'ध्वृ हूर्च्छने' ऐसा पाठ है। हूर्च्छनका अर्थ है कौटिल्य, कुटिलता, यद्यपि इस धातुका प्रयोग हिंसाके अर्थमें भी देखनेमें आता है। —अनुवादक

है, यात्रा-यज्ञोंमें उपास्य है, जिसे अप्नवान और भृगुओंने प्रत्येक मानव प्राणी-के लिए वनोंमें सर्वव्यापक, चित्र-विचित्र, समृद्धियुक्त अग्निके रूपमें चमकाया।"

यह पहली ऋचा है; इसमें ऐसा कुछ नहीं है जिसका तात्पर्य असंदिग्ध रूपसे मनोवैज्ञानिक हो। वाह्य अर्थमें यह यज्ञके पुरोहितके रूपमें अग्निके गुणोंका वर्णन है। उसका निर्देश उसके यज्ञिय अग्निवाले रूपमें किया गया है जिसे पुरोहित प्रदीप्त करते हैं, यज्ञमें उसके अपने स्थान पर स्थापित करते हैं या वहाँ उसका आधान करते हैं। यह निर्देश इस स्पष्ट कथनके तुल्य है कि यह पावन ज्वाला यज्ञके लिए एक महान् शक्ति है, देवोंमें प्रधान देव है जिसकी स्तुति या उपासना करना आवश्यक है, सबसे पहले अप्नवान और अन्य भृगुओंने ही अग्निके (यज्ञिय) उपयोगका आविष्कार किया और सब लोगोंके द्वारा उसका उपयोग कराया। यहाँ वनकी अग्निका वर्णन अनुपयुक्त प्रतीत होता है जब तक कि इसका यह अभिप्राय न हो कि अग्नि-को वनकी आगके रूपमें विस्तृत और सुन्दर रूपसे जलते देखकर उन्हें यह विचार आया कि उन्होंने अग्निको शाखाओंके परस्पर रगड़नेसे उत्पन्न होते देखकर उसका आविष्कार किया या कि सबसे पहले उन्होंने वनकी अग्निके रूपमें ही इसे प्रज्वलित किया। नहीं तो यह एक आलंकारिक एवं निरर्थक वर्णनमात्र है।

किन्तु यदि हम क्षणभरके लिए यह मान लें कि इस रूपकके पीछे अग्नि-का संकेत अंतर्यज्ञके होताके रूपमें किया गया है, तो यह देखने योग्य होगा कि इन रूपकोंका अर्थ क्या है। प्रारम्भके शब्द हमें यह बताते हैं कि सचेतन संकल्पकी यह ज्वाला, हमारे अन्दर स्थित यह महान् वस्तु, **अयम् इह**, यहाँ मनुष्यमें देवताओंके द्वारा, विश्वव्यवस्थाके विधाताओंके द्वारा स्थापित की गई है, एक ऐसी शक्ति बननेके लिए स्थापित की गई है जिसके द्वारा मनुष्य अभीप्सा करता है और अन्य दिव्य शक्तियोंको अपनी सत्ताके अन्दर पुकारता है और अपने ज्ञान, संकल्प एवं आनन्दको तथा अपने अन्तर्जीवनके समस्त ऐश्वर्यको एक-एक यज्ञ-कार्यके रूपमें **सत्यके अधिपतियोंके** प्रति अर्पित करता है। तो ये प्रथम शब्द दीक्षितके लिए यही अर्थ रखते हैं कि ये वैदिक रहस्योंका आधारभूत विचार, यज्ञका अर्थ तथा मनुष्यमें स्थित भग-वत्संकल्प, मर्त्योंमें स्थित **अमर्त्य, अमर्त्यं मर्त्येषु**, का विचार प्रतिपादित करते हैं। इस ज्वालाके विषयमें कहा गया है कि यह परम या प्रथम शक्ति है। भगवन्मुखी संकल्प अन्य सभी भगवन्मुखी शक्तियोंका नेतृत्व करता है; उसकी उपस्थिति सत्य और अमरत्वकी ओर गतिका आरम्भ है और वह यात्राका

नायक भी है। गुह्य साधनाके संचालनमें वह महत्तम शक्ति है—**यजिष्ठ** हैं, यज्ञ करनेके लिए सर्वाधिक शक्तिशाली है। मनुष्यका यज्ञ एक तीर्थ-यात्रा है और दिव्य संकल्प-शक्ति उसकी नेत्री है, अतएव प्रत्येक यज्ञ-कार्यमें हमें इसीकी उपासना या प्रार्थना करनी चाहिए अथवा इसीकी उपस्थितिकी कामना करनी चाहिए।

ऋचाकी दूसरी पंक्ति मनुष्योंमें इस ज्वालाके प्रथम अन्वेषण या जन्मका वर्णन हमारे सामने प्रस्तुत करती है। क्योंकि आत्मा मनुष्यमें वहाँ हमारी सत्ताकी अन्तर्गुहामें गुप्त रूपसे विद्यमान है, गुहा हितम्, जैसा कि वेदों और उपनिषदोंमें कहा गया है; और उसकी संकल्पशक्ति आध्यात्मिक संकल्पशक्ति है जो वहाँ आत्मामें निगूढ़ है, निश्चय ही वह हमारी समस्त वाह्य सत्ता और क्रियामें विद्यमान है, क्योंकि समस्त सत्ता और क्रिया आत्मा ही है, किन्तु फिर भी उसकी वास्तविक प्रकृति, उसकी सहजात क्रिया छुपी हुई है, वह यहाँ परिवर्तित रूपमें ही विद्यमान है, भौतिक जीवनमें वह अपने आध्यात्मिक-शक्तिके सच्चे स्वरूपमें प्रकट नहीं है। यह वैदिक चिंतनका एक आधारभूत विचार है; और यदि हम इसे अच्छी तरह मनमें रखें तो हम वेदकी अनूठी रूपकमालाको हृदयंगम कर सकेंगे। पृथ्वी भौतिक सत्ताका प्रतीक है; भौतिक सत्ता, भौतिक आनन्द और कार्य इत्यादि 'पृथ्वी'के ही प्ररोह या उपज हैं; इसलिए उनका प्रतीक है वन, वृक्ष, पौधे, सब प्रकारकी ओषधि-वनस्पतियां, वन, वनस्पति, ओषधि। अग्नि वृक्षों और पौधोंमें छुपी हुई है, वह पृथ्वीपर उगनेवाले प्रत्येक पदार्थमें, वनेषु, छुपा हुआ ताप और आग है। भौतिक जीवनमें हम जिस किसी भी पदार्थमें आनन्द लेते हैं वह आत्माकी गुप्त-ज्वालाकी उपस्थितिके बिना अस्तित्वमें नहीं आ सकता था या 'पुरोहित' (सम्मुख स्थापित) नहीं हो सकता था। अरणियोंको मथकरके, अरणि नामक सुदाह्य काष्ठके दो टुकड़ोंको परस्पर रगड़कर आगको प्रज्वलित करना अग्निको अपने रूपमें, रूपे, प्रदीप्त करनेका एक प्रकार है, पर इसीको एक और जगह अंगिरस् ऋषियोंका कार्य बताया गया है। यहाँ अप्नवान और भृगुओंको इस प्रकार अग्निके प्रदीप्त करनेवाले कहा गया है पर विधिका कोई निर्देश नहीं किया गया। केवल इतना ही कहा गया है कि उन्होंने इसे इस प्रकार प्रदीप्त कर दिया कि वह वनोंमें चित्र-विचित्र ज्योतिके सौन्दर्यके साथ, एक व्यापक उपस्थितिके रूपमें प्रज्वलित हो उठा, **वनेषु चित्रं विभ्वम्।** गूढ़ प्रतीकवादके अनुसार अवश्य ही इसका अर्थ होना चाहिए—मनुष्यके भौतिक जीवनमें दिव्य संकल्प और ज्ञानकी ज्वालाकी समृद्ध और नानाविध अभिव्यक्ति, जो उसके जीवनकी सब उपजों (प्ररोहों)

पर, उसके समस्त अस्तित्व, कार्य और सुख-भोग पर अधिकार करले, उसे अपना भोज्य—**अन्नम्**—वना ले और उसका भक्षण कर उसे आध्यात्मिक जीवनकी सामग्रीमें वदल दे। किन्तु मनुष्यके स्थूल भौतिक जीवनमें आत्माकी इस अभिव्यक्तिको भृगुओंने प्रत्येक मानव प्राणीके लिए, विशे-विशे, सुलभ वनाया था—हमें यह अनुमान करना होगा कि ऐसा उन्होंने यज्ञकी विधिके द्वारा ही किया था। इस अग्निको, दिव्य संकल्पशक्तिकी इस सर्वजनीन ज्वालाको उन्होंने यज्ञका **होता** वनाया था।

अव प्रश्न यह रह जाता है कि ये भृगु कौन हैं—जिनमेंसे, हम कल्पना कर सकते हैं कि, अप्नवान कमसे-कम इस कार्यमें अग्रणी या प्रमुख है? क्या यह वात केवल ऐतिहासिक परम्पराको सुरक्षित रखनेके लिए कही गई है कि भृगु अंगिरस् ऋषियोंकी तरह गूढ़ वैदिक ज्ञान और साधनाके संस्थापक थे? पर यह कल्पना अपने-आपमें संभव होती हुई भी चौथे मन्त्रमें आए एक विशेषण 'भृगवाणम्'से खण्डित हो जाती है जो स्पष्टतः ही इस पहली ऋचाकी ओर संकेत करता है। सायण वहाँ इसका अर्थ करते हैं "भृगुकी भांति कार्य करते हुए" और भृगुकी भांति कार्य करनेका अर्थ है चमकना। हम यहाँ इस महत्त्वपूर्ण तथ्यको उभरते देखते हैं कि परम्परागत ऋषियों और उनके परिवारोंमेंसे कम-से-कम कुछ एक अपने स्वरूपमें प्रतीकात्मक हैं। यह तथ्य यहाँ कर्मकाण्डीय व्याख्याकारने भी एक तर्कसंगत व्यावहारिक तथ्यके प्रति अपनी आसक्तिके होते हुए भी स्वीकार कर लिया है। जिस प्रकार अंगिरस् ऋषि वेदमें अत्यन्त स्पष्ट रूपसें अग्निकी सात प्रभाएं हैं, **सप्त धामानि**—सायण कहते हैं कि वे आगके दहकते अंगारे हैं, पर यह तो निरा व्युत्पत्ति-कौशल है,—उनके 'सप्त-प्रभा-रूप' होनेके संकेत वेदमें सर्वत्र पाए जाते हैं, पर दसवें मण्डलमें यह वात विल्कुल स्पष्ट कर दी गई है, (जिस प्रकार वे सप्त-प्रभा-रूप हैं) ठीक इसी प्रकार भृगु (धात्वर्थ—भृज् प्रज्वलित करना) वेदमें स्पष्टतः ही **ज्ञानके अधिपति** सूर्यकी प्रज्वलित शक्तियाँ हैं। तो फिर प्रस्तुत मन्त्रमें प्रतिपादित सारे-का-सारा विचार निश्चयोत्पादक स्पष्टताके साथ प्रकट हो जाता है। सत्योद्भासक ज्ञानकी शक्तियाँ ही, द्रष्टृ-प्रज्ञाकी शक्तियाँ ही, जिनके प्रतीकरूप प्रतिनिधि हैं भृगु, आध्यात्मिक संकल्पशक्तिकी यह महान् उपलब्धि या आविष्कार करती हैं और इसे प्रत्येक मानव प्राणीके लिए सुलभ बना देती हैं। अप्नवानका अर्थ है वह जो कर्म करता है या वह जो उपलब्ध एवं आयत्त करता है। द्रष्टृ-प्रज्ञा ही मापती है और सत्य-दर्शनके प्रकाशमें उपलब्ध करती है, उस सत्य-दर्शनके परिणाम-स्वरूप ही भृगुओंको (आध्यात्मिक संकल्पशक्ति,

अग्नि की) उपलब्धि होती है। यहाँ इस ऋचाका अर्थ पूर्ण हो जाता है।

इसपर तुरन्त ही यह कहा जायगा कि यह भावराशि इतनी अपरिमित है कि इसे इस अकेली ऋचामें नहीं पढ़ा जा सकता और कि यहाँ ऐसे किसी अर्थका कोई प्रत्यक्ष संकेत-सूत्र ही नहीं है। निःसन्देह यहाँ कोई प्रत्यक्ष सूत्र नहीं है, हैं केवल प्रच्छन्न संकेत जिन्हें लांघ जाना और दृष्टिमें न लाना आसान है। गुह्यवादियोंका अभिमत भी यही था कि साधारण संसारी लोग—अदीक्षित पंडित भी जिनसे वाहर नहीं हैं,—इनके ऊपर-ऊपरसे गुजर जाएं और इनकी उपेक्षा कर दें। मैंने ये अर्थ शेष वेदके संकेतोंके आधार पर ला विठांए हैं। परन्तु स्वयं इस सूक्तमें जहाँ तक इस पहली ऋचाका सम्बन्ध है यह सहज ही एक शुद्ध कर्मकाण्डीय ऋचा हो सकती है, पर वह केवल तभी यदि इसे अकेले लिया जाय। ज्यों ही हम इससे आगे चलते हैं, हम स्पष्ट मनोवैज्ञानिक निर्देशोंके अम्बारमें पूरी तरहसे जा उतरते हैं। यह वात वहुत शीघ्र, यहाँ तक कि दूसरी ऋचामें ही, प्रत्यक्ष होने लगेगी।

ऋचा 2

अग्ने कदा त आनुषग् भुवद्देवस्य चेतनम्।
अधा हि त्वा जगृभ्रिरे मर्तासो विक्ष्वीड्यम् ॥2॥

अग्ने हे अग्नि! कदा कब ते देवस्य चेतनम् तुझ देवका ज्ञान (या चैतन्य)के प्रति जागरण आनुषग् भुवत् सतत स्थायी होगा (अपनी धारामें अविच्छिन्न होगा)। अधा हि क्योंकि तभी (या निःसन्देह अब) मर्तासः मर्त्य मनुष्य त्वा जगृभ्रिरे तुझे अधिकारमें कर लेते हैं (ग्रहण और धारण कर लेते हैं) जो तू विक्षु ईड्यम् (मानव) प्राणियोंमें (या प्रजाओंमें) पूजनीय है।

आलोचनात्मक टिप्पणियां

देवस्य—सायण 'देव' शब्दको कभी तो देवताके अर्थमें लेते हैं और कभी केवल 'दीप्यमान' इस विशेषणके पर्यायके रूपमें। देवताओंको देवाः इसलिए कहा जाता है कि वे प्रकाशमान सत्ताएँ है, प्रकाशके पुत्र हैं। और यह भलीभांति संभव है कि यह शब्द ऋषियोंको सदा इस विचारका स्मरण कराता रहा हो पर मैं नहीं समझता कि देव वेदम कहीं भी एक कोरा रंगरूप-रहित विशेषण है; सभी स्थलोंमें "देव" या "दिव्य" यह अर्थ सर्वश्रेष्ठ भावार्थ प्रदान करता है और इसे किसी अन्य अर्थमें लेनेके लिए मैं कोई उचित कारण नहीं देखता।

चेतनम्—सायण इसका अर्थ करते हैं तेजः (तेज), किन्तु 'चित्' धातुका अर्थ 'चमकना' नहीं है, इसका अर्थ सदा 'सचेतन होना', 'सज्ञान होना' या 'जानना' होता है, **चेतति, चेतयति**—जानता है, जनवाता है, **चेतस्**—हृदय, मन, ज्ञान, **चैतन्यम्, चेतना**—चेतनता, चैतन्यशक्ति, **चित्तम्**—हृदय, चेतना, मन। अलंकार या प्रतीकका आश्रय लिए विना इसे यहाँ प्रकाशके अर्थमें लेना एक स्पष्ट, सीधे मनोवैज्ञानिक संकेतको, बिना किसी औचित्यके, जानबूझकर दृष्टिसे ओझल करना है।

अधा, अ-धा—इस या उस प्रकारसे, इस प्रकार, पर साथ ही इसका अर्थ होता है 'तब या अब'। सायण इसका संबन्ध 'भुवत्'के साथ जोड़कर इसका अर्थ करते हैं 'इसलिए' (होना चाहिए)। ऐसा करते हुए वे 'हि' के अपने अभिमत अर्थकी तैयारी करते हैं। वे कहते हैं, हि=क्योंकि, इस कारण। इस प्रकार, '**ते चेतनम् आनुषग् भुवत्, अधा हि**'का अर्थ सायण यों करते हैं:—तेरा प्रकाश सतत क्यों होना चाहिए? इसलिए क्योंकि—**अधा हि**...(यह एक वहुत ही जोर-जवरदस्तीसे की हुई अर्थ-योजना है जो सर्वथा अस्वाभाविक है और भावकी शृंखला, गतिधारा तथा उसके सीधे-सादे अनुक्रमके विरुद्ध है।

जगृभ्रिरे—यह एक वैदिक रूप है। इसे वैयाकरण 'ग्रह्—पकड़ना' इस धातुसे, 'ह्'के 'भ्'में परिवर्तनके द्वारा, बना हुआ मानते हैं, बहुत संभवतः यह एक पुराने धातु 'ग्रभ्'से बना है और एक अनोखा, अप्रचलित, आर्ष रूप है। यदि इसका भावार्थ है, "क्योंकि उसे वे ग्रहण कर लेते हैं", और यहाँ भूतकाल 'पूरे हो चुके कार्य'का अर्थ देता है तो हम यों कहेंगे, "ग्रहण (अधिकृत) कर चुके होंगे", अर्थात्, "जब तू सतत जानता है (सचेतन होता है)" अथवा 'अधा'को 'अब'के अर्थमें लें, "निःसन्देह अब ही उन्होंने ग्रहण किया है पर अभी सतत चैतन्य (**आनुषक् चेतनम्**) प्राप्त नहीं किया।" पर इससे वैसा अच्छा अर्थ नहीं बनता और साथ ही इसमें भद्दे विपर्यय और अध्याहारके दोष भी आ घुसते हैं।

अनुवाद

"हे अग्निज्वाला, ज्ञानके प्रति तेरा जागरण कब एक अविच्छिन्न शृंखला-रूप होगा? क्योंकि तभी मनुष्य तुझे इस रूपमें ग्रहण (अधिकृत) कर लेते हैं कि तू प्राणियोंमें उपास्य देव है"।

यहाँ हम 'चेतनम्' शब्दमें पहला स्पष्ट एवं सीधा मनोवैज्ञानिक संकेत पाते हैं। पर अग्निके इस सतत सज्ञान होनें या ज्ञानके प्रति जागरित होने-

का अर्थ क्या है ? पहले हम मनोवैज्ञानिक संकेतसे पिण्ड छुड़ानेका यत्न करें, ऐसा समझें कि चेतनम्=चेतना और फिर अग्निकी चेतनाको उसके जलनेका एक काव्यमय रूपकमात्र समझें। किन्तु अगली ऋचाओंमें हम 'आनुषक् चेतनम्' इस पदावलिकी जो आवृत्ति पाते हैं वह इस अर्थके विरोधमें जाती है। ५वीं ऋचामें इसकी आवृत्ति यों हुई है: 'आनुषक् चिकित्वांसम्' जिसमें 'चिकित्वांसम्' निश्चय ही 'सचेतन ज्ञान'का द्योतक है न कि केवल 'जलने'का। तीसरी ऋचामें भी 'चेतनम्'का विचार फिरसे लिया गया है और मन्त्रके शुरूके दो शब्दों 'ऋतावानं विचेतसम्'में स्वयं 'चेतनम्' शब्दको भी प्रतिध्वनित किया गया है। 'ऋतावानं विचेतसम्'का अर्थ है 'सत्यसे युक्त, ज्ञान (प्रज्ञा)में पूर्ण' और ये दोनों अग्निदेवके लिए विशेषणके रूपमें प्रयुक्त हुए हैं। इस वलपूर्ण संकेतसे आंखें मूंद लेना और 'चेतनम्'को निरे जलने, 'ज्वलनम्'के अर्थमें लेना केवल एक पैंतरेवाजी होगी। तो क्या इसका अर्थ स्थूल यज्ञकी ज्वालाका सतत प्रज्वलन है, जो इस विचारको साथ लिए हुए है कि ज्वाला अग्निदेवका शरीर है और चेतन देवकी उपस्थितिको सूचित करती है। तो फिर अग्निका ज्ञान या प्रज्ञा किस बातमें निहित है? यह कहा जा सकता है कि वह केवल होता और कविः (द्रष्टा)के रूपमें ही ज्ञानवान् है जो स्वर्गका मार्ग जानता है (मन्त्र 8)। पर तव 'ऋतावानं विचेतसम्'का क्या होगा ? वह निश्चय ही किसी महत्तर ज्ञान, किसी महान् सत्यकी ओर संकेत करता है जिसे अग्नि धारण करता है। क्या यह सव केवल भौतिक अग्निके देवकी ओर ही निर्देश करता है या एक अन्तरग्निके ज्ञान एवं प्रज्ञाकी ओर, उस अन्तरग्निके जो मानवमें और जगत्में स्थित भागवत शक्ति या भगवत्संकल्पशक्तिकी अग्नि है, ज्योतिर्मय एकमेवकी, देवस्य, अतिथि और द्रष्टा, अतिथिः, कविः की। मैं इसे इस अर्थमें लेता हूँ—ऋषि इस आन्तर अग्निका आवाहन कर कहता है, "कव तू मेरे यज्ञकी वेदीपर मुझमें निरन्तर प्रदीप्त होगा; कव तू प्रज्ञाके प्रत्यक्ष उन्मेषोंको, उनकी समस्त निर्बाध शृंखला, सम्वन्ध-परम्परा, व्यवस्था और संपूर्णता सहित प्रदान करनेके लिए ज्ञानकी एक सतत-स्थायी शक्ति बन जायगा, सदा-सर्वदा और सम्पूर्णतया इस प्रज्ञाके ही वचनोंको, काव्यानि, वोला करेगा" ? यदि प्रस्तुत मन्त्र अन्तर्ज्वालासे किंचित् भी संवन्ध रखता है तो इसका अर्थ अवश्यमेव यही होना चाहिए। हमें स्मरण रखना होगा कि वैदिक प्रतीकवादके अनुसार, सारे प्रतीकात्मक वर्षभर—अंगिरसोंके यज्ञके नौ या दस महीनों तक—सतत यज्ञ करके ही सूर्यको, सत्य एवं प्रज्ञाके स्वामीको अन्धकारकी गुफासे प्राप्त किया गया था। वारंवार दोहराया गया यह एक ही यज्ञ,

प्रत्यक्ष प्रकट होती हुई अन्तर्ज्वालाके इस सातत्यकी तैयारीमात्र है। केवल तभी मनुष्य पुनः-पुनः दबावके द्वारा अग्निको समय-समय पर न केवल जगाते ही हैं, अपितु संकल्प और ज्ञानकी इस अन्तर्ज्वालाको, इस प्रत्यक्ष उपस्थित देवको प्राप्त भी कर लेते हैं तथा अपने अन्दर सतत धारण भी करते हैं, जिसे हम तब सभी सचेतन विचारशील प्राणियोंमें देखते और पूजते हैं। अथवा हम अन्तिम दो चरणोंको इस अर्थमें ले सकते हैं "अब ही निःसन्देह वे इसे ग्रहण कर लेते हैं" इत्यादि। और तब हमें इसे इससे विरुद्ध अर्थमें भी लेना पड़ेगा, अर्थात् इस अर्थमें कि इस समय मनुष्योंके पास यह सतत ज्वाला नहीं है, पर केवल यज्ञके प्रयासमें यज्ञकी वास्तविक अवधि तकके लिए वे उसे अपने अधिकारमें कर लेते हैं। यह अर्थ संभव है, पर यह उतना स्वाभाविक अर्थ नहीं है जितना मेरा दिया हुआ अर्थ; वास्तविक शब्दोंसे यह कम सरल और कम सीधे रूपमें निकलता है। अगली दो ऋचाओं (3-4)में ही अग्निके आनुषक् चेतनम् (सतत चैतन्य)से पहलेकी वर्तमान क्रियाका वर्णन किया गया है, जब कि पांचवीं ऋचामें ऋषि ज्ञानकी महत्तर सतत ज्वालाके विचारकी ओर फिरसे लौटता है, इस मन्त्रके 'आनुषक् चिकित्वांसम्'में दूसरे मन्त्रके 'आनुषक् चेतनम्'को और अधिक अर्थगर्भित रूपमें दुहराता है। यह मुझे सूक्तकी विचारधाराका स्पष्ट स्वाभाविक क्रम प्रतीत होता है।

ऋचा ३

ऋतावानं विचेतसं पश्यन्तो द्यामिव स्तृभिः।
विश्वेषामध्वराणां हस्कर्तारं दमेदमे ॥3॥

पश्यन्तः वे उसे देखते हैं जो **ऋतावानम्** (ऋतवन्तम्) सत्यसे संपन्न है, **विचेतसम्** पूर्ण ज्ञानी है, **द्यामिव स्तृभिः** नक्षत्रमण्डित आकाशकी तरह **दमे-दमे** (गृहे-गृहे) घर-घरमें **विश्वेषाम् अध्वराणाम्** समस्त (यात्रा)-यज्ञोंका **हस्कर्तारम्** प्रकाशक है।

आलोचनात्मक टिप्पणियां

ऋतावानम्, ऋत+वन्=ऋतावान्

वैदिक प्रत्यय 'वत्'का वही अर्थ है जो लौकिक 'वन्' प्रत्ययका, **ऋतावा**= ऋतवान्, 'ऋत्' शब्द 'ऋ' 'गति करना' धातुसे बना है। इसी कारण इसका एक अर्थ है 'जल'। 'सत्य' यह अर्थ इस प्रकार निकला हो सकता है, **ऋत**=जो सीखा या जाना जाता है, शाब्दिक रूपमें **ऋत**=वह वस्तु

जिसकी खोजमें हम जाते हैं और जिसे पा लेते हैं अथवा जिसकी हम छानवीन करते हैं और इस प्रकार जिसे सीख लेते हैं (तुलनीय, ऋषि), पर 'सत्य' यह अर्थ 'ऋजुता'के विचारसे भी निकल सकता है, लैटिन rectum (रैक्टुम्), ऋजु। कैसे इसका अर्थ यज्ञ हो जाता है यह बात इतनी स्पष्ट नहीं है, संभवतः 'रीति', अनुष्ठान, नियम (विधि) या 'अनुसृत दिशा'के विचारसे, लैटिन regula (रैगुला, rule, नियम) के विचारसे यह अर्थ आया है। या फिर इसका अर्थ कर्म और इस प्रकार यज्ञिय कर्म भी हो जाता है; गत्यर्थक धातुओंका अर्थ प्रायः 'क्रिया करना' भी होता है (तुल. चरितम्, वृत्तम्)। सायणं कहते हैं कि 'ऋतावा'का अर्थ प्रायः 'सत्यसे युक्त या यज्ञसे युक्त' हो सकता है। पर यहाँ वे इसका अर्थ करते हैं सच्चा, कपटसे रहित, अमायिनम्। एक और जगह वे यह मानते हैं कि 'सत्य' शब्द अग्निके विशेषणके रूपमें प्रयुक्त हुआ है, अग्नि सत्य-फल है, यज्ञका सच्चा फल देता है। अधिकतर तो वे ऋतका अर्थ यज्ञ करते हैं। परन्तु यहाँ यह पूर्णतया स्पष्ट है कि 'ऋतावानम्'का अर्थ 'सत्यका धारक' ही होना चाहिए, अग्निके सत्यको हम चाहे किसी भी अर्थमें क्यों न लें।

विचेतसम्। सायण :—विशिष्टज्ञानम् अर्थात् विशिष्ट या महान् ज्ञान रखनेवालेको; वेदमें प्रचेताः और विचेताः में अत्यधिक भेद किया गया है जैसे कि उपनिषदोंमें और परवर्ती साहित्यमें प्रज्ञान और विज्ञानमें किया गया है; चित्ति या चेतः ज्ञानका वाचक है, इनमेंसे पिछला शब्द लौकिक है, वैदिक नहीं। 'प्र' किसी विषयकी ओर अभिमुख ज्ञानका भाव प्रस्तुत करता है, प्रचेताः=बुद्धियुक्त, सामान्य अर्थमें बुद्धिमान्। (इस प्रकार सायण इसका अर्थ करते हैं प्रकृष्टज्ञानः—प्रकृष्ट ज्ञानवाला और वे 'प्रचेताः', 'विचेताः' शब्दोंमें कोई भेद नहीं करते)। 'वि'का अर्थ है विस्तृत रूपसे, व्यापक रूपसे या फिर उच्च मात्रामें; तव विचेताः का अर्थ हुआ अविकल या महान् या परिपूर्ण ज्ञान अर्थात् समग्रका और अवयवोंका ज्ञान रखनेवाला।

हस्कर्तारम्। 'हस्' चमकना, चमकता हुआ, (जिससे 'हँसना' यह अर्थ निकलता है) और 'कृ'का अर्थ है बनाना। सायण कहते हैं हस्कर्तारम्—प्रकाशकम्, यज्ञोंको प्रकाशमान करनेवालेको।

दमे। इस वैदिक शब्दका (ग्रीक domos, डोमोस्, लैटिन domus, डोमुस्) अर्थ सदा 'घर' होता है; वेदमें यह 'वशीकरण, नियन्त्रण' इत्यादि परवर्ती लौकिक अर्थमें प्रयुक्त नहीं होता।

अनुवाद

"वे सत्यके स्वामी, पूर्णप्रज्ञावान् अग्निको नक्षत्रमण्डित द्युलोककी तरह देखते हैं; घर-घरमें समस्त यात्रा-यज्ञोंके प्रकाशकको।"

इस ऋचामें 'विचेतसम्' शव्द स्पष्टतः ही पिछले मन्त्रके 'चेतनम्' शव्द-का ही पुनः निर्देश करता है; इसका अर्थ है पूर्ण-ज्ञानवान् और इसे यहाँ ऋतावानम्से संयुक्त कर दिया गया है जिसका अर्थ है सत्य-युक्त, सत्यसे सम्पन्न। इन विशेषणोंसे जिसका वर्णन किया गया है वह अग्निदेव ही है न कि भौतिक अग्नि। अतएव पिछले मन्त्रमें **ते चेतनम्** का अर्थ होना चाहिए "ज्ञानके प्रति जगाता हुआ" अग्नि या "अग्निका मनुष्यको ज्ञानके प्रति जाग-रित करना",—क्योंकि **चेतयति**का अर्थ है जानने देना या जनवाना, ज्ञान कराना और इसका अर्थ 'स्थूल-भौतिक ज्वालाका जलना' नहीं हो सकता। परन्तु अग्निका यह सत्य एवं ज्ञान है क्या? अगले मन्त्रमें फिर इसका संवन्ध यज्ञको प्रकाशमान करनेके इसके कार्यके साथ दिखाया गया है, **अध्वराणां हस्कर्तारम्**। यज्ञको वह जो प्रकाश देता है वह क्या है? और इस कथन-का क्या अभिप्राय है कि वह "नक्षत्रमण्डित द्युलोककी तरह" दिखाई देता है? सायण अत्यधिक पाण्डित्यपूर्ण चातुरीके साथ, पर समस्त सुरुचि और साहि-त्यिक विवेककी, अपने अनोखे ढंगसे, उपेक्षा करते हुए कहते हैं कि आगकी विखरती हुई चिनगारियां तारोंके समान हैं और अतएव अग्नि द्युलोकके समान है,—यद्यपि यह कल्पना करनेका कोई कारण नहीं है कि 'स्तृभिः'से ये उल्काएं अभिप्रेत हैं। मैं किसी ऐसे कविकी कल्पना ही नहीं कर सकता जो अपने सिरमें आँखें और मस्तिष्कमें विवेक एवं अनुपात-वुद्धि रखते हुए वेदीपर जलती अग्निका इस प्रकार वर्णन करेगा। पर यदि इसका अवश्य-मेव यही अर्थ है, तो यहाँ हमारे सामने एक शुद्ध आलंकारिक वर्णन है और उसपर भी एक वहुत वुरा, अतिरंजित एवं दूषित अलंकार। तब मन्त्रका जो अर्थ होगा वह बस इतना ही है कि मनुष्य इस ज्ञानवान् और सत्यमय अग्निको यज्ञिय अग्निके स्थूल रूपमें देखते हैं जो यज्ञके संपूर्ण कार्यपर अपनी ज्वालाओं द्वारा प्रकाश डालता है। तव तो दो विशेषण भी निरर्थक अलं-कार हैं; तव 'अग्निके ज्ञानवान् होने'का विचार और नक्षत्रयुक्त द्युलोकका अलंकार या यज्ञको आलोकित करना जो मन्त्रका मुख्य विचार है,—इनमें विल्कुल ही संवन्ध नहीं रहता। अन्य कवियोंकी भांति मैं एक और ही प्राक्कल्पनाके आधारपर आगे बढ़ता हूँ जो मेरी समझमें अनुचित नहीं है, वह यह कि वैदिक ऋषि वामदेवने अन्य कवियों की ही भांति अपने विचारों-में इसकी अपेक्षा किसी अधिक निकट संवन्धके साथ मन्त्र-रचनाकी। हमें

स्मरण रखना होगा कि अन्तिम मन्त्रमें उसने उस वस्तुकी कामना की है जो उसके पास नहीं है अर्थात् अग्निके सतत ज्ञानकी, और उसने कहा है कि निःसंदेह तभी मनुष्य उसे धारण तथा अधिकृत करते हैं। पर उससे पहले वे उसे किस रूपमें सतत देखते हैं, यद्यपि वे उसे देख तभी सकते हैं जब भृगु प्रत्येक मानव प्राणीके उपयोगके लिए उसे पा चुकते हैं? वे उसे सत्यके अधिपति, पूर्णज्ञान-संपन्नके रूपमें देखते हैं, पर जैसा कि हमें मानना ही होगा, अभी वे उसके संपूर्ण सत्य या परिपूर्ण ज्ञानके सहित उसे अधिकृत नहीं किए होते; क्योंकि वह नक्षत्रमण्डित आकाश एवं उनके यज्ञोंके प्रकाशकके रूपमें ही दिखाई देता है। नक्षत्रमण्डित आकाश सूर्यके प्रकाशसे रहित, रात्रिका आकाश है। अग्निका वर्णन वेदमें यों किया गया है कि वह रातमें भी चमकता है, रातको भी प्रकाश देता है, रात्रियोंमें तबतक प्रज्वलित रहता है जब तक प्रभात नहीं हो जाता,—यह प्रभात भी, इन्द्र और अंगिरसोंकी सहायता करके, वह स्वयं ही लाता है। यदि अग्निका अर्थ अन्तर्ज्वाला हो तो इस वर्णनका अर्थ प्रभावकारी, उपयुक्त और गंभीर हो जाता है। वेद में अन्धकार या रात्रि अज्ञानपूर्ण मनका प्रतीक है, जैसे कि दिन और उसका सौर प्रकाश आलोकित मनका। पर जब तक दिन या सतत ज्ञान नहीं हो जाता तब तक अग्निकी प्रभाएं रातके आकाशमें तारोंके समान होती हैं। जैसे पृथिवी भौतिक सत्ता है वैसे ही द्युलोक (आकाश) मानसिक सत्ता है। अग्निका समस्त सत्य और ज्ञान वहाँ विद्यमान है, पर वह रातके अन्धकारके कारण ही छुपा हुआ है। मनुष्य जानते हैं कि यह प्रकाश आकाशोंको व्यापे हुए वहाँ विद्यमान है किन्तु वे केवल उन तारोंको ही देखते हैं जिन्हें अग्निने इन आकाशोंमें अपनी प्रकाशप्रद अग्नियोंके रूपमें प्रदीप्त किया है।

IV

वेदकी व्याख्या[1]

एक प्रारम्भिक समालोचना का प्रत्युत्तर[2]

अपनी समालोचनामें आपने "आर्य"की जो उदारतापूर्ण सराहनाकी है उसके लिए मैं आपका धन्यवाद करता हूँ। क्या मैं भी अपने 'The Secret of the Veda (वेद-रहस्य)'-विषयक लेखपर आपकी आलोचनाका उत्तर देनेके लिए, या यूँ कहें कि अपने दृष्टिकोणकी व्याख्याके लिए आपके दैनिक पत्रके स्तंभोंमें कुछ स्थान पानेकी अभिलाषा कर सकता हूँ। मेरे भाव-प्रकाशनकी त्रुटियोंके कारण तथा "Arya (आर्य)"में मेरे लेखके संक्षिप्त और सारांशरूप ही होनेके कारण आप मेरे दृष्टि-बिन्दुको कुछ अंशोंमें गलत समझ बैठे हैं। मुझे पता नहीं कि एक ऐसे समयमें, जब संपूर्ण संसार यूरोपको आलोड़ित करनेवाले भीषण मानवघाती संघर्षमें डूबा हुआ है, आप मेरे लेखके लिए इतना स्थान दे भी पाएँगे या नहीं।

निश्चय ही मैंने यह कहीं नहीं कहा कि "जिस ज्ञानका कोई उद्‌गम पहलेके मूल स्रोतोंमें नहीं पाया जा सकता उसका अवश्यमेव तिरस्कार और त्याग कर देना चाहिए।" यह निःसन्देह एक बीभत्स स्थापना होगी। मेरा असली कथ्य यह था कि ऐसा ज्ञान जब विकसित दर्शन और मनोविज्ञानको प्रकट करता हो तो उसकी ऐतिहासिक व्याख्याकी आवश्यकता है—यह एक बहुत ही भिन्न बात है। यदि हम मानवजातिमें ज्ञानके उत्तरोत्तर विकासके

---

1. वेदपर श्रीअरविन्दका सबसे पहला लेख, जो उनकी एक धारावाहिक लेखमाला 'The Secret of the Veda (वेद-रहस्य)' का पहला अध्याय ही था, अंग्रेजी मासिक पत्र "Arya (आर्य)"के पहले अंकमें 15 अगस्त, 1914 को प्रकाशित हुआ था।

   संभवतः वह अध्याय ऐसे क्रान्तिपूर्ण विचारोंसे युक्त पाया गया कि एक कट्टरपंथी पण्डित प्रो० सुन्दरराम ऐय्यरने "Hindu (हिन्दू)"के सम्पादकीयमें उसकी समीक्षाकी। श्रीअरविन्दने उसका तुरन्त उत्तर दिया जो यहाँ ऊपर प्रकाशित किया जा रहा है।
2. 27 अगस्त 1914 को मद्रासके अंग्रेजी दैनिक The Hindu (हिन्दू)में प्रकाशित एक पत्रका हिंदी अनुवाद।—अनुवादक

यूरोपीय विचारको स्वीकार करें—और मेरा तर्क इसी आधारपर आरम्भ हुआ था—तो हमें ब्रह्मवादका मूल किसी बाह्य उद्गममें ढूंढ़ना होगा, जैसे कि पहलेकी द्राविड़ संस्कृतिमें—पर यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे मैं स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि मैं तथाकथित आर्यों और द्रविड़ोंको एक ही सरूप जाति मानता हूँ, अथवा हमें ब्रह्मवादका मूल किसी पूर्वतर विकासमें ढूंढ़ना होगा जिसके अभिलेख या तो खो गए हैं या स्वयं वेदमें ही मिलेंगे। मैं यह नहीं देख पाता कि कैसे इस तर्कमें 'अनवस्था'-दोष (regressus ad infinitum) अन्तर्भूत है सिवाय उस हद तक जिस तक कि विकास और उत्तरोत्तर कार्यकारण-भावका सारा विचार ही इस आक्षेपके प्रति खुला हुआ है। जहाँ तक वैदिक धर्मके मूल उद्गमोंका प्रश्न है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे अभी तथ्य-सामग्रीके अभावमें हल नहीं किया जा सकता। इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि इसका उद्गम है ही नहीं या, दूसरे शब्दोंमें, कि मानवता विकसनशील आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा सत्यके साक्षात्कारके लिए तैयार ही नहीं हुई थी। और फिर उपनिषदोंके विषयमें इस वर्णनमें कि वे वेदोंके कर्मकाण्डीय आधिभौतिकवादके विरुद्ध दार्शनिक मनीषियोंका विद्रोह हैं, मेरा उद्देश्य, निश्चय ही, अपना निजी मत प्रकट करना नहीं था। यदि यह मेरा अपना मत होता तो मैं न तो प्राचीनतर श्रुति (वेद)-को अन्तःप्रेरित धर्मग्रन्थ मान सकता था और न उपनिषदोंको वेदान्त, और तब मैं 'वेदका रहस्य' खोजनेका कष्ट न उठाता। यूरोपीय विद्वानोंका मत है और मैंने यह माना था कि यदि सूक्तोंकी साधारण व्याख्याओंको, वे चाहे भारतीय हों या यूरोपीय, स्वीकार करना है तो उक्त मत उनका तर्कसंगत परिणाम होगा। यदि वैदिक सूक्त, पाश्चात्य विद्वानोंकी व्याख्यानुसार, हर्षोत्फुल्ल और हृष्ट-पुष्ट बर्बरोंकी याज्ञिक रचनाएं हैं तो उपनिषदोंको वेदोंके कर्मकाण्डीय आधिभौतिकवादके विरुद्ध विद्रोह ही समझना होगा। पर मैंने इस स्थापना और इसके परिणाम दोनोंसे ही इन्कार किया है और मैंने अन्तिम रूपसे यह निरूपित किया है कि न केवल उपनिषदें बल्कि उनके सभी परवर्ती रूप (स्मृति आदि) वैदिक धर्मसे ही विकसित हुए हैं और वे उसके सिद्धान्तोंके प्रति विद्रोह-रूप नहीं हैं। भारतीय सिद्धान्त इस कठिनाईका परिहार एक और प्रकारसे करता है, वह वेदकी व्याख्या तो याज्ञिक सूक्तोंके ग्रन्थके रूपमें करता है और उसका आदर करता है ज्ञानके ग्रन्थके रूपमें। वह इन दो प्राचीन सत्योंमें प्रभावी ढंगसे समन्वय स्थापित किए बिना इन्हें साथ-साथ स्थान देता है। मेरी दृष्टिमें वह समन्वय केवल तभी साधित हो सकता है यदि हम सूक्तोंके बाहरी पक्षमें भी कर्मकाण्डीय आधिभौतिकवाद

नहीं बल्कि प्रतीकात्मक कर्मकाण्ड देखें। इसमें सन्देह नहीं कि कर्मकाण्डको आत्मज्ञानकी अनिवार्य आधारशिला माना जाता था। यह धार्मिक श्रद्धाकी वस्तु था और श्रद्धाकी वस्तुके नाते मुझे इसकी युक्तियुक्ततामें सन्देह नहीं। परन्तु बौद्धिक छानबीनमें मुझे बौद्धिक साधनोंसे ही अग्रसर होना होगा। कर्मकाण्ड बुद्धिके लिए तभी युक्तियुक्त बनता है यदि हम इसकी ऐसी व्याख्या करें जिससे यह दिखाया जा सके कि कैसे इसका अनुष्ठान उच्चतर ज्ञानमें सहायक होता है, उसे तैयार या साधित करता है। अन्यथा सिद्धान्त-रूप-में वेदका चाहे कितना ही अधिक सम्मान क्यों न किया जाय, व्यवहारमें उसे न तो अनिवार्य समझा जायगा न सहायक और अन्तमें क्रियात्मक रूपसे उसे एक ओर ही रख दिया जायगा जैसा कि वस्तुतः हुआ है।

मुझे ज्ञात है कि वेदके कुछ सूक्तोंकी व्याख्या याज्ञिक अर्थसे भिन्न अर्थमें की जाती है; यहाँ तक कि यूरोपीय विद्वान् भी वेदोंके "परवर्ती सूक्तों"में उच्चतर एवं धार्मिक विचारोंको स्वीकार करते हैं। मुझे यह भी विदित है कि पृथक्-पृथक् मन्त्रोंको दार्शनिक सिद्धान्तोंके समर्थनमें उद्धृत किया जाता है। मेरा कथ्य यह था कि वेदकी उपलब्ध वास्तविक व्याख्याओंमें सूक्तोंको जो सामान्य भाव-ध्वनि एवं आशय प्रदान किया गया है उसमें ऐसे अपवाद-रूप स्थल कोई हेर-फेर नहीं करते। उन व्याख्याओंके साथ हम ऋग्वेदको, समग्रतया, उच्च आध्यात्मिक दर्शनके आधारके रूपमें प्रयुक्त नहीं कर सकते, जैसा कि उपनिषदोंको समग्रतया इस रूपमें प्रयुक्त किया जा सकता है। अब मैंने वेदकी समग्र रूपमें व्याख्या और वेदके सामान्य स्वरूपके निरूपणके कार्यमें ही ध्यान लगाया है। मैं यह पूर्णतया स्वीकार करता हूँ कि एक पार्श्वधाराके रूपमें ऐसी प्रवृत्ति सदा रही है जो वेदकी समूचे रूपमें भी आध्यात्मिक व्याख्याका पोषण करती आई है। यह विचित्र बात होगी यदि इतनी अध्यात्मचेता जातिमें ऐसे प्रयत्नोंका सर्वथा अभाव ही रहा हो। किन्तु फिर भी वे पार्श्वधाराएं ही हैं और उन्हें सर्वजनीन स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई। सामान्यतया भारतीय विद्वान्की दृष्टिमें केवल दो ही व्याख्याएं हैं, सायणकी और यूरोपीय। क्योंकि मैं इस सामान्य मतके माननेवालोंके लिए ही लिख रहा हूँ, अतः क्रियात्मक दृष्टिसे मेरा प्रयोजन इन दो व्याख्याओंसे ही है।

अभी भी मेरा यह मत है कि प्राचीन वेदान्तियोंकी पद्धति और परिणाम सायणकी पद्धति और परिणामोंसे पूर्णतया भिन्न थे। इसके जो कारण हैं वे मैं "Arya (आर्य)"के दूसरे और तीसरे अंकोंमें प्रस्तुत करूँगा। सिद्धान्ततः नहीं व्यवहारतः, सायणके भाष्यका परिणाम क्या है? वह भाष्य मन

पर क्या सामान्य छाप छोड़ता है? क्या यह एक महान् "ईश्वरीय ज्ञान वेद"की, उच्चतम ज्ञानके ग्रन्थकी छाप है? इसकी अपेक्षा क्या यह वास्तव-में वह छाप नहीं है जो यूरोपीय विद्वानोंने पाई और जिससे उनके सिद्धान्त आरम्भ हुए—क्या यह ऐसे आदिम पुजारियोंका चित्र नहीं है जो मित्र देवताओं, मित्र किन्तु संदिग्ध स्वभाववाले देवों, आग, वर्षा, वायु, उषा, रात, पृथ्वी और आकाशके देवताओंके प्रति धन, अन्न, गाय-बैलों, घोड़ों, स्वर्ण, अपने शत्रुओं यहाँ तक कि अपने आलोचकों एवं निन्दकोंके भी वध, युद्धमें विजय और विजितोंकी लूट-पाटके लिए प्रार्थना किया करते थे? और यदि ऐसी बात है तो किस प्रकार ऐसे सूक्त ब्रह्मविद्याके लिए एक अपरिहार्य तैयारी-रूप हो सकते हैं? निःसन्देह यह दूसरी बात है कि यह एक ऐसी तैयारी हो जो विरोधी वस्तुओं द्वारा की जाती है, अधिकतम भौतिकवादी और अहंकारमय प्रवृत्तियोंको उपभोग द्वारा समाप्त करके या उनका उत्सर्ग करके की जाती है। इसे कुछ-कुछ उसी प्रकार तैयारी कहा जा सकता है जिस प्रकार यहूदी धर्मकी पांच पुरानी अधकचरी पुस्तकोंको ईसाके अविकसित धर्मग्रन्थकी तैयारी-रूप कहा जा सकता है। मेरा अभिमत यह है कि वे सूक्त यज्ञमें निहित किसी यान्त्रिक लाभके कारण अनिवार्य नहीं थे वरन् इसलिए अनिवार्य थे कि वे अनुभव जिनकी वे सूक्त कुंजी हैं और याज्ञिक क्रियाकलाप जिनके प्रतीक होते थे, विश्वमें ब्रह्मके समग्रज्ञान और साक्षात्कारके लिए आवश्यक हैं तथा विश्वातीत ब्रह्मके ज्ञान और साक्षात्कारकी तैयारीको सम्पन्न करते हैं। शंकराचार्यके कथनको सार-रूपमें कहें तो, वे सूक्त, समस्त ज्ञानकी, चेतनाके सभी स्तरोंके ज्ञानकी खान हैं; और हमारी सत्तामें दिव्य, मानव और पाशव तत्त्वोंकी अवस्थाओं एवं उन तत्त्वोंके सम्बन्धोंको अवश्य निर्धारित करते हैं।

मैं यह दावा नहीं करता कि वेदकी आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत करनेका सर्वप्रथम प्रयत्न यह मेरा ही है। यह वेदका गूढ़ एवं आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत करनेका एक प्रयत्न है जो आदिसे अन्त तक क्रियात्मक अनुसंधानकी आधुनिकतम पद्धति पर आधारित है। यह पहला प्रयत्न है या सौवां इसका कुछ महत्त्व नहीं। वैदिक शब्दोंकी मेरी व्याख्या तुलनात्मक भाषाविज्ञानके क्षेत्रके एक बहुत बड़े भागके पुनरालोचन पर आधारित है और एक नये आधार पर किए गए पुनर्निर्माण पर प्रतिष्ठित है जो, मुझे कुछ आशा है कि, हमें भाषाके सच्चे विज्ञानके अधिक निकट ले आयगा। इस विषयकी विस्तृत विवेचना मैं एक अन्य कृति "आर्यभाषाके उद्गम"[1]में करनेका विचार

---

1. देखिये यही ग्रन्थ पृ० 259। —अनुवादक

रखता हूँ। मुझे यह भी आशा है कि मैं उन प्राचीन आध्यात्मिक विचारों-के आशयकी पुनरुपलब्धिका मार्गदर्शन करूंगा जिनके संकेत हमें पुराने प्रतीक और गाथासे प्राप्त होते हैं और जो मेरा विश्वास है कि, किसी समय एक सार्वजनीन संस्कृतिके अंग थे। वह संस्कृति भूमण्डलके एक वहुत बड़े भाग-में व्याप्त थी जिसका केन्द्र संभवतः भारत था। मेरी इस लेखमाला "वेद-रहस्य"की एकमात्र मौलिकता इसी बातमें है कि यह उपर्युक्त विधिबद्ध प्रयत्नसे संबद्ध है।

अग्नि-स्तुति

ऋग्वेद, प्रथम मण्डल

मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः[1]

सूक्त 1

1

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

(अग्निम् ईळे) मैं दिव्यज्वालारूप अग्निदेवकी उपासना करता हूं जो (पुरः-हितम्) पुरोहित है, (यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्) यज्ञका दिव्य ऋत्विक् है, (होतारम्) ऐसा आवाहक है जो (रत्नधातमम्) आनन्दैश्वर्यको अत्यधिक प्रतिष्ठित करता है।

2

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति॥

(पूर्वेभिः ऋषिभिः) प्राचीन ऋषियों द्वारा (ईड्यः) उपास्य वह (अग्निः) अग्निदेव (नूतनैः उत) नवीन ऋषियों द्वारा भी (ईड्यः) उपास्य है। (सः) वह (देवान्) देवोंको (इह) यहाँ (आ वक्षति) लाता है।

3

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे। यशसं वीरवत्तमम्॥

(अग्निना) अग्निदेवके द्वारा मनुष्य (रयिम् अश्नवत्) उस ऐश्वर्यका उपभोग करता है जो (दिवे-दिवे पोषम् एव) निश्चय ही दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है, (यशसम्) यशसे उज्ज्वल है और (वीरवत्तमम्) वीरशक्तिसे अतिशय पूर्ण है।

4

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद् देवेषु गच्छति॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! (यम् अध्वरं यज्ञं विश्वतः) जिस यात्रा-यज्ञके चारों ओर तू (परिभूः असि) अपनी सर्वतोव्यापी सत्तासे विद्यमान होता है, (सः इत्) वह यज्ञ सचमुच ही (देवेषु गच्छति) देवोंमें पहुंचता है।

---

1. श्रीअरविन्दकी कृति Hymns to the Mystic Fire (गुह्य अग्निके सूक्त) के प्रथम मण्डलके सूक्तोंका अनुवाद। —अनुवादक

5

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः। देवो देवेभिरा गमत् ॥

(अग्निः) अग्निदेव (होता) आह्वान करनेवाला है, (कविक्रतुः) क्रान्त-दर्शी संकल्प है, (सत्यः) सत्यस्वरूप है और (चित्रश्रवस्तमः) समृद्ध रूपसे विविध अन्तः-श्रवणोंसे अतिशय सम्पन्न है। (देवः) वह देव (देवेभिः) देवोंके साथ (आ गमत्) आए।

6

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि। तवेत् तत् सत्यमङ्गिरः ॥

(अङ्ग अग्ने) हे अग्निदेव! (दाशुषे) आत्मदान करनेवालेके लिए (त्वम्) तू (यद् भद्रम्) जो कल्याणकारी भलाई (करिष्यसि) करेगा, (तत् तव सत्यम् इत् अङ्गिरः) वह है वह परम सत्य जो निश्चय ही तेरा सत्य है, [तू उसे अपना परम सत्य ही प्राप्त करा देगा] हे अंगिरा!

7

उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि ॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! (वयं) हम (दिवे-दिवे) दिन-प्रतिदिन (दोषा-वस्तः) अंधकार और प्रकाशके समय (धिया) अपने विचारके द्वारा (नमः भरन्तः) नमस्कारको वहन करते हुए (त्वा उप आ इमसि) तेरे निकट आते हैं।

8

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्धमानं स्वे दमे ॥

(अध्वराणां राजन्तम्) यात्रारूप यज्ञोंके शासक, (ऋतस्य दीदिविं गोपाम्) सत्यके देदीप्यमान संरक्षक, (स्वे दमे वर्धमानम्) अपने घरमें वर्धमान [त्वा उप आ इमसि] तुझ अग्निदेवके निकट हम आते हैं।

9

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये ॥

(सः) ऐसा तू, [इसलिए तू] (अग्ने) हे अग्निदेव! (नः) हमारे लिए (सूनवे पिता इव) पुत्रके लिए पिताकी तरह (सु-उपायनः भव) सुगमतासे प्राप्त होनेवाला बन। (स्वस्तये) हमारी सुखपूर्ण स्थितिके लिए तू (नः सचस्व) हमारे साथ दृढ़तासे जुड़ा रह।

मेधातिथिः काण्वः

सूक्त 12

1

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्। अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥

(अग्निं वृणीमहे) हम अग्निका वरण करते हैं जो (होतारं) आवाहक है, (विश्ववेदसम्) सर्वज्ञ है, (दूतं) देवोंका दूत है और (अस्य यज्ञस्य) इस यज्ञका (सुक्रतुम्) सिद्धिकारक संकल्प है।

2

अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम्। हव्यवाहं पुरुप्रियम्॥

(विश्पतिं) प्रजाओंकें अधिपति, (हव्यवाहं) हमारी [समर्पणरूप] भेंटोंके वाहक, (पुरुप्रियं) बहुविध अभिव्यक्तिके प्रेमपात्र, (अग्निम् अग्निम्) प्रत्येक अग्नि-ज्वालाको [यज्ञके कर्ता] (हवीमभिः) देवोंका आह्वान करनेवाले सूक्तोंके द्वारा (सदा हवन्त) सदा पुकारते हैं और [पुरुप्रियं हवन्त] उस एकमेव भगवान्‌को पुकारते हैं जिसमें अनेक प्रिय पदार्थ विद्यमान हैं।

3

अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे। असि होता न ईड्यः॥

(अग्ने) हे अग्निदेव ! तू (जज्ञानः) उत्पन्न होकर (वृक्तबर्हिषे) उस यज्ञकर्ताके लिए जिसने पवित्र आसन बिछा रखा है (देवान् इह आ वह) देवोंको यहाँ ला। (नः ईड्यः होता असि) तू हमारा वरणीय आवाहक पुरोहित है।

4

ताँ उशतो वि बोधय यदग्ने यासि दूत्यम्। देवैरा सत्सि बर्हिषि॥

(अग्ने) हे अग्निदेव ! (यत्) जब तू (दूत्यम् यासि) हमारा दूत बनकर जाता है तब (तान्) उन देवोंको (वि बोधय) जगा दे जो (उशतः) हमारी भेंटोंको चाहते हैं। तू (बर्हिषि) पवित्र कुशापर (देवैः) देवोंके साथ (आ सत्सि) अपना स्थान ग्रहण कर।

5

घृताहवन दीदिवः प्रति ष्म रिषतो दह। अग्ने त्वं रक्षस्विनः॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! (घृत-आहवन) मनकी निर्मलताओंकी भेंटोंसे पुकारे जाते हुए (दीदिवः) देदीप्यमान देव! (त्वम्) तू (रिषतः रक्षस्विनः) सीमामें बांधनेवाले द्वेषियोंका (प्रति दह स्म) अवश्य ही विरोध कर और उन्हें भस्मीभूत कर दे।

6

अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा। हव्यवाड् जुह्वास्यः॥

(अग्निना) अग्निसे ही (अग्निः) अग्निदेव (सम् इध्यते) पूर्णतया प्रदीप्त किया जाता है जो (कविः) द्रष्टा है, (गृहपतिः) घरका स्वामी है, (युवा) युवा है, (हव्यवाट्) भेंटको वहन करनेवाला है और (जुहु-आस्यः) जिसका मुख हवियोंको ग्रहण करता है।

7

कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे। देवममीवचातनम्॥

तू (अग्निम् उप स्तुहि) उस दिव्य अग्निके निकट पहुंच और उसके स्तुतिगीत गा जो (कविम्) द्रष्टा है और (सत्यधर्माणम्) सत्य ही जिसका विधान है, जो (देवम्) प्रकाशस्वरूप है और (अमीव-चातनम्) सब बुराइयों-का नाशक है।

8

यस्त्वामग्ने हविष्पतिर्दूतं देव सपर्यति। तस्य स्म प्राविता भव॥

(देव अग्ने) हे अग्निदेव! (हविः-पतिः) हवियोंका जो स्वामी (दूतं त्वाम् सपर्यति) तुझ दिव्य दूतकी पूजा करता है, (तस्य प्र अविता भव स्म) उसका तू रक्षक बन।

9

यो अग्निं देववीतये हविष्माँ आविवासति। तस्मै पावक मृळय॥

(यः) जो (देववीतये) देवोंके दिव्य जन्मके लिए (हविष्मान्) भेंटोंको लिए हुए (अग्निम् आविवासति) दिव्य शक्तिके पास पहुंचता है (पावक) हे पवित्र करनेवाले देव! (तस्मै मृळय) उसपर दया करो।

10

स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ इहा वह। उप यज्ञं हविश्च नः॥

(दीदिवः अग्ने) हे देदीप्यमान अग्नि! (पावक) हे पवित्र करनेवाले! (सः) वह तू (देवान्) देवोंको (इह) यहाँ (नः हविः यज्ञं च) हमारी भेंटों और हमारे यज्ञके (उप आ वह) पास ले आ।

11

स नः स्तवान आ भर गायत्रेण नवीयसा। रयिं वीरवतीमिषम्॥

(नः नवीयसा गायत्रेण) हमारे नवीन छन्दोंसे (स्तवानः) स्तुति किया हुआ (सः) वह तू (रयिम्) आनन्दको और (वीरवतीम् इषं) वीरके सामर्थ्यसे पूर्ण प्रेरणा-शक्तिको (आ भर) ले आ।

12

अग्ने शुक्रेण शोचिषा विश्वाभिर्देवहूतिभिः। इमं स्तोमं जुषस्व नः॥

(अग्ने) हे अग्नि! (शुक्रेण शोचिषा) अपनी शुभ्र दीप्तियोंके साथ, (विश्वाभिः देव-हूतिभिः) देवोंका आह्वान करनेवाली अपनी समस्त दिव्य ऋचाओंके साथ आकर (नः इमं स्तोमम्) हमारी इस दृढ़तासाधक स्तुतिको (जुषस्व) स्वीकार कर।

मेधातिथिः काण्वः

सूक्त 13

1

सुसमिद्धो न आ वह देवाँ अग्ने हविष्मते।
होतः पावक यक्षि च ।।

(अग्ने) हे अग्निदेव! (सुसमिद्धः) पूरी तरह प्रदीप्त होकर तू (हविष्मते नः) हवि देनेवाले मुझ याजकके लिए (देवान्) देवोंको (आ वह) ले आ (च) और (पावक) हे पवित्र करनेवाले! (होतः) हे आवाहक! [देवान्] देवोंके प्रति (यक्षि) यज्ञ कर।

2

मधुमन्तं तनूनपाद् यज्ञं देवेषु नः कवे।
अद्या कृणुहि वीतये ।।

(तनूनपात्) हे देहके पुत्र! [देहरूपी गृहमें उत्पन्न पुत्र!] (अद्य) आज ही (यज्ञं) यज्ञको (देवेषु) देवोंके लिए, (वीतये) उनके आनन्दोपभोगके लिए (मधुमन्तं कृणुहि) मधुमय बना, अथवा उसे देवोंके बीच मधुपूर्ण बना, (कवे) हे द्रष्टा!

3

नराशंसमिह प्रियमस्मिन् यज्ञ उप ह्वये।
मधुजिह्वं हविष्कृतम् ।।

मैं (नराशंसं) [देवोंके प्रतिनिधि] उस देवका जो (प्रियं) प्रिय है, (हविष्कृतं) हवियोंका सर्जन करता है और (मधुजिह्वम्) मधुमय जिह्वासे युक्त है, (इह अस्मिन् यज्ञे) यहाँ इस यज्ञमें (उप ह्वये) आह्वान करता हूँ।

4

अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईळित आ वह।
असि होता मनुर्हितः ।।

(अग्ने) हे अग्निदेव! (ईळितः) स्तुति किया हुआ तू (सुखतमे रथे)

अपने अत्यंत सुखमय रथमें (देवान् आ वह) देवोंको यहाँ ला। [क्योंकि] तू (मनुः-हितः) मनुष्यों द्वारा स्थापित (होता असि) आवाहक है।

5

स्तृणीत बर्हिरानुषग् घृतपृष्ठं मनीषिणः।
यत्रामृतस्य चक्षणम्।।

(मनीषिणः) हे मनीषियो! तुम (बर्हिः स्तृणीत) ऐसे पवित्र आसनको बिछाओ जो (आनुषक्) अविच्छिन्न हो और यथार्थ विधिसे सम्पन्न हो, (घृत-पृष्ठं) [घृतकी] निर्मल आहुतियोंसे सींचा हुआ हो, (यत्र) जिसपर (अमृतस्य चक्षणम्) अमरताका दर्शन होता है।

सूक्त 36

1

प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम्।
अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिरीमहे यं सीमिदन्य ईळते।।

(देवयतीनाम्) देवत्वको प्राप्त करनेके लिए यत्नशील (पुरूणां विशां) अनेक प्रजाओंके (यह्वं) स्वामी (अग्निम्) अग्निदेवको हम (वः) तुम्हारे लिए (सूक्तेभिः वचोभिः) पूर्ण भावाभिव्यंजक वचनोंसे (प्र ईमहे) खोज रहे हैं, (यं) जिस अग्निको (अन्ये इत्) दूसरे लोग भी (सीम्) हर जगह (ईळते) पाना चाहते हैं।

2

जनासो अग्निं दधिरे सहोवृधं हविष्मन्तो विधेम ते।
स त्वं नो अद्य सुमना इहाविता भवा वाजेषु सन्त्य।।

(जनासः) मनुष्य (अग्निम्) अग्निदेवको (सहः-वृधम्) शक्तिवर्धकके रूपमें (दधिरे) अपने अन्दर धारण करते हैं। (हविष्मन्तः) भेंटोंको लिए हुए हम (ते) तेरे प्रति (विधेम) यज्ञका अनुष्ठान करते हैं। (सः त्वं) सो वह तू (नः) हमारे लिए (अद्य) आज ही (सुमनाः) सुमनाः, पूर्णतासे युक्त मनवाला (भव) बन और (इह) यहाँ (वाजेषु) ऐश्वर्यकी प्राप्तियोंमें (अविता भव) हमारा रक्षक बन (सन्त्य) हे सत्स्वरूप! हे सत्ताके सत्य!

3

प्र त्वा दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
महस्ते सतो वि चरन्त्यर्चयो दिवि स्पृशन्ति भानवः।।

(त्वा दूतं प्र वृणीमहे) हम तुझे अपने दूतके रूपमें वरण करते हैं, जो (होतारं) हविका पुरोहित है (विश्ववेदसम्) विश्व-ज्ञानसे सम्पन्न, सर्वज्ञ है। (महः ते सतः) जब तू अपनी सत्तामें महिमा-युक्त होता है तब (अर्चयः) तेरी ज्वालाएं (वि चरन्ति) व्यापक रूपसे विचरण करती हैं, (ते भानवः) तेरी दीप्तियां (दिवि स्पृशन्ति) द्युलोकोंको स्पर्श करती हैं।

4

देवासस्त्वा वरुणो मित्रो अर्यमा सं दूतं प्रत्नमिन्धते।
विश्वं सो अग्ने जयति त्वया धनं यस्ते ददाश मर्त्यः ।।

(देवासः) सब देव, (वरुणः मित्रः अर्यमा) वरुण, मित्र, अर्यमा भी (त्वां प्रत्नम् दूतम्) तुझ पुरातन दूतको (सम् इन्धते) पूरी तरह प्रदीप्त करते हैं। (अग्ने) हे अग्निदेव! (यः मर्त्यः) जिस मरणधर्मा मनुष्यने (ते ददाश) सब कुछ तुझे दे दिया है (सः) वह (त्वया) तेरे द्वारा (विश्वं धनं जयति) सम्पूर्ण ऐश्वर्य जीत लेता है।

5

मन्द्रो होता गृहपतिरग्ने दूतो विशामसि।
त्वे विश्वा सङ्गतानि व्रता ध्रुवा यानि देवा अकृण्वत ।।

(अग्ने) हे अग्निदेव! (मन्द्रः होता) तू यज्ञका आनन्दोल्लसित पुरोहित है, (गृहपतिः) इस घरका स्वामी है और (विशाम्) प्रजाओंका (दूतः असि) दूत है। (त्वे) तुझमें (विश्वा ध्रुवा व्रता) कर्मके सारे अविचल नियम (सङ्गतानि) एकत्र स्थित हैं (यानि) जिन्हें (देवाः अकृण्वत) देवोंने बनाया है।

6

त्वे इदग्ने सुभगे यविष्ठ्य विश्वमा हूयते हविः।
स त्वं नो अद्य सुमना उतापरं यक्षि देवान्त्सुवीर्या ।।

(यविष्ठ्य अग्ने) हे युवा और शक्तिशाली अग्निदेव! (सुभगे त्वे इत्) क्योंकि तू आनन्दसे समृद्ध है, इसलिए तुझमें ही (विश्वं हविः) प्रत्येक हवि (आ हूयते) डाली जाती है। (सः त्वं सुमनाः) इस कारण मनकी पूर्णतासे युक्त वह तू (नः) हमारे लिए (अद्य) आज (उत अपरम्) और आजके बाद भी (देवान्) देवोंके प्रति (सुवीर्या) पूर्णतायुक्त शक्तियोंको (यक्षि) अर्पित कर।

7

तं घेमित्था नमस्विन उप स्वराजमासते।
होत्राभिरग्निं मनुषः समिन्धते तितिर्वांसो अति स्रिधः॥

(तं घ ईम्) उसकी ही (नमस्विनः) आत्मसमर्पण-कर्ता मनुष्य (स्वराजम्) आत्म-शासकके रूपमें (उप आसते) उपासना करते हैं। (स्रिधः अति तितिर्वांसः मनुषः) जब मनुष्य अपनी बाधक और विरोधी शक्तियोंको जीतकर पार कर लेते हैं तब वे (होत्राभिः) हवियोंकी महानतासे (अग्निं सम् इन्धते) अग्निको पूरी तरह प्रज्वलित करते हैं।

8

घ्नन्तो वृत्रमतरन् रोदसी अप उरु क्षयाय चक्रिरे।
भुवत्कण्वे वृषा द्युम्न्याहुतः क्रन्ददश्वो गविष्टिषु॥

(वृत्रम् अप घ्नन्तः) आच्छादक वृत्रपर प्रहार करते हुए वे (रोदसी) द्युलोक और पृथ्वीलोक दोनोंको (अतरन्) पार कर जाते हैं और (उरु) विस्तृत राज्यको (क्षयाय चक्रिरे) अपना घर बना लेते हैं। (वृषा) वह शक्तिशाली अग्निदेव (आहुतः) आहुतियोंसे पुष्ट होकर (कण्वे) कण्वमें [मेधावी यजमानमें] (द्युम्नी) एक ज्योतिर्मय ऊर्जा-शक्ति (भुवत्) बन जाए, (गो-इष्टिषु) गौओंकी चरागाहों [गोष्ठों] में (क्रन्दत्) हिनहिनाता हुआ (अश्वः) जीवनका अश्व [भुवत्] बन जाए।

9

सं सीदस्व महाँ असि शोचस्व देववीतमः।
वि धूममग्ने अरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम्॥

(सं सीदस्व) तू अपना सुस्थापित आसन ग्रहण कर। (महाँ असि) तू विशाल है। (देववीतमः) देवत्वको पूरी तरह प्रकट करते हुए (शोचस्व) अपनी पवित्रतामें चमक। (मियेध्य अग्ने) हे यज्ञिय अग्निदेव! (प्रशस्त) विशालतासे अभिव्यक्त हुआ तू (अरुषं दर्शतम् धूमम्) भावावेशके रक्तवर्ण, क्रियाशील और अन्तर्दृष्टि-पूर्ण धुएँको (वि सृज) प्रसारित कर।

10-11

यं त्वा देवासो मनवे दधुरिह यजिष्ठं हव्यवाहन।
यं कण्वो मेध्यातिथि र्धनस्पृतं यं वृषा यमुपस्तुतः॥

यमग्निं मेध्यातिथिः कण्व ईध ऋतादधि।
तस्य प्रेषो दीदियुस्तमिमा ऋचस्तमग्निं वर्धयामसि ।।

(हव्यवाहन) हे हविका वहन करनेवाले! (यजिष्ठं यं त्वा) यज्ञके लिए अत्यधिक शक्तिशाली जिस तुझको (देवासः) देवोंने (मनवे) मनुष्यके लिए (इह दधुः) यहाँ निहित किया है, (यं) जिसको (कण्वः मेध्य-अतिथिः) कण्व मेध्यातिथिने (धनस्पृतं) अपने अभिलषित ऐश्वर्यको अधिकृत करनेवाले-के रूपमें (इह दधुः) यहाँ प्रतिष्ठित किया है और (यं [त्वा]) जिस तुझको (वृषा) शक्तिशाली इन्द्रने और (उपस्तुतः) अपने स्तुतिगानसे तुझे सुप्रतिष्ठित करनेवाले लोगोंने [इह दधुः] यहाँ स्थापित किया है।

(यम् अग्निम्) जिस अग्निको (मेध्यातिथिः कण्वः) मेध्य-अतिथि कण्वने (ऋतात् अधि) सत्यके आधार पर (ईधे) अत्यन्त उज्ज्वल रूपमें प्रज्वलित किया है, (तस्य) उसकी (इषः) प्रेरणाएं (प्र दीदियुः) देदीप्यमान हो उठें। (तम् अग्निम्) उस अग्निको (इमा ऋचः) ये पूर्णता-साधक ऋचाएं [वाणियां] (वर्धयामसि) बढ़ावें और [तम् अग्निम् वर्धयामसि] उसी अग्निको हम भी बढ़ावें।

12

रायस्पूर्धि स्वधावोऽस्ति हि तेऽग्ने देवेष्वाप्यम्।
त्वं वाजस्य श्रुत्यस्य राजसि स नो मृळ महाँ असि ।।

(स्वधावः) हे स्वयंस्थित अग्निदेव! (रायः) हमारे आनन्दैश्वर्योंको (पूर्धि) परिपूर्ण बना। (हि) क्योंकि (अग्ने) हे अग्निदेव! (देवेषु) देवोंमें (ते आप्यम् अस्ति) तेरी ही [तेरे द्वारा ही] क्रियाशीलता है। (त्वम्) तू (श्रुत्यस्य वाजस्य) अंतःप्रेरित ज्ञानकी सम्पदाका (राजसि) शासक है। (सः नः मृळ) सो ऐसा तू हमपर कृपा कर। (महान् असि) तू महान् है।

13

ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता।
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ।।

(सविता देवः न) सविता देवकी तरह तू (नः ऊतये) हमारे विकासके लिए (ऊर्ध्वः ऊ सु तिष्ठ) अत्यधिक ऊर्ध्वमें स्थित रह। (ऊर्ध्वः) उन ऊंचाइयों पर स्थित होकर ही तू (नः वाजस्य) हमारे ऐश्वर्यभोगका (सनिता) रक्षक बनता है (यत्) जब कि हम तुझे (अञ्जिभिः वाघद्भिः) अभिव्यक्त करनेवाले गीतोंसे (विह्वयामहे) पुकारते हैं।

14

ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो नि केतुना विश्वं समत्रिणं दह।
क्रुधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुवः।।

(ऊर्ध्वः) ऊर्ध्वस्थित होकर (केतुना) प्रत्यक्षज्ञान-युक्त मनके द्वारा तू (अंहसः नः नि पाहि) बुराईसे हमारी रक्षा कर। (विश्वम् अत्रिणम्) हमारी सत्ताके प्रत्येक भक्षकको (सं दह) पूरी तरह दग्ध कर दे। (नः) हमें (चरथाय) कर्म करनेके लिए (ऊर्ध्वान् कृधि) ऊपर उठा। (देवेषु) देवोंमें (नः दुवः) हमारी यज्ञक्रियाका (विदाः) सम्यक् विभागकर।

15

पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य।।

(अग्ने) हे अग्निदेव! (रक्षसः) राक्षससे (नः पाहि) हमारी रक्षा कर, (अराव्णः धूर्तेः) आनन्दविरोधी वस्तुओंसे होनेवाली हानिसे ([नः] पाहि) हमारी रक्षा कर, (रीषतः पाहि) उससे हमारी रक्षाकर जो हमपर आक्रमण करता है (उत वाजिघांसतः) और उससे भी जो हमारा हनन करना चाहता है, (वृहद्भानो) हे विशाल दीप्तिवाले! (यविष्ठ्य) हे शक्तिशाली और युवा।

16

घनेव विष्वग्वि जह्यराव्णस्तपुर्जम्भ यो अस्मध्रुक्।
यो मर्त्यः शिशीते अत्यक्तुभिर्मा नः स रिपुरीशत।।

(तपुः-जम्भ) हे शत्रुओंकी शक्तियोंको निगल जानेवाले! अथवा दुःख-संतापका हरण करनेवाले! (अराव्णः) निरानंदकी सम्पूर्ण शक्तियोंको (घना इव विश्वक् वि जहि) मानों घनाघन पड़ती चोटोंसे पूरी तरह छिन्न-भिन्न कर दे अथवा उन्हें (घना इव) बादलोंकी तरह (विष्वक् वि जहि) चारों ओरसे तितर-वितर कर दे और (यः अस्मध्रुक्) जो हमसे द्रोह करना चाहता है उसे भी [वि जहि] छिन्न-भिन्न कर दे। (यः मर्त्यः) जो भी मरणधर्मा मनुष्य (अक्तुभिः) अपने कार्योंकी तीव्र कुशलतासे (अति शिशीते) हमसे आगे बढ़ जाता है (सः) वह (नः रिपुः) हमारे शत्रुके रूपमें (मा ईशत) हमपर शासन न कर सके।

17

अग्निर्वव्ने सुवीर्यमग्निः कण्वाय सौभगम्।
अग्निः प्रावन् मित्रोत मेध्यातिथिमग्निः साता उपस्तुतम्।।

(अग्निः) अग्निन (कण्वाय) कण्वके लिए (सुवीर्यं वव्ने) पूर्णतायुक्त शक्तिको जीत लिया है और (अग्निः) अग्निने उसके लिये (सौभगम्) पूर्णतायुक्त आनन्दोपभोगको (वव्ने) जीत लिया है। (अग्निः) अग्नि उसके लिए (मित्रा प्र आवत्) सभी मित्रतापूर्ण वस्तुओंकी रक्षा करता है (उत) और (अग्निः) अग्नि (उपस्तुतम् मेध्य-अतिथिम्) मेध्यातिथिको, जिसने उसे स्तुतिके गीतसे सम्पुष्ट किया है, (सातौ [प्र आवत्]) उसकी सत्तामें सदा सुरक्षित रखता है।

18

अग्निना तुर्वशं यदुं परावत उग्रादेवं हवामहे।
अग्निर्नयन्नववास्त्वं बृहद्रथं तुर्वीतिं दस्यवे सहः।।

(अग्निना) अग्निके द्वारा हम (तुर्वशं यदुम्) तुर्वश और यदुका (परावतः) ऊर्ध्वलोकके राज्योंसे (हवामहे) आह्वान करते हैं। (अग्निः) अग्नि (बृहत्-रथं तुर्वीतिम्) बृहद्रथ और तुर्वीतिको [अथवा विशाल आनंदपूर्ण तुर्वीतिको] (नव-वास्त्वम्) नए निवासस्थानकी ओर (नयत्) ले गया है, जो तुर्वीति (दस्यवे सहः) शत्रुके विरोधमें शक्तिस्वरूप है।

19

नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते।
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः।।

(अग्ने) हे अग्निदेव, (मनुः) मनुष्य (त्वाम्) तुझे (शश्वते जनाय ज्योतिः) शाश्वत जन्मके लिए ज्योतिके रूपमें (नि दधे) अपने अन्दर स्थापित करता है। (यं) जिसे (कृष्टयः) कर्मके कर्त्ता (नमस्यन्ति) नमस्कार करते हैं ऐसा तू (ऋतजातः) सत्यमें प्रकट होकर और (उक्षितः) सत्तामें वर्धित होकर (कण्वे) कण्वमें (दीदेथ) अत्यन्त उज्ज्वल रूपमें प्रज्वलित हो।

20

त्वेषासो अग्नेरमवन्तो अर्चयो भीमासो न प्रतीतये।
रक्षस्विनः सदमिद् यातुमावतो विश्वं समत्रिणं दह।।

(अग्ने) हे अग्निदेव! तेरी (अर्चयः) ज्वालाएं (त्वेषासः) प्रचण्ड, (अमवन्तः) बलशाली, (भीमासः) भयानक हैं और (प्रति-इतये न) ऐसी हैं जिनके पास पहुंचा नहीं जा सकता। (सदम् इत्) सदा ही तू (रक्षस्विनः) अवरोधक शक्तियोंको, (यातुमावतः) दुःखकी वाहक शक्तियों को और (विश्वम् अत्रिणम्) प्रत्येक भक्षकको भी (सं दह) पूरी तरह भस्मसात् कर दे।

पराशरः शाक्त्यः

सूक्त 65

1

पश्वा न तायुं गुहा चतन्तं नमो युजानं नमो वहन्तम्।
संजोषा धीराः पदैरनु ग्मन्नुप त्वा सीदन् विश्वे यजत्राः॥

अग्निदेव अपने आपको (पश्वा) अन्तर्दर्शनकी गौके साथ (गुहा चतन्तं) गुहामें छिपाए हुए है, ([पश्वा] तायुं न) जैसे कोई चोर गौ-पशुके साथ अपनेको गुफामें छिपा लेता है। (नमः युजानम्) वह हमारे नमन व स्तवनको स्वयं स्वीकार करता है और (नमः वहन्तम्) उस नमनको वहाँ ले जाता है[1]। (धीराः सजोषाः) विचारक उसमें मिलकर आनंद लेते हैं और (पदैः अनु ग्मन्) उसके पद-चिह्नोंके अनुसार उसका अनुसरण करते हैं। हे अग्निदेव! (विश्वे यजत्राः) यज्ञके सब अधिपति (त्वा उप सीदन्) गुह्य गुहामें तेरे पास आते हैं।

2

ऋतस्य देवा अनुव्रता गुर्भुवत् परिष्टिर्द्यौर्न भूम।
वर्धन्तीमापः पन्वा सुशिश्विमृतस्य योना गर्भे सुजातम्॥

(देवाः) देवगण (ऋतस्य व्रता अनु गुः) उस अग्निके पदचिह्नों पर चलते हुए सत्यकी क्रियाओंके विधानका अनुसरण करते हैं। (परिष्टिः भुवत्) वह सबको उसी प्रकार चारों ओरसे घेरे हुए स्थित है (द्यौः भूम न) जिस प्रकार द्युलोक पृथिवीको। (आपः) जलधाराएं (ईं सुशिश्विम्) आनन्दमें बढ़ते हुए इस अग्निको (पन्वा वर्धन्ति) अपने प्रयाससे[2] संवर्धित करती हैं, जो अग्नि (गर्भे) उनके गर्भमें (ऋतस्य योना) सत्यके घरमें (सुजातम्) उत्तम रूपसे उत्पन्न हुआ है।

---

1. अथवा, यूं कहना अधिक अच्छा होगा, वह हमारे समर्पण को स्वीकार करता है और उसे अपने साथ ले जाता है।
2. अथवा, अपने स्तुतिगानसे।

3

पुष्टिर्न रण्वा क्षितिर्न पृथ्वी गिरिर्न भुज्म क्षोदो न शंभु।
अत्यो नाज्मन् त्सर्गप्रतक्तः सिन्धुर्न क्षोदः क ईं वराते।।

(रण्वा पुष्टिः न) वह मानों एक आनन्दपूर्ण पुष्टि है। (पृथ्वी न क्षितिः) वह पृथिवीकी तरह हमारा विशाल निवास-स्थान है। (गिरिः न भुज्म) वह पर्वतकी तरह उपभोग करने योग्य है। (क्षोदः न शंभु) वह तेज वहते हुए पानीकी तरह आनन्ददायक है। वह (अज्मन्) युद्धमें (सर्गप्रतक्तः) सरपट दौड़ते हुए (अत्यः न) वेगवान् अश्वकी तरह है। (क्षोदः सिन्धुः न) वह वहती हुई नदीकी तरह है[1]। (ईं कः वराते) उसके मार्गमें उसे कौन रोक सकता है?

4

जामिः सिन्धूनां भ्रातेव स्वस्रामिभ्यान्न राजा वनान्यत्ति।
यद् वातजूतो वना व्यस्थादग्निर्ह दाति रोमा पृथिव्याः।।

(सिन्धूनां जामिः) वह नदियोंका निकट संगी है, (भ्राता स्वस्राम् इव) जैसे भाई वहिनोंका होता है। वह (वनानि अत्ति) पृथिवीके वनोंको उसी प्रकार हड़प जाता है (राजा इभ्यान् न) जिस प्रकार राजा अपने शत्रुओंको। (यत्) जव (अग्निः) अग्निदेव (वातजूतः) वायुके निःश्वाससे प्रेरित हुआ (वना वि अस्थात्) वनोंमें चारों ओर विचरता है, तव वह (पृथिव्याः) पृथिवीकी देहके (रोम) रोमोंको (दाति) खण्ड-खण्ड कर देता है।

5

श्वसित्यप्सु हंसो न सीदन् क्रत्वा चेतिष्ठो विशामुषर्भुत्।
सोमो न वेधा ऋतप्रजातः पशुर्न शिश्वा विभुर्दूरेभाः।।

(सीदन् हंसः न) [जलोंमें] वैठे हंसकी तरह वह (अप्सु श्वसिति) चैतन्यकी धाराओंमें श्वास लेता है। (उषर्भुत्) उषाकालमें जागनेवाला वह (क्रत्वा) अपने कर्मोंके संकल्पके द्वारा (विशां चेतिष्ठः) प्रजाओंको ज्ञान देनेका सामर्थ्य रखता है। (सोमः) वह **सोम** [आनन्द-मदिराके **देवता**] की तरह है (ऋत-प्रजातः) सत्यसे उत्पन्न हुआ है और (वेधाः) एक स्रष्टा है। (शिश्वा पशुः न) वह अपने नवजात वछड़ेसे युक्त गौकी

---

1. या गतिशील समुद्रकी तरह है।

तरह है। (विभुः) वह व्यापक रूपमें फैला हुआ है और (दूरेभाः) उसकी ज्योति दूरातिदूरसे दृष्टिगोचर होती है।

सूक्त 66

1

रयिर्न चित्रा सूरो न संदृगायुर्न प्राणो नित्यो न सूनुः।
तक्वा न भूर्णिर्वना सिषक्ति पयो न धेनुः शुचिर्विभावा॥

(चित्रा रयिः न) वह समृद्ध रूपसे-विविध ऐश्वर्यकी तरह है और (सूरः संदृक् न) सूर्यकी सर्वदर्शी दृष्टिकी तरह है। (आयुः न) वह मानों जीवन है और (प्राणः) हमारी सत्ताका श्वास-प्रश्वास है। (नित्यः सूनुः न) वह मानों हमारा शाश्वत पुत्र है। (भूर्णिः तक्वा न) वह हमें वहन किए सरपट दौड़नेवाले घोड़ेकी तरह है। (वना सिसक्ति) वह वनोंके साथ चिपटा हुआ है। (पयः धेनुः न) वह दुधार गौकी तरह है। (शुचिः) वह शुभ्र-उज्ज्वल है और (विभावा) उसकी दीप्ति विशाल है।

2

दाधार क्षेममोको न रण्वो यवो न पक्वो जेता जनानाम्।
ऋषिर्न स्तुभ्वा विक्षु प्रशस्तो वाजी न प्रीतो वयो दधाति॥

(रण्वः ओकः न) वह एक सुखद घरकी तरह है, (क्षेमं दाधार) हमारे समस्त कल्याणको धारण किए हुए है। (पक्वः यवः न) वह पके हुए शस्य [जौ] की तरह है। (जनानां जेता) वह मनुष्योंका विजेता है। (स्तुभ्वा ऋषिः न) वह स्तुति-गायक ऋषिकी तरह है। (विक्षु प्रशस्तः) प्रजाओंमें उसकी प्रशस्ति [कीर्ति] है। (प्रीतः वाजी न) वह मानों हमारा हर्षोल्लसित तीव्रगामी अश्व है। (वयः दधाति) वह हमारे विकासको धारण करता है।

3

दुरोकशोचिः क्रतुर्न नित्यो जायेव योनावरं विश्वस्मै।
चित्रो यदभ्राट् छ्वेतो न विक्षु रथो न रुक्मी त्वेषः समत्सु॥

(दुरोक-शोचिः) एक ऐसे घरमें जिसमें वास करना कठिन है, वह ज्योतिःस्वरूप है।[1] (नित्यः क्रतुः न) वह हमारे अन्दर सदा-सक्रिय संकल्प

1. अथवा वह एक ऐसी ज्योति है जिसे प्रदीप्त करना कठिन है।

की तरह है। (योनौ जाया इव) वह हमारे घरमें पत्नीके समान है और (विश्वस्मै अरम्) प्रत्येक मनुष्यकी तृप्तिके लिए वह पर्याप्त है। (यत्) जब वह (चित्रः) अद्भुत ढंगसे नानारूप होकर (अभ्राट्) प्रखर रूपमें प्रदीप्त होता है तो वह (विक्षु श्वेतः न) प्रजाओंमें एक शुद्ध-शुभ्र सत्ताकी तरह होता है। (रुक्मी रथः न) वह सुवर्णमय रथके समान है। (समत्सु) हमारे संग्रामोंमें वह (त्वेषः) एक तेजःपुंज है।

4

सेनेव सृष्टामं दधात्यस्तुर्न दिद्युत् त्वेषप्रतीका।
यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्॥

वह (सृष्टा सेना इव) लक्ष्यपर धावा बोलती हुई सेनाके समान है और (अमं दधाति) हमारे अन्दर बल स्थापित करता है। वह (अस्तुः) धनुर्धारीके (त्वेष-प्रतीका) तेज़ जलती हुई नोकवाले (दिद्युत् न) ज्वालामय बाण-की तरह है। (यमः ह जातः) युगल-रूपमें वह अग्नि वह सब कुछ है जो उत्पन्न हो चुका है (यमः जनित्वम्) युगल-रूपमें वह अग्नि वह सब कुछ भी है जिसे उत्पन्न होना है। वह (कनीनां जारः) कन्याओंका [अप्रकट शक्तियोंका] प्रेमी है और (जनीनां) माताओंका [मातृभूत शक्तियोंका] (पतिः) रक्षक है।

5

तं वश्चराथा वयं वसत्यास्तं न गावो नक्षन्त इद्धम्।
सिन्धुर्न क्षोदः प्र नीचीरैनोन्नवन्त गावः स्वर्दृशीके॥

(वयं) हम (वः चराथा वसत्या) तुम्हारी गति और स्थितिके द्वारा (तम् इद्धं नक्षन्ते) उसके पास उस समय आते हैं जब उसका प्रकाश प्रदीप्त होता है, (गावः अस्तं न) जिस तरह गौएं अपने घर बाड़ेमें आती हैं। (सिन्धुः क्षोदः न) वह अपने धारापथमें बह रही नदीकी तरह है और (नीचीः प्र ऐनोत्) अवतरित होती हुई जलधाराओंको आगेकी ओर प्रवाहित करता है। (गावः) रश्मिरूप गौएं (स्वः दृशीके) सूर्यके लोककी अभि-व्यक्तिमें[1] (नवन्त) उसकी ओर गति करती हैं।

---

1. अथवा, जब सूर्य प्रकट होता है तब।

सूक्त 67

1

वनेषु जायुर्मर्तेषु मित्रो वृणीते श्रुष्टिं राजेवाजुर्यम्।
क्षेमो न साधुः क्रतुर्न भद्रो भुवत् स्वाधी होता हव्यवाट्॥

(वनेषु जायुः) वह वनोंमें विजेता है। (मर्तेषु मित्रः) मर्त्य मनुष्यों-में वह मित्र है। (श्रुष्टिं वृणीते) वह सब ऐश्वर्योंका इस प्रकार वरण करता है (राजा अजुर्यम् इव्) जैसे कोई राजा एक अजर सदा-युवा मंत्रीका। (साधुः क्षेमः न) वह मानों हमारा पूर्ण कुशल-मंगल है[1]। (भद्रः क्रतुः न) वह ऐसा सुखकारक, कल्याणकारक संकल्प है जो (सु-आधीः) अपने चिन्तनमें यथार्थ है। वह हमारे लिए (होता) आवाहनका पुरोहित तथा (हव्यवाट्) हमारी भेंटोंका वहन करनेवाला (भुवत्) बन गया है।

2

हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान् धाद् गुहा निषीदन्।
विदन्तीमत्र नरो धियंधा हृदा यत् तष्टान् मन्त्राँ अशंसन्॥

वह (विश्वानि नृम्णा) सब बलोंको (हस्ते दधानः) अपने हाथोंमें धारण किए हैं। (गुहा नि-सीदन्) गुप्त गुफ़ामें बैठा हुआ वह (देवान्) देवोंको (अमे धात्) अपनी शक्तिके द्वारा थामे हुए है[2]। (अत्र) यहाँ (धियंधाः नरः) अपने अन्दर दिव्य विचार धारण करनेवाले मनुष्य (ईं विदन्ति) उस अग्निको जान लेते हैं (यत्) जब वे (हृदा तष्टान्) हृदय द्वारा रचित [हृदयसे उद्भूत] (मंत्रान् अशंसन्) मंत्रोंका उच्चारण कर लेते हैं।

3

अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।
प्रिया पदानि पश्वो नि पाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः॥

(अजः न) अजन्माकी तरह उसने (पृथिवीं क्षां दाधार) विस्तृत पृथिवी-को धारण कर रखा है। (सत्यैः मन्त्रेभिः) अपने सत्यमय मंत्रोंके द्वारा उसने (द्यां तस्तम्भ) द्युलोकको थाम रखा है। (पश्वः) दर्शनकी गौके (प्रिया पदानि) प्रिय पद-चिह्नोंकी (नि पाहि) रक्षा कर। (अग्ने) हे

1. अथवा हमें पूर्ण बनानेवाली भलाई है।
2. अथवा स्थापित करता है।

अग्निदेव! (विश्व-आयुः) तू विश्वमय जीवन है, (गुहा गुहं) गुहाओंकी गुहामें, गुह्यतम स्थानमें[1] (गाः) प्रवेश कर।

4

य ईं चिकेत गुहा भवन्तमा यः ससाद धारामृतस्य।
वि ये चृतन्त्यृता सपन्त आदिद् वसूनि प्र ववाचास्मै॥

(यः) जिसने (गुहा भवन्तम् ईम्) गहन गुहामें विद्यमान इसको (चिकेत) देख लिया है, (यः) जिसने (ऋतस्य धारां) सत्यकी धाराको (आ ससाद) प्राप्त कर लिया है, (ये) जो (ऋता सपन्तः) सत्यकी वस्तुओं-का स्पर्श करते हैं और उसे (वि चृतन्ति) प्रदीप्त कर लेते हैं, (आत् इत्) तब ऐसा हो चुकने पर वह (अस्मै) ऐसे मनुष्यके लिए (वसूनि प्र ववाच) ऐश्वर्योंके विषयमें वचन देता है।

5

वि यो वीरुत्सु रोधन्महित्वोत प्रजा उत प्रसूष्वन्तः।
चित्तिरपां दमे विश्वायुः सद्मेव धीराः संमाय चक्रुः॥

(यः) जो (वीरुत्सु) पृथिवीके उद्भिजों, वृक्ष-वनस्पतियोंमें (महित्वा) अपनी महिमाओंको (वि रोधत्) ऊर्ध्व-धारित करता है (उत) और (प्रजाः) उत्पन्न हुई प्रजाओंको (उत) और (प्रसूषु अन्तः) जो प्रजाएं अभी माताओंमें हैं उन्हें—इन दोनोंको [वि रोधत्] धारण करता है, वह (अपां दमे) चैतन्य-धाराओंके घरमें (चित्तिः) ज्ञानस्वरूप है और (विश्व-आयुः) विश्वव्यापी जीवन है। (धीराः) विचारक लोगोंने उसे (सद्म इव) एक प्रासादकी तरह (संमाय चक्रुः) मापा और निर्मित किया है।

सूक्त 68

1

श्रीणन्नुप स्थाद् दिवं भुरण्युः स्थातुश्चरथमक्तून् व्यूर्णोत्।
परि यदेषामेको विश्वेषां भुवद् देवो देवानां महित्वा॥

(भुरण्युः) वहन करनेवाला वह अग्नि (श्रीणन्) प्रज्वलित होता हुआ (दिवम् उपस्थात्) द्युलोकको पहुंचता है। (अक्तून्) रात्रियोंको [उनके

---

1. या, गुप्त गुहाके गुह्य स्थानमें।

रहस्यको] (वि ऊर्णोत्) खोल देता है (स्थातुः चरथम्) स्थावर और जंगम को [वि ऊर्णोत्] प्रकट कर देता है। (यत्) क्योंकि यही वह (एकः देवः) एक देव है जो (एषां विश्वेषां देवानाम्) इन सब देवोंकी (महित्वा) महिमाओंको (परि भुवत्) अपनी सत्ताके द्वारा चारों ओरसे व्यापे हुए है।

2

आदित् ते विश्वे क्रतुं जुषन्त शुष्काद् यद् देव जीवो जनिष्ठाः।
भजन्त विश्वे देवत्वं नाम ऋतं सपन्तो अमृतमेवैः॥

(देव) हे देव! (यत्) जब तू (शुष्कात्) शुष्क जड़ प्रकृतिसे (जीवः) जीवन-सत्ताके रूपमें (जनिष्ठाः) उत्पन्न होता है (आत् इत्) तभी (विश्वे) सब लोग (ते क्रतुम्) तेरे कर्मोंके संकल्पके साथ (जुषन्त) दृढ़तासे संलग्न होते हैं।[1] (विश्वे) सब लोग (नाम देवत्वं) परम नाम और देवत्वका (भजन्त) प्रसन्नतापूर्वक भजन करते हैं। (एवैः) तेरी गतियोंसे वे (ऋतम् अमृतम्) सत्य और अमरताका (सपन्त) स्पर्श करते हैं।

3

ऋतस्य प्रेषा ऋतस्य धीतिर्विश्वायुर्विश्वे अपांसि चक्रुः।
यस्तुभ्यं दाशाद् यो वा ते शिक्षात् तस्मै चिकित्वान् रयिं दयस्व॥

(ऋतस्य प्रेषाः) वह सत्यकी सकल प्रेरणा है, (ऋतस्य धीतिः) सत्यका चिन्तन है, (विश्वायुः) वैश्व जीवनशक्ति है जिसके द्वारा (विश्वे) सब (अपांसि चक्रुः) कर्म करते हैं। (यः) जो व्यक्ति (तुभ्यम्) तुझे (दाशात्) अपने आपको दे देता है (वा) अथवा (यः) जो (ते शिक्षात्) तुझसे कुछ प्राप्त करता है[2], (चिकित्वान्) ज्ञानवान् होता हुआ तू (तस्मै) उसे (रयिं दयस्व) दिव्य ऐश्वर्य प्रदान कर।

4

होता निषत्तो मनोरपत्ये स चिन्न्वासां पती रयीणाम्।
इच्छन्त रेतो मिथस्तनूषु सं जानत स्वैर्दक्षैरमूराः॥

(होता) वह यज्ञका पुरोहित है जो (मनोः अपत्ये) मनुके पुत्रमें (निसत्तः) विराजमान है। (सः) वह (चित् नु) निश्चय ही (आसां रयीणां पतिः) इन ऐश्वर्योंका अधिपति है। वे (तनूषु) अपने शरीरोंमें (मिथः)

---

1. या, तेरे कर्मोंके संकल्पमें आनन्द लेते हैं।
2. या, तुझसे कुछ सीखता है।

परस्पर (रेतः इच्छन्त) बीजकी, बीजके बढ़नेकी कामना करते हैं। (अमूराः) बुद्धिमान् लोग उसे (स्वैः दक्षैः) अपने विवेकपूर्ण विचारोंके द्वारा (सं जानत) पूरी तरह जान लेते हैं।

5

पितुर्न पुत्राः क्रतुं जुषन्त श्रोषन् ये अस्य शासं तुरासः।
वि राय और्णोद् दुरः पुरुक्षुः पिपेश नाकं स्तृभिर्दमूनाः ॥

(ये) जो (अस्य शासं) इसकी शिक्षाको (श्रोषन्) ध्यानपूर्वक सुनते हैं, ([ये] तुरासः) जो अपनी यात्रामें तीव्र वेगसे बढ़नेवाले हैं वे (क्रतुं जुषन्त) उसके संकल्पकी प्रसन्नतापूर्वक सेवा वा पूर्ति करते हैं, (पितुः पुत्राः न) जैसे कि पुत्र पिताके संकल्पकी। (पुरुक्षुः) वह अनेकानेक ऐश्वर्योंका धाम है और (रायः दुरः) निधिके द्वारोंको (वि और्णोत्) पूरी तरह खोल देता है। (दमूनाः) वह एक ऐसा अन्तर्वासी है जिसने (नाकं) द्युलोकको (स्तृभिः) उसके नक्षत्रों सहित (पिपेश) निर्मित किया है।

सूक्त 69

1

शुक्रः शुशुक्वाँ उषो न जारः पप्रा समीची दिवो न ज्योतिः।
परि प्रजातः क्रत्वा बभूथ भुवो देवानां पिता पुत्रः सन् ॥

(उषः जारः न) उषाके प्रेमीकी तरह (शुक्रः शुशुक्वान्) अति भास्वर रूपमें देदीप्यमान होता हुआ तू (दिवः ज्योतिः न) द्युलोककी ज्योतिकी तरह (समीची पप्रा) दो समलोकोंको[1] परिपूरित करता हुआ (क्रत्वा प्रजातः) हमारे संकल्पसे उत्पन्न हुआ है और (परि बभूथ) हमारे चारों ओर सब सत्ताओंका रूप धारण करता है। तू जो कि (पुत्रः सन्) पुत्र है, (देवानां पिता भुवः) देवोंका पिता बन गया है।

2

वेधा अदृप्तो अग्निर्विजानन्नूधर्न गोनां स्वाद्मा पितूनाम्।
जने न शेव आहूर्यः सन् मध्ये निषत्तो रण्वो दुरोणे ॥

(विजानन् अग्निः) ज्ञानसे सम्पन्न अग्निदेव (अदृप्तः वेधाः) गर्वपूर्ण

1. अथवा, दो संगियोंको।

अविवेकसे रहित स्रष्टा है[1]। (गोनाम् ऊधः न) वह मानों प्रकाशकी गौओंका स्तन है, (पितूनां स्वाद्म) आनन्द-मदिराके घूँटोंको मधुमय बनानेवाला है[2]। (जने शेवः न) मनुष्यमें वह एक आनन्दपूर्ण सत्ताकी तरह है। (आहूर्यः सन्) वह ऐसा है जिसे हमें अपने अन्दर पुकारना चाहिए। वह (दुरोणे मध्ये) घरके मध्यमें (रण्वः नि-सत्तः) आनन्दमग्न होकर आसीन है।

3

पुत्रो न जातो रण्वो दुरोणे वाजी न प्रीतो विशो वि तारीत्।
विशो यदह्वे नृभिः सनीळा अग्निर्देवत्वा विश्वान्यश्याः॥

(जातः) वह हमारे यहाँ उत्पन्न हुआ है, (दुरोणे रण्वः पुत्रः न) मानों हमारे घरमें कोई आनन्दोल्लसित पुत्र हो। (प्रीतः वाजी न) एक प्रसन्न वेगशाली घोड़ेकी तरह वह (विशः वि तारीत्) प्रजाओंको उनके युद्धमेंसे पार ले जाता है। (यत्) जब मैं (विशः अह्वे) उन सत्ताओंको पुकारता हूँ जो (नृभिः सनीळाः) देवोंके साथ[3] एक निवासस्थानमें रहती हैं तब (अग्निः) दिव्यज्वालारूप अग्निदेव (विश्वानि देवत्वा) सब देवत्वोंको (अश्याः) प्राप्त कर लेता है।

4

नकिष्ट एता व्रता मिनन्ति नृभ्यो यदेभ्यः श्रुष्टिं चकर्थ।
तत् तु ते दंसो यदहन्त्समानैर्नृभिर्यद् युक्तो विवे रपांसि॥

(यत्) जब तू (एभ्यः नृभ्यः) इन देवों[4]के लिए (श्रुष्टिं चकर्थ) अन्तः-प्रेरित ज्ञानका सर्जन कर देता है तब (ते एता व्रता) तेरी क्रियाओंकी इन प्रणालियोंका (नकिः मिनन्ति) कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। (तत् तु) यह तो (ते दंसः) तेरा कार्य ही है (यत्)कि (समानैः नृभिः युक्तः) अपने समकक्ष देवोंसे युक्त होकर तूने (अहन्) प्रहार किया है,[5] (यत्) और यह कि (रपांसि विवेः) तूने पापकी शक्तियोंको तितर-वितर कर दिया है।

---

1. अथवा, वस्तुओंका विधाता, व्यवस्थापक है।
2. अथवा, सब अन्नोंका स्वाद लेनेवाला है।
3. अथवा, मनुष्योंके साथ
4. अथवा, इन मनुष्यों
5. अथवा, वध किया है,

5

उषो न जारो विभावोस्रः संज्ञातरूपश्चिकेतदस्मै ।
त्मना वहन्तो दुरो व्यृण्वन् नवन्त विश्वे स्वर्दृशीके ।।

वह (उषः जारः न) उषा के प्रेमी की तरह (विभावा उस्रः) अति भास्वर और ज्योतिर्मय है। (अस्मै) इस मानव प्राणीके लिए (संज्ञातरूपः) उसका स्वरूप अच्छी तरह ज्ञात हो जाय और (चिकेतत्) वह उसके ज्ञानके प्रति जागृत हो जाय। उसे (विश्वे) सब (त्मना वहन्तः) अपने अन्दर वहन करें, धारण करें, (दुरः वि ऋण्वन्) द्वारोंको खुला खोल दें और (स्वः दृशीके नवन्त) सूर्यलोकके साक्षात्कारकी ओर गति करते हुए उसे प्राप्त कर लें[1]।

सूक्त 70

1

वनेम पूर्वीरर्यो मनीषा अग्निः सुशोको विश्वान्यश्याः ।
आ दैव्यानि व्रता चिकित्वाना मानुषस्य जनस्य जन्म ।।

(पूर्वीः वनेम) हम अनेक ऐश्वर्योंको जीत लें। (सुशोकः) अपनी ज्योतिसे जाज्वल्यमान, (मनीषा) विचारशील मनके द्वारा (अर्यः) प्रभुत्वशाली (अग्निः) अग्निदेव जो (दैव्यानि व्रता) दिव्य क्रियाओंके नियमोंको (आ चिकित्वान्) जानता है और (मानुषस्य जनस्य) मानव प्राणीके (जन्म) जन्मको भी [आ चिकित्वान्] जानता है, (विश्वानि अश्याः) सभी अस्तित्ववान् पदार्थोंको अधिकृत कर ले।

2

गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम् ।
अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः ।।

(यः अपां गर्भः) जो जलोंका गर्भ है, शिशु है, (वनानां गर्भः) वनोंका शिशु है (च) और (स्थातां गर्भः) स्थावर वस्तुओंका शिशु है, (चरथाम् गर्भः) जंगम वस्तुओंका शिशु है, वह (अस्मै) इस मनुष्यके लिए (अद्रौ चित्) पत्थरमें भी विद्यमान है, (दुरोणे अन्तः) उसके घरके मध्यमें भी स्थित है। (विशां विश्वः न) वह प्रजाओंमें विश्वव्यापी सत्ताकी न्याईं है। (अमृतः) वह अमर है, (स्वाधीः) पूर्ण विचारक है।

---

1. या, सूर्यका दर्शन प्राप्त करें।

3

स हि क्षपावाँ अग्नी रयीणां दाशद् यो अस्मा अरं सूक्तैः।
एता चिकित्वो भूमा नि पाहि देवानां जन्म मर्तांश्च विद्वान्॥

(सः अग्निः हि) वह अग्निदेव (क्षपावान्) रात्रियोंका स्वामी है। (यः) जो व्यक्ति (अस्मै) उस [अग्नि] के लिए (सूक्तैः) पूर्णता-युक्त वाणियों द्वारा, सूक्तों द्वारा (अरं) यज्ञकी तैयारी करता है उसे वह (रयीणां दाशत्) ऐश्वर्योंका दान करता है। (चिकित्वः) हे चिन्मय देव! (विद्वान्) ज्ञानवान् होता हुआ तू (एता भूमा) इन लोकोंकी, (देवानां जन्म) देवोंके जन्मकी (मर्तान् च) और मर्त्य मनुष्योंकी (नि पाहि) रक्षा कर।

4

वर्धान्यं पूर्वीः क्षपो विरूपाः स्थातुश्चरथमृतप्रवीतम्।
अराधि होता स्वर्निषत्तः कृण्वन् विश्वान्यपांसि सत्या॥

(ऋतप्रवीतम्) सत्यसे प्रादुर्भूत, (स्थातुः चरथम्) स्थावर और जंगम-स्वरूप (यं) जिस अग्निको (विरूपाः) विभिन्न रूपोंवाली (पूर्वीः क्षपः) अनेक रात्रियोंने (वर्धान्) संवर्धित किया है वह (होता) आवाहनका पुरोहित (अराधि) हमारे लिए संसिद्ध किया गया है। वह (विश्वानि अपांसि) हमारे सब कर्मोंको (सत्या कृण्वन्) सत्यमय बनाता हुआ (स्वः) सूर्यलोक-में[1] (नि-सत्तः) विराजमान है।

5

गोषु प्रशस्तिं वनेषु धिषे भरन्त विश्वे बलिं स्वर्णः।
वि त्वा नरः पुरुत्रा सपर्यन् पितुर्न जिव्रेर्वि वेदो भरन्त॥

तू (गोषु) रश्मिरूपी गौओंमें और (वनेषु) वनोंमें (प्रशस्ति) अपनी प्रशस्ति, अपनी स्तुतिको (धिषे) स्थापित करता है; यह ऐसा है मानों (विश्वे) ये सभी (स्वः बलिं न) सूर्यलोकको भेंटके रूपमें (भरन्त) ला रहे हों। (पुरुत्रा) अनेकानेक प्रदेशोंमें (नरः) मनुष्य (त्वा वि सपर्यन्) तेरी सेवा करते हैं और तुझसे (वेदः वि भरन्त) उसी प्रकार ज्ञान-उपार्जन करते हैं (जिव्रेः पितुः न) जिस प्रकार वयोवृद्ध पितासे।

---

1. अथवा, सूर्यमें

6

साधुर्न गृध्नुरस्तेव शूरो यातेव भीमस्त्वेषः समत्सु ।।

(साधुः न) वह एक कुशल कार्यसाधककी तरह है और (गृध्नुः) अधि-कृत करनेको आतुर है। (अस्ता इव शूरः) वह तीर छोड़नेवाले धनुर्धरकी तरह शूरवीर है और (याता इव भीमः) धावा बोलनेवाले आक्रामककी तरह भयंकर है। (समत्सु) हमारे संग्रामोंमें वह (त्वेषः) एक तेज है।

सूक्त 71

1

उप प्र जिन्वन्नुशतीरुशन्तं पतिं न नित्यं जनयः सनीळाः।
स्वसारः श्यावीमरुषीमजुषूञ्चित्रमुच्छन्तीमुषसं न गावः ।।

(सनीळाः जनयः) एक ही वासस्थानमें रहनेवाली माताएं (उशतीः) कामना करती हुई (उशन्तम् उप) उनकी कामना करनेवालेके पास आईं और उसे (नित्यं पतिं न) अपने शाश्वत पतिकी तरह (प्रजिन्वन्) सुख दिया। (स्वसारः अजुषून्) बहनोंने उसमें आनन्द लिया, (उषसं गावः न) जैसे किरणवाली गौएं उस उषामें आनन्द लेती हैं जब कि वह (श्यावीम्) धूमिल, (अरुषीम्) अरुण वर्णवाली और (चित्रम्) चित्र-विचित्र रंगोंमें दमकती हुई (उच्छन्तीम्) प्रकट होती है।

2

वीळु चिद् दृळ्हा पितरो न उक्थैरद्रिं रुजन्नङ्गिरसो रवेण।
चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः स्वर्विविदुः केतुमुस्राः ।।

(नः पितरः) हमारे पितरोंने (वीळु दृळ्हा चित्) प्रबल और दृढ़ स्थानों-को भी (उक्थैः) अपने शब्दों द्वारा (रुजन्) तोड़ डाला। (अङ्गिरसः) अंगिरस् ऋषियोंने (अद्रिं) पहाड़ी चट्टानको (रवेण) अपने महान् रव से (रुजन्) छिन्न-भिन्न कर दिया। इस प्रकार उन्होंने (अस्मे) हमारे अन्दर (बृहतः दिवः) बृहत् द्युलोकका (गातुम् चक्रुः) मार्ग बनाया। उन्होंने (अहः) दिनको, (स्वः) सूर्यलोकको और (केतुम्) अंतर्ज्ञानकी रश्मिको तथा (उस्राः) चमकते हुए गो-यूथको (विविदुः) खोज निकाला।

3

दधन्नृतं धनयन्नस्य धीतिमादिदर्यो दिधिष्वो विभृत्राः।
अतृष्यन्तीरपसो यन्त्यच्छा देवाञ्जन्म प्रयसा वर्धयन्तीः ।।

(ऋतं दधन्) उन्होंने सत्यको धारण किया, (अस्य) इस मानव प्राणी-के (धीतिम्) विचारको (धनयन्) समृद्ध किया। (आत् इत्) इसके बाद ही वे (विभृत्राः) अग्निको व्यापक रूपमें धारण करनेवाले, (अर्यः दिधिष्वः) स्वामित्व और विचार-शक्तिसे सम्पन्न बने। (अपसः) कार्यरत शक्तियाँ (जन्म) दिव्य जन्मको (प्रयसा) आनन्दके द्वारा (वर्धयन्तीः) बढ़ाती हुई, (अतृष्यन्तीः) किसी और चीजकी कामना न करती हुई (देवान् अच्छ) देवोंकी ओर (यन्ति) गति करती हैं।

4

मथीद् यदीं विभृतो मातरिश्वा गृहेगृहे श्येतो जेन्यो भूत्।
आदीं राज्ञे न सहीयसे सचा सन्ना दूत्यं भृगवाणो विवाय॥

(यत्) जब (विभृतः) व्यापक रूपसे अन्दर धारण किया गया (मातरिश्वा) जीवन-प्राण (ईम्) उसको (गृहे-गृहे) घर-घरमें (मथीत्) मथकर प्रकट कर देता है तब वह (श्येतः) शुभ्र और (जेन्यः) विजयी (भूत्) हो जाता है। (आत्) तब ही (ईम्) वह (भृगवाणः) देदीप्यमान द्रष्टा बन जाता है और (सचा सन्) हमारा संगी बनकर (दूत्यम् आ विवाय) दूतकार्यके लिए जाता है (सहीयसे राज्ञे न) जैसे कोई किसी शक्तिशाली राजाका दूत बनकर जाता है।

5

महे यत् पित्र ईं रसं दिवे करव त्सरत् पृशन्यश्चिकित्वान्।
सृजदस्ता धृषता दिद्युमस्मै स्वायां देवो दुहितरि त्विषिं धात्॥

(यत्) जब (महे पित्रे दिवे) महान् पिता द्यौके लिए (ईं रसं) इस सार-रसको उसने (कः) बना लिया तो वह (पृशन्यः) घनिष्ठ सम्पर्क रखता हुआ और (चिकित्वान्) ज्ञान-सम्पन्न होता हुआ, (अव त्सरत्) सरकता हुआ नीचे आ गया। (अस्ता) धनुर्धर ने (धृषता) प्रचण्डताके साथ (अस्मै) इसपर (दिद्युं सृजत्) विद्युत्का बाण छोड़ा, परन्तु (देवः) देवने (स्वायां दुहितरि) अपनी पुत्रीमें (त्विषिं धात्) तेजोमय बलको निहित किया।

6

स्व आ यस्तुभ्यं दम आ विभाति नमो वा दाशादुशतो अनु द्यून्।
वर्धो अग्ने वयो अस्य द्विबर्हा यासद् राया सरथं यं जुनासि॥

(यः) जो (स्वे दमे) तेरे अपने घरमें (तुभ्यं) तेरे लिए (आ विभाति)

प्रकाशको प्रदीप्त करता है (वा) और (अनु द्यून्) प्रतिदिन (नमः आ दाशात्) समर्पण-रूप नमनकी भेंट देता है उसे तू (उशतः) चाहता है। (अग्ने) हे अग्नि! (द्विबर्हा) अपनी द्विविध बृहत्तामें तू (अस्य वयः वर्धः) उसके विकासको संवर्धित कर। (यम्) जिसे तू (सरथं जुनासि) अपने साथ एक ही रथमें वेगसे ले चलता है वह (राया यासत्) ऐश्वर्य-सम्पदाके साथ यात्रा करे।

7

अग्निं विश्वा अभि पृक्षः सचन्ते समुद्रं न स्रवतः सप्त यह्वीः।
न जामिभिर्वि चिकिते वयो नो विदा देवेषु प्रमतिं चिकित्वान्॥

(विश्वाः पृक्षः) सब तृप्तियां (अग्निम्) अग्निके साथ (अभि सचन्ते) दृढ़तासे जुड़ी हुई हैं, (न) जैसे (सप्त यह्वीः स्रवतः) सात शक्तिशाली नदियां (समुद्रं) समुद्रमें [अभि सचन्ते] मिल जाती हैं। (नः वयः) हमारी सत्ताका विकास (जामिभिः) तेरे साथियों द्वारा (न विचिकिते) नहीं जाना गया। परन्तु (चिकित्वान्) तू जो कि जान गया है (प्रमतिं) अपना ज्ञान (देवेषु) देवोंको (विदाः) प्रदान कर[1]।

8

आ यदिषे नृपतिं तेज आनट् छुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके।
अग्निः शर्धमनवद्यं युवानं स्वाध्यं जनयत् सूदयच्च॥

(यत्) जब (तेजः) शक्तिकी ज्वाला (नृपतिं) मनुष्योंके इस राजाके पास (इषे आ आनट्) प्रेरक शक्तिके रूपमें आई, (अभीके) जब उनका मिलन होनेपर (द्यौः) द्युलोक को उसके अंदर (शुचि रेतः) शुद्ध-पवित्र बीजके रूपमें (नि-सिक्तं) डाला गया तब (अग्निः) अग्निने (शर्धम्[2] जनयत्) एक ऐसे बलवीर्यको जन्म दिया जो (युवानम्) युवा हैं, (अनवद्यं) निर्दोष है और (स्वाध्यं) चिन्तनमें पूर्ण है, (च) और उसे (सूदयत्) उसके पथ पर वेगसे परिचालित कर दिया।

9

मनो न योऽध्वनः सद्य एत्येकः सत्रा सूरो वस्व ईशे।
राजाना मित्रावरुणा सुपाणी गोषु प्रियममृतं रक्षमाणा॥

---

1. या, हमारे लिए देवोंमें ज्ञान प्राप्त कर।
2. या, एक गण। इसका अभिप्राय हो सकता है मरुत्-देवोंकी सेना, मरुतां शर्धः।

(यः सूरः) जो सूर्य (मनः इव) मनकी तरह (अध्वनः) मार्गोंपर (सद्यः एति) सहसा ही चल पड़ता है वह (सत्रा) सदैव (एकः) अकेला ही (वस्वः ईशे) ऐश्वर्यनिधिका स्वामी है। (सुपाणी राजाना) सुन्दर हाथोंवाले राजा (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण वहाँ (गोषु[1]) रश्मियोंमें (प्रियम् अमृतं) आनन्द और अमृतकी (रक्षमाणा) रक्षा करते हुए विद्यमान हैं।

10

मा नो अग्ने सख्या पित्र्याणि प्र मर्षिष्ठा अभि विदुष्कविः सन्।
नभो न रूपं जरिमा मिनाति पुरा तस्या अभिशस्तेरधीहि ॥

(अग्ने) हे अग्नि! तू (यः) जो (विदुः) ज्ञाता और (कविः) द्रष्टाके रूपमें (अभि सन्) हमारी ओर अभिमुख है, सो (नः पित्र्याणि सख्या) हमारे उन प्राचीन मैत्रीभावोंको (मा प्र मर्षिष्ठाः) भुला मत देना[2]। (नभः रूपं न) जैसे कुहरा रूपको धुंधला कर देता है वैसे (जरिमा मिनाति) बुढ़ापा हमें क्षीण कर देता है। (तस्याः अभिशस्तेः पुरा) हमपर उसका आघात पड़नेसे पूर्व (अधि इहि) तू आ पहुंच[3]।

सूक्त 72

1

नि काव्या वेधसः शश्वतस्कर्हस्ते दधानो नर्या पुरूणि।
अग्निर्भुवद् रयिपती रयीणां सत्रा चक्राणो अमृतानि विश्वा ॥

(पुरूणि नर्या) देवत्वकी अनेक शक्तियों[4]को (हस्ते दधानः) अपने हाथमें धारण किये हुए वह (शश्वतः वेधसः) शाश्वत स्रष्टाकी (काव्या) द्रष्टा-प्रज्ञाओंको (नि कः) हमारे अंदर विरचित करता है। (अग्निः) अग्निदेव (रयीणां रयिपतिः) ऐश्वर्य-भंडारका स्वामी (भुवत्) बन जाए, (सत्रा) सदा (विश्वा अमृतानि) सब अमर वस्तुओंका (चक्राणः) निर्माण करे[5]।

---

1. 'गोषु', रश्मिरूपी गौओंमें, सूर्यके चमकते हुए यूथोंमें।
2. अथवा, उपेक्षित नहीं करना या मिटा नहीं देना।
3. या, हमपर उसका आक्रमण होनेसे पहले ध्यान दे।
4. अथवा, अनेकानेक बलों
5. या, समस्त अमर्त्य वस्तुओंको एक साथ बनाता हुआ।

2

अस्मे वत्सं परि षन्तं न विन्दन्निच्छन्तो विश्वे अमृता अमूराः।
श्रमयुवः पदव्यो धियंधास्तस्थुः पदे परमे चार्वग्नेः॥

(विश्वे अमृताः अमूराः) सब अमर और ज्ञानियोंने (इच्छन्तः) चाहा परंतु (अस्मे) हमारे अंदर (परि सन्तं वत्सं) उस शिशुको जो सब ओर विद्यमान है (न विन्दन्) नहीं पा सके। (पदव्यः श्रमयुवः) उसके पथ पर श्रम करते हुए, (धियंधाः) विचारको धारण किए हुए वे (परमे पदे) परम धाममें (तस्थुः) स्थित हुए और उन्होंने (अग्नेः चारु) ज्वालामय अग्निदेवके सौन्दर्यको (विन्दन्) प्राप्त किया।

3

तिस्रो यदग्ने शरदस्त्वामिच्छुचिं घृतेन शुचयः सपर्यान्।
नामानि चिद् दधिरे यज्ञियान्यसूदयन्त तन्वः सुजाताः॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! (यत्) जब (शुचयः) उन पवित्र जनोंने (शुचिं त्वाम् इत्) तुझ पवित्रका ही (घृतेन) प्रकाशकी निर्मलताके द्वारा (तिस्रः शरदः) तीन वर्ष तक (सपर्यान्) पूजन किया और (यज्ञियानि नामानि चित्) यज्ञिय नामोंको भी (दधिरे) धारण किया, तब (तन्वः सुजाताः) उनके शरीर पूर्ण जन्मको प्राप्त हुए और उन्होंने उन्हें (असूदयन्त) पथपर वेगपूर्वक परिचालित कर दिया।

4

आ रोदसी बृहती वेविदानाः प्र रुद्रिया जभ्रिरे यज्ञियासः।
विदन्मर्तो नेमधिता चिकित्वानग्निं पदे परमे तस्थिवांसम्॥

(यज्ञियासः) यज्ञके स्वामियोंने (बृहती रोदसी) बृहत् द्यौ और पृथिवी-को (आ वेविदानाः) खोज निकाला और (रुद्रिया) अपनी प्रचण्ड शक्तिके द्वारा उन्हें (प्र जभ्रिरे) धारण किया, (मर्तः विदन्) तब मर्त्य मनुष्योंने उन्हें जाना और (नेमधिता) उच्चतर गोलार्ध[1]को धारण करके (परमे पदे तस्थिवांसम्) परम पदमें, परमोच्च स्तर पर स्थित (अग्निं) अग्निदेवका (चिकित्वान्) प्रत्यक्ष अनुभव किया।

---

1. 'नेमि' अर्थात् आधा, यह शब्द प्रत्यक्ष ही महान् द्युलोक 'बृहत् द्यौ' की ओर, उच्चतर गोलार्धकी ओर संकेत करता है, जिसके परे है परम पद (परमोच्च स्तर)।

5

संजानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्।
रिरिक्वांसस्तन्वः कृण्वत स्वाः सखा सख्युर्निमिषि रक्षमाणाः ।।

(संजानाना) उसे पूर्णतया जानते हुए वे (पत्नीवन्तः) अपनी पत्नियों सहित (उपसीदन्) आये और (अभिज्ञु) उसके आगे घुटने टेककर (नमस्यं) उस वन्दनीयका (नमस्यन्) नमन द्वारा वन्दन किया। (रिरिक्वांसः) उन्होंने अपने आपको रिक्त किया। (सख्युः निमिषि सखा) मित्रकी दृष्टि-में मित्रकी तरह उन्होंने ([निमिषि] रक्षमाणाः) उसकी दृष्टिमें सुरक्षित होकर (स्वाः तन्वः कृण्वत) अपने शरीरोंका निर्माण किया।

6

त्रिः सप्त यद् गुह्यानि त्वे इत् पदाविदन्निहिता यज्ञियासः।
तेभी रक्षन्ते अमृतं सजोषाः पशूञ्च स्थातॄञ्चरथं च पाहि ।।

(यत्) जब (यज्ञियासः) यज्ञके स्वामी (त्वे इत् निहिता) तेरे ही अन्दर रखी हुई (त्रिः सप्त) तीन गुना सात (गुह्यानि पदा) गुप्त भूमिकाओं को (अविदन्) पा लेते हैं तो (तेभिः) इन्हींके द्वारा वे (सजोषाः) एकमत होकर (अमृतं रक्षन्ते) अमरताकी रक्षा करते हैं। तू (पशून् च) गोयूथोंकी, (स्थातॄन् चरथं च) स्थावर और जंगमकी, जड़-चेतनकी (पाहि) रक्षा कर।

7

विद्वाँ अग्ने वयुनानि क्षितीनां व्यानुषक् छुरुधो जीवसे धाः।
अन्तर्विद्वाँ अध्वनो देवयानानतन्द्रो दूतो अभवो हविर्वाट् ।।

(अग्ने) हे अग्निदेव ! (वयुनानि विद्वान्) तू हमारे ज्ञानोंको जानने-वाला है। (क्षितीनां जीवसे) प्रजाओंके जीवन धारण कर सकनेके लिए (शुरुधः) बलोंकी (आनुषक्) अविच्छिन्न परम्पराकी (वि धाः) व्यवस्था कर। (देवयानान् अध्वनः) देवताओंकी यात्राके मार्गोंका (अन्तः विद्वान्) अन्तर्यामी ज्ञाता तू (अतन्द्रः दूतः) अतन्द्रित, नित्य जागरूक दूत (हवि-र्वाट्) भेंटोंका वहन करनेवाला (अभवः) हो गया है।

8

स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतज्ञा अजानन्।
विदद् गव्यं सरमा दृळ्हमूर्वं येना नु कं मानुषी भोजते विट् ।।

(दिवः आ) द्युलोकसे आनेवाली (सप्त यह्वीः) सात महान् नदियोंने जो (स्वाध्यः) गंभीर विचार करनेवाली और (ऋतज्ञाः) सत्यके जानने-वाली हैं, (रायः दुरः) ऐश्वर्य-निधिके द्वारोंको (वि अजानन्) जान लिया। (सरमा) सरमाने (गव्यं) रश्मिरूपी गौओंके यूथको, (दृळ्हं) दृढ़ स्थानको और (ऊर्वं) विशालताको (विदन्) खोज लिया (येन) जिसके द्वारा (नु) अब (मानुषी विट्) मानव प्रजा (कं भोजते) आनंदका उपभोग करती है।

9

आ ये विश्वा स्वपत्यानि तस्थुः कृण्वानासो अमृतत्वाय गातुम्।
मह्ना महद्भिः पृथिवी वि तस्थे माता पुत्रैरदितिर्धायसे वेः॥

(ये) ये वे हैं जिन्होंने (सु-अपत्यानि विश्वा) उत्तम परिणाम लानेवाली सभी वस्तुओं पर (आ तस्थुः) अपने चरण रखे और (अमृतत्वाय) अमरता-के लिए (गातुं) मार्ग (कृण्वानासः) निर्मित किया। (पृथिवी) पृथिवी (महद्भिः) इन महान् सत्ताओंके द्वारा (मह्ना वि तस्थे) महिमामें विस्तृत होकर स्थित हुई। (अदितिः माता) अनन्त माता अदिति (पुत्रैः) अपने पुत्रोंके साथ (धायसे) इस पृथिवीको धारण करनेके लिए (वेः) आई।

10

अधि श्रियं नि दधुश्चारुमस्मिन् दिवो यदक्षी अमृता अकृण्वन्।
अध क्षरन्ति सिन्धवो न सृष्टाः प्र नीचीरग्ने अरुषीरजानन्॥

(यत्) जब (अमृताः) अमरोंने, अमर देवोंने (दिवः) द्युलोकके (अक्षी) दो नेत्रोंकी (अकृण्वन्) रचना की, तो उन्होंने (अस्मिन्) इसके अंदर (श्रियं चारुं) श्री और सौन्दर्यको (नि दधुः) स्थापित किया। (अध) तब (न) मानों, (सृष्टाः सिन्धवः) अपने मार्गपर छोड़ दी गई नदियां (क्षरन्ति) प्रवाहित हो उठती हैं। (अरुषीः) उसकी अरुण वर्णवाली घोड़ियां [शक्तियां] (नीचीः प्र) वेगसे नीचेकी ओर दौड़ पड़ीं और (अजानन्) उन्होंने जान लिया, (अग्ने) हे अग्निदेव!

सूक्त 73

1

रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः सुप्रणीतिश्चिकितुषो न शासुः।
स्योनशीरतिथिर्न प्रीणानो होतेव सद्म विधतो वि तारीत्॥

(यः) जो अग्नि [वह अग्नि] (पितृवित्तः रयिः न) उस पैतृक संपत्तिकी तरह है जो (वयः-धाः) हमारे अंदर बलको धारण कराती है, (चिकितुषः) ज्ञानवान् पुरुषके (शासुः न) शासन[1]की तरह (सु-प्रनीतिः) अपने नेतृत्वमें पूर्ण है, (अतिथिः न) एक ऐसे अतिथिकी तरह है जो (स्योनशीः) सुखसे लेटा हुआ और (प्रीणानः) अच्छी तरह तृप्त है। (होता इव) वह आवाहन करनेवाले पुरोहितकी तरह है और (विधतः) अपने उपासकके (सद्म) घरको (वि तारीत्) संपन्न और समृद्ध करता है।

2

देवो न यः सविता सत्यमन्मा क्रत्वा निपाति वृजनानि विश्वा।
पुरुप्रशस्तो अमतिर्न सत्य आत्मेव शेवो दिधिषाय्यो भूत्॥

(यः) जो अग्नि [वह अग्नि] (देवः सविता न) दिव्य सूर्यकी तरह है जो (सत्यमन्मा) अपने विचारोंमें सत्यमय है और (क्रत्वा) अपने संकल्पके द्वारा (विश्वा वृजनानि) हमारे समस्त दृढ़ स्थानोंकी (नि पाति) रक्षा करता है। (अमतिः) वह एक ऐसे तेजके समान है जो (पुरुप्रशस्तः) विविध रूपसे अभिव्यक्त है। (सत्यः) वह सत्यस्वरूप है, (शेवः आत्मा इव) आनन्दपूर्ण आत्माकी तरह है और (दिधिषाय्यः भूत्) हमारा अवलम्ब है[2]।

3

देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रो न राजा।
पुरःसदः शर्मसदो न वीरा अनवद्या पतिजुष्टेव नारी॥

(यः) जो अग्नि [वह अग्नि] (विश्वधायाः देवः न) विश्वको धारण करनेवाले भगवान्‌की तरह है और (हितमित्रः राजा न) हितकारी मित्र राजाकी भांति (पृथिवीम् उपक्षेति) पृथ्वीपर अधिष्ठाताके रूपमें निवास करता है। वह (पुरः-सदः) हमारे सामने बैठे हुए, (शर्मसदः) हमारे घरमें रहनेवाले (वीराः न) वीरगणकी तरह है। (अनवद्या नारी इव) वह मानों एक निर्दोष नारीकी तरह है जो (पतिजुष्टा) अपने पतिकी प्रिय है।

---

1. अथवा शिक्षण
2. अथवा वह ध्यान करने योग्य (विचारमें धारण करने योग्य) है, आत्माकी तरह आनंदमय है।

4

तं त्वा नरो दम आ नित्यमिद्धमग्ने सचन्त क्षितिषु ध्रुवासु ।
अधि द्युम्नं नि दधुर्भूर्यस्मिन् भवा विश्वायुर्धरुणो रयीणाम् ।।

(अग्ने) हे अग्निदेव ! (ध्रुवासु क्षितिषु) अपने निवासके शाश्वत लोकोंमें, (दमे) हमारे घरमें (नित्यम् इद्धम्) नित्य प्रदीप्त (तं त्वा) ऐसे तुझ देवके साथ (नरः आ सचन्त) मनुष्य दृढ़तासे संयुक्त रहते हैं । (अस्मिन् अधि) ऐसे तुझको आधार वनाकर उन्होंने (भूरि-द्युम्नम्) एक महान् ज्योतिको (नि दधुः) अपने अंदर स्थापित किया है। तू (रयीणां धरुणः) ऐश्वर्योंका धारण करनेवाला (विश्व-आयुः भव) विश्वमय जीवन वन ।

5

वि पृक्षो अग्ने मघवानो अश्युर्वि सूरयो ददतो विश्वमायुः ।
सनेम वाजं समिथेष्वर्यो भागं देवेषु श्रवसे दधानाः ।।

(अग्ने) हे अग्निदेव ! (मघवानः) ऐश्वर्यके स्वामी (पृक्षः) तेरी तृप्तियोंका (वि अश्युः) उपभोग करें। (विश्वम् आयुः ददतः) अपने संपूर्ण जीवनका दान करनेवाले (सूरयः) प्रकाशपूर्ण ज्ञानिगण (पृक्षः वि अश्युः) तेरी तृप्तियोंका उपभोग करें। (श्रवसे) अंतःप्रेरित ज्ञानके लिये (देवेषु) देवोंमें (भागं दधानाः) अपने आहुति-भागको लिये हुए हम (समिथेषु) अपने युद्धोंमें (अर्यः) शत्रुसे (वाजं सनेम) प्रचुर ऐश्वर्य जीत लें ।[1]

6

ऋतस्य हि धेनवो वावशानाः स्मदूध्नीः पीपयन्त द्युभक्ताः ।
परावतः सुमतिं भिक्षमाणा वि सिन्धवः समया सस्रुरद्रिम् ।।

(द्युभक्ताः) द्युलोकमें उपभोगकी हुई[2], (स्मत्-ऊध्नीः) भरे हुए स्तनोंवाली (वावशानाः) हमें चाहनेवाली (ऋतस्य धेनवः हि) सत्यकी दुधार गौओंने (पीपयन्त) हमें अपने दूधसे पुष्ट व तृप्त किया है। (परावतः) परेके लोकसे (सुमतिं भिक्षमाणाः) यथार्थ चिंतनकी भिक्षा मांगती हुई (सिन्धवः) नदियां (अद्रिम् समया) पर्वतके ऊपर (वि सस्रुः) विस्तृत रूपसे प्रवाहित हो उठीं ।

---

1. अथवा संग्रामोंमें युद्ध करनेवाले हम प्रचुर ऐश्वर्य जीत लें ।
2. अथवा द्युलोकको हिस्सेमें प्राप्त,

7

त्वे अग्ने सुमतिं भिक्षमाणा दिवि श्रवो दधिरे यज्ञियासः।
नक्ता च चक्रुरुषसा विरूपे कृष्णं च वर्णमरुणं च सं धुः॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! (सुमतिं भिक्षमाणाः) यथार्थ चिंतनकी याचना करते हुए (यज्ञियासः) यज्ञके स्वामियोंने (त्वे) तेरे अन्दर (दिवि) द्युलोक-में (श्रवः दधिरे) अंतःप्रेरित ज्ञान स्थापित किया। उन्होंने (नक्ता उषसा च) रात्रि और उषाको (विरूपे चक्रुः) भिन्न रूपोंवाली बनाया और (कृष्णं च अरुणं च वर्णम्) काले और गुलाबी रंगको [अज्ञानरात्रिके और ज्ञानकी उषाके रंगको] (सं धुः) संयुक्त कर दिया।

8

यान् राये मर्तान्त्सुषूदो अग्ने ते स्याम मघवानो वयं च।
छायेव विश्वं भुवनं सिसक्ष्यापप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! (यान् मर्तान्) जिन मर्त्य मनुष्योंको तू (राये) ऐश्वर्यकी ओर (सुसूदः) वेगपूर्वक अग्रसर करता है, (ते स्याम) हम भी उन्हींमेंसे होवें; (मघवानः वयं च) ऐश्वर्यपति और हम (ते स्याम) वैसे ही होवें। (रोदसी) द्यावापृथिवी और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (आपप्रिवान्) परिपूरित करता हुआ तू (विश्वं भुवनम्) संपूर्ण संसारके साथ (छाया इव) छायाके समान (सिसक्षि) अंग-संग रहता है।

9

अर्वद्भिरग्ने अर्वतो नृभिर्नॄन् वीरैर्वीरान् वनुयामा त्वोताः।
ईशानासः पितृवित्तस्य रायो वि सूरयः शतहिमा नो अश्युः॥

(अग्ने) हे अग्ने! (त्वा-ऊताः) तुझ द्वारा सुरक्षित[1] हम (अर्वद्भिः) अपने युद्धके घोड़ोंके द्वारा (अर्वतः) युद्धके घोड़ोंको, (नृभिः) अपने बलशाली मनुष्योंके द्वारा (नॄन्) बलशाली मनुष्योंको, (वीरैः) अपने वीरों द्वारा (वीरान्) वीरोंको (वनुयाम) जीत लें। (नः सूरयः) हमारे प्रकाश-दीप्त ज्ञानी जन (पितृवित्तस्य) पितरों द्वारा अधिगत (रायः) ऐश्वर्य-निधि-के (ईशानासः) स्वामी बनें और (शतहिमाः) सौ हेमन्तों [वर्षों] तक जीते हुए उसे (वि अश्युः) अधिकृत कर लें।

---

1. अथवा, धारण किये हुए

10

एता ते अग्न उचथानि वेधो जुष्टानि सन्तु मनसे हृदे च।
शकेम रायः सुधुरो यमं तेऽधि श्रवो देवभक्तं दधानाः ।।

(वेधः अग्ने) हे पदार्थमात्रके [ज़गत्के] विधाता, हे अग्निदेव ! (एता उचथानि) ये वचन (ते) तुझे, (ते मनसे हृदे च) तेरे मन और हृदयको (जुष्टानि सन्तु) प्रीतिपूर्वक स्वीकार्य हों। (देवभक्तम्) देवों द्वारा आस्वादित[1] (श्रवः) अंतःप्रेरित ज्ञानको (ते अधि) तेरे आधार पर (दधानाः) अपने अन्दर धारण करते हुए हम (ते रायः) तेरे ऐश्वर्योंको (सुधुरः) दृढ़ जूएके द्वारा, नियंत्रण-शक्तिके द्वारा (यमं शकेम) अधिकृत करनेमें समर्थ हों।

सूक्त 127

1

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं
विप्रं न जातवेदसम्।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाऽऽजुह्वानस्य सर्पिषः ।।

(अग्निं मन्ये) मैं अग्निदेवका ध्यान करता हूं जो (होतारम्) आवाहनका पुरोहित है, (वसुं दास्वन्तम्) ऐश्वर्य-निधिका दाता है, (सहसः सूनुम्) शक्तिका पुत्र है, (जातवेदसम्) सब उत्पन्न वस्तुओंको जाननेवाला है, (जातवेदसं विप्रं न) सब उत्पन्न पदार्थोंके ज्ञाता ज्योतिर्मय देवकी न्याईं है।

(यः) जो अग्नि (सु-अध्वरः देवः) यात्रा-यज्ञके संपादनमें पूर्णतया कुशल एक ऐसा देव है जो (ऊर्ध्वया देवाच्या कृपा) उन्नीत और देवाभिमुख स्पृहाके साथ[2], (शोचिषा) अपनी ज्वालाके द्वारा (घृतस्य विभ्राष्टिम्) प्रकाशरूप हविकी प्रचंड शिखाके लिए (अनु वष्टि) आतुर है। और (आजुह्वानस्य) आहुतिके रूपमें अपने ऊपर उंडेली गई (सर्पिषः) प्रकाशकी धाराके लिए [अनु वष्टि] उत्कण्ठित है।

---

1. अथवा, देवों द्वारा वितरित
2. अथवा, देवोंकी कामना करती हुई उज्ज्वलित प्रभाके साथ

2

यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमङ्गिरसां
विप्र मन्मभिर्विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः।
परिज्मानमिव द्यां होतारं चर्षणीनाम्।
शोचिष्केशं वृषणं यमिमा विशः प्रावन्तु जूतये विशः॥

(यजिष्ठम्) यज्ञ करनेके लिए अत्यंत शक्तिशाली और (अङ्गिरसां ज्येष्ठम्) अंगिरसोंमें सबसे बड़े (त्वा) तुझको (यजमानाः) यज्ञ-क्रियाका अर्पण करनेवाले यजमान (हुवेम) पुकारें, तेरा आवाहन करें। (विप्र) हे प्रकाशमय देव! (शुक्र) हे देदीप्यमान अग्नि! (मन्मभिः) अपने विचारों-के द्वारा, (विप्रेभिः मन्मभिः) अपने प्रकाशित विचारोंके द्वारा हम (त्वा हुवेम) तुझ अग्निदेवका आवाहन करें, जो तू (चर्षणीनां होतारम्) मनुष्योंके लिए आवाहक पुरोहित है[1] और (द्याम् इव) द्युलोककी तरह (परिज्मा-नम्) सबको चारों ओरसे व्यापे हुए है, (शोचिः-केशम्) प्रकाश-ज्वालारूपी बालोंवाला (वृषणम्) पुरुष है (यम्) जिसकी (इमाः विशः) ये प्रजाएं (प्र अवन्तु) प्रीतिपूर्वक सेवा करें, (विशः) प्रजाएं (जूतये) प्रेरणा प्राप्त करनेके लिए [प्र अवन्तु] प्रीतिपूर्वक उसकी सेवा करें।

3

स हि पुरू चिदोजसा विरुक्मता
दीद्यानो भवति द्रुहंतरः परशुर्न द्रुहंतरः।
वीळु चिद् यस्य समृतौ श्रुवद् वनेव यत् स्थिरम्।
निष्षहमाणो यमते नायते धन्वासहा नायते॥

(सः हि) वह अग्नि (विरुक्मता ओजसा) व्यापक रूपसे देदीप्यमान अपनी शक्तिके द्वारा (पुरु चित्) अनेकों वस्तुओंको (दीद्यानः) आलोकित करता हुआ (द्रुहंतरः) हमें हानि पहुंचानेकी इच्छा करनेवालोंका विदारक (भवति) बन जाता है, (परशुः न) युद्धके परशुकी तरह वह (द्रुहंतरः भवति) हमें हानि पहुंचानेकी इच्छा करनेवालोंका विदारण करता है। (यस्य समृतौ) जिसकी चोट पड़नेपर (वीळु चिद्) दृढ़ वस्तु भी (श्रुवत्) टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाती है, (यत् स्थिरम्) यहाँ तक कि जो कुछ भी दृढ़ तथा स्थिर है वह सब (वना इव) वृक्षोंकी तरह (श्रुवत्) भूमिसात्

---

1. अथवा, दृष्टिसंपन्न लोगोंके लिए आवाहनका पुरोहित है

हो जाता है, (निः-सहमानः) सबको अपने सामर्थ्यसे अभिभूत करता हुआ वह (यमते) निरन्तर श्रम किये चलता है और (न अयते) पीछे नहीं हटता। (धन्व-सहा) धनुर्धारी योद्धाकी तरह वह (न अयते) युद्धसे कभी पीछे नहीं हटता।

4

दृळ्हा चिदस्मा अनु दुर्यथा विदे
तेजिष्ठाभिररणिभिर्दाष्टचवसेऽग्नये दाष्टचवसे।
प्र यः पुरूणि गाहते तक्षद् वनेव शोचिषा।
स्थिरा चिदन्ना नि रिणात्योजसा नि स्थिराणि चिदोजसा॥

वे यजमान (दृळ्हा चित्) दृढ़तया निर्मित वस्तुओंको भी (अस्मै) उस अग्निको (अनु दुः) इस प्रकार दे देते हैं (यथा) जिस प्रकार (विदे) किसी ज्ञानीको। (तेजिष्ठाभिः अरणिभिः) उसकी ज्वालामय शक्तिकी गतियोंके द्वारा (अवसे) संरक्षण पानेके लिए यजमान उसे (दाष्टि) अपने आपको दे देता है, अपने आपको (अग्नये) अग्निके प्रति (दाष्टि) समर्पित करता है ताकि वह (अवसे) उसकी रक्षा करे। (यः) जो [वह अग्नि] (पुरूणि) अनेकों वस्तुओंमें (प्र गाहते) प्रवेश करता है और उन्हें (शोचिषा) अपने जाज्वल्यमान प्रकाशके द्वारा (वना इव) वृक्षोंकी तरह (तक्षत्) घड़ता है, (स्थिरा चित्) दृढ़-मूल वस्तुओंको भी वह (ओजसा) अपने ओजसे (नि रिणाति) विदारित करता है और (स्थिराणि चिद्) बद्धमूल वस्तुओंको भी (ओजसा) अपने वलवीर्यसे (अन्ना) अपना अन्न [नि रिणाति] वना लेता है।

5

तमस्य पृक्षमुपरासु धीमहि
नक्तं यः सुदर्शतरो दिवातरादप्रायुषे दिवातरात्।
आदस्यायुर्ग्रभणवद् वीळु शर्म न सूनवे
भक्तमभक्तमवो व्यन्तो अजरा अग्नयो व्यन्तो अजराः॥

(उपरासु) ऊर्ध्वतर स्तरों पर (अस्य) इसके (तं पृक्षम्) उस पूर्ण स्वरूपका (धीमहि) हम ध्यान करते हैं[1], उस अग्निदेवका ध्यान करते हैं

---

1. अथवा, हम धारण करते हैं,

(यः) जो (दिवातरात्) दिनकी अपेक्षा (नक्तम्) रात्रिमें (सुदर्शतरः) अधिक दर्शनीय, भास्वर होता है, (अप्र-आयुषे) इसके उग्र अविनाशी जीवन-के लिए इसका ध्यान करते हैं जो (दिवातरात्) दिनकी अपेक्षा रात्रिमें (सुदर्शतरः) अधिक उज्ज्वल होता है। (आत्) तब (अस्य) इसका (आयुः) जीवन (ग्रभणवत्) हमें इस प्रकार अधिकृत कर लेता और सहारा देता है (न) जिस प्रकार (वीळु सूनवे शर्म) एक दृढ़ आश्रय-धाम पुत्रको शरण देता है। (अजराः अग्नयः) जरारहित अग्नियां (भक्तम् अभक्तम्) सेवन किये गये और अभीतक सेवन न किये गये (अवः) सुखकी ओर (व्यन्तः) गति करती हैं, (अजराः अग्नयः) उसकी अजर अग्नियां (व्यन्तः) उस ओर गति करती हैं।

6

स हि शर्धो न मारुतं
तुविष्वणिरप्नस्वतीषूर्वरास्विष्टनिरार्तनास्विष्टनिः।
आदद्धव्यान्याददिर्यज्ञस्य केतुरर्हणा।
अध स्मास्य हर्षतो हृषीवतो विश्वे जुषन्त पन्थां नरः शुभे न पन्थाम्॥

(अप्नस्वतीषु) हमारे श्रमसे पूर्ण (उर्वरासु) उपजाऊ भूमियोंके ऊपर (इष्टनिः) वेगसे सांय-सांय करते हुए, (आर्तनासु) वंजर भूमियों पर (इष्टनिः वेगसे सांय-सांय करते हुए (सः हि) वह (मारुतं शर्धः न) आंधी-तूफानोंकी सेना[1]की तरह (तुवि-स्वनिः) अनेक ध्वनियोंसे युक्त है। वह (हव्यानि आददिः) हविओंको ग्रहण करता है और (आदत्) उनका भक्षण करता है। वह (अर्हणा यज्ञस्य) उचित क्रियासे संपन्न यज्ञका (केतुः) अन्तर्ज्ञान-मय चक्षु है। (अध) इसलिए (विश्वे नरः) सब मनुष्य (अस्य हृषीवतः हर्षतः) इस आनन्दमय और आनन्दप्रद अग्निके (पन्थाम्) मार्गका (शुभे पन्थाम् न) सुखकी तरफ ले जानेवाले मार्गकी तरह (जुषन्त स्म) सहर्ष अनुसरण करते हैं।

---

1. अथवा, गूढ़ आंतरिक अर्थमें, प्राणशक्तियोंकी सेना जो हमारी जोती हुई भूमियों और वंजर भूमियों पर उपजाऊ बनानेवाली वर्षाके साथ गति करती है।

7

द्विता यदीं कीस्तासो अभिद्यवो
नमस्यन्त उपवोचन्त भृगवो मथ्नन्तो दाशा भृगवः ।।
अग्निरीशे वसूनां शुचिर्यो धर्णिरेषाम् ।
प्रियाँ अपिधीँवंनिषीष्ट मेधिर आ वनिषीष्ट मेधिरः ।।

(यत्) जब (अभिद्यवः) प्रकाशसे परिवेष्टित (कीस्तासः) कीर्तन करनेवाले (भृगवः) तेजःस्वरूप भृगु ऋषि (द्विता) अपनी द्विविध शक्तिसे संपन्न (ईम्) इस अग्निका (नमस्यन्तः) नमन करते हुए ([ईम्] उपवोचन्त) इसके प्रति अपनी वाणी उच्चरित कर चुकते हैं, जब (भृगवः) ज्वालामय ऋषि (दाशा) अपनी पूजाके द्वारा उसे (मथ्नन्तः) मंथन करके प्रकट कर लेते हैं, तब (अग्निः) अग्निदेव (वसूनाम् ईशे) उनके लिए ऐश्वर्योंका स्वामी बन जाता है, (यः) जो (शुचिः) पवित्र अग्नि (एषां धर्णिः) इन ऐश्वर्योंको अपने अन्दर धारण करता है। (मेधिरः) मेधावी, ज्ञानमय वह (अपिधीन्) अपने ऊपर रखी या डाली गई [अपने अन्दर अर्पित की गई] (प्रियान्) अपनेको प्रिय लगनेवाली वस्तुओंका (वनिषीष्ट) आस्वादन करता है, (मेधिरः) वह ज्ञानमय मेधावी (आ वनिषीष्ट) अपनी प्रज्ञामें उनका आनन्द लेता है।

8

विश्वासां त्वा विशां पतिं हवामहे
सर्वासां समानं दंपतिं भुजे सत्यगिर्वाहसं भुजे ।
अतिथिं मानुषाणां पितुर्न यस्यासया ।
अमी च विश्वे अमृतास आ वयो हव्या देवष्वा वयः ।।

(विश्वासां विशां पतिम्) सब प्रजाओंके अधिपति, (सर्वासाम्) उन सबके (समानं दंपतिम्) सांझे घरके स्वामी (त्वा) तुझको (भुजे) आनन्दोपभोगके लिएं (हवामहे) हम पुकारते हैं। (सत्यगिर्वाहसम्) सत्य वाणियोंका वहन करनेवाले तुझको (भुजे) आनन्दोपभोगके लिए [हवामहे] हम पुकारते हैं, (मानुषाणाम् अतिथिम्) मनुष्योंके अतिथिको [हवामहे] हम पुकारते हैं (यस्य आसया) जिसके सामने (अमी विश्वे अमृतासः आ) ये सब अमर देव उसी प्रकार स्थित रहते हैं (पितुः न) जिस प्रकार पिताके सामने, और ये (हव्या) हमारी हविओंको (वयः आ) अपना भोजन बनाते हैं, (देवेषु) देवोंमें (हव्या) ये हवियां (वयः [आ]) उनका अन्न बन जाती हैं।

9

त्वमग्ने सहसा सहन्तमः शुष्मिन्तमो जायसे देवतातये।
रयिर्न देवतातये।
शुष्मिन्तमो हि ते मदो द्युम्निन्तम उत क्रतुः।
अध स्मा ते परि चरन्त्यजर श्रुष्टीवानो नाजर॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! (त्वम्) तू (सहसा) अपने बलके कारण (सहन्तमः) अदमनीय है, (देवतातये शुष्मिन्तमः) देवोंके निर्माणके लिए तू अत्यंत शक्तिशाली होकर (जायसे) उत्पन्न हुआ है, (देवतातये रयिः न [जायसे]) मानों देवोंके निर्माणके लिए तू ऐश्वर्यके रूपमें प्रकट होता है। (ते मदः) तेरा हर्षोल्लास (शुष्मिन्तमः हि) अत्यंत शक्तिशाली है (उत) और (क्रतुः) तेरा संकल्प (द्युम्निन्तमः) अत्यन्त ज्योतिर्मय। (अध) इसलिए (ते परिचरन्ति स्म) वे तेरी सेवा करते हैं (अजर) हे जरा-रहित अग्नि! (श्रुष्टीवानः न [परि चरन्ति]) वे उनकी तरह तेरी सेवा करते हैं जो तेरा शब्द सुनते हैं, (अजर) हे अजर अग्नि!

10

प्र वो महे सहसा सहस्वत
उषर्बुधे पशुषे नाग्नये स्तोमो बभूत्वग्नय।
प्रति यदीं हविष्मान् विश्वासु क्षासु जोगुवे।
अग्रे रेभो न जरत ऋषूणां जूर्णिर्होत ऋषूणाम्॥

(सहसा सहस्वते) अपने बल के द्वारा प्रबल शक्तिशाली, (उषः-बुधे) उषामें जागनेवाले (अग्नये) अग्निके लिये, (पशुषे न) अंतर्दृष्टिसे संपन्न देवकी भांति (महे अग्नये) महान् देव अग्निके लिए (वः स्तोमः) तुम्हारा स्तुतिगान (प्र बभूतु) उद्भूत हो, ऊपर उठे। (यत्) जब (हविष्मान्) हवि देनेवाला (विश्वासु क्षासु) सभी भूमिकाओंमें (ईम् प्रति जोगुवे) उसे ऊंचे स्वरसे पुकारता है, तो (ऋषूणाम् अग्रे) ज्ञानियोंके सम्मुख वह (रेभः न) स्तोताकी तरह (जरते) हमारा स्तुतिगान पहुंचाता है, (ऋषूणाम् होता) ज्ञानियोंका होता अर्थात् आवाहनकारी पुरोहित वह (जूर्णिः) हमारा स्तुतिगान पहुंचाता है।

11

स नो नेदिष्ठं ददृशान आ भराग्ने देवेभिः सचनाः
सुचेतुना महो रायः सुचेतुना।

महि शविष्ठ नस्कृधि संचक्षे भुजे अस्यै ।
महि स्तोतृभ्यो मघवन्त्सुवीर्यं मथीरुग्रो न शवसा ।।

(सः) वह तू [इसलिए तू] (ददृशानः) प्रत्यक्ष गोचर होता हुआ (अग्ने) हे अग्निदेव ! (रायः) उन ऐश्वर्योंको जो (देवेभिः सचनाः) सदा देवोंके साथ रहते हैं (सुचेतुना) अपनी पूर्ण चेतनाके द्वारा (नः नेदिष्ठम् आ भर) हमारे अत्यंत निकट ले आ, (सुचेतुना) अपनी पूर्ण चेतनाके द्वारा (महः [रायः]) महान् ऐश्वर्योंको [नः नेदिष्ठम् आ भर] हमारे अत्यंत निकट ले आ। (शविष्ठ) हे अत्यन्त बलशाली अग्निदेव, (नः) हमारे लिए, (अस्यै संचक्षे) हमारे इस साक्षात्कारके लिए, (भुजे) हमारे उपभोगके लिए, (महि) जो कुछ भी महान् है उसे तू (कृधि) निर्मित कर। (मघवन्) हे प्रचुर ऐश्वर्यके अधिपति ! (स्तोतृभ्यः) अपनी स्तुति करनेवालोंके लिए तू (शवसा उग्रः न) अपने तेजके द्वारा प्रबलशक्तिशाली देवकी न्यांई (महि सुवीर्यम्) महान् वीरशक्तिको (मथीः) मथकर प्रकट कर।

दीर्घतमा औचथ्यः

सूक्त 140

1

वेदिषदे प्रियधामाय सुद्युते धासिमिव प्र भरा योनिमग्नये ।
वस्त्रेणेव वासया मन्मना शुचिं ज्योतीरथं शुक्रवर्णं तमोहनम् ।।

(योनिम्) गर्भस्थ शिशुको (धासिम् इव) सुरक्षित आसनकी तरह (अग्नये) उस अग्निके प्रति (प्र भर) समर्पित कर दो जो (सुद्युते) अत्यंत भास्वर है, (वेदि-सदे) वेदी पर आसीन होता है और (प्रियधामाय) आनंद ही जिसका धाम है। (तमः-हनम्) अंधकारका वध करनेवाले अग्निको जो (शुचिम्) शुद्ध[1] है, (ज्योतिः-रथम्) जिसका रथ ज्योति ही है, (शुक्रवर्णम्) जिसका रंग शुभ्र-उज्ज्वल है (वस्त्रेण इव) वस्त्रकी न्यांई (मन्मना) अपने विचारसे (वासय) परिवेष्टित कर दो।

2

अभि द्विजन्मा त्रिवृदन्नमृज्यते संवत्सरे वावृधे जग्धमी पुनः ।
अन्यस्यासा जिह्वया जेन्यो वृषा न्यन्येन वनिनो मृष्ट वारणः ।।

---

1. अथवा, श्वेत; शुक्र=धवल उज्ज्वलता।

(द्विजन्मा) द्विजरूपमें उत्पन्न अग्नि (त्रिवृत् अन्नम् अभि) अपने त्रिविध अन्नके चारों ओर (ऋञ्ज्यते) तीव्र रूपसे गति करता है। (जग्धम् ईम्) वह खाया जाकर (संवत्सरे) एक वर्षमें ही (पुनः ववृधे) फिरसे उत्पन्न हो गया है। (अन्यस्य) किसी एककी (जिह्वया आसा) जिह्वा और मुखके द्वारा[1] वह (जेन्यः) शक्तिमय प्रभु और (वृषा) उपभोक्ता है। (अन्येन) एक अन्यके साथ वह (वनिनः) अपने आनंदप्रद पदार्थोंको (वारणः[2]) चारों ओरसे घेर लेता है और (नि मृष्ट[3]) अपनें आलिंगनमें जोरसे कस लेता है।

3

कृष्णप्रुतौ वेविजे अस्य सक्षिता उभा तरेते अभि मातरा शिशुम्।
प्राचाजिह्वं ध्वसयन्तं तृषुच्युतमा साच्यं कुपयं वर्धनं पितुः॥

वह अग्निदेव (कृष्णप्रुतौ) अंधकारमय पथपर चलनेवाली, (सक्षितौ) एक ही वासस्थानमें निवास करनेवाली (अस्य उभा मातरा) अपनी [उसकी] दोनों माताओंको (वेविजे) गति करनेकी शक्ति देता है। (शिशुम् अभि[4] तरेते) वे दोनों अपना रास्ता पार करती हुई अपने उस शिशु तक पहुंच जाती हैं, (प्राचाजिह्वम्) जिसकी जिह्वा ऊपरकी ओर उठी हुई है, (ध्वसयन्तम्) जो ध्वंस करनेवाला है, (तृषुच्युतम्) जो वेगपूर्वक गति करता हुआ पार हो जाता है; (आ साच्यम्) वरणीय है, (कुपयम्) सुरक्षित रखने योग्य है, (पितुः वर्धनम्) अपने पिताको बढ़ानेवाला है।[5]

---

1. या, (अन्यस्य आसा) एककी उपस्थितिमें (जिह्वया) उसकी जिह्वाके साथ।
2. 'वारणः' शब्द वृ धातुसे बना है जिसका अर्थ है 'आच्छादित करना', 'घेरना'।
3. 'मृष्' धातु का प्रयोग यौन संपर्कके अर्थमें होता है।
4. या, अपने शिशुका अनुसरण करती हुई
5. व्याख्या—द्यौ और पृथिवी, मन और शरीर एक ही ढांचेमें, एक ही भौतिक जगत्में इकट्ठे निवास करते हुए अज्ञानके अंधकारमें विचरण करते हैं। उनकी क्रियाओंसे जो दिव्यशक्ति उत्पन्न होती है उसका अनुसरण करते हुए वे अंधकारसे पार हो जाते हैं। 'कुपय'का अर्थ संदिग्ध है। 'पिता' है पुरुष या फिर उच्चतर आध्यात्मिक सत्ताके भावमें उसका अर्थ है द्यौ।

4

मुमुक्ष्वो मनवे मानवस्यते रघुद्रुवः कृष्णसीतास ऊ जुवः।
असमना अजिरासो रघुष्यदो वातजूता उप युज्यन्त आशवः॥

(मानवस्यते मनवे) विचारशील बननेके इच्छुक मानवके लिए उस अग्निदेवकी (कृष्णसीतासः ऊ) अंधकारमय और प्रकाशमय, (रघुद्रुवः) तीव्र गति देनेवाली (जुवः) प्रेरणाएं (मुमुक्ष्वः) मनुष्यकी मुक्तिकी कामना करती हैं। (अजिरासः) क्रियाशील, (रघु-स्यदः) द्रुतगामी, (असमनाः) कंपायमान-से (आशवः) वे वेगशाली अश्व (उपयुज्यन्ते) अपने कार्योंकी धुराके साथ जोते जाते हैं और वे (वातजूताः) वस्तुमात्रकी जीवनशक्ति, प्राणशक्तिके द्वारा परिचालित होते हैं।

5

आदस्य ते ध्वसयन्तो वृथेरते कृष्णमभ्वं महि वर्पः करिक्रतः।
यत् सीं महीमवनिं प्राभि मर्मृशदभिश्वसन् त्स्तनयन्नेति नानदत्॥

(आत्) इसके बाद (ते) वे (अस्य) उसके लिए (ध्वसयन्तः) ध्वंस-का कार्य करते हैं, (वृथा ईरते) मंद गतिसे आगेकी ओर बढ़ते हैं[1] और (कृष्णम् अभ्वम्) उसकी अंधकारमय स्थूल सत्ताका तथा (महि वर्पः) उसके शक्तिशाली प्रकाशमय रूपका (करिक्रतः) निर्माण करते हैं। (यत्) जब वह (प्र एति) आगे पहुंचकर (महीम् अवनिम्)[2] विशाल सत्ताका (सीम् अभि मर्मृशत्) [सब ओरसे] स्पर्श करता है, तो वह (अभिश्वसन्) उसके प्रति उच्छ्वास-पूर्वक उत्कंठित होता है और (स्तनयन्) गरजता हुआ (नानदत्) उच्च स्वरसे पुकारता है।

6

भूषन् न योऽधि बभ्रूषु नम्नते वृषेव पत्नीरभ्येति रोरुवत्।
ओजायमानस्तन्वश्च शुम्भते भीमो न शृङ्गा दविधाव दुर्गृभिः॥

---

1. या, वेगपूर्वक गति देते और व्याप लेते हैं
2. 'महीम् अवनिम्' का अर्थ विशाल पृथ्वी भी हो सकता है। किंतु अवनि शब्दका और 'पृथिवी'का भी वेदमें सदा पृथ्वीके अर्थमें ही प्रयोग नहीं होता, 'अवनि' शब्दका तो सामान्यतः नहीं ही होता, ये दोनों शब्द घूम-फिरकर अपने मूल 'सप्त अवनयः' (सात पृथिवियों) पर लौट आते हैं।

(यः) जो [जब वह] (बभ्रूषु[1] अधि) भूरे रंगकी गौओंमें [ज्ञान-रश्मियोंमें] (भूषन् न)) मानो अपना रूप धारण करना चाहता है तो वह (नम्नते) नीचेकी ओर झुकता है और (रोरुवत् अभि एति) उनकी ओर हुंकार भरता हुआ इस प्रकार जाता है (इव) जिस प्रकार (वृषा) पुरुष (पत्नीः) अपनी सहचरियोंकी ओर। (ओजायमानः) अपनी शक्तियों को प्रकट करता हुआ वह (तन्वः) उनके शरीरोंको (शुम्भते) आनंद देता है[2] (च) और (दुर्गृभिः भीमः न) पकड़में न आ सकनेवाले भयंकर पशुकी तरह (शृङ्गा) अपने सींगोंको (दविधाव) उछालकर मारता है।

7

स संस्तिरो विष्टिरः सं गृभायति जानन्नेव जानतीर्नित्य आ शये।
पुनर्वर्धन्ते अपि यन्ति देव्यमन्यद् वर्पः पित्रोः कृण्वते सचा॥

(संस्तिरः) सत्तामें संकुचित अथवा (वि-स्तिरः) व्यापक रूपसे विस्तृत होता हुआ (सः) वह (सं गृभायति) उन्हें पूरी तरह अधिकृत कर लेता है। (जानन् एव नित्यः) ज्ञानवान् होता हुआ वह नित्य अग्नि (जानतीः) ज्ञानसे संपन्न उनका (आ शये) उपभोग करता है[3]। (पुनः) तो फिर वे (वर्धन्ते) संवर्धित होती हैं और (देव्यम् अपि यन्ति) दिव्य अवस्था प्राप्त करती हैं। (सचा) संयुक्त होकर वे (पित्रोः) माता-पिता के लिए (अन्यत् वर्पः) दूसरे रूपका (कृण्वते) निर्माण करती हैं।

8

तमग्रुवः केशिनीः सं हि रेभिर ऊर्ध्वास्तस्थुर्मम्रुषीः प्रायवे पुनः।
तासां जरां प्रमुञ्चन्नेति नानददसुं परं जनयञ्जीवमस्तृतम्॥

(अग्रुवः केशिनीः) अपने लहराते हुए केश-कलापके कारण शुभ्र वे (तं सं रेभिरे[4] हि) उसका पूर्ण आनन्द लेती हैं। (मम्रुषीः[5]) जो मरने

---

1. बभ्रूषु—गौओंमें; इन गौओंको आगेकी एक ऋचामें 'अरुण्यः' कहा गया है अर्थात् मर्त्य मनमें ज्ञानकी रश्मियां।
2. अथवा, पदार्थके रूपोंको आनन्दमय बना देता है।
3. या, उनके साथ स्थित होता है या शयन करता है।
4. रेभिरे=आनन्द लेती हैं, यह अर्थ यहाँ पूर्णतया सिद्ध हो गया है।
5. 'मम्रुषीः' का अर्थ अनिश्चित है। इसका अर्थ मृत या म्रियमाण हो सकता है।

ही वाली थीं वे (पुनः) एक वार फिर (आयवे) उसके आगमन—स्वागत—के लिए (ऊर्ध्वाः प्र तस्थुः) ऊंचे उठ खड़ी होती हैं। क्योंकि वह (तासाम्) उनकी (जराम्) जरा, जर्जर अवस्थाको उनसे (प्रमुञ्चन्) छुड़ाता हुआ, (नानदत्) ऊंचे स्वरसे नाद करता हुआ (एति) उनके पास जाता है, वह (परम् असुम्) परम वल और (अस्तृतम् जीवम्) अजेय जीवनका (जनयन्) सर्जन करता है।

9

अधीवासं परि मातू रिहन्नह तुविग्रेभिः सत्वभिर्याति वि ज्रयः।
वयो दधत् पद्वते रेरिहत् सदाऽनु श्येनी सचते वर्तनीरह।।

(मातुः परि) प्रकृति-माताके चारों ओर विद्यमान, (अधीवासम्) दूसरेको छिपानेवाले वस्त्रावरणको (रिहन् अह) फाड़कर वह, (सत्वभिः) शुद्ध सत्स्वरूपकी झलकवाले, (तुविग्रेभिः) दिव्य वलको प्रकट करनेवाले जीवोंके साथ (ज्रयः) आनंदकी ओर (वि याति) पूरी तरह अग्रसर होता है। वह (वयः दधत्) विशालताको स्थापित करता है। (पद्वते) इस यात्रीके लिए सव कुछको पार करता हुआ (रेरिहत्[1]) लक्ष्य तक जाता है। (श्येनी) तीव्र गतिसे दौड़ता हुआ भी वह (वर्तनिः) मार्गोंका (सदा अनु सचते अह) सदा दृढ़तया अवलंवन किये रहता है।

10

अस्माकमग्ने मघवत्सु दीदिह्यध श्वसीवान् वृषभो दमूनाः।
अवास्या शिशुमतीरदीदेर्वर्मेव युत्सु परिजर्भुराणः।।

(अग्ने) हे अग्निदेव! (अस्माकम् मघवत्सु) हमारी पूर्ण ऐश्वर्यकी अवस्थाओंमें (दीदिहि) भास्वर रूपमें प्रज्वलित हो। (अध) आजसे लेकर तू (वृषभः) हमारा शक्तिशाली प्रभु वन और, (श्वसीवान्[2]) अपनी वहनोंके साथ (दमूनाः) हमारे अन्दर निवास कर। (शिशुमतीः) जो बाल-बुद्धिवाले हैं उन्हें अपनेसे (अव-अस्य) दूर रखकर तू (युत्सु वर्म इव) संग्रामोंमें कवचकी तरह (परि जर्भुराणः) हमें चारों ओरसे घेरे हुए (अदीदेः) जाज्वल्यमान हो।

---

1. 'रिहन्', 'रेरिहत्' का अर्थ निश्चित नहीं।
2. 'श्वसी' ग्रीक भाषाका कसिस् (Kasis) है और पत्नी या वहनके वाचक 'स्वसृ' शव्दका प्राचीन रूप है। इसलिए इसका प्रयोग वृषा शव्दके साथ किया गया है जैसे कि पत्नी शव्द भी 'वृषा'के साथ प्रयुक्त हुआ है।

11

इदमग्ने सुधितं दुर्धितादधि प्रियादु चिन्मन्मनः प्रेयो अस्तु ते।
यत् ते शुक्रं तन्वो रोचते शुचि तेनास्मभ्यं वनसे रत्नमा त्वम्॥

(अग्ने) हे अग्नि! (इदम्) यह तत्त्व वह है जो (दुर्धितात् अधि) कु-स्थापित तत्त्वके ऊपर (सुधितम्) सम्यक्तया स्थापित है। (प्रियात् उ मन्मनः चित्) इस आनन्दपूर्ण मानसिक सत्तामेंसे भी (प्रेयः) एक बृहत्तर आनन्द (ते अस्तु) तुझसे उत्पन्न हो। (यत्) जो कुछ भी (ते) तेरे (तन्वः) देहसे (शुक्रं शुचि) शुभ्र-पवित्र रूपमें (रोचते) प्रकाशित होता है (तेन) उससे (त्वम्) तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (रत्नम्) आनन्दको (आ वनसे) जीत लेता है।

12

रथाय नावमुत नो गृहाय नित्यारित्रां पद्वतीं रास्यग्ने।
अस्माकं वीराँ उत नो मघोनो जनाँश्च या पारयाच्छर्म या च॥

(अग्ने) हे अग्नि! तू (नः) हमारे लिए (रथाय) हमारे रथके रूपमें (उत) और (गृहाय) हमारे घरके रूपमें (नित्य-अरित्रां पद्वतीम्) नित्य-विकासमय गतिके साथ यात्रा करनेवाली (नावम्) नौका (रासि) प्रदान करता है, (या) जो नौका (अस्माकम् वीरान्) हमारी वीरतापूर्ण आत्माओंको (उत) और (नः मघोनः) हमारी ऐश्वर्यपूर्ण आत्माओंको (जनान् च पारयात्) जन्मोंसे पारकर देगी और (या) जो (शर्म च) शांतिसे भी, शांतिके स्तरसे भी [पारयात्] परे ले जायगी।

13

अभी नो अग्न उक्थमिज्जुगुर्या द्यावाक्षामा सिन्धवश्च स्वगूर्ताः।
गव्यं यव्यं यन्तो दीर्घाहेषं वरमरुण्यो वरन्त॥

(अग्ने) हे अग्निदेव! (नः उक्थम्) हमारी वाणी-रूपी धुराके (अभि) चारों ओर (नः) हमारे लिए (द्यावाक्षामा) द्युलोक और पृथिवी-लोक को (च) और (स्वगूर्ताः) स्वतः-प्रकट (सिन्धवः) नदियोंको (जुगुर्याः इत्) प्रकाशमान कर दे। (अरुण्यः) अरुण रंगकी गौएं (गव्यम्) ज्ञान, (यव्यम्) शक्ति और (दीर्घा अहा) सुदीर्घ प्रकाशमय दिनोंको (यन्तः) प्राप्त करें, वे (इषम्) बल और (वरम्) परम कल्याणका (वरन्त) वरण करें।

अनुक्रमणिका I

(वेद-रहस्यके पूर्वार्द्धमें आये विशिष्ट विषयों तथा उल्लेखोंकी)

अनुक्रमणिका II

मन्त्रानुक्रमणी

(वेद-रहस्यके पूर्वार्द्धमें आये मन्त्रोंकी वर्णानुक्रमणी)

अ

द

ध

स

ह

अनुक्रमणिका III

[वेद-रहस्यके उत्तरार्द्धमें आये विशिष्ट विषयों तथा उल्लेखोंकी]

ग

घ

च, छ

ज

ध

ब

भ

य

ह

अनुक्रमणिका IV

मन्त्रानुक्रमणी

('वेद-रहस्य'के उत्तरार्द्धमें आये मन्त्रों एवं मन्त्रांशोंकी वर्णानुक्रमणी)

आ

अनुक्रमणिका V

(वेद-रहस्यके उत्तरार्द्धके मन्त्रोंके प्रायः सभी शब्दोंके अंग्रेजी और हिन्दीमें अर्थ)

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअरविन्दकृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
	अ		
अंहः-युवः	बुराईको दूर रखते हुए	putting evil away	V. 15. 3
अगृभ्रन्	पकड़ सकते थे	could seize	V. 2. 4
अग्निः	अग्नि, दिव्य संकल्प	Fire, the Will	V. 6. 6 V. 25. 4
अघम्	बुराईको	to evil	V. 3. 7
अघायतः	जो हमें अशुभ और बुराईकी ओर प्रवृत्त करना चाहता है उसका	of that which seeks to turn us to evil	V. 24. 3, 4
अघशंसे	अशुभ प्रकट करनेवालेपर	on one who expresses evil	V. 3. 7
अङ्क्ते	चमक उठता है	reveals, shines	V. 1. 3
अच्छ	के पास, की ओर	towards	V. 24. 1,2
अजरम्	अक्षय, जीर्ण न होनेवाली	indestructible, unaging	V. 27. 6
अजाति (उप)	प्रेरित करता हुआ आता है	drives	V. 2. 5
अजामि	बिना किसी साथीके	that which is without a fellow	V. 19. 4
अजीगः	वह खोल चुकता है	he has uncoiled	V. 1. 3
अजुर्यमुः	वे अग्रसर करते और वशमें लाते हैं	they drive and control	V. 6. 10
अज्ञातकेताः	जिनकी अनुभूतियाँ ज्ञानसे रिक्त हैं वे	they whose perceptions are void of the knowledge	V. 3. 11
अञ्जन्ति	आलोकित करते हैं	they brighten	V. 3. 2

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअरविन्दकृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
अति पर्षि	तू पार ले जाता है	carriest beyond	V. 3. 11
अतूर्तम्	जिसपर आक्रमण नहीं किया जा सकता उसे	to the unassailable	V. 25. 5
अत्यम्	युद्धके अश्वको	to the steed of battle	V. 25. 6
अदब्धः	अजेय	unconquerable	V. 19. 4
अदाभ्यः	अदमनीय	the untameable	V. 5. 2
अद्यायं	आस्वादन करनेके लिए	to eat, to partake	V. 1. 11
अध	पीछे	then	V. 9. 5
अधयत्	पुष्ट होता है	feeds	V. 1. 3
अधूर्षंत	वे नाश कर देते हैं	they have done violence	V. 12. 5
अध्रिजः	भौतिक सत्तामें उत्पन्न हुआ हुआ	born in the material existence	V. 7. 10
अध्वरम्	यज्ञको	to a sacrifice	V. 4. 8
अनस्वन्ता	गाड़ी खींचनेवाली	that draw his wain	V. 27. 1
अनिन्द्राः	जिनके भागवत मन नहीं है वे	those who do not possess the God-mind	V. 2. 3
अनिभृष्टतविषिः	वह जिसके अन्दर विद्यमान शक्ति उसके तापसे कभी संतप्त नहीं होती	one whose force is not afflicted by his heat	V. 7. 7
अन्वविन्दन्	ढूंढ लिया	discovered	V. 11. 6
अनुक्थाः	जिनके पास शब्द नहीं है वे	those who have not the word	V. 2. 3
अन्तम्	चरम सीमाको	to the furthest limit	V. 15. 5
अन्तितः	समीपसे	from near	V. 1. 10
अप	दूर	away	V. 20. 2
अपः	जलधाराओंको	to the waters	V. 2. 11
अभिननक्षुः	वे यात्रा करते हैं	they travel	V. 15. 2
अभिभराति	वह लाना चाहता है	he seeks to bring	V. 3. 7
अभिमाति	सर्व-अभिभावक	all-besieging	V. 23. 4
अभियुजः	जो (हमपर) आक्रमण करनेके लिए प्रवृत्त होती हैं उन्हें	to all those who set themselves to attack (us)	V. 4. 5

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअरविन्दकृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
अभिशस्तिम्	विरोधी आत्माभि-व्यक्तिको	(to) hostile self-expression	V. 3. 7
अमर्त्यः	अमर	immortal	V. 18. 1
अरणः	कार्यकर्ता	worker	V. 2. 5
अरणी	दो क्रियाएँ	two (tinders), workings	V. 9. 3
अरातयः	विरोधी शक्तियाँ	hostile powers	V. 2. 6
अरतौ	पदार्थोंकी ऊर्ध्वमुखी विकासक्रियामें	in the upward working of things	V. 2. 1
अरुषस्य	दीप्तिमान् दिव्य-कर्ताके	of the shining worker	V. 12. 2
अर्काः	प्रकाशकी वाणियाँ	voices of illumination	V. 5. 4
अर्च	स्तुतिगान कर	sing out	V. 16. 1
अर्चयः	किरणें	rays	V. 6. 7
अर्त	ऊपर उठ रहा है	rises up	V. 25. 8
अर्ये	अभीप्सा करनेवाले पर	in the aspirer	V. 16. 3
अवनीः	पोषण करनेवाली धाराएँ	fostering streams	V. 11. 5
अव स्पृधि	उद्धार कर	deliver	V. 3. 9
अश्वदावन्	हे द्रुतगतिवाले अश्वों के दाता !	O giver of the steeds of swiftness	V. 18. 3
असंमृष्टः	अपराजित	unovercome	V. 11. 3
अस्तम्	घरकी तरफ	(to) home	V. 6. 1
अस्पः	तूने मुक्त कर दिया है	thou hast rescued	V. 15. 5
अस्रिधः	जो (किसी प्रकारकी) भूल-भ्रांति नहीं करते वे	they who stumble not	V. 5. 8

आ

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअरविन्दकृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
आक्षितम्	जिसमें हम निवास करते हैं उसे	(to) dwelling	V. 7. 7
आगः	पाप और पथभ्रष्टता	sin & transgression	V. 3. 7
आनुषक्	अविच्छिन्न	continuous	V. 18. 2
आनृचुः	वे प्रकाशका स्तवन करते हैं	they sing the hymn of illumination	V. 6. 8

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअरविन्दकृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
आशु-अश्व्यम्	अश्वके द्रुतगमनकी शक्तिको	(to) swift-galloping force	V. 6. 10
आस्ये	मुखमें	in the mouth	V. 12. 1
इ, ई			
इत्	भी	even	V. 2. 4
	केवल	alone	V. 12. 2
इति चित्	क्योंकि (इस लक्ष्यके लिए)	for	V. 7. 10
इत्था यथा	इस प्रकार ठीक तरहसे	rightly	V. 20. 4
इद्धः	प्रदीप्त	kindled	V. 1. 6
इन्दुः	आनन्दकी मधुमदिरा	wine of delight	V. 18. 2
इन्विरे	वे सरपट आगे बढ़ती हैं	they run	V. 6. 6
इयानासः	यात्रा करनेवाले	we who journey	V. 22. 3
इळा	ज्ञानके साक्षात् दर्शन की देवी	Goddess of the vision of knowledge	V. 5. 8
इषः	प्रेरणाकी शक्तियोंको	to strengths of impulsions	V. 4. 2
ईमहे	हम अभीप्सा करते हैं	we desire	V. 5. 6
ईरयन्ति	वे प्रेरित करती हैं	(they) impel	V. 20. 2
उ			
उ	वह	that	V. 1. 6
उक्षणः	प्रसार के बैल	bulls of the diffusion	V. 27. 5
उक्षितः	पुष्ट	fed to thy fill, to full might	V. 8. 7
उत्-जिहानाः (प्र)	तेजीके साथ ऊपरकी ओर जानेवाली	rushing upwards	V. 1. 1
उपमम्	उच्चतम	highest	V. 3. 3
उपस्थे	गोदमें	in the lap	V. 1. 6
उरुज्रयसम्	द्रुत गतियोंमें विशाल	wide in rapidities	V. 8. 6

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
उरुष्य	दूर रह	Keep far from	V. 24. 4
उशिजः	अभीप्सा करते हुए	desiring, aspiring	V. 3. 4
ऊ			
ऊतये	वृद्धि के लिए	for increasing	V. 5. 3
ऊर्जः	ओजके	of energy	V. 7. 1
ऊहे	धारण किया गया है	bears	V. 3. 9
ऋ			
ऋतचित्	सत्य-सचेतन	Truth-conscious	V. 3. 9
ऋजूयते	सरलता चाहनेवाले के प्रति	to the seeker after straightness	V. 12. 5
ऋण्वति	वह गति करता है	he moves to	V. 16. 2
ऋतम्	सत्य	Truth	V. 12. 6
ऋतूनाम् ऋतुपाः	सत्यके कालों और ऋतुओंका रक्षक	guardian of the Truth	V. 12. 3
ऋत्विजम्	याजकको	to the sacrificer	V. 22. 2
ऋभुः	शिल्पी	smith	V. 7. 7
ऋषूणाम्	ज्ञान के अन्वेषकोंका	of the seekers of knowledge	V. 25. 1
ए-ओ			
एनः	पापको	to sin	V. 3. 7
ओजिष्ठम्	समग्र शक्तिसे परिपूर्ण	full of utter energy	V. 10. 1
क			
कनीनाम्	कुमारियोंका	of the virgins	V. 3. 2
कविः	द्रष्टा	the seer	V. 1. 6
कविक्रतुः	द्रष्टा-संकल्प	the seer-will	V. 11. 4
काम्यम्	कामना करने योग्य	desirable	V. 19. 4
काव्यैः	ज्ञानके विषयों द्वारा या विषयोमें	in the things of the wisdom	V. 3. 5
कृष्टयः	कर्ममें यत्नशील	those who labour at the work	V. 19. 3
केतुः	अन्तर्दृष्टि	vision	V. 11. 3

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअरविन्द-कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
क्राणा	कार्योंको सिद्ध करे	that he may accomplish works	V. 7. 8
क्षयेषु	घरोंमें	in the habitations	V. 23. 4
क्षितयः	सब लोक और उनके प्राणी	worlds and their peoples	V. 1. 10
क्षेपयत्	वह तीव्र वेगसे आगे बढ़ावे	may he shoot forward	V. 9. 7
ग			
गणस्य	सैन्यगणकी	of the hosts	V. 1. 3
गयम्	प्रगतिको	advancing	V. 10. 3
गविष्ठिरः	प्रकाशमें स्थिर	the steadfast in the Light	V. 1. 12
गाः	चमकते हुए गोयूथोंको	to the shining Herds	V. 14. 4
गुहा	गुह्य सत्ता	secret being	V. 2. 1
गृणानः	वचनोंसे स्तुति किया हुआ	hymned by the words	V. 16. 5
गोमन्तम्	प्रकाश-यूथवालेको	to one with the herds of Light	V. 4. 11
ग्रावा इव	आनंदरस सोमको पीसनेवाले पत्थरकी ध्वनिकी तरह	like the voice of the pressing stone of delight	V. 25. 8
घ			
घृतप्रसत्तः	निर्मलताओंकी ओर अग्रसर होनेवाला	who goes forward to the clarities	V. 15. 1
घृताची	निर्मलतासे देदीप्यमान	luminous with the clarity	V. 28. 1
घ्नन्	नाश करता हुआ	slaying	V. 14. 4
च			
चकानः	अभीप्सा करता हुआ	desiring	V. 27. 13
चक्रिरे	उन्होंने बनाया है	made	V. 8. 6
चक्षसे	अंतर्दर्शनके लिए	to the vision	V. 15. 4
चचक्ष	देख लिया	saw	V. 2. 8
चंद्र	हे आनंद-स्वरूप !	O Delight	V. 10. 4
चरन्तम्	संचरण करनेवालेको	to one that ranged	V. 2. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर.कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
चातयस्व (प्र)	दूर खदेड़ दे	chase	V. 4. 6
चारुतमः	सौंदर्यकी पूरी महिमा से युक्त	one in all the glory of one's beauty	V. 1. 9
चिकित्वः	हे सचेतन ज्ञाता !	O conscious knower	V. 3. 7
चिकित्वान्	ज्ञानयुक्त, सचेतन अनुभूतियोंसे युक्त	one with one's conscious perceptions	V. 2. 5
चिकित्विन्-मनसम्	सचेतन अंतर्दर्शनसे युक्त मनवालेको	(to one) having the mind of conscious vision	V. 22. 3
चिकिद्धि	जाग	awake	V. 12. 2 V. 22. 4
"	सचेतन रूपसे जागृत हो	awake	V. 1. 10
चिकेत	ज्ञानके प्रति जाग गया है	has awakened to knowledge	V. 27. 1
चित्	भी	even	V. 2. 5
चितयन्	जागृत करता हुआ	awakening	V. 15. 5
चितयन्तः	(सबको अपने अंदर समालेनेवाले) ज्ञानकी ओर जागृत (मनुष्य)	(men) awakened to an embracing knowledge	V. 19. 2
चित्तम्	सचेतन आत्माको	(to) conscious soul	V. 7. 9
चित्रभानो	हे समृद्ध और विविध प्रकाशसे युक्त	O thou of the rich and varied luminousness	V. 26. 2
चित्रशोचिषम्	अतिसमृद्ध ज्वाला-वालेको	to one of richest flamings	V. 17. 2
चेतिष्ठः	अंतर्दर्शनमें सर्वोच्च	Supreme in being	V. 27. 1
चोदयत्-मति	मनःशक्तिको प्रेरित करनेवाली	to one that urges his mentality	V. 8. 6

ज

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर.कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
जगृभुः	उन्होंने ले लिया था	they took	V. 2. 5
जजान	वह जन्म देती है	bearest	V. 2. 2
जन्तवः	सब उत्पन्न प्राणी, मनुष्य जो संसारमें पैदा हुए हैं	all creatures born, men born in the world	V. 7. 2 V. 19. 3
जयेम	विजित या प्राप्त कर सकें	we may conquer	V. 2. 11 V. 4. 1

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
जरद्विषम्	शत्रुओंका विनाशरूप	the destruction of enemies	V. 8. 2
जरसे	तू उपभोग करता है	thou enjoyest	V. 15. 4
जरितारम्	स्तोताको	(to) adorer	V. 3. 11
जास्पत्यम् (सं)	प्रभु और उसकी सहचरी शक्तिके एकत्वको	to union of the Lord and his spouse	V. 28. 3
जागृविः	जागरूक	wakeful	V. 11. 1
जातवेदः	हे सभी उत्पन्न पदार्थों व जन्मोंके ज्ञाता !	O knower of the births	V. 4. 4
जातैः (नृभिः)	अपने अंदर उत्पन्न (देवोंके) द्वारा	by (the godheads) born in them	V. 15. 2
जाम्योः	दो साथियोंका	of the two companions	V. 19. 4
जुषत	वह प्रेमसे स्वीकार करे	he may accept with love	V. 13. 3
जुषस्व	दृढ़तापूर्वक सेवन कर (हृदयसे)	cleave in heart	V. 4. 8
जुष्टः	प्रिय	beloved	V. 13. 4
	प्रिय व स्वीकृत	loved & accepted	V. 4. 5
जुहुरे	वे हवि डालते हैं	they cast (in thee) the offering	V. 19. 2
जुहूभिः	हविकी ज्वालाओंसे	with the flames of the offering	V. 1. 3
जुहोत	हविरूप भेंट डालो	cast the offering	V. 28. 6
जुहोतन	आहुति दो	offer	V. 5. 1
जुह्वति (स्वेदम्)	वे (पसीना) बहाते हैं	they cast (the sweat of toil)	V. 7. 5
जेतारम्	सदा विजय प्राप्त करनेवालेको	to ever-conquering one	V. 25. 6
जेन्यः	विजयी	victorious	V. 1. 5
जोषयासे	तू स्वीकार करने और दृढ़तासे पकड़े रहनेके लिए प्रेरित करता है	thou makest to accept & cleave to	V. 3. 10
जोहवीमि	मैं पुकारता हूँ	I call	V. 4. 10

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर.कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
त्रसदस्युः	दस्युओंको दूर भगानेवाला	the disperser of the destroyers	V. 27. 3
त्राता	उद्धारक	deliverer	V. 24. 1
त्र्यरुणः (त्रि-अरुणः)	तीन प्रकारकी उषावाला	of the triple dawn	V. 27. 1
त्र्याशिरः (त्रि-आशिरः)	तीन प्रकारके अंतमिश्रणोंसे युक्त	one with triple infusions	V. 27. 5
त्रितः	तीसरा आत्मा	the third soul	V. 9. 5
त्रिवरूथेन	तीन कवचोंसे वेष्टित (शान्तिसे)	by triple-armoured (peace)	V. 4. 8
त्रिषधस्थे	सत्रके त्रिविध लोकमें	In the triple world of the session	V. 11. 2
त्रैवृष्णः	त्रिविध वृषभका पुत्र	son of the triple Bull	V. 27. 1
त्वा-ऊताः	तुझसे पोषित	fostered by Thee	V. 3. 6
त्वा-दातम्	तेरे उपहारके रूपमें प्राप्त	received as thy gift	V. 7. 10
त्वादूतासः	तुझे दूत बनानेवाले	having thee for messenger	V. 6. 8
त्विषिः	आभा	blaze of light	V. 8. 5
त्वेषम्	प्रखर-दीप्त	keen and burning	V. 8. 6

द

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर.कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
दक्षस्य	विवेकशील मनका, विवेकबलका	of discering mind, of discerning power	V. 18. 2 V. 10. 2 V. 20. 3
दक्षिणा	विवेक करनेवाली देवी	the goddess who discerns	V. 1. 3
दग्धासि	तू निगल जाता है	thou devourest	V. 9. 4
ददत्	प्रदान करे	may he give	V. 27. 4
दधत्	स्थापित करे,	let him place,	V. 14. 1
	वह प्रतिष्ठित करे	he may establish	V. 6. 10
दधात (नि-)	अपने अंदर स्थापित कर	set within thee	V. 22. 2
दधाति	वह धारण करता है	he holds	V. 3. 10
दधुः (नि)	उन्होंने छिपा रखा है	is hidden (within mortals)	V. 2. 6
दधे	वह रखता है	he holds	V. 23. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर.कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
दभः	(सब वस्तुओं को) पैरों के नीचे कुचलने-वाला	one who tramples all things	V. 19. 4
दमूनाः	स्थायी निवास करनेवाला	domiciled	V. 4. 5
दमूनसम्	(हमारे अंदर) स्थिर वास करनेवालेको	(to one) domiciled in (us)	V. 8. 1
दमे-दमे	घर-घर में	in home and home	V. 6. 8
दम्पती	प्रभु और उसकी वधूको	(to) the Lord and his spouse	V. 3. 2
दर्वी	कड़छे	both ladles	V. 6. 9
दशस्यन्त	वे सम्यक् विभाग करते हैं	they distribute	V. 3. 4
दस्म	हे कार्योंको संपन्न करनेवाले !	O achiever of works	V. 6. 5
दस्मस्य	सब कुछ सिद्ध करने-वाली शक्तिसे संपन्न (उस अग्निका)	of one who has the achieving power	V. 17. 4
दस्युम्	विभाजकको	divider	V. 4. 6
दाति (आ)	वह टुकड़े-टुकड़े कर देता है	that teareth to pieces	V. 7. 7
दानाः	भेंटें	gifts	V. 27. 5
दाशुषे	हविर्दाताको,	to the giver of sacrifice	V. 25. 5
	हवि देनेवालेको	to one who gives the offering	V. 3. 1
दास्वतः	समर्पण करनेवालेका	of one who gives the offering	V. 9. 2
दिदीहि (सं-)	प्रज्वलित करो (पूरी तरह)	kindle altogether	V. 4. 2
दिवि	द्युलोकमें	in heaven	V. 27. 6
दिवश्चित्	द्युलोकमें भी	even in hea en	V. 10. 4
दिविस्पृशा	द्युलोकको स्पर्श करनेवाली	touching the heaven	V. 11. 1
दिवे-दिवे	दिन-प्रतिदिन	day by day	V. 20. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर.कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
दीदिवः	हे ज्योतिर्मय !	O shining one	V. 24. 3, 4
दीदिहि	चमक	shine out	V. 23. 4
दीधितिः	विचारका समृद्ध प्रकाश	rich light of the thought	V. 18. 4
दीर्घायु-शोचिषम्	दूर-दूर विस्तृत सत्ता-की विशुद्ध ज्वाला-रूप (तुझे)	to the pure flame of the far-extending existence	V. 18. 3
दुरेवाः	बुरी चालवाली	of an evil movement	V. 2. 9
दुर्गहा	प्रत्येक कठिन चौराहे परसे	over every difficult crossing	V. 4. 9
दुर्गृभीयसे	तू कठिनाईसे पकड़में आता है	thou art hard to seize	V. 9. 4
दुरोणे	नव द्वारोंवाले घरमें	in gated dwelling	V. 4. 5
दुवस्यत	अपने कार्योंसे सेवा करो	serve with your works	V. 28. 6
दुस्तरम्	अविनश्वर	indestructible	V. 15. 3
दूतम्	दूतको	(to) messenger, envoy	V. 3. 8 V. 8. 6
देवः	देव	godhead	V. 8. 4
देवत्रा	देवताओंमें	in the gods	V. 20. 1
देवयज्यया	दिव्य शक्तियोंके प्रति यज्ञ द्वारा	by sacrifice to the powers divine	V. 21. 4
देवयते	देवोंकी कामना करनेवालेके लिए	for the seeker of the godheads	V. 21. 1
देवव्यचस्तमः	देवोंके संपूर्ण आवि-र्भावको (तेरे प्रति) प्रकाशित करनेवाला	that shall open to thee the whole epiphany of the godheads	V. 22. 2
देवाः	देव	gods	V. 8. 6
देवासः	देव	gods	V. 26. 9
देवीः द्वारः	दिव्य द्वारो !	O doors divine !	V. 5. 5
दैव्या	दिव्य	Divine	V. 5. 7
दोघम्	सब कामनाओंको पूरा करनेवाले प्रचुर वैभवसे संपन्न	one in its all-yielding abundance	V. 15. 5
द्यवि	द्युलोकमें	in heaven	V. 6. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
द्युमत्	ज्योतिर्मय	luminous	V. 18. 5
	तेजोमय अवस्था	luminous state	V. 19. 3
द्युमत्तमम्	अत्यंत प्रकाशमय	most luminous	V. 24. 1, 2
द्युमन्तः	देदीप्यमान	luminous	V. 25. 8
द्युम्नानि	दीप्तियां	illuminations	V. 28. 3
द्रविणम्	सारभूत ऐश्वर्य	all substance	V. 28. 2
द्रविणस्यवः	दिव्य सारभूत ऐश्वर्य चाहनेवाले	that seek (for us) our divine substance	V. 13. 2
द्रविणानि	समृद्धियोंका सार-तत्त्व	substance of our riches	V. 4. 7
द्विताय	दूसरी (आत्मा) के लिए	for the second soul	V. 18. 2
द्विषः	जो शक्तियां नष्ट करना चाहती हैं वे	forces that seek to destroy (us)	V. 25. 9
द्वेषः	द्वैधभावमें	into the division	V. 20. 2
द्वेषोयुतः	वे मनुष्य जो शत्रुओं से आक्रांत और विरोधोंसे घिरे हुए हैं	men assailed by enemies and besieged by discords	V. 9. 6

ध

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
धन्व	मरुस्थली	desert	V. 7. 7
धमति (उप-)	घड़ता है	forges	V. 9. 5
धरुणः	धारण करनेवाला	holder	V. 15. 1
		holding all	V. 15. 2
धर्णसिम्	वस्तुओंके विधानको धारण करनेवालेको	(to one) who sustainest the law of things	V. 8. 4
धर्ता	धारक	holder	V. 15. 1
धर्मन्	विधान	law	V. 15. 2
धर्माणि	दिव्य नियम	divine laws	V. 26. 6
धाः (आ-)	प्रतिष्ठित कर	establish	V. 7. 9
धामहे	हम नींव डालें	may we found	V. 16. 5
धायसे	प्रतिष्ठित कर सकने के लिये,	that he may establish,	V. 7. 6
	स्थापित करनेके लिए	for the establishing (of works)	V. 7. 9

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
धारयतम्	वे धारण कराएं	they may uphold	V. 27. 6
धाराः	धाराएं	flowing streams	V. 12. 2
धासिम्	आधारको	(to) foundation	V. 12. 4
धीती	चिंतनसे	by thinking	V. 25. 3
धीमहि (नि-)	हम अपने अंदर प्रतिष्ठित करते हैं	we set (thee) within us	V. 21. 1
धीरः	बुद्धिमें सिद्ध	accomplished in understanding	V. 2. 11
धूमिनः	(अपने) धूम्रयुक्त आवेशसे युक्त	having (their) smoky passion	V. 9. 5
धृषजः	प्रचंड	violent	V. 19. 5
धृष्णुया	प्रचण्ड रूपसे	violently	V. 10. 5
ध्माता इव	लोहारकी तरह	like a smith	V. 9. 5
	न		
न	तरह	like	V. 9. 4
नक्तम्	रात्रिमें	in the night	V. 7. 4
नक्षि	आ	come	V. 24. 1,2
नमसा	(समर्पणरूप) प्रणाम से	with obeisance of submission	V. 4. 9
नराशंसः	देवताओंकी शक्तियोंको प्रकट करनेवाला	he that expresses the powers of the gods	V. 5. 2
नवमम्	नयी-नयी को	new-manifested	V. 27. 3
नविष्ठाय	जिसे नयी-नयी प्रदान की गयी है उसके लिये	new-given for him	V. 27. 3
नवेदाः	नये शब्दके ज्ञानका प्रेरक	impeller to knowledge of a new word	V. 12. 3
नशते	पहुँच जाता है	reaches	V. 4. 11
नहुषस्य	मानवका या उसके लिये	for man	V. 12. 6
नाकम्	स्वर्गको	(to)heaven, paradise	V. 17. 2
निदितम्	बंधे हुए को	(to) bound one	V. 2. 7
निधायि	अन्दर प्रतिष्ठित हो गया है	has been established within	V. 3. 3

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर.कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
निदितारः	बांधनेवाले	confiners	V. 2. 6
निद्यासः	बंदी	confined	V. 2. 6
निष्कग्रीवः	सोनेका हार पहने हुए	one who wears the golden necklace	V. 19. 3
निषसांद	उसने अपना आसन ग्रहण किया है	he has taken his seat	V. 1. 5
निहितम्	प्रतिष्ठित (उसको)	(to one) established	V. 2. 1
नु	अब	now	V. 10. 6
नूनम्	अभी ही	even now	V. 24. 3, 4
नृणाम्	दिव्य आत्माओंका	of the godheads	V. 18. 5
नृतम	हे अत्यंत शक्तिशाली देवता !	O mightiest deity	V. 4. 6
नृम्णम्	मानवत्वको	(to) manhood	V. 19. 2
नृवत्	दिव्यताओंसे पूर्ण	full of the godheads	V. 18. 5
नेमिः	पहियेका नाभिकेन्द्र	nave of a wheel	V. 13. 6
	प		
पत्मन्	मार्ग	path	V. 5. 7
पत्वभिः	पद-दलनोंसे	with the tramplings	V. 6. 7
पदम्	चरण	stride	V. 3. 3
	धामको	(to) abode	V. 15. 5
पनय	क्रियाशील बना दे	set to labour	V. 20. 1
पनीयसी	श्रमकी अधिक प्रभावकारी (शक्ति)	more effective force of thy labour	V. 6. 4
पप्रथानः	अपने विस्तार से युक्त	thou in thy wideness	V. 15. 4
परः	परे	beyond	V. 17. 2
"	उत्कृष्ट	supreme	V. 3, 5
परि स्थुः	वे चारों ओरसे घेरे रहती हैं	they stand encompassing	V. 15. 3
परीणसा	सब ओरसे व्यापने वालेके द्वारा	by all-encompassing	V. 10. 1
परुषाः	सशक्त	strong	V. 27. 5
पर्षति	वह (हमें) बाढ़से पार उतारता है	(he) ferries (us) beyond the surge	V. 25. 1
पर्षि (अति)	पार लगा	bear (us) over	V. 4. 9
पलिक्नीः	बूढ़ी	old	V. 2. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर.कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
पश्वः	दीप्तिसमूह	herds of the radiance	V. 2. 5
पाजः	पुंज	mass	V. 1. 2
पायवः	रक्षक	guardians	V. 12. 4
पाशान्	बंधनके पाशोंको	(to) the cords of bondage	V. 2.7
पितूनाम्	समस्त भोजनोंके	of all foods	V. 7. 6
पिपर्षि	तुम ले जाते हो	thou art carrying	V. 4. 6
पुपूर्याः (उत्)	तू अपने आपको पूरी तरह भर दे	utterly fill thyself	V. 6. 9
पुरम्	दुर्गबद्ध नगरको	(to) fortified city	V. 19. 2
पुरु	अनेकविध	many	V. 17. 1
पुरुश्चन्द्रम्	आनंदोंके समूहसे संपन्न उसे	(to) one with a multitude of delights	V. 8. 1
प्रुरुनिःष्ठः	अपने अनेक आकारों में प्रकट रूपसे स्थित	standing out in his multitudes	V. 1. 6
पुरुप्रियः	अनेक आनंदोंसे संपन्न	one with many delights	V. 18. 1
पुरुरूपः	अनेक रूप ग्रहण करनेवाला	one who takes many forms	V. 8. 5
पुरुष्टुतः	अनेक प्रकारसे स्तुति किया हुआ	multiply affirmed	V. 8. 5
पुरुस्पृहम्	जो कामनाओंके पुंज-को अपने हाथमें लिए हुए है उसे	(to) one who has multitude of desires	V. 7. 6
पुरोहितम्	अग्रभागमें नियत पुरोहितको	to the vicar set in front	V. 11. 2
पुष्टिम्	विकासको	(to) the growth	V. 10. 3
पुष्यन्ति (प्रो)	पोषण करती हैं	nourish	V. 6. 6
पूर्वीः	अनेक	many	V. 12.. 2
पूर्वे	पुरातन	of old	V. 25.. 2
पूर्व्यम्	सर्वोच्चको	(to) supreme	V. 8. 2
पृणन्ति (आ)	वे तुष्ट करती हैं	they satisfy	V. 11. 5
पृणीतन	परिपूरित कर दो	fill	V. 5. 5
पृतना-सहम्	सेनाओंको परास्त करनेवालेको	(to) that which shall overpower the armies	V. 23. 2

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
पृत्सु	संग्रामोंमें	in the battles	V. 10. 7
पृत्सुतीः	सशस्त्र आक्रमणों को	to embattled assaults	V. 4. 1
पृथुः	विशाल	wide	V. 12. 6
पेषी	आकारमें संकुचित	compressed into form	V. 2. 2
पोषयत्	वह पोषण और संवर्धन करे	may he nourish	V. 9. 7
प्र	आगे-आगे	forward	V. 10. 1
प्र चातयस्व	दूर खदेड़ दे	chase (from us)	V. 4. 6
प्र चिकेत	ज्ञानकी चेतनाकी ओर खुल गया है	opens to consciousness of knowledge	V. 19. 1
प्रतीचीम्	मिलनेके लिए उसकी ओर जानेवाली को	(to one) going to meet	V. 12. 1
प्रत्नम्	पुरातन	pristine	V. 8. 1
प्रथमम्	परम (को)	supreme	V. 11. 2
प्रथस्व (वि)	अपनेको व्यापक रूपसे विस्तृत कर	widely spread Thyself	V. 5. 4
प्रप्र	आगे ही आगे	farther, farther	V. 5. 5
प्र भरे	लाता हूँ	I bring	V. 15. 1
प्र मन्दे	मैं अपने आनन्द-को प्रेरित करता हूँ	I direct my delight	V. 4. 1
प्रमहसः	सामर्थ्यकी गरिमा-का	of mightiness	V. 28. 4
प्रयस्वन्तः	सारे आनन्दोंको धारण किये हुए	holding all delights	V. 20. 3
प्र रुजन्ति	वे तोड़-फोड़ देती हैं	they break	V. 2. 10
प्रशस्तिभिः	अभिव्यक्तियोंसे	by expressings	V. 9. 6
प्रसर्स्राणस्य नहुषस्य	तीर्थयात्री मानवका	of man the pilgrim	V. 12. 6
प्रसहा	शक्तिपूर्ण	forceful	V. 23. 1
प्रसहते	वह अभिभूत करती है	he overpowers	V. 2. 9
प्रीतः	तृप्त होकर	satisfied	V. 6. 3
	ब		
बंधनासः	बंधनमें डालनेवाले	binders	V. 12. 4
बर्हिः	अपनी आत्माका आसन	seat of thy soul	V. 26. 8

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
वर्हिष्मते	यज्ञका आसन विस्तृत करनेवाले के लिए	for the man who enlarges the seat of sacrifice	V. 2. 12
बलिम्	भेंट को	(to an) offering	V. 1. 10
बिभर्ति	वह वहन करती है	(she) bears	V. 2. 1
वुध्यमानाः	जागृत हुए	being awakened	V. 3. 6
वृहत्	विशालता	vastness	V. 1. 10
वृहदुक्थः	विशाल शब्दका उच्चारण करनेवाला	uttering the vast word	V. 19. 3
वृहत्केतुम्	उसे जो विशाल अर्न्तदर्शन से संपन्न है	(to one) with vast vision	V. 8. 2
वृहन्तम्	विशालता से युक्त	vast	V. 26. 3
वोधि	जाग	awake	V. 24. 3,4
ब्रह्माणि	आत्मिक विचार	soul-thoughts	V. 2. 6
	भ		
भगः	भोक्ता	enjoyer	V. 16. 2
भद्रशोचे	हे पवित्रताकी आनन्दमयी ज्वाला !	O happy Flame of purity	V. 4. 7
भन्दिष्ठस्य	मनुष्यकी परम आह्लादपूर्ण स्थिति-के	of man's happiest state	V. 1. 10
भर (आ)	ले आ	bring (to us)	V. 6. 8
भरतेभ्यः	लानेवालोंके लिए	for the bringers	V. 11. 1
भरन्ते	वे ले जाते हैं	they carry	V. 11. 4
भूरि नाम	विशाल नाम	vast name	V. 3. 10
भोजनानि	भोगोंको	(their) enjoyments	V. 4. 5
भ्राजन्तः	जाज्वल्यमान	flaming	V. 10. 5
	म		
मंहना	पूरा प्राचुर्य	plenitude	V. 16. 4
मघोनः	परिपूर्ण ऐश्वर्योंका अधिपति	Lord of (his) plenitude	V. 27. 1
मत्	मुझसे	from me	V. 2. 8
मथ्यमानः	(हमारे द्वारा) दवाव डाला जाता हुआ	by our pressure	V. 11. 6

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
मदे	(उसके) हर्षोल्लास-के समय	in his ecstasy	V. 2. 10
मंद्रः	आनन्दोल्लासमय	rapturous	V. 11. 3
मंद्रजिह्वम्	उसे जो परम आनंद की जिह्वासे युक्त है	(to him) with (his) tongue of ecstasy	V. 25. 2
मधुमत्तमम्	मधुसे लबालब भरी हुई	fullest with the honey	V. 11. 5
मधुहस्त्यः	मधु-रसको अपने हाथोंमें लिए हुए	one with the sweetness in his hands	V. 5. 2
मनवे	मनुष्यके लिये	for the man	V. 2. 12
मनामहे	हम मनके द्वारा दृढ़तासे धारण कर लेते हैं	we seize with the mind	V. 3. 2
मन्म	विचार	thought	V. 12. 1
मन्युम्	भावुकतापूर्ण मनको	(to) emotional mind	V. 7. 10
मामहे	उसने (मुझे) दी हैं	he has given (me)	V. 27. 1
मयोभुवः	वे जो आनन्दको जन्म देती हैं	those who give birth to the bliss	V. 5. 8
मरुतः	जीवन-शक्तियां	life-powers	V. 26. 9
मर्चयति	वह उत्पीड़ित कर रहा है	oppresses	V. 3. 7
मर्जयन्त	वे भास्वर बनाती हैं	they make to shine	V. 3. 3
मर्ताः	मरणधर्मा मनुष्य	mortal men	V. 14. 2
मर्त्यः	" "	mortal man	V. 7. 6
मर्यकम्	शक्ति	strength	V. 2. 5
महः	विशाल	vast	V. 15. 5
महित्वा	महानतासे	by the greatness	V. 2. 9
महिषी इव	मानो स्वयं भगवती की ही विशालता	as if the largeness of the Goddess herself	V. 25. 7
मानुषे जने	मानव प्राणीमें	in the human creature	V. 14. 2
मायाः	ज्ञानकी रचनाएं	formations of knowledge	V. 2. 9

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
मिनत्	वह क्षीण होता है	is diminished	V. 2. 1
मिमानम्	निर्माण करते हुए को	(to one) shaping	V. 2. 3
मिमीहि (सम्-)	निर्माण करो	form	V. 4. 2
मुमुग्धि	काटकर अलग करदे	loose (from us)	V. 2. 7
मृक्तवाहसे	पवित्रकी हुई मेधा को वहन करनेवाली (आत्मा) के लिये	for the soul when it bears purified intelligence	V. 18. 2
मृजन्ति	वे मांज-मांजकर चमकाते हैं	they press into brightness	V. 1. 7
मेध्याय	मेधावीके प्रति	to the intelligence	V. 1. 12
	य		
यंसत्	निष्पन्न कर दे	he may work out	V. 2. 12
यक्षत्	वह यज्ञकी भेंट दे	may he offer the sacrifice	V. 13. 3
यजतम्	यज्ञका देव	the god in the sacrifice	V. 8. 1
यजमानाय	यजमानके लिए	for the sacrificer	V. 26. 5
यजीयान्	यज्ञकेलिए शक्तिशाली	mighty for sacrifice	V. 1. 5
यज्ञासः	यज्ञके कार्य	works of sacrifice	V. 9. 2
यते	यात्राका लक्ष्य	the goal of the journey	V. 27. 4
यवन्त (वि)	उन्होंने संबंध-विच्छेद किया था	they divorced	V. 2. 5
यवसे	चरागाहमें	in the pasture	V. 9. 4
यविष्ठ्य	हे पूर्ण-यौवन-संपन्न	youngest vigour	V. 8. 6
यशः	विजयश्री	victory	V. 4. 10
यह्वम्	शक्तिशाली	mighty	V. 16. 4
यह्वाः इव	शक्तिशाली सत्ताओं की तरह	like mightinesses	V. 1. 1
यातयासे	यात्राकी ओर प्रेरित करोगे	thou wilt impel to journey	V. 3. 9
याति	वह यात्रा करता है	he journeys	V. 6. 3
यामासः	यात्राओंकी गतियां	movements of journey	V. 3. 12
युक्ता	जुते हुए	yoked (to the car)	V. 27. 2

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
युक्तेन	समाहित (मन) से	with attentive (mind)	V. 27. 3
युजम्	सहायक को	as (our) helper	V. 20. 1
यूथम्	रश्मि-समूह को	(to) herd	V. 2. 4
यूपात्	खंभेसे	from the post of sacrifice	V. 2. 7
योधि	बुराईको दूर रख	put away (evil)	V. 3. 9
	र		
रघुद्रुवः	द्रुतगामी	swiftly galloping	V. 6. 2
रघुष्यदम्	अत्यंत सरपट दौड़नेवाले को	Swift-galloping	V. 25. 6
रण्यति	वह आनन्द लेता है	takes joy	V. 18. 1
रण्वा	आनन्दोल्लाससे भरपूर	full of delight	V. 7. 2
रत्नधातमम्	उसे जोआनन्दको पूर्णतया धारण करता है	(to) one who holdest utterly the delight	V. 8. 3
रत्सि (प्र)	आगे-आगे चीरकर वना	cleave forward	V. 10. 1
रयिः	समृद्धि	opulence	V. 25. 7
रशनाम्	लंबी रस्सीको	(to) cord	V. 1. 3
राजति	वह चमकता है	it shines out	V. 25. 4
रातये	आत्माकी समृद्धिके लिए	to attain to the soul's riches	V. 10. 6
राधः	ऐश्वर्योंका आनन्द	joy of riches	V. 13. 6
रायः	आनन्द	bliss	V. 15. 1
रासत्	वह खुले रूपसे दान देता है	he lavishes	V. 25. 1
रास्व	प्रचुरतासे प्रदान कर	lavish (on us)	V. 13. 5
रीषते	वाधा डालनेवालेके प्रति	to the hurter	V. 3. 12
रीयते (प्र-)	प्रवाहशील विकास साधित किया जाता है	there is a flowing progression	V. 7. 8

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
रेवत्	आनन्द और समृद्धि से भरपूर	full of joy & opulence	V. 23. 4
रोदसी	सत्ताके दोनों लोक —द्यावा-पृथिवी	both firmaments—earth & heaven	V. 1. 7
	ल व		
लोके	लोकमें	in the world	V. 1. 6
वक्षणेस्थाः	सब वस्तुओंके वाहकमें दृढ़तासे स्थापित होनेवाले	firmly founded in the bearer of all things	V. 19. 5
वक्षि (आ-)	ले आ (हमारे पास)	bring (to us)	V. 4. 4
वक्ष्यः	(कार्योंको) वहन करनेवाली	bearer (of all things)	V. 19. 5
वचस्युभिः स्तोमेभिः	सत्यप्रकाशक शब्द को पा लेनेवाले (स्तोत्रोंसे)	by the hymns of affirmation which find the revealing word	V. 14. 6
वधेन	(अपने) प्रहारके द्वारा	with (thy) blow	V. 4. 6
वनते	वह जीत लेता है	he wins	V. 4. 3
वनवत्	वह प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है	he prevails	V. 3. 5
वनुयाम	हम विजय लाभ करें	may we prevail	V. 3. 5
वने-वने	आनन्दके प्रत्येक विषयमें	in every object of delight	V. 11. 6
वन्दारु वचः	स्तुतिके वचन	word of adoration	V. 1. 12
वपुष्यः	शारीरिक पूर्णता-से युक्त	full of body	V. 1. 9
वयः	विशाल अभिव्यक्ति	wide manifestation	V. 8. 5
वयोवयः	अभिव्यक्तिके बाद अभिव्यक्ति	manifestation after manifestation	V. 15. 4
वयोवृधा	उन्हें जो (हमारी) विशाल सत्ताको बढ़ानेवाली हैं	(to) increasers of (our) spacious being	V. 5. 6
वयाम्	अपने विस्तारके लिए	to their expanding	V. 1. 1

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअरं. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
वरन्ते	रोक कर रखती हैं	they pen in	V. 2. 10
वरिष्ठया धीती	(हमारे) श्रेष्ठ चिंतनसे	by (our) supreme thinking	V. 25. 3
वरुणः	विशालताका अधीश्वर	lord of wideness	V. 26. 9
वरूथ्यः	(रक्षणका) कवच	armour	V. 24. 1,2
वरेण्यम्	परम वरणीय को	(to) supremely desirable one	V. 8. 1
वर्धन्ति	वे बढ़ाते हैं	they increase	V. 22. 4
वर्षिष्ठाय	बरसानेवाले के लिए	for (the strength) that lavishes	V. 7. 1
ववन्दिम	हम वन्दना करते हैं	we adore	V. 25. 9
वव्रेः वव्रिः	आवरणपर आवरण	covering upon covering	V. 19. 1
वसवे	हमारी सत्तामें निवास करनेवाले के प्रति	to the dweller in our being	V. 3. 12
वसुपतिः	सारतत्त्वके प्रभुओंका (वसुओंका) अधिष्ठाता	master over the lords of substance	V. 4. 1
वसूयवः	वसु—सारतत्त्व को चाहते हुए (हम)	desiring subsance	V. 25. 9
वसु	दिव्य ऐश्वर्य-संपदा को	(to) divine wealth	V. 17. 4
वसुश्रवाः	सारतत्त्वका दिव्य ज्ञान रखनेवाला	one who has knowledge of that substance	V. 24. 1,2
वह (आ)	ला	bring	V. 5. 3
वाजः	ऐश्वर्य-प्रचुरता	plenitude	V. 15. 5
वाज-जठरः	ऐश्वर्य-परिपूर्णताका उदर	belly of the plenitude	V. 19. 4
वाजयुः	ऐश्वर्यं परिपूर्णताका अभिलाषी	a seeker of the plentitude	V. 19. 3
वाजसातम	हे ऐश्वर्य-प्रचुरताके विजेता	O conquerer of (our) plenitude	V. 20. 1
वाजिनः	प्रचुरताकी शक्तियां	powers of plenitude	V. 6. 1
"	प्रचुरताके अश्व	steeds of plenitude	V. 6. 7

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
वारम्	कल्याणकी ओर	to good	V. 16. 2
वार्यम्	अभिलषित कल्याणको	to the desirable good	V. 16. 5
वार्याणि	अभीष्ट वरोंको	(to) desirable boons	V. 4. 3
वाहिष्ठम्	जो वहन करनेमें सबसे अधिक शक्ति-शाली है उसे	(to) that which is strongest (in us) to upbear	V. 25. 7
वि-उषि	रात्रिके वादके उषा-कालमें	in the dawning of night	V. 3. 8
विक्षु	प्राणियोंमें	in the creatures	V. 17. 4
वितन्वते	वे विस्तृत करते हैं	they extend	V. 13. 4
विधर्मन्	हे विशाल विधान को विजित करनेवाले !	O thou who hast won to the wide law	V. 17. 2
विनिक्षे	विनाश करनेके लिए	to gore	V. 2. 9
विपृक्वत्	पृथक्-पृथक् भागों-में विद्यमान	in all separate parts	V. 2. 3
विप्राः	ज्ञानप्रदीप्त जन	the illumined	V. 13. 5
वि भाति	वह चमक रहा है	shines wide	V. 11. 1
विभावसुम्	प्रकाशके विशाल सारतत्त्वसे युक्त उसको	to one with wide substance of the light	V. 25. 2
विभांवा	प्रकाशमें विस्तृत	extended in light	V. 4. 2
विभुः	अपनी सत्तासे सब-में व्याप्त	pervader of all in (thy) being	V. 5. 9
विभ्व-सहम्	सर्वव्यापक शक्ति-शालिता से युक्त	(felicity) of an all-pervading forcefulness	V. 10. 7
विवस्वतः	प्रकाशस्वरूप सूर्यसे	from the all-luminous sun	V. 11. 3
विविचिम्	सम्यक्तया विवेक करनेवाले को	to one who has the powers of rightly discriminating	V. 8. 3
विशः	प्रजाएँ	the peoples	V. 8. 3
विशि	प्राणिमात्रमें	in the creature	V. 22. 1
विश्पतिम्	प्रजाओंके पति को	to lord of the creatures	V. 4. 3
विश्वचर्षणिः	मनुष्यके सब कार्यों में कर्मकर्ता	the labourer in all man's works	V. 23. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर.कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
विश्वदर्शतम्	विराट् अन्तर्दर्शनसे देखनेवाले को	to one seeing with a universal vision	V. 8. 3
विश्वधा	सार्वभौमिकताके साथ	in the universality	V. 8. 4
विश्वधायसम्	उसे जो सबको धारण करता है	to one who establishes the all	V. 8. 1
विश्ववारम्	समस्त अभीष्ट वर	all desirable boons	V. 4. 7
विश्वविदम्	सर्वज्ञ को	to the omniscient	V. 4. 3
विश्वसामन्	हे सबमें एक समान आत्मसिद्धि चाहने वाले मनुष्य !	O man who seekest thy equal fulfilment in all	V. 22. 1
विश्वानि	सब पदार्थ	all things	V. 2. 9
विषुणाः	वे जो भटककर विमुख हो गये हैं	those who have gone astray (from thee)	V. 12. 5
विषुरूपः	अनेक भिन्न-भिन्न रूपोंवाला	one in many different forms	V. 15. 4
वीतये	अभिव्यक्ति के लिए	for manifesting	V. 26. 2
वीतिहोत्रम्	हविरूप भेंटोंको ले जानेवाले को	to one who carries the offerings	V. 26. 3
वीरवन्तम्	शक्तिकी सेनाओंसे युक्त उसको	to one with the armies of energy	V. 4. 11
वृक्तबर्हिषः	वे जिन्होंने अपने यज्ञके आसनको निर्मल किया है	those who have made clear the seat of sacrifice	V. 23. 3
वृजिनानि	कुटिल बातें	crooked things	V. 12. 5
वृणते	वे स्वीकार करते हैं	they accept	V. 11. 4
वेद्याय	जो ज्ञानका लक्ष्य है उसके लिये	for one who is the object of knowledge	V. 15. 1
वेधसे	नियन्ताके प्रति	for the Ordainer	V. 15. 1
वेविदानः	ज्ञानको समस्वर करते हुए	harmonising (thy) knowledge	V. 19. 5
वेषणे	उसके घेरेमें	in his circling	V. 7. 5
वैश्वानर	हे सार्वभौम शक्ते	O universal power	V. 27. 2
वोळ्हवे	भेंटोंको वहन करने के लिए	for bearing (the offering)	V. 14. 3
व्यन्ति	वे प्राप्त करते हैं	they reach	V. 23. 3

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
व्रजा	गौओंके बाड़ोंमें	in the pens	V. 6. 7
	श		
शंसम्	आत्म-अभिव्यक्तिको	to self-expression	V. 3. 4
शग्धि	शक्तिशाली हो	be mighty	V. 17. 5
शतदाव्नि	सौ (अश्वोंके) दातामें	in the giver of hundred	V. 27. 6
शत्रूयताम्	विरोधी शक्तियोंके	of hostile powers	V. 28. 3
शफानां पत्वभिः	(अपने) खुरोंसे पद-दलन करते हुए	with tramplings of (their) hooves	V. 6. 7
शम्	आनन्दपूर्ण शान्ति	glad peace	V. 7. 9
शरदः	ऋतुओं (वर्षों) तक	up to (many) seasons	V. 2. 2
शर्म	शान्ति और परम-आनन्द	peace and bliss	V. 27. 2
शवसः	देदीप्यमान शक्तिके	of shining strength	V. 6. 9
शश्वतः	सनातन (सत्ता)	the eternal	V. 19. 4
शश्वन्तः	शाश्वत संततियाँ	continuous generations	V. 14. 3
शाके	शक्तिमें	in the power	V. 15. 2
शिवः	कल्याणकारी	beneficent	V. 5. 9
शिशीते	वह तेज करके तीक्ष्ण अस्त्र बना डालता है	he whets	V. 9. 5
शिश्रियाणम	निवास करते हुए को	lodging	V. 11. 6
शुक्र	हे ज्योतिर्मय !	O brightness	V. 21. 4
शुचिः	पवित्र	pure	V. 7. 8
शुचिदन्	पवित्रता ही जिसका दांत है वह	one whose fang is purity	V. 7. 7
शुचिवर्णम्	शुद्ध-उज्ज्वल रंग-वालेको	to one pure bright of hue	V. 2. 3
शुभ्र	धवल और उज्ज्वल	white and bright	V. 5. 4
शुम्भन्ति	वे (तुझे) उज्ज्वल-आनन्दमय वस्तु बनाते हैं	they make (thee) thing of bright gladness	V. 22. 4
शुष्मम्	शक्ति को	(to) strength	V. 16. 3
शुष्मिणः	शक्तिशाली	puissant	V. 10. 4
शृंगे	सींगों को	horns	V. 2. 9

वैदिक मन्त्र	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
शोचन्ति	वे चमक रही हैं	they blaze out	V. 17. 3
शोचिः	निर्मल प्रकाशकी ओर	(to) pure light	V. 28. 1
शोचिष्केशम्	उसे जो प्रकाशकी जटाओंसे युक्त है	to one with (his) locks of light	V. 8. 2
शोचिषः (शुक्रस्य)	शुद्ध-भास्वर ज्वाला-का	of the pure bright flame	V. 6. 5
शोचिष्ठ	हे पवित्रतम प्रकाशकी ज्वाला !	O flame of purest light	V. 24. 3,4
शोभमानम्	देदीप्यमान सौंदर्य-वालेको	to one of luminous beauty	V. 2. 4
श्रयध्वम् (वि-)	झूलते हुए खुल जाओ	swing open	V. 5. 5
श्रवः	अन्तःस्फुरित ज्ञान	inspired knowledge	V. 16. 4
श्रावयत्पतिम्	पदार्थोंके ऐसे स्वामीको जो ज्ञानके प्रति हमारे कान खोलता है	to the master of things who opens our ears to the knowledge	V. 25. 5
श्रवांसि	ज्ञानकी अन्तः-प्रेरणाओंको	to inspirations of knowledge	V. 4. 2
श्रवाय्यम्	अंतःप्रेरणाओंसे पूर्ण	full of inspiration	V. 20. 1
श्रितः	पहुँचा और निवास करता हुआ	reaching and lodging	V. 11. 3
श्रियम्	गरिमा को	to the glory	V. 28. 4
श्रीणीषे	तू पहुँचता है	thou approachest	V. 6. 9
श्रेष्ठया सुमत्या	अत्यधिक उज्ज्वल पूर्णताप्राप्त मतिसे	by brightest perfected mentality	V. 25. 3
श्वैत्रेयस्य	श्वेत ज्योतिवाली मांके पुत्र का	of the son of the white-shining Mother	V. 19. 3
	स		
सख्ये	मित्रतामें	In (his) comradeship	V. 16. 3
सचन्त	वे दृढ़तया संलग्न हों	they may be firm	V. 17. 5
सजोषसः	प्रेममय एक हृदय से युक्त	(gods) with one heart of love	V. 21. 3
सते	बैठे हुएके लिए	for one who sits	V. 7. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
सत्पतिम्	सत्ताओंके स्वामीको,	(to) Lord of existences	V. 25. 6
	अपनी सत्ताके स्वामी को	(to) master of his being	V. 27. 1
सत्यः	अपनी सत्तामें सच्चा	true in his being	V. 25. 2
सद्मसु	निवासस्थानोंमें	in the dwelling places	V. 23. 3
सद्यः	तत्काल	at once	V. 1. 9
सधमादः	पूर्ण आनन्दोन्माद से युक्त	having perfect rapture	V. 20. 4
सधस्तुति	पूर्ण स्तुति से संपन्न	one with a perfect affirming	V. 18. 5
सन्	वे हों	may they be	V. 19. 5
सनितुः	सब वस्तुओंको अधिकृत करनेवालेके	of the all-possessing	V. 12. 3
सनिम्	लक्ष्यकी उपलब्धिको	(to) possession of the goal	V. 27. 4
सनिषन्तः	उपलब्धि और विजय के अभिलाषी	the seekers after possession and conquest	V. 12. 4
सनुतः	लगातार	continuously	V. 2. 4
सन्तम्	विराजमान (को)	seated	V. 8. 3
सपन्त	वे आस्वादन करते हैं	they taste	V. 3. 4
सपर्यत	खोजो और सेवा करो	seek and serve	V. 14. 5
संपामि	सफल सकता हूँ, प्राप्त कर सकता हूँ	achieve and attain to	V. 12. 2
सप्रथाः	बहुत विस्तृत और विशाल	very wide	V. 13. 4
सबाधसः	वे जो आक्रान्त और अवरुद्ध हैं	those that are beset and hampered	V. 10. 6
समजाति	वह खींचकर ले आता है	he drives	V. 2. 12
समनसा	एक मनवाले	of one mind	V. 3. 2
समन्तम्	सर्वांगपूर्ण	complete	V. 1. 11
समर्ये	बड़े संघर्षमें	in the great struggle	V. 3. 6
समिद्धः	प्रज्वलित होकर	burning high	V. 28. 1

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
समिधम् (सम्-इधम्)	समिधाको	(to) fuel	V. 4. 4
समिधीमहि (सम्-इधीमहि)	हम प्रज्वलित करते हैं	we kindle	V. 21. 1
समुब्धम्	दबे हुएको	pressed down	V. 2. 1
समृतौ	पूर्ण मिलाप में	in coming to the utter meeting with (him)	V. 7. 2
संचरन्ति	वे केन्द्रित होती हैं	they converge	V. 1. 4
संजनयन्ति	वे पूर्ण जन्म देनेके लिए कार्य करते हैं	they work to bring to perfect birth	V. 7. 2
सम्यञ्चम् इषम्	अन्तर्वेगके पूरे बलको	(to) absolute force of impulsion	V. 7. 1
संयन्ति	वे आपसमें मिलती हैं	they meet together	V. 9. 5
सरस्वती	प्रवाही अन्तःप्रेरणा-की देवी	She of flowing inspiration	V. 5. 8
सर्पिः	प्रवाहशील ऐश्वर्य	running richness	V. 7. 9
ससस्य	परम आनन्दके	of the Bliss	V. 21. 4
सासहत् (ससहत्)	वह बलपूर्वक सफल होगी	it shall prevail	V. 23. 1
सासाह	वह विजयी होता है	he conquers	V. 25. 6
सहः	शक्ति	force	V. 23. 4
सहते	वह अभिभूत करता है	he overpowers	V. 2. 9
सहन्तम्	शक्तिस्वरूप	forceful	V. 23. 1
सहसानम्	जीतनेमें शक्तिशाली	one who is forceful to conquer	V. 25. 9
सहस्रजित्	हजार गुणा ऐश्वर्यका अभिजेता	conqueror of a thousand-fold riches	V. 26. 6
सहस्व	हे तुम बलशाली देव	O thou forceful one	V. 9. 7
सहस्वते	शक्तिके स्वामी-के लिए	for the master of force	V. 7. 1
सातये	विजय प्राप्त करनेके लिये,	that we may conuqer	V. 5. 4
	विजयके लिए	for the conquest	V. 9. 7
साधनम्	संसाधक	accomplisher	V. 20. 3
साधु	जिसमें सब कुछ सिद्ध किया जा सकता है	in which all is perfected	V. 12. 6

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
साधुया	कार्यसाधक शक्तिके साथ	with power to accomplish	V. 11. 4
सिध्रम्	सर्वसाधक	all-effective	V. 13. 2
सिंधुम्	समुद्रको	over the waters	V. 4. 9
सिस्रते	वह आरोहण करती हैं	they mount	V. 1. 1
सीदन्	वह बैठता है	he sits	V. 11. 2
स्वध्वर (सु-अश्वर)	हे यज्ञके पूर्ण पथप्रदर्शक	O perfect guide of the sacrifice	V. 28. 5
स्वध्वरम्	उसे जो यज्ञका ठीक-ठीक नेतृत्व करता है	to one who leads aright thes sarifice	V. 9. 3
स्वपाः (सु-अपा)	कार्यमें पूर्ण	perfect in works	V. 2. 11
स्ववसम्	पूर्ण सत्तासे युक्त (तुझको)	to one having perfect being	V. 8. 2
स्वाधीभिः (स्तोमेभिः)	विचारको ठीक स्थान पर विन्यस्त करने-वाले (स्तोत्रोंसे)	by (hymns) placing aright the thought	V. 14. 6
स्वांभुवम्	जो पूर्ण अस्तित्वमें आता है उसे	(to) that which comes into entire being	V. 6. 3
सुक्रतुः	इच्छाशक्तिमें पूर्ण	perfect in will-power	V. 11. 2
सुक्षितीः	ठीक-ठीक निवास-स्थानको पा लेनेवाली	finding dwelling aright their place	V. 6. 8
सुगार्हपत्याः	वे जो (हमारे) गृहपतिसे पूर्णतया संबंधित हैं	those that belong perfectly to the Master of (our) dwelling	V. 4. 2
सुश्चन्द्र	हे आनन्दसे परिपूर्ण!	O perfect in delight	V. 6. 9
सुजात	हे अपने जन्ममें पूर्ण!	O perfect in thy birth	V. 21. 2
सुजातासः	पूर्ण जन्मको प्राप्त किये हुए	come to perfect birth	V. 6. 2
सुदक्षः	पूर्ण विवेक-संपन्न	perfect in discernment	V. 11. 1
सुदीतिभिः	पूर्ण प्रभाओंके द्वारा	with perfect out shinings	V. 25. 2
"	(उसकी) यथार्थ दीप्तियोंसे	by (his) right illuminings	V. 8. 4
सुदृशः	यथार्थ दृष्टिवाला	one who has right vision	V. 3. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
सुदृशीक:	दृष्टिमें पूर्ण	perfect in vision	V. 4. 2
सुधितम्	पूर्णतया प्रतिष्ठित	perfectly founded	V. 3. 2
सुधुर:	जूएको ठीक तरह वहन करनेवाले	those that bear aright the yoke	V. 27. 2
सुन्वते	आनंद-मधुको निकालनेवाले के लिए	for one who presses the wine of delight	V. 26. 5
सुपूतम्	निर्मल	purified	V. 12. 1
सुप्रायणा:	सरल रास्ता देनेवाले	giving easy passage	V. 5. 5
सुप्रतीके	स्पष्ट रूपसे अभिमुख माताओंको	(to) fairly fronting	V. 5. 6
सुप्रीत:	तृप्त होता हुआ	satisfied	V. 21. 2
सुभग	हे पूर्ण आनन्दोपभोक्ता !	O perfect enjoyer	V. 8. 3
सुमत्	प्रसन्न	happy	V. 2. 4
सुमतिम्	मनकी यथार्थ अवस्थाके प्रति	(to) right-mindedness	V. 1. 10
"	सुमतिकों	grace of mind	V. 27. 3
सुमत्या	पूर्णताप्राप्त मतिसे	by perfected mentality	V. 25. 3
सुमना:	यथार्थ चिंतनसे युक्त	one with right mentality	V. 1. 2
सुम्नम्	आनन्दको	(to) bliss	V. 3. 10
सुम्नायव:	परम आनन्दके अभिलाषी	men who seek the bliss	V. 8. 7
सुम्नाय	आनन्द और शान्ति के लिये	that they may have the Bliss & peace	V. 24. 3,4
सुयजम्	यज्ञ करनेवालेको ठीक प्रकारसे	to one doing aright the sacrifice	V. 8. 3
सुरभौ (लोके)	आनन्दोत्पादक (अन्य लोकमें)	in the rapturous (other world)	V. 1. 6
सुवाते	वे दो छुटकारा पाती हैं	(they two) are delivered	V. 1. 4
सुविताय	आनन्दकी ओर प्रयाणके लिए	for a march to felicity	V. 11. 1
सुवीर्यम्	पूर्ण शक्तिको	(to) perfect energy	V. 26. 5
सुवीर्यस्य	समग्र शक्तिका	of utter force	V. 16. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
सुशिप्र	हे दृढ़ जबड़ेवाले उपभोक्ता	O strong-jawed enjoyer	V. 22.
सुसंशिताः	पूर्ण-प्रखर रूपसे तीक्ष्ण	keen and sharpend	V. 19. 4
सुषूः	सुखपूर्ण प्रसूतिवाली	with a happy travail	V. 7. 8
सुषूदति	वे वेग प्रदान करती हैं	he speed	V. 5. 2
सुष्टुतः (सु-स्तुतः)	सम्यक्तया स्तुति किया हुआ	rightly affirmed	V. 27. 2
सूनो	हे पुत्र !	O son	V. 3. 9
सूरयः	ज्ञानके प्रकाशमय स्वामी	luminous masters of knowledge	V. 16. 5
सूर्यम्	प्रकाशमय सूर्यको	(to)the Sun of Light	V. 27. 6
सेदिम (उप-)	हम पहुँचते हैं	we approach	V. 8. 4
सेदिरे (नि-)	वे आधार पाती हैं	they take (their) foundation	V. 8. 2
सेदुषः	आसीनः (शक्तियों की ओर)	(to the powers who are) seated	V. 15. 2
सोमाः	आनंद-मदिराके प्रवाह	outpourings of the wine of delight	V. 27. 5
सौभगाय	आनंदका उपभोग करनेके लिये	for enjoyment of bliss	V. 28. 3
		being affirmed	V. 10. 7
स्तवानः	स्तुति किया जाता हुआ		
स्तीर्णम्	बिछी हुई	spread	V. 18. 4
स्तोमम्	स्तुतिको	(to) affirmation	V. 1. 12
स्म	यह भी सत्य है कि	true too it is	V. 9. 3
स्याम	हम हो जाएँ	may we be	V. 6. 8
स्योनम्	आनन्दपूर्ण	blissful	V. 4. 11
स्रुचा	चमचेसे	with the ladle	V. 14. 3
स्वः	ज्योतिर्मय लोक	the luminous world	V. 14. 4
स्वर्दृशम्	(हमारे) सत्यमय लोकके अंतर्दर्शनसे संपन्न (तुझको)	(thee) who hast the vision of (our) world of the Truth	V. 26. 2
स्वर्वती:	वेजो ज्योतिर्मय द्युलोकका प्रकाश करती है	that carry the light of the luminous heaven	V. 2. 11

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
स्वर्जेन्यम्	अपने आत्मानंदमें निमग्नकी ओर	(to) self-joyous	V. 7. 5
स्वधावः	हे, प्रकृतिकी आत्मव्यवस्थाको धारण करनेवाले	(O thou) who possesses the self-ordering power of Nature	V. 3. 5
स्वयशस्तरः	उपलब्धिके लिए अधिक आत्मशक्ति-शाली	self-mightier to attain	
स्वस्तये	आनन्दमय स्थिति पानेके लिए	to attain blissful state	V. 17. 5
स्वादनम्	मधुरआस्वादनकीओर	(to) sweet taste	V. 7. 6
स्वानः	महान् शब्द	cry	V. 25. 8
"	ध्वनि करते हुए	resonant	V. 10. 5
स्वानासः	वाणियां	voices	V. 2. 10
स्वेदम्	पसीनेको	(to) sweat	V. 7. 5
	ह		
हन्तवै	वध करनेके लिए	to slay	V. 2. 10
हरी	दो चमकीले घोड़ोंको	(to) two shining horses	V. 27. 2
		answering delight	V. 2. 11
हर्याः	तू आनंद ले	(to) take call	V. 14. 5
हवम्	पुकारको	oblation	V. 5. 11
हविः	आहुति		
हविष्मते	जो भेंटको अपने हाथमें लिये हुए है उसके लिए	For one who carries in his hand the oblation	V. 2. 12
		carrying the oblations	V. 9. 1
हविष्मन्तः	हविको लिये हुए	one whom men call	V. 17. 4
हव्यः	जिसे मनुष्य पुकारते हैं वह		
हव्यदातये	हवियोंको देनेके लिए	for the giving of the oblation	V. 26. 4
हव्यवाट्	भेंटोंका वाहक	the bearer of the offerings	V. 28. 5
हव्यवाहन	हविका वाहक	the carrier of oblation	V. 25. 5
हव्यानि	भेंटोंको	offerings	V. 5. 10

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
हि	क्योंकि	for	V. 2. 4
,,	निश्चय ही	Yea	V. 7. 7
हित:	स्थित	established	V. 1. 5
हिन्विरे	वे दौड़ती हैं	they race	V. 6. 6
हिरण्यदन्तम्	स्वर्णप्रकाशरूपी दांतोंसे युक्त (को)	to one tusked with golden light	V. 2. 3
हिरिश्मश्रुः	जिसकी दाढ़ी स्वर्णिम प्रकाशसे युक्त है वह	one whose beard is of the golden light	V. 7. 7
हूयते	(आहुति) डाली जाती है	offering is cast	V. 6. 5
हृणीय मा नः	तू मुझपर कुपित मत हो	mayst thous not grow wroth	V. 2. 8
हृदा	हृदयसे	with the heart	V. 4. 10
होता	भेंटका पुरोहित	priest of the offering	V. 1. 6
होत्राविदम्	उसे जो यज्ञकी शक्तियोंके ज्ञानसे संपन्न है	to one who has the knowledge of the powers of sacrifice	V. 8. 3
ह्वार्याणाम्	कुटिलताओंके	of crookednesses	V. 9. 4

अनुक्रमणिका VI*

(वेद-रहस्यके उत्तरार्द्धके अन्तमें दिये अग्नि-सूक्तों के विशिष्ट शब्दोंके अर्थ)

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
अंहसः	बुराईसे, पापसे	from the evil	I. 36. 14
अक्तुभिः	कार्योंकी कुशलतासे	by the keenness of actions	I. 36. 16
अक्षी	दो नेत्र	eyes (two)	I. 72. 10
अग्रे	सम्मुख	in front	I. 127. 10
अच्छ	की ओर	towards	I. 71. 3
अजर	हे जरारहित	ageless	I. 127. 9
अजः	अजन्मा	the unborn	I. 67. 3
अजानन्	उन्होंने जान लिया	they knew	I. 72. 8
अजिरासः	क्रियाशील	active	I. 140. 4
अजुर्यम्	अजर	unaging	I. 67. 1
अजुषून्	उन्होंने आनन्द लिया	they took joy	I. 71. 1
अतन्द्रः	जागरूक	sleepless	I. 72. 7
अतरन्	वे पार कर लेते हैं	(they) pass beyond	I. 36. 8
अतृष्यन्तीः	कामना न करती हुई	not greedy	I. 71. 3
अत्ति	वह हड़प कर जाता है	he devours	I. 65. 4
अत्यः	वेगवान् अश्व	charger	I. 65. 3
अत्रिणम्	भक्षकको	(to) eater (of being), devourer	I. 36. 14 I. 36. 20
अदीदेः	तू जाज्वल्यमान हो	(thou shouldst) burn bright	I. 140. 10
अदृप्तः	गर्वपूर्ण अविवेकसे रहित	one without proud rashness	I. 69. 2
अद्रिम्	पहाड़ी चट्टान को पर्वतको	(to) mountain rock the mountain	I. 71. 2 I. 73. 6
अध	तब, इसलिए	then, so	I. 72. 10 I. 127. 6 I. 127. 9
अध्वनः	मार्गों को	the paths	I. 71. 9 I. 72. 7

---

* इस अनुक्रमणिका में अंग्रेजी अर्थ में कोष्ठक के अंदर लिखा गया (to) द्वितीया विभक्ति (accusative case) का सूचक है।

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
अनवद्यम्	निर्दोष	faultless	I. 71. 8
अनवद्या	निर्दोष	blameless	I. 73. 3
अनुग्मन्	उन्होंने अनुसरण किया	they followed	I. 65. 1
अनुवष्टि	वह आतुर है	he hungers	I. 127. 1.
अन्तः-विद्वान्	अन्तर्यामी ज्ञाता	the knower within	I. 72. 7
अपसः	कार्यरत शक्तियाँ	the powers at work	I. 71. 3
अपांसि	कार्य	works	I. 68. 3
अपिधीन् ,	अर्पितकी हुई, रखी हुई वस्तुओं को	the things laid upon (him)	I. 70. 4 I. 127. 7
अप्नस्वतीषु (उर्वरासु)	हमारे श्रमसे पूर्ण (उपजाऊ भूमियोंके ऊपर)	(over lands) full of our labour	I. 127. 6
अप्रायुषे	अविनाशी जीवनके लिए	for undeparting life	I. 127. 5
अप्सु	चैतन्यकी धाराओंमें	into the Waters	I. 65. 5
अभि जुगुर्याः	तू चारों ओरसे प्रकाशमान कर दे	mayst (thou) bring to light	I. 140. 13
अभिज्ञु	आगे घुटने टेककर	knelt (before him)	I. 72. 5
अभिद्यवः	प्रकाशसे परिवेष्टित	those with illumination	I. 127. 7
अभिसस्तेः	आघातका	of the hurt	I. 71. 10
अभिश्वसन्	उच्छ्वासपूर्वक उत्कंठित होता हुआ	panting	I. 140. 5
अभिसचन्ते	वे दृढ़तासे जुड़ी हुई हैं	they cleave to	I. 71. 7
अभि सन्	अभिमुख होता हुआ	being turrned towards (us)	I. 71. 10
अभीके	मिलनमें	in (their) meeting	I. 71. 8
अभ्राट्	वह प्रखर रूपमें प्रदीप्त होता है	he blazes	I. 66. 3
अभ्वम्	स्थूल सत्ता को	(to) being of thickness	I. 140. 5
अमतिः	तेज	splendour	I. 73. 2
अमम्	वल को	(to) strength	I. 66. 4
अमवन्तः	बलशाली	forceful	I. 36. 20
अमूराः	ज्ञानी	the wise	I. 68. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
अमृतम्	अमरताको	immortality	I. 68. 2
अमृतासः	अमर देव	immortals	I. 127. 8
अयते	वह हटता है	goes back	I. 127. 3
अरणिभिः	गतियोंसे	by (his) movements	I. 127. 4
अरम्	पर्याप्त	sufficient	I. 66. 3
अराधि	उसने संसिद्ध किया है	he has achieved	I. 70. 4
अराव्णः	आनंद-विरोधीका	of the undelighting	I. 36. 15
अरुणम्	गुलाबी रंगको	to rosy hue	I. 73. 7
अरुण्यः	अरुण रंगवाली (गौएं)	the red ones	I. 140. 13
अरुषम्	रक्तवर्ण, क्रियाशील	red active	I. 36. 9
अरुषीः	अरुणवर्णवाली घोड़ियां—अश्व-शक्तियां	ruddy (mares)	I. 72. 10
अरुषीम्	अरुण वर्णवाली	flushing red	I. 71. 1
अर्चयः	ज्वालाएं	flames	I. 36. 20
अर्यः	प्रभुत्वशाली	master	I. 70. 1
अर्वद्भिः	युद्धके घोड़ोंके द्वारा	by (our) war-horses	I. 73. 9
अर्हणा	उचित क्रियासे संपन्न	having its duc action	I. 127. 6
अवः	सुखकी ओर	towards the happiness	I. 127. 5
अव-अस्य	दूर रखकर	casting away	I. 140. 10
अव त्सरत्	सरकता हुआ नीचे आया	he came down	I. 71. 5
अवनिम्	सत्ताको	to being	I. 140. 5
अवसे	संरक्षण पानेके लिए	for safeguarding	I. 127. 4
अविन्दन्	वे पा लेते हैं	they found	I. 72. 6
अशंसन्	वे उच्चारण कर लेते हैं	have uttered	I. 67. 2
अश्नुवत्	वह उपभोग करता है	one enjoys	I. 1. 3
अश्याः	वह प्राप्त कर लेता है, अधिकृत कर लेता है	he attains, may attain, may take possession of	I. 69. 3 I. 70. 1
अश्युः	वे उपभोग करें, अधिकृत कर लें	may they enjoy, may they possess	I. 73. 5 I. 73. 9

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
अश्वः	जीवनका अश्व	the steed of life	I. 36. 8
असमनाः	कंपायमान	unharmonious	I. 140. 4
असूदयन्त	उन्होंने पथपर वेगसे परिचालित किया	they sped (them) on the way	I. 72. 3
अस्ता इव	तीर छोड़नेवाले धनुर्धरकी तरह	like one shooting arrows	I. 70. 6
अस्तुः	धनुर्धारीका	of the archer	I. 66. 4
अस्तृतम्	अजेय	unconquerable	I. 140. 8
अहन्	तूने प्रहार किया	thou hast smitten or slain	I. 69. 4
अह्वे	मैं पुकारता हूं	i call	I. 69. 3
	आ		
आजुह्वानस्य	आहुतिके रूपमें उंडेले गयें (घृतका)	(of the offering of light) poured as an oblation	I. 127. 1
आत् इत्	इसके वाद ही	then indeed	I. 71. 3
आदत्	वह भक्षण करता है	he devours	I. 127. 6
आददिः	ग्रहण करनेवाला	one who accepts or takes	I. 127. 6
आनट्	आयी	come	I. 71. 8
आनुषक्	अविच्छिन्न परंपरा	an unbroken succession	I. 72. 7
आपः	जलधाराएं	waters	I. 65. 2
आपप्रिवान्	परिपूरित करता हुआ	filling	I. 73. 8
आप्यम्	क्रियाशीलता	effectivity	I. 36. 12
आयवे	आगमनके लिए	for coming	I. 140. 8
आयुः	जीवन	life	I. 66. 1
आर्तनासु	बंजर भूमियोंपर	over (our) waste lands	I. 127. 6
आविवासति	वह पास पहुंचता है	he approaches	I. 12. 9
आशये	वह उपभोग करता है	he enjoys	I. 140. 7
	या (उनके साथ) स्थित होता है	or lieswith them	I. 140. 7
आशवः	वेगशाली अश्व	swift steeds	I. 140. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
आसत्सि	(अपना) स्थान ग्रहण कर	take (thy) seat	I. 12. 4
आसया	उपस्थितिमें	in (whose) presence	I. 127. 8
आसा	मुखके द्वारा	with the mouth	I. 140. 2
आहुतः	आहुतियोंसे पुष्ट	fed with offerings	I. 36. 8
आहूर्यः	वह जिसे हमें अपने अंदर पुकारना चाहिये	one whom we must call in	I. 69. 2
	इ		
इत्	सचमुच ही	verily	I. 1. 4
इद्धम्	प्रदीप्त	kindled	I. 66. 5
इन्धते	वे पूरी तरह प्रज्वलित करते हैं	they light entirely	I. 36. 7
इभ्यान्	शत्रुओंको	(to) enemies	I. 65. 4
इमसि (आ)	हम (निकट) आते हैं	we come to	I. 1. 7
इषम्	बल, प्रेरणाशक्तिको	(to) the force	I. 140. 13
इषे	प्रेरक शक्तिके लिये	for impelling force	I. 71. 8
इष्टनिः	वेगसे सांय-सांय करती हुई	hurrying over	I. 127. 6
इहि	आ पहुंच	arrive	I. 71. 10
	ई		
ईधे	उसने प्रज्वलित किया है	he has kindled	I. 36. 11
ईम्	वह	It	I. 140. 2
	इसको	him	I. 65. 2,3
ईरते	वे बढ़ते हैं	they speed	I. 140. 5
ईळते	वे पाना चाहते हैं	they desire	I. 36. 1
ईळितः	स्तुति किया हुआ	adored	I. 13. 4
ईळे	मैं उपासना करता हूं	I adore	I. 1. 1
ईशत	वह शासन करे	he may have mastery	I. 36. 16
ईशे	वह स्वामी है	he is the master	I. 71. 9

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
	उ		
उक्थम्	वाणी	word	I. 140. 13
उक्षितः	सत्तामें वर्धित होकर	increased in being	I. 36. 19
उग्रः	शक्तिशाली	puissant	I. 127. 11
उच्छन्ती	दमकती हुवी	shining out	I. 71. 1
उप	निकट	near to	I. 1. 7
	तू निकट पहुंच	(thou) approach	I. 12. 7
उप-आसते	वे उपासना करते हैं	they adore	I. 36. 7
उपक्षेति	वह निवास करता है	he inhabits	I. 73. 3
उपरासु	ऊर्ध्वतर स्तरोंपर	on the upper levels	I. 127. 5
उप वोचन्त	वे वाणी उच्चरित कर चुकते हैं	they have spoken	I. 127. 7
उपस्तुतम्	स्तुतिसे संतुष्ट करनेवालेको	(to) one who has confirmed him by the song of praise	I. 36. 17
उपस्थात्	वह पहुंचता है	he reaches	I. 68. 1
उर्वरासु	उपजाऊ भूमियोंपर	over fertile lands	I. 127. 6
उशतीः	कामना करती हुई	desiring	I. 71. 1
उषर्बुधे	उषामें जागनेवालेके लिये	for the waker in the Dawn	I. 127. 10
उस्राः	चमकते हुए गोयूथोंको	(to) shining herds	I. 71. 2
	ऊ		
ऊधः	स्तन	teat	I. 69. 2
ऊर्णोत् (वि-)	वह प्रकट कर देता है	he uncovers	I. 68. 1
ऊर्वम्	विशालताको	(to) the wideness	I. 72. 8
	ऋ		
ऋचः	पूर्णता-साधक ऋचाएं	fulfilling words	I. 36. 11
ऋता	सत्यकी वस्तुओं को	to things of the truth	I. 67. 4
ऋतात् अधि	सत्यके आधारपर	upon truth	I. 36. 11
ऋषूणाम्	ज्ञानियोंका	of the wise	I. 127. 10
	ए		
एवैः	गतियोंसे	by movements	I. 68. 2

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
	ऐ		
ऐनोत् (प्र-)	वह आगेकी ओर प्रवाहित करता है	he sends in his front	I. 66. 5
	ओ		
ओजायमानः	शक्तियोंको प्रकट करता हुआ	putting out his forces	I. 140. 6
	औ		
और्णोत् (वि-)	वह पूरी तरह खोल देता है	he flings wide open	I. 68. 5
	क		
कः	उसने वना दिया	he had made	I. 71. 5
कनीनाम्	कन्याओंका (अप्रकट शक्तियोंका)	of the virgins	I. 66. 4
कम्	आनन्दको	(to) bliss	I. 72. 8
करिक्रतः	निर्माण करते हुए	creating	I. 140. 5
कविक्रतुः	क्रान्तदर्शी संकल्प	the seer-will	I. 1. 5
काव्या	द्रष्टृ-प्रज्ञाओंको	(to) seer-wisoms	I. 72. 1
कीस्तासः	कीर्तन करनेवाले	bards	I. 127. 7
कृण्वत्	उसने निर्माण किया	they made	I. 72. 5
कृण्वानासः	निर्मित करते हुए	making	I. 72. 9
कृपा	प्रभा के साथ स्पृहाके साथ	with lustre, with longing	I. 127. 1
कृष्टयः	कर्मके कर्ता	doers of action	I. 36. 19
कृष्णप्रुतौ	अंधकारमय पथपर	on (their) dark path	I. 140. 3
कृष्णसीतासः	अंधकारमय और प्रकाशमय	dark and bright	I. 140. 4
केतुः	अंतर्ज्ञानमय चक्षु	eye of intuition	I. 127. 6
केतुना	प्रत्यक्षज्ञानयुक्त मनके द्वारा	by the perceiving mind	I. 36. 14
केशिनीः	लहराते केशकलापसे युक्त	those who have flowing tresses	I. 140. 8
क्रतुः	संकल्प	will	I. 127. 9

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
क्रत्वा	संकल्पसे	by will	I. 69. 1
क्षपः	रात्रियां	nights	I. 70. 4
क्षपावान्	रात्रिका स्वामी	master of the nights	I. 70. 3
क्षरन्ति	वे प्रवाहित हो उठती हैं	they flow	I. 72. 10
क्षाम्	पृथ्वी को	(to) earth	I. 67. 3
क्षासु	भूमिकाओंमें	in planes	I. 127. 10
क्षितीनाम्	प्रजाओंके	for the people	I. 72. 7
क्षेमः	कुशल-मंगल	welfare	I. 67. 1
क्षोदः	बह रही	running in its channel	I. 66. 5
	ग		
गव्यम्	रश्मि-रूपी गौओंके यूथ को	to mass of ray-cows	I. 72. 8
गातुम्	पथ को	(to) path	I. 71. 2
गावः	रश्मिरूप गौएं	ray-cows	I. 66. 5
गुहम्	गुप्त स्थान को	(to) secrecy	I. 67. 3
गृध्नुः	अधिकृत करनेको आतुर	hungry to seize	I. 70. 6
गृभायति (सं-)	वह पूरी तरह अधिकृत कर लेता है	he seizes utterly (on them)	I. 140. 7
गविष्टिषु	गौओंकी चरागाहोंमें	in the pastures of the kine	I. 36. 8
गोषु	सूर्य-रश्मियोंमें	in the ray-cows, the shining herds of the Sun	I. 71. 9
ग्रभणवत्	वहअधिकृतकरलेताहै	he grasps	I. 127. 5
	घ		
घना	घनाघन पड़ती चोटों के द्वारा; बादल	as with thick falling blows; clouds	I. 36. 16
घृतपृष्ठम्	निर्मल आहुतिओंसे सींचे हुए(आसन)को	(to the seat) sprinkled with clear offerings	I. 13. 5
घृतस्य	प्रकाशरूप हवि का	of the offering of light	I. 127. 1
घृताहवन	हे मनकी निर्मलताकी भेंटोंसे पुकारे जाते हुए	O one who is called by the offerings of clarity	I. 12. 5

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
च			
चक्राणः	निर्माण करता हुआ	fashioning	I. 72. 1
चरथम्	जंगमको	(to) that which is mobile	I. 72. 6
चराथा	गतिके द्वारा	by movement	I. 66. 5
चारु	सौंदर्यको	(to) beauty	I. 72. 2
चिकिते	वह जाना गया है	it has been perceived	I. 71. 7
चिकित्वः	हे चिन्मय देव !	o thou who art conscious	I. 70. 3
चिकित्वान्	प्रत्यक्ष अनुभवसे युक्त	one who has perceived	I. 71. 7 I. 72. 4
चिकेत	उसने देख लिया है	he has perceived	I. 67. 4
चित्	भी	even	I. 70. 2
चित्तिः	ज्ञान	knowledge	I. 67. 5
चित्रः	अद्भुत ढंगसे नाना-रूप	wonderfully manifold	I. 66. 3
चित्रम्	चित्रविचित्र रंगोंके साथ	in rich hues	I. 71. 1
चृतन्ति (वि-)	वे प्रदीप्त कर लेते हैं	they kindle	I. 67. 4
छ			
छाया इव	छायाके समान	like a shadow	I. 73. 8
ज			
जग्धम्	खाया गया	eaten	I. 140. 2
जनयः	माताएं	mothers	I. 71. 1
जरते	वह स्तुतिगान करता है	he chants	I. 127. 10
जरिमा	बुढ़ापा	age	I. 71. 10
जहि (वि-)	तितर-बितर कर दे	scatter utterly (to every side)	I. 36. 16
जानतीः	ज्ञानसे संपन्न उनको	to those who know	I. 140. 7
जामिभिः	साथियों द्वारा	with companions	I. 71. 7
जायुः	विजेता	conqueror	I. 67. 1
जिन्वन्	उन्होंने सुख दिया	they gave (him) pleasure	I. 71. 1
जिव्रेः	वयोवृद्धसे	from long-lived	I. 70. 5
जुनासि	तू वेगसे ले चलता है	(thou) speedest	I. 71. 6

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
जुवः	प्रेरणाएं	impulsions	I. 140. 4
जुषन्त	वे सहर्ष अनुसरण करते हैं	follow with pleasure	I. 127. 6
जुषस्व	स्वीकार कर	accept	I. 12. 12
जुष्टानि	प्रीतिपूर्वक स्वीकार्य	acceptable	I. 73. 10
जूतये	प्रेरणा प्राप्त करनेके लिए	for (his) urge	I. 127. 2
जूर्णिः	स्तुतिगान	one who chants the adoration	I. 127. 10
जेन्यः	शक्तिमय प्रभु,	strong master	I. 140. 2
	विजेता	conqueror	I. 71. 4
ज्योतीरथम्	जिसका रथ ज्योति ही है उसे	to one charioted in light	I. 140. 1
ज्रयः	आनन्द	delight	I. 140. 9

त

तक्वा	सरपट दौड़नेवाला (घोड़ा)	galloper	I. 66. 1
तनूनपात्	हे देहके पुत्र !	o son of the body	I. 13. 2
तन्वः	शरीरोंको	(to) bodies or forms of things	I. 72. 3
तपुर्जम्भ	हे शत्रुओंकी शक्तियों को निगल जानेवाले, दुःख-संतापका हरण करनेवाले	o devourer of their force, or destroyer of affliction	I. 36 16
तष्टान्	रचित (मंत्रोंको)	formed	I. 67. 2
तस्तम्भ	उसने थाम रखा है	he has up-pillared	I. 67. 3
तस्थिवांसम्	स्थित (को)	to one standing	I. 72. 4
तायुः	चोर	thief	I. 65. 1
तारीत्	वह संपन्न और समृद्ध करता है	he increases	I. 73. 1
तितिर्वांसः	वे जो जीत कर पार कर चुके हैं	those who have broken through	I. 36. 7
तुरासः	यात्रामें तीव्र वेगसे बढ़नेवाले	those who are swift to the journey	I. 68. 5
तुविस्वनिः	अनेक ध्वनियोंसे युक्त	many-noised	I. 127. 6

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
तृषुच्युतम्	वेगयुक्त गति करनेवालेको	to one rushing swiftly	I. 140. 3
त्रिवृत्	त्रिविध	triple	I. 140. 2
त्वा-ऊताः	तुझ द्वारा सुरक्षित	safe-guarded or upheld by thee	I. 73. 9
त्विषिः	तेजोमय बल	flaming energy	I. 71. 5
त्वेषः	तेज	splendour	I. 66. 3
	द्		
दंसः	कार्य	work	I. 69. 4
ददृशानः	प्रत्यक्ष गोचर होता हुआ	becoming visible	I. 127. 11
दधुः (नि-)	उन्होंने स्थापित किया	they have founded,	I. 73. 4
		they set	I. 72. 10
दमूनाः	अंतर्यामी	dweller within	I. 68. 5
दम्पतिम्	घरके स्वामीको	to master of the house	I. 127. 8
दयस्व	प्रदान कर	give	I. 68. 3
दविधाव	उछालकर मारता है	he tosses	I. 140. 6
दस्यवे	शत्रुके विरोधमें	against the foe	I. 36. 18
दाशात्	वह दे देता है	he gives	I. 68. 3
दाशा	पूजाके द्वारा	by (their) worship	I. 127. 7
दाष्टि	वह देता है	gives	I. 127. 4
दिद्युत्	ज्वालामय बाण	flaming shaft	I. 66. 4
दिद्युम्	विद्युत्के बाणको	to arrow of lightning	I. 71. 5
दिधिषाय्यः	अवलंब, विचारमेंधारणकरनेयोग्य	support, one to be upheld in thought	I. 73. 2
दिधिष्वः	विचारशक्तिसे संपन्न	having the understanding	I. 71. 3
दिवातरात्	दिनकी अपेक्षा	than in the day	I. 127. 5
दीदिवः	हे देदीप्यमान (देव)	o shining one	I. 12. 5
दीदिहि	भास्वर रूपमें प्रज्वलित हो	burn bright	I. 140. 10
दीदेथ	अत्यंत उज्ज्वलरूपमें प्रज्वलित हो	mayst thou burn	I. 36. 19
दुः	वे देते हैं	they give	I. 127. 4
दुरः	द्वारों को	(to) doors	I. 68. 5

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
दुरोकशोचिः	एक ऐसे घरमें जिस में वास करना कठिन है वह ज्योतिःस्वरूप है, या वह एक ऐसी ज्योति है जिसे प्रदीप्त करना कठिन है	he is light in a house difficult to inhabit, or a light difficult to kindle	I. 66. 3
दूत्यम्	दूतकार्य को	(to) embassy	I. 71. 4
दूरेभाः	वह जिसकी ज्योति दूरातिदूरसे दृष्टि-गोचर होती है	one whose light is seen from afar	I. 65. 5
दृशीके	अभिव्यक्तिमें	in the manisfesting	I. 66. 5
देवतातये	देवोंके निर्माण के लिए	for the forming of the gods	I. 127. 9
देवभक्तम्	देवोंके द्वारा वितरित या आस्वादित (ज्ञान को)	(to the knowledge) distributed or enjoyed by the gods	I. 73. 10
देवयानान्	देवताओंकी यात्राके मार्गों को	(to) the paths of the journey of the gods	I. 72. 7
देववीतये	देवोंके दिव्य जन्म के लिए	for the birth of the gods	I. 12. 9
देवहूतिभिः	देवोंका आवाहन करनेवाली दिव्य ऋचाओंके साथ	with the divine hymns that summon the gods	I. 12. 12
देव्यम्	दिव्य अवस्थाको	(to) divine state	I. 140. 7
दोषावस्तः	अंधकार और प्रकाशके समय	in the night and in the light	I. 1. 7
द्यावाक्षामा	द्युलोक और पृथिवी-लोकको	(to)heaven & earth	I. 140. 13
द्युभक्ताः	द्युलोकमें उपभोग की गई या उससे विभक्त की गई	enjoyed in heaven, or shared by heaven	I. 73. 6
द्युम्नितमः	अत्यंत ज्योतिर्मय	most luminous	I. 127. 9
द्युम्नी	ज्योतिर्मय ऊर्जा-शक्ति	luminous energy	I. 36. 8
द्रुहन्तरः	हानि पहुँचानेकी इच्छा करनेवालों का विदारक	one who cleaves through those who would hurt	I. 127. 3

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
ध			
धनयन्	उन्होंने समृद्ध किया	they enriched	I. 71. 3
धनस्पृतम्	ऐश्वर्यको अधिकृत करनेवालेको	(to) seizer of wealth	I. 36. 10
धाः (वि)	व्यवस्था कर	ordain	I. 72. 7
धात्	वह थामे हुए है	he upholds	I. 67. 2
धियंधाः	विचारको धारण किये हुए	upholding the thought	I. 72. 2
धिषे	तू स्थापित करता है	thou establishest	I. 70. 5
धीराः	विचारक	the thinkers	I. 65. 1
धुः (सं-)	उन्होंने संयुक्त कर दिया	they joined	I. 73. 7
ध्रुवासु	शाश्वत (लोकों) में	in the abiding worlds	I. 73. 4
ध्वसयन्तम्	ध्वंस करनेवालेको	to one destroying	I. 140. 3
न			
न	जैसे कि	like	I. 65. 2
	नहीं	not	I. 71. 7
नकिः	कोई भी नहीं	none	I. 69. 4
नक्तम्	रात्रिमें	in the night	I. 127. 5
नक्षन्ते	वे पास आते हैं	they come to	I. 66. 5
नभः	कोहरा	mist	I. 71. 10
नमः	समर्पणरूप नमन	obeisance of surrender	I. 71. 6
	नमन व स्तवन	adoration	I. 65. 1
नमस्विनः	आत्मसमर्पणकर्ता मनुष्य	men who have attained submission	I. 36. 7
नम्नते	वह नत होता है	he bends down	I. 140. 6
नर्या	देवत्वकी शक्तियोंको	(to) powers of the godhead	I. 72. 1
नववास्त्वम्	नये निवासस्थान की ओर	(to) a new dwelling	I. 36. 18
नानदत्	वह उच्च स्वरसे पुकारता है	he cries aloud	I. 140. 5
नित्य-अरित्राम्	नित्य विकासमय गतिके साथ यात्रा करनेवाली नौकाको	(to a ship travelling) with eternal progress of motion	I. 140. 12

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
निमिषि	(उसकी) दृष्टिमें	In (his) gaze	I. 72. 5
नि-रिणाति	विदारित कर देता है	he tears	I. 127. 4
निःसहमानः	सामर्थ्यसे अभिभूत करता हुआ	overwhelming with force	I. 127. 3
नि-सिक्तम्	ढाला गया	was cast.	I. 71. 8
निहिता	अंदर रखी हुई	hidden	I. 72. 6
नीचीः	नीचेकी ओर अवतरित होती हुई	downward	I. 72. 10
नृम्णा	बलोंको	(to) mights	I. 67. 2
नेदिष्ठम्	अत्यंत निकट	most near	I. 127. 11
नेमधिता	उच्चतर गोलार्द्धको धारण किये हुए	by (his) holding of the upper hemisphere	I. 72. 4
	प		
पतिजुष्टा	पतिकी प्रिय	beloved of her lord	I. 73. 3
पद्वतीम्	यात्रा करनेवालीको	to one travelling	I. 140. 12
पदव्यः	(उसके) पथपर चलते हुए	treading on (his) track	I. 72. 2
पन्वा	प्रयाससे,	by (their) toil,	I. 65. 2
	स्तुतिसे	by (their) chant	I. 65. 2
परावता	परेके लोकसे	from the supreme beyond	I. 73. 6
परिचरन्ति	वे सेवा करते हैं	they serve	I. 127. 9
परिजर्भुराणः	चारों ओरसे घेरे हुए	encompassing (us)	I. 140. 10
परिज्मानम्	चारों ओरसे व्यापे हुए (उसको)	to one who encircles all	I. 127. 2
परिभुवत्	वह चारों ओरसे व्यापे हुए है	he envelops	I. 68. 1
परिष्टिः	चारों ओरसे घेरे हुए	Encompassing	I. 65. 2
परि सन्तम्	सब ओर विद्यमान (उसको)	to one who is all around	I. 72. 2
पशुः	गौ	cow	I. 65. 5
पितूनाम्	आनंद-मदिरा के घूंटोंके	of the draughts of wine	I. 69. 2
पिपेश	वह निर्मित करता है	he has formed	I. 68. 5

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
पीपयन्त	उन्होंने पुष्ट किया	they have fed us (with their milk)	I. 73. 6
पुरःसदः	सामने वैठे हुए	sitting in our front	I. 73. 3
पुरुक्षुः	अनेकानेक ऐश्वर्यों-का धाम	housing a multitude of (riches)	I. 68. 5
पुरुप्रशस्तः	विविध रूपसे अभिव्यक्त	manifoldly expressed	I. 73. 2
पुरुप्रियम्	वहुविध अभिव्यक्ति-के प्रेमपात्र उसको	to one in whom are many things dear	I. 12. 2
पुरोहितम्	(यज्ञके) पुरोहितको	(to) vicar (of the sacrifice)	I. 1. 1
पूर्धि	परिपूर्ण वना	complete	I. 36. 12
पृक्षः	तृप्तियां	satisfactions	I. 71. 7
	पूर्ण स्वरूप	fullness	I. 127. 5
पृशन्यः	घनिष्ठ संपर्क रखता हुआ	one close in touch	I. 71. 5
प्र-अवन्तु	वे प्रीतिपूर्वक सेवन करें	may they cherish	I. 127. 2
प्र-अविता	रक्षक	protector	I. 12. 8
प्रगाहते	वह प्रवेश करता है	he enters	I. 127. 4
प्रजभ्रिरे	उन्होंने धारण किया	they bore impetuously	I. 72. 4
प्रति स्म	विरोध कर	do thou oppose	I. 12. 5
प्रदीदियुः	वे देदीप्यमान हो उठें	may they blaze forth	I. 36. 11
प्रयसा	आनंदके द्वारा	by delight	I. 71. 3
प्रसूषु	माताओंमें	in the mothers	I. 67. 5
प्राचाजिह्वम्	जिसकी जिह्वा ऊपर-की ओर उठी हुई है उसे	to one whose tongue is lifted upwards	I. 140. 3
प्रियधामाय	आनंद ही जिसका धाम है उसके लिये	for one whose abode is bliss	I. 140. 1
प्रियात्	आनंदपूर्ण सत्तासे	out of blissful	I. 140. 11
प्रेयः	वृहत्तर आनन्द	greater bliss	I. 140. 11
वर्हिषि	पवित्र कुशापर	on the holy grass	I. 12. 4
बृहतीः	बृहत्	vast	I. 72. 4
बृहद्भानो	हे विशाल दीप्तिवाले!	o vast of lustre	I. 36. 15
बोधय (वि-)	जगा दे	awaken	I. 12. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
भक्तम्	सेवन किये हुए (सुख) की ओर	to that which is enjoyed	I. 127. 5
भजन्त	वे प्रसन्नतापूर्वक भजन करते हैं	they enjoy	I. 68. 2
भद्रम्	कल्याणकारी भलाई को	(to) happy good	I. 1. 6
भर (आ)	ले आ	bring (to us)	I. 12. 11
भरन्तः	वहन करते हुए	carrying	I. 1. 7
भिक्षमाणाः	भिक्षा मांगते हुए	asking for, praying for	I. 73. 6
भीमः	भयंकर	terrible	I. 140. 6
भुज्म	उपभोग करने योग्य	enjoyable	I. 65. 3
भूषन्	अपना रूप धारण करना चाहता हुआ	one who would become	I. 140. 6
भृगवाणः	देदीप्यमान द्रष्टा	Flaming seer	I. 71. 4
भोजते	वह उपभोग करती है	enjoys	I. 72. 8
	म		
मघवत्सु	पूर्ण ऐश्वर्यंकी अवस्थामें	In fullness	I. 140. 10
मघवन्	हे प्रचुर ऐश्वर्य के अधिपति !	o Lord of plenty	I. 127. 11
मथीः	मथकर प्रकट कर	churn out	I. 127. 11
मदः	हर्षोल्लास	rapture	I. 127. 9
मन्द्रः	आनंदोल्लसित	rapturous	I. 36. 5
मनीषा	विचारशील मनके द्वारा	by the thinking mind	I. 70. 1
मन्ये	मैं ध्यान करता हूं	I meditate	I. 127. 1
ममृशत्	वह स्पर्श करता है	he touches	I. 140. 5
मम्रुषीः	मरने ही वाली	those who are about to perish	I. 140. 8
मर्षिष्ठाः	भुला दे, उपेक्षा कर, मिटा दे	mayst thou forget or neglect or wipe out	I. 71. 10
मह्ना	महिमासे	with the greatness	I. 72. 9
मातरिश्वा	जीवन-प्राण	the life-breath	I. 71. 4

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
मारुतम्	आंधी-तूफानोंकी या प्राणशक्तियों की	of or belonging to the storm-winds or Life-Powers	I. 127. 6
मिनाति	वह क्षीण कर रहा है	it diminishes	I. 71. 10
मियेध्य	हे यजनीय !	(Thou) of the sacrifice	I. 36. 9
मुमुक्ष्वः	मुक्तिकी कामना करनेवाली	those which desire freedom	I. 140. 4
मृष्ट (नि-)	वह आलिंगनमें जोरसे कस लेता है	he engirdles & crushes in his embrace	I. 140. 2

य

यजिष्ठम्	यज्ञ करनेके लिए अत्यंत शक्तिशाली (तुझ) को	to one most powerful for sacrifice	I. 127. 2
यज्ञासः	यज्ञके स्वामी	masters of sarifice	I. 72. 4
यन्तः	प्राप्त करें	they may reach	I. 140. 13
यमते	श्रम किये चलता है	he toils on	I. 127. 3
यव्यम्	शक्तिको	(to) strength	I. 140. 13
यह्वीः	शक्तिशाली	mighty	I. 71. 7
याता इव	धावा वोलनेवाले आक्रामककी तरह	like assailant charging	I. 70. 6 I. 65. 2
योनौ	घरमें	in the abode	I. 66. 3

र

रक्षस्विनः	सीमामें बांधनेवालोंको, अवरोधक शक्तियोंको	(to) those that confine, to powers detain who	I. 12. 5 I. 36. 20
रघुद्रुवः	तीव्रगति देनेवाली	swift hastening	I. 140. 4
रघु-स्यदः	द्रुतगामी	rapid	I. 140. 4
रत्नधातमम्	जो आनंदैश्वर्यको अत्यधिक प्रतिष्ठित करता है उसको	(to) one who most founds the ecstasy	I. 1. 1

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
रपांसि	पापकी शक्तियोंको	(to) the powers of evil	I. 69. 4
रयिम्	आनन्दको	(to) the felicity	I. 12. 11
	ऐश्वर्यको	(to) treasure	I. 1. 3
रवेण	रवसे	with (their) cry	I. 71. 2
रसम्	सार-रसको	(to) sap of essence	I. 71. 5
रायः	ऐश्वर्य	riches	I. 127. 11
रासि	तुम प्रदान करते हो	thou givest	I. 140. 12
रिरिक्वांसः	रिक्त करते हुए	making (themselves) empty	I. 72. 5
रिहन्	फाड़ता हुआ	tearing	I. 140. 9
रिषतः	द्वेषियोंको	(to) haters	I. 12. 5
रुक्मी	स्वर्णमय	golden	I. 66. 3
रुजन्	उन्होंने छिन्नभिन्न कर दिया	they shattered	I. 71. 2
रेभः	स्तोता	one who chants adoration	I. 127. 10
रेभिरे	वे पूर्ण आनंद लेती हैं	they take utter delight	I. 140. 8
रेरिहत्	वह सब कुछको पार कर लक्ष्य तक जाता है	he breaks through to the goal	I. 140. 9
रोधत्	वह धारित करता है	he holds up	I. 67. 5
रोरुवत्	हुंकार मारता हुआ	bellowing	I. 140. 6

व

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
वनसे	तू जीत लेता है	thou winnest	I. 140. 11
वनिनः	आनंदप्रद पदार्थोंको	(to) delightful things	I. 140. 2
वनिषीष्ट	वह आस्वादन करता है	he enjoys	I. 127. 7
वनुयाम	हम जीत लें	may we conquer	I. 73. 9
वयः	विशालताको	(to) wideness	I. 140. 9
	विकासको	(to) growth	I. 66. 2
वयोधाः	बल स्थापित करता है	founds our strength	I. 73. 1
वरम्	परम कल्याणको	(to) supreme good	I. 140. 13

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
वराते	वह रोक सकता है	shall hedge	I. 65. 3
वर्तनीः (अनु)	मार्गोंको	To the paths	I. 140. 9
वर्पः	रूपको	(to) form	I. 140. 5
वव्ने	उसने जीत लिया	he has won	I. 36. 17
वसुम्	ऐश्वर्य-निधिको	(to) the treasure	I. 127. 1
वाघद्भिः	गीतोंसे	with (our) chants	I. 36. 13
वाजम्	प्रचुर ऐश्वर्य को	(to) plenitude	I. 73. 5
वातजूताः	वस्तुमात्रकी जीवन-शक्तिके द्वारा परि-चालित	driven by the breath of things	I. 140. 4
वारणः	घेर लेनेवाला	the coverer, one who engirdles	I. 140. 2
वासय	परिवेष्टित कर दो	clothe	I. 140. 1
विक्षु	प्रजाओंमें	among the folk	I. 66. 2
विट्	प्रजा	creature	I. 72. 8
विदाः	सम्यक् विभाग कर,	distributes	I. 36. 14
	प्रदान कर या प्राप्त कर	impart or gain	I. 71. 7
विधतः	उपासकके	of the worshipper	I. 73. 1
विप्रम्	ज्योतिर्मय देवको	to one illumined	I. 127. 1
विभावा	'विशाल दीप्तिवाला	one with wide lustre	I. 66. 1
	अति भास्वर	very bright	I. 69. 5
विरुक्मता	व्यापक रूप से देदीप्य-मान (शक्ति) के द्वारा	with wide-shining (energy)	I. 127. 3
विवाय (आ-)	वह जाता है	he goes	I. 71. 4
विश्वायुः	विश्वमय जीवन	universal life	I. 67. 3
विष्वक्	पूरी तरह या चारों ओरसे	utterly or to every side	I. 36. 16
विस्तिरः	व्यापक रूपसे विस्तृत होता हुआ	wide-extended	I. 140. 7
वीतये	आनन्दोपभोगके लिए	for enjoyment	I. 13. 2

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
वृक्तबर्हिषे	उसके लिए, जिसने पवित्र आसन बिछा रखा है	for one who spreads the holy seat	I. 12. 3
वृजनानि	दृढ स्थानों को	(to) strong places	I. 73. 2
वृथा	मंद गतिसे	lightly	I. 140. 5
वृषा	उपभोक्ता	enjoyer	I. 140. 2
वधः	हे पदार्थमात्रके विधाता	o ordainer of things	I. 73. 10
वेविजे	वह गति करनेकी शक्ति देता है	he gives energy of movement	I. 140. 3
वेविदानाः	खोज निकालते हुए	discovering	I. 72. 4
व्रता	कर्म के नियम	the laws of action,	I. 36. 5
	कम-प्रणालियों को	to the ways of workings	I. 69. 4
	श		
शकेम	हम समर्थ हों	may we have the strength	I. 73. 10
शंभु	आनंद-दायक	bliss-giving	I. 65. 3
शर्म	आश्रय-धाम	house of refuge	I. 127. 5
शासम्	शिक्षा को	(to) teaching	I. 68. 5
शासुः	शासन	the command	I. 73. 1
शिशीते (अति-)	वह आगे बढ़ जाता है	he exceeds	I. 36. 16
शिशुमतीः	बालवुद्धिवाली	those that are infant minds	I. 140. 10
शुचिः	शुद्ध-पवित्र	pure-bright	I. 66. 1
शुम्भते	वह आनंद देता है	he gives joy	I. 127. 7
शुशुक्वान्	देदीप्यमान होता हुआ	blazing out	I. 69. 1
शुरुधः	वलोंको	(to) strengths	I. 72. 7
शुष्मिन्तमः	अत्यंत शक्तिशाली	most powerful	I. 127. 9
शेवः	आनन्दपूर्ण	blissful	I. 73. 2
शोचिःकेशम्	प्रकाश-ज्वाला-रूपी वालोंवाले को	to one with hair of flaming light	I. 127. 2
श्यावीम्	धूमिल (उषा) को	dusky	I. 71. 1
श्येतः	शुभ्र	white	I. 71. 4
श्रवः	अंतःप्रेरित ज्ञानको	(to) inspired knowledge	I. 73. 10

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
श्रीणन्	प्रज्वलित होता हुआ	burning	I. 68. 1
श्रुवत्	वह टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाती है	it falls asunder	I. 127. 3
श्रुष्टिम्	अंतःप्रेरणा को	to inspiration	I. 167. 1
श्रुष्टीवानः	जो (तेरा) शब्द सुनते हैं वे	thorc who hear (thy) word	I. 127. 9
श्वसीवान्	बहनोंसे युक्त	one with the sisters	I. 140. 10

स

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
सक्षितौ	एक ही वासस्थान में निवास करनेवाली	living in their common dwelling	I. 140. 3
सचस्व	दृढतासे जुड़ा रह	cling	I. 1. 9
सत्यधर्माणम्	सत्य ही जिसका विधान है उसे	to one whose law of being is the Truth	I. 12. 7
सत्यमन्मा	विचारोंमें सत्यमय	true in (his) thoughts	I. 73. 2
सनिता	रक्षक	saviour	I. 36. 13
सपन्तः	वे जो स्पर्श करते हैं	those who touch	I. 67. 4
समत्सु	संग्रामों में	in battles	I. 70. 6
समया	ऊपर	over	I. 73. 6
समृतौ	(जिसकी) चोट पड़ने पर	in (whose) shock	I. 127. 3
संमाय	माप कर	having measured	I. 67. 5
संस्तिरः	संकुचित	contracted	I. 140. 7
सस्रुः	वे प्रवाहित हो उठीं	they flowed	I. 73. 6
सहः	शक्ति	the Force	I. 36. 18
सातौ	सुरक्षित सत्तामें	in safe being	I. 36. 17
सीम्	हर जगह	everywhere	I. 36. 1
स्वाधीः	चिन्तनमें यथार्थ	just in (his) thinking	I. 67. 1
	पूर्ण विचारक	the perfect thinker	I. 70. 2
सूपायनः (सु-उपायनः)	सुगमतासे प्राप्त होनेवाला	easy of access	I. 1. 9
स्तनयन्	गरजता हुआ	thundering	I. 140. 5
स्तुभ्वा	स्तुति-गायक	one who chants	I. 66. 2

वैदिक शब्द	हिन्दीमें अर्थ	अंग्रेजीमें श्रीअर. कृत अर्थ	प्रतीक-संख्या
स्थाताम्	स्थावर वस्तुओं का	of things stable	I. 70. 2
स्योनशीः	सुखसे लेटा हुआ	lying happily	I. 73. 1
स्वः	सूर्य-लोक	sun-world	I. 66. 5
		world of the sun	I. 69. 5
स्वधावः	हे स्वयं-स्थित (अग्ने)	o thou who hast the self-fixity	I. 36. 12
स्वाद्मा	मधुमय बनानेवाला या स्वाद लेनेवाला	the sweetener or the taster of all fruits	I. 69. 2
	ह		
हविष्कृतम्	जो हवियोंका सर्जन करता है उसे	to one who creates the offerings	I. 13. 3
हवीमभिः	देवोंका आवाहन करनेवाले सूक्तोंके द्वारा	with hymns that summon the Gods	I. 12. 2
हव्यवाट्	हमारी भेंटोंका वहन करनेवाला	the bearer of offerings	I. 67. 1
हितमित्रः	हितकारी मित्र	good and friendly	I. 73. 3
हुवेम	हम पुकारें	may we call	I. 127. 2
हृषीवतः	आनंदमय (अग्नि) का	of the joyful (Fire)	I. 127. 6
होता	आवाहन करनेवाला पुरोहित	priest of invocation	I. 73. 1
होत्राभिः	हविओंकी महानता से	by the greatness of the oblation	I. 36. 7
ह्वये (उप-)	मैं आवाहन करता हूं	I call	I. 13. 3

अनुक्रमणिका VII

हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावलि

अ

अखंड	Undivided	अमंगलमय	Inauspicious
अखंडनीय	Inviolable	अरा	Spoke
अग्निज्वाला	Flame	अर्थपूर्ण	Significant
अच्युत	Unfallen	अर्धचेतन	Half-conscient
अजेय	Invincible	अर्धदेवता	Demi-god
अड्डा	Haunt	अलंकार	Figure
अतिचेतन	Superconscient	अवचेतन	Sub-conscient
अतिभौतिक	Supraphysical	अवरुद्ध	Hampered
अतिमानसिक	Supramental	अव्यवस्था	Chaos
अतिमानसिक सत्य	Supramental truth	अशुभ	Evil
अत्रिगोत्र	House of Atri	अशुभ देवता	Evil gods
अदमनीय	Untameable	अश्व	Steed
अदिव्य	Undivine	असत्य	Falsehood
अधित्यका	Plateau	असुर	Demon
अनन्त	Infinite	अहि	Python
अनाम	Unnamable	अज्ञेय	Unknowable

आ

अनावरण करना	Unveil	आकाश	Firmament
अनुभूति	Perception	आख्यान	Episode
अनुशासन	Discipline	आत्मदान	Self-giving
अन्वेषक	Finder	आत्मदृष्टि	Self-vision
अपरिमित	L-avish	आत्मप्रभुत्व	Self-possession
आभा	Blaze	आत्मविस्तार	Self-expanding, self-enlargement
अभिव्यक्त	Manifest		
अभिव्यक्ति	Manifestation		
अभीप्सा	Aspiration	आत्मव्यवस्था	Self-ordering
अभीष्ट	Desirable	आत्मानंद-निमग्न	Self-joyous
अमरताकी सुरा	Wine of immortality	आत्मोत्थान	Self-uplifting
		आत्मोपलब्धि	Self-achievement
अमूर्त तत्त्व/वस्तुएं	Abstractions		
अमृतमय सुरा	Ambrosial wine	आदिम	Primitive

आधार	Foundation
आधारभूत	Fundamental
आध्यात्मिक	Spiritual, psychological
आनंद	Delight, joy
आनंदकी सुरा	Wine of delight
आनंदातिरेक	Ecstasy
आनंदैश्वर्य	Felicity
आनंदोपभोक्ता	Enjoyer
आनंदोल्लास	Ecstasy
आरोपण (देवत्वका)	Apotheosis
आरोहणशील	Ascendent
आलोक	Illumination
आलंकारिक	Figurative, rhetorical
आवाहन करना	Invoke
आविर्भाव	Epiphany
आवेग	Passion
आहुति	Oblation
आहुतिका पुरोहित	Priest of the offering

इ

इंद्रिय-जीवन	Sense-life

ई

ईश्वर-आकर्षण	God-attraction
ईश्वर-प्राप्ति	God-attainment
ईश्वर-संपोषण	God-affirmation

उ

उक्ति	Locution
उच्च श्रेणीका	Classical
उच्च-स्थित	Exalted
उज्ज्वलतम	Fairest
उदार	Bounteous
उद्धार करना	Deliver
उपजाऊ बनाना	Fertilise
उपलब्धि	Attainment, achievement
उपाख्यान	Legend
उलझा हुआ	Confused

ऊ

ऊर्ध्वमुखी यात्रा	Upward voyaging
ऊर्ध्वस्थित	High uplifted
ऊर्ध्वारोही	Upclimbing

ऋ

ऋत	Right

ए

एकत्र होना	Converge
एकमेव (एकं सत्)	The One

ओ

ओज	Energy

अं

अंकुश	Goad
अन्तरिक्ष-लोक	Mid-world
अन्तःप्रेरणा	Inspiration
अन्तर्दृष्टि	Vision
अन्तर्यामी	Immanent
अन्तर्वेग	Impulsion
अन्तर्ज्ञान	Intuition
अन्तर्ज्ञानात्मक	Intuitive
अन्तःस्फूर्त ज्ञान	Inspired knowledge

क

कठिन	Arduous
कथानक	Parable
कर्मकांडमय	Ritual
कलियुग	Age of iron
कल्याणकारी	Beneficial
कवि	Seer

क्रम	Gradation
क्रमबद्ध भूमिका	Ordered state
कामना	Desire
कामनाओंके पुंज	Multitude of desires
कार्य	Function
कार्यकर्ता	Agent
कालातीत	Timeless
काव्यमय रंगत	Poetic colouring
कुटिलता	Crookedness
कुपित	Wroth
कुंडली	Coil
कृतार्थता	Fulfilment
कृपण	Miser
क्षति	Diminution, violence

ग

गतिशक्तिमय	Dynamic
गुण	Attribute
गर्जनामय संगीत	Thunder-chant
गरिमा	Splendour
गहराई	Abyss
गाथा	Myth
गुफा	Cavern
गुह्य वचन	Passwords
गूढ़ आंतरिक	Esoteric

घ

घड़ा हुआ	Fashioned
घाट	Ford
घातमें बैठे	Ambushed
घृत	Clarified butter

च

चर	Mobile
चरम	Ultimate
चरम रात्रि	Utter night
चरितार्थ विधान	Accomplished law
चित्-शक्ति	Conscious force
चेतन सत्ता	Conscious Being
चेतना	Consciousness
चेतनाका प्रकाश	Light of consciousness
चोगा	Woven robe

ज

जटिल	Intricate
जटिलता	Complexity
जागरूक	Wakeful
जाज्वल्यमान	Radiant
रहस्य	Mystery
जीवन-शक्ति	Energy
ज्ञानकी रचनाएं	Formations of knowledge
ज्ञानदीप्त ऋषि	Illuminates
ज्ञानप्रकाशक	Revealing
ज्ञानप्रदीप्त	Illumined
ज्योति	Illumination, light
ज्योतिमें सुस्थिर	Steadfast in the light
ज्योतिर्मय	Luminous, resplendent
ज्योतिर्मय किरण-समूह	Herd of radiances
ज्वाला	Flame

ट

टीका-टिप्पणी	Annotation

ढ

ढांकना	Envelop

त

तत्	That

तत्त्व	Principle
तपस्	Energy
तरल	Flexible
तर्कसंगत	Logical
ताना-बाना	Texture
तार्किक सिद्धांत	Logical dogma
तीर्थयात्री	Pilgrim
तीव्र	Poignant
तीव्रता	Intensity
तेजस्वी	Splendid
तेजोमय	Brilliant
त्रैत	Trinity

द

दयाशीलता	Beneficence
दानव	Titan
दिव्य	Celestial
दिव्य जलधाराएं	Divine waters
दिव्य तत्त्व	Divine principle
दिव्य संपदा	Divine wealth
दीक्षित	Initiate
दीप्ति	Lustre
दुर्गबद्ध	Fortified
दुर्गरक्षित	Fortified
दूती	Embassy
दूध पिलाना	Suckle
दूरातिदूरवर्ती सत्ता	The Far
दूषण	Corruption
दृढ़संगी बनना	Cleave
दृष्टि	Gaze
देदीप्यमान	Radiant
देवता	Deity, godhead
देवत्व	Godhead
देवोन्मुख	Godward
दैत्य	Giant
द्युलोक	Heaven
द्रष्टा	Seer
द्रष्टा-संकल्प	Seer-will
द्रुतगामी (अश्व)	Swift (steed)
द्वैतकारी चेतना	Dualising consciousness
द्वैध करनेवाला	Dualiser

ध

धाम	Seat
धारक	Upholder
धुंधलापन	Obscurity
धूम्राच्छन्न	Smoke-obscured
ध्यान करना	Meditate

न

नमनीय	Plastic
नयी दृष्टिसे देखना	New-seeing
नये सिरेसे ढालना	New-moulding
निरपेक्ष सत्ता या अस्तित्व	Absolute being
निरंतर	Unremitting
निर्भ्रान्त	Infallible
निर्मलताकी धाराएं	Streams of clarity
निर्माता	Creator
निर्वासन	Exile
निर्वैयक्तिक	Impersonal
निश्चेतन	Inconscient
निष्पीडन करना	Compress
नृदेवता	Male godhead

प

पक्ष	Aspect
पथभ्रष्टता	Transgression
पदक्रम	Stride
पदार्थ	Object
परम	Supreme
परम-आनंद	Beatitude
परमानंदमय	Beatific

परम कल्याण	Supreme good
परम सत्य	Supreme truth
परात्पर	Transcendent
परिणीत	Espoused
परिचालक	Impeller
परिधान पहने हुए	Garbed
परिपूर्ण वैभव	Plenitude
परे	Transcendent
परंपरागत	Conventional
पशुपालन-संबन्धी	Pastoral
पाण्डित्यपूर्ण	Scholastic
पारदर्शी	Transparent
पाश	Cord
पाप	Sin
पुराणोक्त	Legendary
पुरोहित	Priest
पुंज	Mass
पूजा	Adoration
पूर्णता	Perfection
पूर्वज	Forefather
पृथक्कारी	Separative
पृथ्वीका पुत्र	Son of earth
पृथ्वीतत्त्व	Earth-principle
पृथ्वीमाता	Earth-mother
पोषण	Nurture
पोषण करना	Nourish
पौराणिक	Mythological
प्रकट करना	Reveal
प्रकाश	Illumination
प्रकाशक	Revealers
प्रकाशमय	Luminous
प्रगतिशील	Progressive
प्रचुर ऐश्वर्य	Opulence, abundance
प्रजाएं	Human peoples
प्रणाम	Obeisance
प्रतिष्ठित	Established
प्रतीक	Symbol
प्रदीप्त होना	Blaze
प्रबल प्रवाह	Floods
प्रबल शक्ति	Puissance
प्रभाव	Efficacy
प्रभुत्वपूर्ण आनंद	Possessive delight
प्रमुख	Pre-eminent
प्रवाहशील विकास	Flowing progression
प्रसूति	Travail
प्राक्कथन	Foreword
प्राक्कालीन	Antique
प्राचीन	Ancient
प्राचुर्यकी माताएं	Mothers of plenty
प्राणकी घोड़ियां	Mares of Life
प्राणमय अश्व	Life-horse
प्राणमय पुरुष	Life-soul
प्राणशक्तियां	Life-powers
प्राणशक्ति	Life-force
प्राणिक	Vital
प्राणी	Creature
प्राप्य	Accessible
प्रेरक	Impeller

ब

बलशाली	Puissant
बलसंपन्न	Vigorous
बलि	Victim
बारी-बारी	With alternation
बुद्धिमें सिद्ध	Accomplished in intellect
बंद द्वार	Seal
बंधन	Bondage
भयमुक्त	Fear-free
भय-संकट	Peril
भागवत मन	God-mind
भावप्रधान	Emotional

भासित होता हुआ — Agleam
भुवन — World
भूलभ्रांति-रहित — Unerring
भेदन करना — Penetrate
भ्रातृत्व — Fraternity

म

मधुवत् मधुर — Honey-sweet
मनकी यथार्थ अवस्था — Right-mindedness
मनोमय पुरुष — Mind-soul
मनोमय सत्ता — Mentality
मनोभौतिक — Psycho-physical
मनोवैज्ञानिक — Psychological
मन्यु — Wrath
मरणशीलता — Mortality
मरुत्-देवता — Storm-gods
मर्यादा — Decorousness
मानवता — Humanity
मार्गदर्शक — Guide
मुक्त करना — Deliver
मूर्त रूप देना — Embodying
मंत्र — Verse
मंथन — Churning

य

यात्रा — Journey
युगल — Twin
युद्धसंबंधी — Martial
यज्ञकर्ता — Officiating priest
यज्ञके अधिपति — Lords of sacrifice

र

रक्षक — Protector
रहस्य — Secret
रहस्यमय — Mystic
रहस्यमय उन्माद — Mystic intoxication
रहस्यमय गौ — Mystic cow
राक्षस — Demon
रूपक — Image
रेंगना — Crawl
रौद्र — Violent

ल

लयताल — Rhythm
लेन-देन करनेवाले — Traffickers
लोकोंका क्रम — Order of the worlds

व

वक्र — Curving
वक्षस्थल — Bosom
वज्र — Thunder-bolt
वनस्थली — Woodland
वर — Boon
वरणीय — Desirable
वर्धनशील आत्मा — Increasing soul
वशीभूत करना — Overcome
वाक्य-विन्यास — Syntax
वातावरण — Atmosphere
वासधाम — Habitation
वास्तविक सत्ता — Reality
वाहक — Bearer
विकास — Evolution
विघ्न-बाधा — Obstacle
विचारक — Thinker
विजयशील — Conquering
विदारक (वृक) — Wolf
विदारण करना — Tear up

विद्रोही	Recusant
विभाजक	Divider
विधान	Law
विरोध	Antinomy
विवेक-चेतना	Discernment
विवेकशील	Discerning
विशालता	Vastness
विश्लेषण	Analysis
विश्वके क्रमिक स्तर	Cosmic gradation
विश्वमयता	Universality
विस्तीर्ण, विस्तृत	Wide
विस्तुत पंखोंवाली	Wide-winging
विज्ञान (अतिमानस)	Supermind
वृषभ	Bull
वेदी	Altar
वैश्व	Cosmic
वैश्व सिद्धिको संपन्न करनेवाला	Universal fulfiller
वंशज	Posterity
व्यक्तित्व	Personality
व्यक्तित्वारोप	Personification
व्यवस्था करनेवाला	Ordainer
व्याख्या	Interpretation
व्याधि	Malady
व्यापार	Function
व्योम	Space

श

शक्ति	Strength
शक्तिशाली सत्ताएं	Mightinesses
शब्दावलि	Phraseology
शाश्वत	Eternal
शिखर	Altitude
शुद्ध चैत्य-अवस्था	Pure psychic state
शुद्ध मन	Pure mind
शोक-संताप	Grief
शोधित नवनीत (घृत)	Clarified butter
श्येन	Falcon

स

सक्रिय शक्ति	Active force
सत्ताका सारतत्त्व	Substance of Being
सत्य	Truth
सत्य-ऋत-बृहत्	Truth, Right, Vast
सत्यचेतना	Truth-consciousness
सत्यदर्शन	Truth-vision
सत्यश्रुतियां	Truth's inspirations
सत्य-सचेतन	Truth-conscious
सत्य-ज्ञान	Truth-knowledge
सत्र	Session
सत्स्वरूप (भगवान्)	Existent
सप्तजिह्व	Seven-tongued
समग्रबोधात्मक	All-comprehending
समग्र सत्ता	Integral being
समता	Equality
समर्पण	Offering
समस्वरता	Harmony, concordance
समस्वर करना	Harmonise
समानार्थक	Equivalent
समिधा	Fuel (Sacrificial)
समुद्र	Ocean

समृद्ध	Opulent
सरपट दौड़	Galloping
सर्पिल	Serpentine
सर्व-आवेष्टक	All-enfolding
सर्वग्राही	Comprehensive
सर्व-निरोधक	All-withholding
सर्व-प्रकाशक	All-illumining
सर्व-व्यापक	All-pervading
सर्वशक्तिशाली	All-puissant
सर्वसर्जक	All-creative
सर्वस्पर्शी	All-embracing
सर्वज्ञ	Omniscient
सर्वाभिव्यंजक	All-expressive
सर्वोच्च अनुभूति	Consummate perception
सर्वोत्पादक	All-engender-ing
सहमति	Acceptance
सहस्रवाचामय स्तोत्र	Thousand-voiced hymn
साधन	Device
साधना	Discipline
सामर्थ्य	Energy
सामंजस्य	Harmony
सारतत्त्व	Substance
सार्वभौम	Universal
सार्वभौमिकता	Universality
सिद्धांत	Doctrine
सिद्धि	Consummation, realisation
सीमा	Limitation
सुखमय सिद्धि	Happy cul-mination
सुझाव	Suggestion
सूक्त	Hymn
सूक्ष्म	Subtle
सूक्ष्मता	Subtlety
सूत्र	Formula
सृष्टि	Creation
सैन्यगण	Hosts
सौर जल	Solar water
सौर-देव	Sun-God
सौर लोक	Solar world
संकलन करनेवाला	Systematiser
संकल्प	Will
संकल्पशक्ति	Will-force
संतप्त	Afflicted
संबद्ध	Associtated
संबंध-विच्छेद	Divorce
संभूति	Becoming
संयोजक लोक	Link-world
संशोधित रूप	Modification
संसिद्ध करना	Accomplish
संहिताकार	Systematiser
स्तर	Plane, strata
स्तुति	Adoration
स्तुतिगान	Affirmation
स्तोत्र	Chant
स्थूल	Gross
स्पृहणीय	Desirable
स्पंदन	Vibration
स्पंदित करना	Stir
स्रष्टा	Creator
स्व-उपलब्धिकारी	Self-discovering
स्वतः-प्रकाशमय	Self-luminous
स्वतःस्फूर्त	Spontaneous
स्वर्ग	Empyrean
स्वर्गलोक	Paradise
स्वायत्तकारी	Self-seizing
स्वोपलब्धि	Self-discovery

ह

हड़प जाना	Devour

हर्षोन्माद	Rapture	हर्षोल्लासमय	Rapturous
हर्षोल्लास	Rapture	हंस	Swan